जैन विश्वभारती संस्थान
लाडनूं - ३४१३०६ (राज.)

दूरस्थ शिक्षा निदेशालय

वाणिज्य स्नातक-प्रथम वर्ष
Bachelor of Commerce

षष्ठम् पत्र
Paper-VI

व्यावसायिक अर्थशास्त्र
Business Economics

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

COPYRIGHT
Jain Vishva Bharati Institute, Ladnun

Written By :
Dr. V.D. Dave (Section-A, B Hindi)
Dr. Anshu Leela (Section-A Some Part Hindi)
Dr. Sanjay K. Kushawaha (Section-C Hindi)
Dr. Usha Rathi (Section-D Hindi)

Edition : 2015

Printed Copies : 500

Published By: Jain Vishva Bharati Institute, Ladnun

अनुक्रमणिका (Contents)

खण्ड–अ	व्यावसायिक अर्थशास्त्र का अर्थ, भूमिका एवं मांग की उपयोगिता	01–111
खण्ड–ब	उत्पादन–नियम, कार्य एवं सिद्धान्त	112–236
खण्ड–स	विनिमय एवं बाजार	237–285
खण्ड–द	वितरण का सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त	286–350

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

व्यावसायिक अर्थशास्त्र

Business Economics

Section – A

प्राक्कथन, परिचय (Introduction)

1.1 व्यावसायिक अर्थशास्त्र की परिभाषा :–

विकास की प्रारम्भिक अवस्था में व्यवसाय एवं उद्योगो का आकार छोटा, प्रबन्ध सरल एवं समस्याएँ सीमित थीं अतः व्यवसायों में व्यावहारिक अर्थिक सिद्धान्तो का प्रयोग नगण्य था किन्तु आजकल व्यवसायों में निरन्तर बढते आकार और प्रबन्ध की जटिलताओं के कारण व्यवसायों की प्रबन्धकीय समस्याओं के विश्लेषण एवं समाधान में व्यावहारिक अर्थशास्त्र का प्रयोग काफी लोकप्रिय है।

व्यावसायिक अर्थशास्त्र (Business Economics) को कई विद्वान प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र (Managerial Economics) के नाम से पुकारना ज्यादा उपयुक्त मानते हैं । ये दोनों एक–दुसरे के पर्यायवाची बन गये है अतः दोनो का अर्थ, परिभाषाएँऔर क्षेत्र वही है केवल शब्दों का हेर–फेर होने से पाठको को नाम के भ्रम में नही पड़कर वस्तु–सत्य को स्वीकार करना चाहिये ।

व्यावयासिक अर्थशास्त्र अथवा प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definitions of Business Economics or Managerial Economics) – व्यावसायिक अर्थशास्त्र का अभिप्राय व्यावहारिक अर्थशास्त्र की उस शाखा से है जिसके अन्तर्गत व्यावसायिक संगठनों एवं उद्योगो की प्रबन्धकीय समस्याओं के विश्लेषण एवं समाधान के लिये आर्थिक सिद्धान्तों एवं धारणाओं का व्यावहारिक प्रयोग किया जाता है ।

इसे हम व्यावसायिक समस्याओं, भावी नियोजन एवं प्रबन्धकीय निर्णयो में प्रयुक्त होने वाला अर्थशास्त्र भी कहते हैं। दूसरे शब्दो में ''व्यावसायिक अर्थशास्त्र (Business Economics) अर्थशास्त्र की वह विशिष्ठ शाखा है जो निरपेक्ष सिद्धान्तों और प्रबन्धकीय व्यवहारें के बीच अन्तराल को पाटने में पुल का काम करता है ।''

''व्यावसायिक अर्थशास्त्र, व्यावसायिक व्यवहारें एवं आर्थिक सिद्धान्तो का एक ऐसा उद्धेष्यपूर्ण एकीकरण है जिससे प्रबन्धको को निर्णय लेने तथा भावी योजनाएँ बनाने में मदद मिलती है ।''दुसरे शब्दों में ''व्यावसायिक अर्थशास्त्र के बजाय प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र (Managerial Economics) शब्दों का प्रयोग किया है ।

सरल शब्दों में ''प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र व्यावहारिक अर्थशास्त्र की वह शाखा है जिसके अन्तर्गत व्यावसायिक संगठनों एवं उद्यागों की प्रबन्धकीय समस्याओं के समाधान एवं भावी नियोजन निर्णयों के लिये आर्थिक विश्लेषण के उपकरणों, सिद्धान्तो एवं धारणओं का व्यावहारिक प्रयोग किया जाता है। प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र के अर्थ को सही–सही समझने के लिये निम्न भाषाओं का विश्लेषण उपयोगी है'' –

1. हैन्स (W.W. Haynes) के अनुसार ''प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र व्यावसायिक निर्णयों में प्रयुक्त होने वाला अर्थशास्त्र है। यह अर्थशास्त्र की वह विशिष्ठ शाखा हो जो निरपेक्ष सिद्धान्ताओं और प्रबन्धकीय व्यवहारें के बीच अन्तराल को पाटने में पुल का काम करती है । यह समस्याओं के स्पष्टीकरण, सूचनाओं के संगठन एवं

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

मूल्याकन तथा वैकल्पिक कार्य–पद्धतियों की तुलना में आर्थिक विश्लेषण के उपकरणों के प्रयोग पर बल देती है ।''

हैन्स की इस परिभाषा में प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र को अर्थशास्त्र की एक विशिष्ट शाखा माना है जिसके अन्तर्गत आर्थिक विश्लेषण के उपकरणें के द्वारा आर्थिक समस्याओं के समाधान का हल ढूंढा जाता है और उपयुक्त प्रबन्धकीय निर्णय लिये जाते है ।

2. स्पेन्सर तथा सीगलमैन (Spencer & Siegelmen) के शब्दो में ''प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र आर्थिक सिद्धान्तो तथा व्यावसायिक व्यवहारों का एक ऐसा उद्धेश्यपूर्ण एकीकरण है जिससे प्रबन्धकों को निर्णय लेने तथा भावी योजनाएँ बनाने में सुविधा होती है ।''

   यह परिभाषा प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र को आर्थिक सिद्धान्तो एव व्यावसायिक व्यवहारों का समन्वय मानती है जिससे प्रबन्धकों को निर्णय लेने और भावी योजनाएँ बनाने में मदद मिलती है । आजकल प्रबन्धकों को अनेक वैकल्पिक पद्धितियों में तुलना कर उचति पद्धति का चुनाव करना पड़ता है । आर्थिक विश्लेषण की रीतियों से उपयुक्त योजनाएँ बनानी पड़ती है । निर्णय और योजनाओं के साथ–साथ समन्वय और नियन्त्रण भी आवष्यक होता है ।

3. जोयल डीन (Joel Dean) के अनुसार ''प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र का उद्धेष्य यह बताना है कि व्यावसायिक नीतियों के निर्धारण में आर्थिक विश्लेषण का उपयोग कैसे हो सकता है । ''

4. मेकनेयर एवं मेरीयम (MeNair & Meriam) ने बहुत ही सरल शब्दो में प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र को परिभाषित किया है । उनके अनुसार ''प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र के अन्तर्गत व्यावसायिक परिस्थितियों के विश्लेषण के लिये अर्थशास्त्रीय विचार पद्धतियों का उपयोग किया जाता है ।''

   यह परिभाषा संकुचित है क्योंकि इसमें केवल व्यावसायिक परिस्थितियों के विश्लेषण पर जोर दिया गया है जबकि भावी योजनाओं व निर्णयों के पहलू की उपेक्षा कर दी गई है ।

   इन परिभाषाओं के अतिरिक्त बेट्स एवं पाकिन्स ने ''व्यावसायिक अर्थशास्त्र को फर्मो के आचरण का सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक अध्ययन माना है'' जबकि जोसेफ एल. मसी ने प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र को व्यावसायिक निर्णयों की प्रकिया में उपयुक्त उपकरण माना है । प्रो. बामोल के मतानुसार प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र अर्थशास्त्र की वह विशिष्ठ शाखा है जिसमें फर्म के आचरण का विश्लेषण आर्थिक धारणओं के आधार पर कार्यात्मक अनुसन्धान में प्रयुक्त विधियों की सहायता से किया जाता है ताकि सम्यक् निर्णय लिया जा सके ।

व्यावसायिक अर्थशास्त्र अथवा प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र की विशेषताएँ

प्रबन्धकीय परिभाषाओं के विश्लेषण से उसमें निम्न मुख्य विशेषताएँ दृष्टिगोचर होती है :–

1. व्यष्टि अर्थशास्त्रीय प्रकृति – चूँकि प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र व्यक्तिगत फर्मों की समस्याओं, घटनाओं तथा उसे सम्बन्धित कार्यो का विश्लेषण उनकी नीतियों का निर्धारण कर करता है , निर्णय लेता है अथवा भावी नियोजन करता है । अतः यह व्यष्टि अर्थशास्त्र (सूक्ष्म अर्थशास्त्र) के अर्न्तगत आता है। प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था का एक इकाई के रूप समग्र विश्लेषण नही है वरन् व्यक्तिगत फर्मो का अध्ययन मात्र है।

2. समष्टि अर्थशास्त्रीय घटकों की उपयोगिता को मान्यता – यद्यपि प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र की प्रकृति व्यष्टिमूलक है किन्तु प्रबन्धकीय अर्थशास्त्री व्यक्तिगत फर्मो के व्यावसायिक निर्णयों व भावी योजनाओं में समष्टिमूलक तत्वों – व्यापार चक्रों, राष्ट्रीय आय, मौद्रिक नीति, विदेशी व्यापार, मूल्य स्तर, राजकोषीय नीति आदि की उपेक्षा नहीं कर सकता क्योंकि ये तत्व बाह्य होते हुए भी फर्म के निर्णयों पर गहरा प्रभाव डालते है । अतः

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र में इन समष्टिमूलक पहलुओं का वैज्ञानिक विश्लेषण कर लाभदायक समायोजन करने ाक प्रयास किया जाता है ।

3. फर्म के सिद्धान्त अथवा फर्म के अर्थशास्त्र से सम्बन्धित – चूँकि प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र की विषय–सामग्री फर्म के सिद्धान्त से जुड़ी हुई है अतः फर्म सिद्धान्तो में जिन आर्थिक सिद्धन्तो, धारणाओं एवं विश्लेषण विधियों का प्रयोग होता है । प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र भी उन सभी का प्रयोग करता है जिसमें लागत एवं आगम विष्लोषण, मॉग एवं पूर्ति विष्लेषण, मॉग एवं पूर्ति विश्लेषण, उत्पादन मात्रा एवं मूल्य निर्धारण, लाभ अधिकरण (Profit Maximization), फर्म का अनुकूलतम स्तर आदि उल्लेखनिय हैं । इसके अन्तर्गत वितरण के लाभ सिद्धान्त का तो समावेश होता है किन्तु अन्य को छोड़ दिया जाता है ।

4. निर्देशात्मक अथवा निर्धारक प्रकृति – प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र की वर्णात्मक अर्थशास्त्रीय प्रकृति नही होकर निदेशात्मक अर्थशास्त्रीय प्रकृति है अर्थात् यह वर्णात्मक अर्थशास्त्र न होकर निर्देशात्मक अर्थशास्त्र है । यह आर्थिक सिद्धान्तओं एवं व्यावसायिक व्यवहारों में सामंजस्य बैठाकर निर्णय एवं नियोजन सम्भव बनाता है । जैसे मांग का नियम मूल्य में होने वाल वृद्धि एवं कमी से मांग में क्रमशः कमी एवं वृद्वि का सूचक तो होगा किन्तु यह प्रभाव अच्छा है या बुरा उसका स्पष्टीकरण नही करेगा जबकि प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र में इसके अच्छे–बुरे परिणामों का विश्लेषण किया जाता है तभी उपयुक्त निर्ण सम्भव है ।

5. अधिक व्यावहारिक उपयोगिता – प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र आर्थिक सिद्धान्तों एवं विष्लेषणें का आर्थिक निर्णयों और नीति निर्धारण में प्रयुक्त करने की विधि प्रदर्शित करता है अतः यह सैद्धान्तिक न होकर व्यावहारिक उपयोगिता का उपकरण है ।

6. अधिक परिष्कृत एवं नवोदित विषय – प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र सामान्य अर्थशास्त्र की तुलना में काफी परिष्कृत विषय ही नही वरन् नवोदित विषय भी है । यह परिष्कृत तो इस दृष्टि से है कि आजकल इसके विश्लेषण में गणितीय रीतियों और वैज्ञानिक उपकरणें का व्यापक प्रयोग होता है जिसमें कम्प्यूटर आदि का भी समावेश है। यह अर्वाचीन इस कारण है कि इस विषय का विकास मुख्यतः द्वितीय विष्व–युद्ध के साथ–साथ हुआ है । यह विकासशील शास्त्र है, ज्ञान की अपेक्षाकृत नवीन शाखा है जो अपने विकास के प्रारम्भिक दौर से गुजर रही है।

स्पष्ट है कि प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र ज्ञान की एक अधिक परिष्कृत एवं नवीन शाखा है जो व्यष्टिमूलक होते हुए भी समष्टिगत तत्वों का आर्थिक निर्णयों में समायोजन करती है । यह फर्म के सिद्धान्त से सम्बन्धित है फिर भी इसकी व्यावहारिक उपयोगिता अधिक है । क्योंकि इसकी प्रकृति वर्णात्मक न होकर निर्देशात्मक अर्थशास्त्र (Normative Economics) की है ।

अर्थशास्त्र अथवा आर्थिक सिद्धान्तों का व्यावसायिक प्रबन्ध में उपयोग

प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र में व्यावसायिक फर्मो के कार्यो एवं घटनाओं के विश्लेषण तथा समस्याओं के समाधान के लिये अर्थशास्त्र के सिद्धान्तो, धारणाओं एवं विश्लेषण की पद्धतियों का व्यापक प्रयोग किया जाता है । इसी कारणस्पेन्सर तथा सीगलमैन ने इसे ''आर्थिक सिद्धान्त का व्यावसायिक व्यवहार के साथ एकीकरण'' की संज्ञा दी है । अतः व्यावसायिक प्रबन्ध में अर्थशास्त्र अथवा आर्थिक सिद्धान्तो के प्रयोग के प्रमुख पहलू निम्नांकित है –

1. व्यावसाय के आर्थिक सम्बन्धो की जानकारी – व्यावसायिक प्रबन्ध में अर्थशास्त्र के सिद्धान्तो के प्रयोग से व्यवसाय के आर्थिक सम्बन्धो – जैसे लागत और उत्पादन का सम्बन्ध, मूल्य एवं मॉग का सम्बन्ध, उत्पादन का मूल्य से सम्बन्ध, मॉग की लोच का आय, मूल्य और स्थानापन्न वस्तुओ के मूल्य से सम्बन्ध, लागत एवं मूल्य का सम्बन्ध, लागत मूल्य एवं लाभ का सम्बन्ध आदि की जानकारी होने पर उचित निर्णयों से सुविधा रहती है ।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

2. व्यावसायिक भविष्यवाणी एवं पूर्वानुमान – अर्थशास्त्र के नियमों एवं सिद्धान्तो का उपयोग व्यावसायिक भविष्यवाणियों एवं पूर्वानुमानों में भी होता है । प्रत्येक व्यवसाय में अनिश्चितता रहती है अतः प्रबन्धकों को पूर्वानुमान लगाना पड़ता है कि भावी मूल्य क्या होंगे ? भावी विक्रय की सम्भावना क्या है ? वस्तुओं की भावी लगात क्या होगी, भविष्य में लाभ की सम्भावना कैसी है ? आर्थिक विश्लेषण के उपकरणों के प्रयोग से ही पूर्वानुमान एवं भविष्यवाणी सम्भव है जो कि व्यवसायों के प्रबन्ध में बहुत महत्वपूर्ण है ।

3. आर्थिक लागतों एवं लेखा लागतों की धारणाओं में समन्वय – व्यावसायिक प्रबन्धकों के लिये आर्थिक लागतों की धारणाओं को बहीखाता व लेखा लागतों में अन्तर का समायोजन करना पड़ता है । लेखा लागतें वास्तविक भुगतान की लागतों से सम्बन्धित हैं जबकि अर्थशास्त्र में लागत की धारणा वास्तविक भुगतान की अपेक्षा व्यापक है । जैसे व्यापारी दूसरे की दुकान या मकान को किराये पर लेता है तो लेखा–लागत में शामिल है किन्तु अगर वह अपनी ही दुकान या मकान में व्यापार स्थान रखता है तो यद्यपि उसे बहीखाता या लेखा–लागत नहीं चुकाना पड़ता, पर फिर भी अर्थशास्त्र की दृष्टि से यह लागत है । अतः व्यावसाय के प्रबन्धकीय निर्णयों में आर्थिक लागतों और लेखा–लागतों के बीच अन्तर का समायोजन करना पड़ता है तभी लागत और लाभ सम्बन्धी निर्णय सही बैठते है । यही नही भावी नियोजन एवं निर्णय भी इन आर्थिक सिद्धान्तों के परिप्रेक्ष्य में ही लिये जाते है ।

4. व्यवसाय को प्रभावित करने वाली बाह्य शक्तियों एवं परिस्थितियों का अध्ययन कर व्यावसायिक प्रबन्धक इनके दुष्प्रभावों से बचने तथा सुप्रभावों का लाभ कमाने की दृष्टि से अपने निर्णयों में आवष्यक समायोजन करता है। उदाहरणार्थ मौद्रिक नीति, राजकोषीय नीति, विदेशी व्यापार नीति, व्यापार चक्र, रोजगाार एवं राष्ट्रीय आय मे ंपरिवर्तन, श्रम नीतियॉ एवं सरकार की व्यापारिक नीतियॉ आदि व्यवसाय को प्रभावित करने वाली बाह्य परिस्थितियॉ है । इनको समझने तथा विश्लेषण करने में ही नही वरन् समयानुकूल नियोजन एवं निर्णय लेने में आर्थिक सिद्धान्तो का प्रयोग करना पड़ता है । व्यावसायिक प्रबन्धक इन बाह्य परिस्थितियों के आधार पर अपनी नीतियों में समायोजन करता है ।

5. आर्थिक सिद्धान्तो के व्यावहारिक प्रयोग की सीमा स्पष्ट – आर्थिक सिद्वान्त तो अनेक काल्पनिक मान्यताओं एवं धारणाओं पर आधारित होते है जबकि व्यावसायिक प्रबन्ध वास्तविक परिस्थितियों और व्यावहारिकता पर आश्रित है । अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि आर्थिक सिद्धान्त व्यवहार में कहॉ तक लागू होते है, जैसे – आर्थिक विश्लेषण में प्रत्येक उत्पादक या व्यवसायी का लाभ को अधिकतम करने का उद्देष्य होता है किन्तु व्यवहार में यह आवष्यक नही कि प्रत्येक का उददेष्य लाभ को अधिकतम करने का ही हो, अपनी वस्तु को बाजार में लोकप्रिय करने का हो सकता है, जानबूझकर कम मूल्य से, घाटा उठाकर भी प्रतियोगिता का मुकाबला करने की धुन हो सकती है । आर्थिक सिद्धान्त में पूर्ण प्रतियोगिता की कल्पना है पर व्यवहार में पूर्ण प्रतियोगिता दृष्टिगोचर नही होती है।

6. आर्थिक सिद्वान्तो के प्रयोग से व्यवसाय संचालन में सुविधा – जब प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र के अन्तर्गत आर्थिक सिद्धान्तो के प्रयोग से विविध पूर्वानुमान लगाया जाता है अथवा आर्थिक मात्राओ की भविष्यवाणी की जाती है। तो उनके आधार पर व्यावसायिक प्रबन्धक व्यवसाय के सफल संचालन के लिये उपलब्ध विकल्पों में से मितव्ययितापूर्ण विकल्प को चुनता है, मूल्य लागत तथा पूँजी सम्बन्धी निर्णय लेता है । जैसे – मांग के पूर्वानुमान के बाद तदानुरूप पूर्ति के लिये उत्पादन की योजना बनाने, कच्चा माल खरीदने, उत्पादन करने तथा वितरण की व्यवस्था आदि कार्यो का संचालन सुविधाजनक हो जाता है ।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

व्यावसायिक अर्थशास्त्र अथवा प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र की प्रकृति

''आदर्श विज्ञान एवं कला दोनो''

प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र की विशेष्ताओं और व्यावसायिक–प्रबन्ध में उसके उपयोग का विश्लेषण करने के पश्चात् उसकी प्रकृति का ज्ञान सरल हो हाता है। इस नवोदित विषय में आर्थिक सिद्धान्तो का व्यावहारिक उपयोग प्रबन्धकीय निर्णय, भावी नियोजन और समस्याओं के समाधान में दिया जाता है। अतः इसे कला एवं विज्ञान का एक आदर्श मिश्रण माना जाता है। प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र की प्रकृति ज्ञात करने के लिये यह जानना जरूरी है कि यह विज्ञान है या कला दोनों ही है।

विज्ञान के रूप में व्यावसायिक अथवा प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र – क्रमबद्ध ज्ञान को विज्ञान कहा जाता है जिसमें नियम प्रतिपादित किये जा सकते है, नियमों की सत्यता जॉची जा सकती है, भविष्यवाणी की जा सकती है इस परिप्रेक्ष्य में परखने पर प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र भी विज्ञान ही लगता है। क्योंकि इसके भी नियम एवं सिद्धान्त है, इन सिद्धान्तो की सत्यता की खोज की जाती है और यह क्रमबद्ध ज्ञान होने के साथ–साथ भविष्यवाणी के लिये उपयुक्त है ।

व्यावसायिक/प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र आदर्श अर्थशास्त्र का अंग है – वास्तविक विज्ञान तो कारण एवं परिणाम की निपेक्ष व्याख्या करता है – ''क्या है'' जबकि आदर्श विज्ञान ''क्या है'' और ''क्या होना चाहिये'' के बीच सेतु–बन्ध का कार्य करता है। इस दृष्टि से प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र केवल व्यावसायिक फर्मो की क्रियाओं, घटनाओ एवं समस्याओ का सैद्धान्तिक विश्लेषण ही नही करता वरन् उनके व्यावहारिक हल ढूँढता है। अतः प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र की प्रकृति वर्णात्मक (Descriptive) न होकर निर्देशात्मक (Perspective) है। इसमें साधनों के अध्ययन की अपेक्षा साध्यों को महत्वपूर्ण माना जाता है। व्यावसायिक प्रबन्धक वस्तुस्थिति का अध्ययन कर आदर्श निर्णय लेता है ताकि फर्म के लाभ अधिकतमकरण के अन्तिम उददेष्य की पूर्ति हो सके । यह सैद्धान्तिक विवेचना की अपेक्षा नीति निर्धारण को अधिक महत्व देता है अतः यह आदर्श एवं नीति प्रधान विज्ञान है ।

व्यावसायिक/प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र कला भी है – किसी कार्य को सर्वोतम ढंग से करने की क्रिया कला कहलाती है। इस परिप्रेक्ष्य में देखने पर प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र में भी कला के गुणों का समावेश नजर आता है। व्यावसायिक प्रबन्धक फर्म का संचालन अनेक आन्तरिक एवं साहस अनिष्चितताओं के बीच करता है। वह वैकल्पिक प्रयोग वाले सीमित साधनों में से केवल उन साधनों को चुनता है तो मितव्ययतापूर्ण ही नही परिस्थितियों के अनुकूल भी है। उत्पादन एवं वितरण की वैकल्पिक विधियों मेंसे भी सर्वोतम का चयन करता है। वह अनिष्चितों और अस्थिरता के अथाह सागर को पार करने के लिए भावी नियोजन एवं उचित निर्णयों की प्रक्रिया का सृजनकर्ता कलाकार है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट जो जाता है कि प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र फर्म के सिद्धान्त से सम्बन्धित होने के कारण व्यष्टि अर्थशास्त्र का एक अंग है । जहां एक ओर यह आदर्श विज्ञान है वहां दूसरी ओर कला भी है अतः प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र में विज्ञान और कला का अजीब मिश्रण होने के कारण इसे वैज्ञानिक कला की संज्ञा दी जाती है । यह आदर्श विज्ञान और कला दोनों है ।

व्यावसायिक/प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र की विषय–सामग्री एवं क्षेत्र

A. विषय–सामग्री (Subject Matter) – प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र की विषय–सामग्री व्यावसायिक फर्म के संगठन, नियोजन, नियन्त्रण, निर्देशन तथा पूनर्मूल्यांकन में निहित है चूँकि प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र फर्म के सिद्वान्त से सम्बन्धित है अतः यह व्यष्टि अर्थशास्त्र के अंग के रूप में व्यावसायिक फर्म के संचालन से सम्बन्धित कार्यो का विश्लेषण करता है । अध्ययन की दृष्टि से प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र की विषय–सामग्री पांच शीर्षकों के अन्तर्गत रखी जा सकती है –

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

1. नियोजन (Planning) – आजकल व्यावसायिक फर्मों की जटिलताओं को देखते हुए प्रबन्धकों को फर्म के निष्चित उददेष्यों की प्राप्ति के लिये भावी योजनाएँ बनानी पडती है जैसे – वितीय नियोजन, मानव शक्ति नियोजन, उत्पादन नियोजन, विक्रय नियोजन आदि इस श्रेणी में आते है ।

2. संगठन (Organisation) – व्यावसायिक फर्मो की योजनाएँ बन जाने के बाद प्रबन्धकों के सामने उत्पति के विभिन्न साधनों के संगठन की समस्या आती है । संगठन का अभिप्राय उत्पति के विभिन्न साधनों – भूमि, पूँजी, श्रम, प्रबन्ध एवं साहस के बीच सौहार्दपूर्ण तालमेल बैठाकर कम से कम लागत पर अधिकतम उत्पादन से फर्म के लाभ को अधिकतम करने के प्रयास से है । इसके अन्तर्गत वैज्ञानिक प्रबन्ध, प्रमाणीकरण, विवेकीकरण तथा आधुनिकीकरण आदि प्रमुख आधार माने जाते है ।

3. निर्देशन (Direction) – व्यावसायिक फर्म को वास्तविक जगत की अनेक आन्तरिक एवं बाह्य परिस्थितियां प्रभावित करती है अतः योजना बना लेने तथा उसके अनुरूप संगठन कर लेने के बावजूद भी प्रबन्धक को बदलती परिस्थितियों के अनुरूप समय समय पर निर्देशन देना पडता है। सही निर्देशन में नियोजन की सफलता निहित है जबकि निर्देशन के अभाव में निर्दिष्ट उददेष्य अधूरे रह जाते है । अतः व्यावसायिक फर्म के लिये प्रबन्धक एक सच्चा मित्र, मार्गदर्शक और दार्शनिक (Friend, Guide and Philosopher) है ।

4. नियन्त्रण (Control) – मानव स्वभाव की चंचलता और परिस्थितियों की बहुलता में व्यावसायिक फर्मो के सफल संचालन में नियन्त्रण की भूमिका को नजर अन्दाज नहीं किया जा सकता। प्रबन्ध का यह महत्वपूर्ण कार्य है कि वह निरन्तर देखे कि योजनाओं का कियान्वयन निर्देशो के अनुरूप हो रहा है या नही, विचलन कितना और क्यों । इसके लिये विभिन्न प्रकार के नियन्त्रणों – उत्पादन नियन्त्रण, वितीय नियन्त्रण, लागत नियन्त्रण किस्म नियन्त्रण, आय–व्ययक नियंत्रण, आदि का सहारा लिया जाता है ।

5. पुनर्मल्यांकन (Evaluation) – प्रबन्धकी अर्थशास्त्र की विषय सामग्री का पांचवॉ भाग ''पुनर्मुल्यांकन'' भी विशेष महत्वपूर्ण है। व्यावसायिक फर्म के कुशल–संगठन एवं नियोजन, विवेकपूर्ण निर्देशन तथा कठोर नियन्त्रण के बावजूद भी अगर सफलता नही मिलती तो प्रबन्धकों को उसके मूल करणों की खोज करना होगा। भावी नियोजन में इसकी गलतियों से शिक्षा लेनी होगी । स्पष्ट है कि प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र में पूनर्मूल्यांकन भी पूर्वानुमानों एवं यथार्थ में अन्तर के करणों की खोज से भावी नियोजन एवं संचालन में मार्गदर्शन करता है ।

B. व्यावसायिक/प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र का क्षेत्र (Scope of Managerial Economics) – प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र ज्ञान की नवोदित शाखा है और अभी अपने विकास के दौर से गुजर रही है अतः इसके कार्यक्षेत्र के सम्बन्ध में विद्वानों में काफी मतभेद है । जहॉ कुछ अर्थशास्त्रियों ने खेलों के सिद्धान्त (Theory of Games), रेखीय कार्यक्रम (Linear Programming), तथा सामग्री प्रतिरूपों (Inventory Models), आदि को भी प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र का क्षेत्र माना है वहां दूसरी ओर कुछ विद्वान इन्हें सम्मिलित न कर उसके क्षेत्र को सीमित करना चाहते हैं । आजकल प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र के क्षेत्र में उन सभी आर्थिक सिद्धान्तों एवं विश्लेषण विधियों का समावेश माना जाता है जो पूँजी प्रबन्ध, लाभ प्रबन्ध, मांग विश्लेषण एवं पूर्वानुमान, लागत एवं उत्पादन विष्लेषण, मूल्य नीतियां और परियोजना मूल्यांकन आदि के रूप में व्यावसायिक फर्मो के प्रबन्धको को निर्णय लेने एवं भावी नियोजन करने में सहायता प्रदान करते है । अतः मोटे रूप में प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र के क्षेत्र का वर्णन इस प्रकार है –

1. मांग विश्लेषण एवं पूर्वानुमान – इसके अन्तर्गत फर्म की मांग से सम्बन्धित सभी आर्थिक सिद्धान्तों एवं धारणाओं का अध्ययन किया जाता है तथा विश्लेषण विधियों से मॉग के भावी अनुमान लगाकर उत्पादन के साधनों को उत्पादन कार्य में लगाया जाता है अतः इसमें मांग के नियम, मांग की लोच, उपयोगिता एवं तटस्थता वक्र विश्लेषण द्वारा उपभोक्ता के साम्य, मांग पर आय–प्रभाव, प्रतिस्थापन, प्रभाव तथा कीमत प्रभाव की व्याख्या के साथ साथ मांग के पूर्वानुमान में अर्थशास्त्रीय सिद्धान्तो, मनोवैज्ञानिक धारणाओं और बाह्य परिस्थितियों के प्रभाव का ध्यान रखा जाता है ।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

2. उत्पादन एवं लागत विश्लेषण – उत्पादन की मात्रा का निर्धारण तथा उसके उत्पादन में लगने वाली लागतों का विश्लेषण, लाभ की मात्रा के नियोजन, मूल्य नीति निर्धारण तथा फर्म के प्रभावी नियन्त्रण के लिये अति आवष्यक है अतः इसके अन्तर्गत लागत की धारणाओं – औसत एवं सीमान्त लागत, स्थिर एवं परिवर्तनशील लागत, अल्पकालीन एवं दीर्घकालीन लागत, लागत को नापने की विधियों का विवेचन, लागत और उत्पादन मात्रा में सम्बन्ध, पैमाने के प्रतिफल, उत्पादन प्रक्रिया, रेखीय कार्यक्रम (Linear Programming), तथा सम–विच्छेद बिन्दु विश्लेषण आदि का अध्ययन किया जाता है ।

3. मुल्य निर्धारण नीतियां एवं व्यवहार – मूल्य निर्धारण किसी फर्म के लिए सर्वाधिक महत्व का विषय होता है क्योंकि फर्म के लाभ, वस्तु की मांग और फर्म की सफलता बहुत कुछ इसी पर निर्भर है अतः इसके अन्तर्गत बाजार की विभिन्न दशाओं – पूर्ण प्रतियोगिता, अपूर्ण प्रतियोगिता, एकाधिकार, अल्पाधिकार अथवा द्वयाधिकार, एकाधिकृत प्रतियोगिता– में मूल्य निर्धारण सिद्धान्तो का अध्ययन किया जाता है । मूल्यों सम्बन्धी पूर्वानुमान और विक्रय समस्याओं का भी इसके अन्तर्गत विश्लेषण होता है इसमें अल्पकालीन तथा दीर्घकालीन मूल्य नीतियों का भी अध्ययन होता है ।

4. लाभ अधिकतमकरण अथवा लाभ प्रबन्ध – प्रत्येक उत्पादक एवं व्यावसायिक फर्म का उददेष्य अन्ततः लाभ को अधिकतम करने का होता है लाभ की मात्रा मूल्य, आगम तथा लागत पर निर्भर है। अतः प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र में लाभ के अधिकतमकरण तथा लाभ नियोजन के लिये लाभ सम्बन्धी धारणाओं, लाभ की प्रकृति, लाभ के मापन, लागत नियंत्रण तथा लाभ अधिकतमकरण रीतियों का अध्ययन, उपयुक्त लाभ नीति का चयन करना आदि इसके क्षेत्र में आते है ।

5. पूँजी प्रबन्ध – पूँजी आधुनिक व्यवसाय का प्राण है अतः पूँजीगत विनियोगों के लिये आवष्यक साधन जुटाने, पूँजीगत व्ययों का समुचित नियोजन तथा प्रभावी नियंत्रण करने के लिये प्रबन्धकों को पूँजी की लागत, उस पर प्राप्त होने वाले लाभ की दर की गणना और पूँजीगत व्यय वाली वैकल्पिक परियोजना में से विवेकपूर्ण चुनाव के लिये उनका मूल्यांकन एवं तुलना आदि विषयों का अध्ययन पूँजी प्रबन्ध के महत्वपूर्ण भाग है ।

6. परियोजना मूल्यांकन – जब व्यावसायिक फर्म की परियोजना का समग्र रूप से मूल्यांकन किया जाता है तो फर्म की विभिन्न योजनाओं की उपयुक्तता या कमियों का पता लगाया जा सकता है अतः इसके अन्तर्गत आदा–प्रदा विष्लेषण, मांग एवं लागत विश्लेषण के आधार पर फर्म का उपयुक्त आकार, साधनों का अनुकूलतम संयोग निर्धारण, मूल्य नीतियों और व्यवहार में सामन्जस्य, ओपरेशन रिसर्च तकनीकों – रेखीय कार्यक्रम, खेल का सिद्धान्त, इन्वेन्टरी मॉडल्स आदि का अध्ययन करना पडता है ।

7. अन्य – इसके अन्तर्गत वे विषय आते है जो प्रत्यक्ष रूप से तो प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र के अध्ययन क्षेत्र में नही आते वरन् अप्रत्यक्ष रूप से उनको प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र के अध्ययन क्षेत्र की परिधि में माना जाता है ।

(I) सरकार की व्यापारिक एवं औद्योगिक नीतियां– आजकल आर्थिक जीवन में राज्य के बढते हस्तक्षेप से व्यावसायिक फर्मे भी अछूती नही है। राज्य अपनी व्यापारिक, मूल्य तथा औद्योगिक नीतियों द्वारा फर्म के कार्यो व निर्णय को प्रभावित करता है अतः यह भी अप्रत्यक्ष रूप से प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र के क्षेत्र में सम्मिलित है।

(II) व्यापक अर्थशास्त्र के घटक (Macro Economic Factors) – फर्म की क्रियाओं को बाह्य शक्तियां भी व्यापक रूप से प्रभावित करती हैं जिनमें व्यापार चक्र, मौद्रिक नीति, विदेशी व्यापार नीति, राजकोषीय नीति, सामान्य मूल्य स्तर, राष्ट्रीय आय व उपभोग एवं विनियोग, बेकारी की समस्या नापनें की विधियॉ, लागत नियन्त्रण की रीतियों तथा लाभ को अधिकतक करने की पद्वतियों का अध्ययन इसके क्षेत्र में आता है ।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

व्यावसायिक/प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र और अर्थशास्त्र में भेद (अन्तर–तुलना)

प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र परम्परागत अर्थशास्त्र के सिद्वान्तो के व्यावहारिक प्रयोग की नवीन शाखा है अतः प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र में कोई आधारभूत अन्तर तो नहीं है किन्तु फिर भी निम्न अन्तर दृष्टिगोचर होते है –

1. अर्थशास्त्र का अधिक व्यापक विषय है जबकि प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र उसकी एक विशिष्ट शाखा है।
2. अर्थशास्त्र व्यष्टि अर्थशास्त्र और समष्टि अर्थशास्त्र (Micro Economics and Macro Economics) दोनों का समावेश है जबकि प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र व्यष्टि अर्थशास्त्र का एक अंग मात्र है ।
3. अर्थशास्त्र एक अधिक पुराना विषय है जबकि प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र ज्ञान की एक नवोदित शाखा है जिसका उदगम द्वितीय विष्वयुद्ध के साथ–साथ हुआ है और उसके विकास की प्रक्रिया काफी नयी है ।
4. अर्थशास्त्र के अन्तर्गत व्यक्ति एवं फर्मो दोनों का अध्ययन होता है जबकि प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र मे अन्तर्गत केवल व्यावसायिक फर्मो की समस्याओं व उनके समाधान का ही अध्ययन होता है ।
5. अर्थशास्त्र के अध्ययन एवं विश्लेषण में विशुद्ध सैद्धान्तिक दृष्टिकोण की प्रधानता है जबकि प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र में अध्ययन एवं विश्लेषण का व्यावहारिक दृष्टिकोण होता है ।
6. अर्थशास्त्र के सिद्धान्तो का प्रतिपादन एवं विवेचन अनेक काल्पनिक मान्यताओं पर होता है जबकि प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र के अन्तर्गत मान्यताओं में वयावहारिक परिस्थितियों के अनुरूप समायोजन किया जाता है । जहॉ अर्थशास्त्र की धारणायें काल्पनिक होती है वहां प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र की धारणाएँ अधिक व्यावहारिक एवं वास्तविकता के निकट होती है ।
7. अर्थशास्त्र की वास्तविक विज्ञान के रूप में अधिक मान्यता है यह वर्णात्मक है जबकि प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र की प्रकृति निर्देशात्मक (Perspective) है अतः इसे नीति प्रधान आदर्श विज्ञान के रूप में देखा जाता है ।
8. अर्थशास्त्र में सिद्धान्तों का विश्लेषण किया जाता है जबकि प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र में इन सिद्धान्तों का विश्लेषण कर उसका व्यावहारिक प्रयोग फर्म की समस्यओं के समाधान, फर्म के नियोजन तथा नीति निर्धारण में किया जाता है ।
9. अर्थशास्त्र की व्यष्टि शाखा में जहॉ वितरण के सभी सिद्धान्तो (लगान, मजदूरी, ब्याज तथा लाभ के सिद्वान्तो) का अध्ययन होता है वहॉ प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र में केवल लाभ के सिद्वान्त का ही अध्ययन होता है ।
10. मेसी के अनुसार अर्थशास्त्र में मॉग एवं पूर्ति दोनो का विश्लेषण सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था के सामान्य कार्यकरण के सन्दर्भ में किया जाता है जबकि प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र में मांग और पूर्ति का विश्लेषण केवल किसी फर्म विशेष की क्रियाओं समस्याओं के समाधान नीति निर्धारण और भावी नियोजन के सन्दर्भ में ही किया जाता है।

व्यावसायिक अर्थशास्त्र अथवा प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र का अन्य विषयों (शास्त्रो) के सम्बन्ध

प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र ज्ञान की एक ऐसी नवादित शाखा है जिसके विकास के अनेक विषयों का योगदान है । यह विशुद्ध आर्थिक सिद्धान्तो को फर्म के व्यावहारिक प्रयोगों का अजीब संयोग होने के कारण इसका व्यष्टि अर्थशास्त्र, गणित सांख्यिकी, संक्रिया अनुसंधान, लेखाशास्त्र एवं सार्वजनिक अर्थशास्त्र से घनिष्ठ सम्बन्ध है जैसा अग्र विवरण से संकेत मिलता है –

1. प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र एवं व्यष्टि अर्थशास्त्र में सम्बन्ध – व्यष्टि अर्थशास्त्र जिसमें मूल्य सिद्धान्त अथवा फर्म के सिद्धान्त की प्रधानता है प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र की अवधारणाओं एवं विश्लेषण विधियों का प्रमुख स्त्रोत है, जैसे – मॉग की लोच के विभिन्न रूप, सीमान्त आगम, सीमान्त लागत, लागत का विष्लेषण, गुणक, उत्पादन फलन, मूल्य

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

तथा मात्रा निर्धारण के सिद्धान्त, लाभ का सिद्धान्त, मांग का पूर्वानुमान, उत्पादन मॉडल, बाजार, बाजार के विभिन्न रूप, मॉग का उपयोगिता एवं तटस्था वक्र विश्लेषण – इन सभी का प्रयोग प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र में आवष्यक समायोजनों के बाद किया जाता है । अतः दोनों में घनिष्ठ सम्बन्ध है ।

2. व्यावसायिक/प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र एवं समष्टि अर्थशास्त्र में सम्बन्ध – यद्यपि प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र व्यष्टि अर्थशास्त्र का एक अंग है समष्टि अर्थशास्त्र का ज्ञान प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र पर बाह्य परिस्थितियों के पडने वाले प्रभावों का विश्लेषण करने तथा उनका व्यावहारिक समायोजन करने में अत्यन्त आवष्यक है । समष्टि अर्थशास्त्र के घटकों – व्यापार चक्र, मौद्रिक नीति, राजकोषीय नीति, सरकारी आर्थिक नीतियॉ, राष्ट्रीय आय, कुल रोजगार, उपभोग एवं विनियोग आदि का फर्म के भावी नियोजन एवं नीति निर्धारण में व्यापक सम्बन्ध है ।

3. व्यावसायिक / प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र एवं गणित में सम्बन्ध – प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र में आर्थिक सिद्धान्तो के विश्लेषण एवं व्यावहारिक प्रयोग के लिए गणितीय उपकरणों का प्रयोग किया जाता है। प्रबन्ध अर्थशास्त्र में निर्णयों व नियोजन में अधिक सही जानकारी के लिए निरन्तर संक्रिया अनुसंधान का बढता महत्व गणित के व्यापक प्रयोग का परिचायक है । मॉग पूर्वानुमान, आदान प्रदान विष्लेषण, उत्पादन फलन आदि में गणित का काफी प्रयोग होता है ।

4. प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र एव लेखा शास्त्र का सम्बन्ध – लेखाशास्त्र फर्म के आय व्यय का लेखा जोखा ही नही वरन् प्रबन्धकीय नियंत्रण और नियोजन का आधार भी है । लेखा लागतों, वितीय लेखो और हानि लाभ खातों के विश्लेषण से फर्म के कार्यकरण में सुधार की गुंजाइश की खोज की जा सकती है । अतः लेखाशास्त्र प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र में नीति निर्धारण के लिए विषय सामग्री का स्त्रोत है अतः इसका प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र से घनिष्ठ सम्बन्ध है ।

5. प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र एवं संक्रिया अनुसन्धान – आधुनिक प्रबन्ध संक्रिया अनुसंधान का महत्व निर्णय प्रक्रिया में निरन्तर बढ रहा है । फर्म के अनुकूलतम आकार, उत्पादन साधनों के चयन की समस्या, वैकल्पिक उत्पादन विधियों में उपयुक्त विधि का चुनाव, लाभ अधिकतमकरण तथा लागत न्यूनतमकरण (Profit Maximization & Cost Minimization) आदि महत्वपूर्ण समस्याओं के समाधान में संक्रिया अनुसंधान के उपकरणें – रेखीय प्रोग्रामिंग, इन्वेन्टरी मॉडल्स, खेल सिद्धान्त, उत्पादन फलन आदि का व्यापक प्रयोग होने से प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र का संक्रिया अनुसन्धान से भी घनिष्ठ सम्बन्ध है ।

6. प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र का सांख्यिकी से सम्बन्ध – प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र में मॉग एवं मूल्यो का पूर्वानुमान, अनिष्चितताओं में सम्भावना की जानकारी आदि के लिए सांख्यिकी विधियों का प्रयोग किया जाता है । सम्भाव्य का सिद्धान्त (Theory of Probability) अनिष्चितताओं के वातावरण में तर्कपूर्ण निर्णय में सहायक होता है । साख्यिकी तरीको से आर्थिक सिद्धान्तो की जॉच करने तथा फर्म के कार्यो के पारस्परिक सम्बन्धो का माप करने में सहायता मिलती है अतः सांख्यिकी भी प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित है ।

7. प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र का सार्वजनिक अर्थशास्त्र से सम्बन्ध – आधुनिक युग मं राज्य के आर्थिक क्षेत्र में बढते हस्तक्षेप से व्यावसायिक फर्मे अछूती नही है। सरकार की आर्थिक नीतियॉ – व्यापारिक एवं औद्योगिक नीतियॉ , मूल्य नीति, मजदूरी नीति आदि फर्म के कार्यकलापों का प्रभावित करती है अतः प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र व्यवसाय के नीति निर्धारण और भावी नियोजन में सार्वजनिक अर्थशास्त्र की उपेक्षा नही कर सकता है। यही कारण है कि इन दोने में घनिष्ठ पारस्परिक सम्बन्ध है ।

स्पष्ट है कि प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र का उपर्युक्त विषयों से घनिष्ठ सम्बन्ध है परिणामस्वरूप एक प्रबन्ध को इन सभी विषयों के ज्ञान तथा विश्लेषण विधियों का समन्वय करना पडता है । समन्वय जितना अधिक उपयुक्त एवं कुशल होगा फर्म के निर्णय, नियोजन, निदेश, नियन्त्रण और संगठन की प्रक्रिया भी उतनी ही कुशल एवं प्रभावी होगी ।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

बोध प्रश्न :–

- हैन्स की परिभाषा आर्थिक विश्लेषण के किस प्रयोग पर बल देती है
- व्यावसायिक अर्थशास्त्र कला है अथवा विज्ञान ?
- व्यावसायिक अर्थशास्त्र परम्परागत अर्थशास्त्र से कैसे भिन्न है ?
- व्यावसायिक अर्थशास्त्र का अन्य शास्त्रो से क्या सम्बन्ध है ?

1.2 व्यावसायिक अर्थशास्त्र की व्यावसायिक निर्णयों में भूमिका :–

व्यावसायिक फर्मो की जटिल आर्थिक समस्याओं के समाधान एवं अनेक अनिष्चितताओं के वातावरण में कुशल नियोजन एवं विवेकपूर्ण निर्णय का विशेष महत्व है। अतः सर्वोच्च प्रबन्ध (Top Management) को आर्थिक मामलो पर सलाह देने के लिये जिस अधिकारी अथवा अधिकारियों को नियुक्ति की जाती है उन्हे प्रबन्धकीय अर्थशास्त्री (Management Economists) कहा जाता है। यह प्रबन्धकीय अर्थशास्त्री अपने विशेष ज्ञान एवं प्रबन्ध तकनीक के द्वारा उच्चाधिकारियों को भावी नियोजन एवं आर्थिक निर्णयों में उपयोगी सहायता प्रदान करता है। वह व्यावसायिक फर्मो की समस्याओं के विष्लेषण, संगठन के मूल्यांकन तथा वैकल्पिक परियोजनाओं की तुलना में, परिष्कृत एवं आधुनिकतम विधियों का प्रयोग करता है और उचित समाधान ढूँढने में बहुमूल्य भूमिका निभाता है।

इस व्यावसायिक प्रगति के युग में सर्वोच्च प्रबन्ध की जटिल आर्थिक समस्याओं के समाधान ढूँढने में प्रबन्धकीय अर्थशास्त्रियों के महत्व को प्रर्याप्त रूप से स्वीकार किया गया है। आज विष्व के समृद्ध विकसित देशों – अमेरिका, रूस, जापान इंग्लैण्ड, फ्रांस, जर्मनी आदि में बडी बडी व्यापारिक एवं व्यावसायिक फर्मे एक या अधिक प्रबन्धकीय अर्थशास्त्री रखती है। हमारे देश में भी इनका महत्व बढ रहा है। बडे बडे उद्योगपति एवं व्यवसायी उनकी सेवाओं से लाभान्वित होने के लिये प्रयत्नशील है।

व्यावसाय में प्रबन्धकीय अथवा व्यावसायिक अर्थशास्त्री की भूमिका एवं कार्य

व्यावसायिक क्षेत्र में अनिष्चितताओं के वातावरण में निर्णय और नियोजन दोनें कठिन कार्य है । अगर प्रबन्धकीय अर्थशास्त्री अपने विशेष ज्ञान, प्रबन्धकीय योग्यता और तकनीकी जानकारी से अनिष्चितआओं का पूर्वानुमान लगाकर प्रबन्धकीय निर्णयों में निष्चितता लाता है तो वह अपने कार्य में काफी सफल कहा जायेगा ।

किसी भी व्यावसायिक फर्म का संचालन, संगठन और सफलता दो प्रकार के तत्वों – आन्तरिक तत्वों (Internal Factors) तथा बाह्य तत्वों (External Factors) से प्रभावित होती है । अगर प्रबन्धकीय अर्थशास्त्री इन दोनों प्रकार के तत्वों का व्यापक विश्लेषण कर उनके प्रभावों को निष्चित रूप से प्रबन्धकीय निर्णयों में समायोजित करवा सके तो न केवल अनिष्चितताओं में कमी आएगी वरन् व्यावसायिक फर्म के सफल संचालन और तीव्र प्रगति का मार्ग प्रशस्त होगा । इस परिप्रेक्ष्य में प्रबन्धकीय अर्थशास्त्री की प्रबन्धकीय निर्णयों में भूमिका अलग अलग परिस्थितियों में इस प्रकार होगी

A. आन्तरिक तत्वों का विश्लेषण अथवा व्यावसायिक क्रियाओं का विश्लेषण :–

आन्तरिक तत्वों अथवा व्यावसायिक क्रियाओं का अभिप्राय उन कारको से है जो किसी फर्म विशेष के अन्दर अथवा उसके कार्यक्षेत्र के अन्तर्गत आते है, उन पर फर्म के प्रबन्धको का पर्याप्त नियन्त्रण होता है, जैसे – उत्पादन मात्रा निर्धारण, मूल्य निर्धारण, व्यापार का विस्तार एवं संकुचन, फर्म में प्रयुक्त उत्पादन विधि, स्थापित क्षमता का प्रयोग करना या न करना, वितीय व्यवस्था, पूँजी एवं लाभ प्रबन्ध आदि ।

फर्म की व्यावसायिक क्रियाओं तथा आन्तरिक तत्वों के अन्तर्गत आते है । इस प्रकार के मामलों में प्रबन्धकीय अर्थशास्त्री प्रबन्ध को निम्न क्षेत्रों में मदद कर महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है :–

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

(1) आगामी वर्ष में लाभ तथा विक्रय मात्रा का बजट निर्धारण,

(2) आगामी वर्ष में उत्पादन मात्रा व माल अनुसूचियॉ और स्कन्ध नीति निष्चित करना,

(3) अगले वर्षो में मूल्य नीति एवं मजदूरी नीति में क्या क्या परिवर्तन किया जाना चाहिए,

(4) आगामी अवधि में फर्म की साख नीति कैसी हो, उसमें क्या क्या परिवर्तन वांछनीय है,

(5) अगले वर्ष में व्यापार का विस्तार या संकुचन किया जाए अगर हॉ तो कितना कितना,

(6) आगामी वर्ष में कितनी स्थापित क्षमता का प्रयोग किया जाए और कौन कौन से साधनों को कितना कितना लगाया जाए कि साधनों का आदर्श संयोग हो सके,

(7) लागत न्यूनतम करने के लिये क्या कदम उठाने चाहिये,

(8) आगामी वर्ष की तिमाही, छमाही आदि में कितना–कितना रोकड़ शेष उपलब्ध होगा और कमी की पूर्ति कैसे की जायेगी तथा आधिक्य का विनियोग कैसे करना चाहिए आदि का सुझाव देता है ।

B. बाह्य तत्वों का विश्लेषण :–

व्यावसायिक फर्म के निर्णयों पर केवल आन्तरिक तत्व ही प्रभाव नही डालते वरन् बाह्य परिस्थितियॉ भी काफी प्रभाव डालती है । ये न तो फर्म के नियन्त्रण में होती हैं और न उसके कार्यक्षेत्र में ही पडती है । उदाहरणार्थ व्यापार चक्र, सरकारी नीतियॉ, मौद्रिक नीति, राजकोषीय नीति, राष्ट्रीय आय, विदेशी व्यापार नीति, श्रम अधिनियम, सरकार की मूल्य नीति आदि ऐसे बाह्य कारक हैं जो फर्म के भावी नियोजन एवं निर्णयो को व्यापक रूप से प्रभावित करते है । अतः प्रबन्धकीय अर्थशास्त्री इन कारकों का निरन्तर अध्ययन और व्यापक विश्लेषण कर सर्वोच्च प्रबन्ध को नीतियों में आवष्यक समायोजन की सलाह देकर अपना कर्तव्य निभा सकता है । उसे मुख्यतः निम्न क्षेत्रो के विषय में सलाह देनी चाहिये :–

(1) किन किन बाजारों में क्या क्या मॉग होगी और फर्म के उत्पादों के बाजार की सम्भावनाऍ कैसी है ?

(2) राष्ट्रीय अर्थ व्यवस्था और अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की क्या क्या प्रवृतियॉ है और निकट भविष्य में उनमें परिवर्तन की क्या सम्भावनाऍ है ?

(3) व्यापार चक्र की कौनसी अवस्था है और निकट भविष्य में उसका रूख एवं गति क्या होगी ?

(4) कच्चे माल की पूर्ति तथा मूल्य की सम्भावनाऍ क्या है और निकट भविष्य में उनमें क्या सम्भावनाऍ है ?

(5) निर्मित माल की भावी मांग एवं मूल्य सम्बन्धी सम्भावनाओं का पता लगाना ।

(6) भविष्य में साख की लागत एवं उपलब्धता की सम्भावनाऍ क्या है ?

(7) सरकार की आर्थिक नीतियों व नियन्त्रणों में परिवर्तन की सम्भावनाऍ क्या क्या है ?

(8) ईंधन अथवा शक्ति की उपलब्धता एवं लागत की भावी सम्भावनाऍ क्या है ?

(9) व्यवसाय में भविष्य मं प्रतियोगिता घटने या बढ़ने की सम्भावनाऍ कैसी है ?

(10) राष्ट्रीय आय में भविष्य में परिवर्तन की सम्भावनाऍ एवं गति क्या है तथा उसका फर्म के उत्पादन की मॉग में क्या परिवर्तन होगा ?

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

C. प्रबन्धकीय अथवा व्यावसायिक अर्थशास्त्री के विशिष्ट कार्य :–

प्रबन्धकीय अर्थशास्त्री व्यावसायिक फर्मो में आन्तरिक तत्वों तथा बाह्य तत्वों का विश्लेषण करके भावी निर्णयों में सलाह तो देता ही है पर आजकल उनके कार्यो मं वृद्धि हो गई है और वे उनके विशिष्ट कार्य भी करते हैं जो सरकार, व्यवसायी, व्यक्तियों एवं उद्योगपतियों को लाभप्रद होता है। इनमें कतिपय विशिष्ट कार्य इस प्रकार है –

(1) विभिन्न बाजारों का सर्वेक्षण करना,

(2) व्यवसाय का उद्योग की कुल मॉग का पूर्वानुमान लगाना,

(3) विभिन्न उद्योगों में मूल्य निर्धारण का विश्लेषण करके समस्या का उपयुक्त हल ढूढना,

(4) प्रतिस्पर्द्धी फर्मो के मूल्यों, लागतो एवं क्रियाओं का विश्लेषण करना,

(5) उत्पादक कार्यो में पूँजी परियोजनाओं का मूल्यांकन एवं विष्लेषण,

(6) उद्योग में उत्पादन अनुसूचियॉ एवं माल तालिकाओं का निर्धारण,

(7) उपलब्ध वितीय साधनों के विभिन्न विनियोग निर्णय करना,

(8) कृषि, उद्योग, परिवहन अथवा अन्य विकास कार्यो का विष्लेषण,

(9) अर्थव्यवस्था के विकास का विश्लेषण करना,

(10) परियोजनाओं का तुलनात्मक विश्लेषण आदि,

(11) व्यावसायिक फर्म को प्रभावित करने वाल बाह्य परिस्थितियों का पूर्वानुमान ।

इस प्रकार के विश्लेषण करने के लिये प्रबन्धकीय अथशास्त्री को अनेक सूचनाएँ, ऑकडे एकत्रित करने होंगे तथा उनके विश्लेषण की उपयुक्त विधियों का चयन करना होगा ।

D. सामान्य आर्थिक सूचनाएँ उपलब्ध करना :–

प्रबन्धकीय अर्थशास्त्री विशिष्ट कार्यो के अलावा फर्म के प्रबन्धको को सामान्य आर्थिक सूचनाएँ भी उपलब्ध करता है, जो तात्कालिक मार्गदर्शन में उपयोगी रहती है । उदाहरणार्थ उत्पादन शुल्क, आयात शुल्क, निर्यात शुल्क व करों की दरे क्या है, प्रतियोगी फर्मो के मूल्य क्या क्या है, उनका उत्पादन एवं विक्रय कितना कितना है । फर्म के उत्पाद के प्रति ग्राहकों का क्या रूख है । देश, क्षेत्र या विभिन्न बाजारों की सम्भावित जनसंख्या क्या क्या है। परिवहन की तुलनात्मक दरें क्या है। ये सब सूचनाएँ प्रबन्धकों के लिए उपयोगी रहती है ।

प्रबन्धकीय अर्थशास्त्री के उतरदायित्व अथवा जिम्मेदारियॉ

प्रबन्धीय अर्थशास्त्री सर्वोच्च प्रबन्ध (Top Management) को आर्थिक मामलों में सलाह देकर व्यवसाय के भावी नियोजन तथा निर्णय करनें में काफी सहायता प्रदान करता है । वह अपने सलाह कार्य में तभी सफल सिद्ध हो सकता है जबकि वह अपने उतरदायित्वों को भली भांति समझकर उन्हें निष्ठा से सफलतापूर्वक पूरा करें । इस दृष्टि से उसके प्रमुख उतरदायित्व इस प्रकार है –

1. आर्थिक सूचनाओं के स्त्रोतों एवं विशेषज्ञों से निकट सम्पर्क (Close Contacts with the sources of Economic Information & Experts) – प्रबन्धकीय अर्थशास्त्री अपने उतरदायित्व को तभी निभा सकता है जबकि वह उन सब आर्थिक सूचना स्त्रोतों और ऐसे विशेषज्ञों से निकट सम्पर्क रखे जो उस फर्म को प्रभावित करने वाल आर्थिक सूचनाएँ उपलब्ध कराते रहें अथवा आवष्यक विशेषज्ञ राय दे सके । इससे न केवल यथाशीघ्र पर्याप्त आर्थिक सूचनाएँ उपलब्ध हो सकेंगी वरन् विशेषज्ञों के निकट सम्पर्क से वह अपने विश्लेषण और निष्कर्षो में अधिक यथार्थता ला सकेगा जो नीति निर्धारण और भावी नियोजन में उपयोगी है ।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

2. सफल पूर्वानुमान (Successful Forecasting) – प्रत्येक व्यावसायिक फर्म के सामने भविष्य की अनिष्चितता का तत्व रहता है और प्रबन्धकीय अर्थशास्त्री का यह उतरदायित्व है कि वह व्यावसायिक प्रबन्धकों को मूल्यों, मॉग आदि के सही सही पूर्वानुमान उपलब्ध करके भविष्य की अनिष्चितताओं का समाप्त कर जोखिम में कमी कर सके । जितने ही उसके पूर्वानुमान सही होंगे उतना ही फर्म में उसका स्थान ऊंचा होगा और प्रबन्ध में विष्वास जमेगा ।

   व्यावसाय में निरन्तर नयी नयी बाह्य परिस्थितियों का प्रभाव पडता रहता है अतः प्रबन्धकीय अर्थशास्त्री को समय समय पर पूर्वानुमानों में होने वाल अशुद्धता अथवा त्रुटि को दूर करने के लिए यथाशीघ्र संशोधित पूर्वानुमान प्रस्तुत करते रहना चाहिये ताकि प्रबन्ध बदलती परिस्थितियों के अनुसार अपनी भावी योजनाओं और नीति निर्णयों में वॉछित समायोजन कर सके । यहॉ यह उल्लेखनीय है कि प्रबन्धकीय अर्थशास्त्री को व्यापार चक्रों तथा व्यापर की प्रवुति में आने वाली घटनाओं से फर्म की क्रियाओं मं आने वाल परावर्तन बिन्दुओ (Turning Points) के बारे में प्रबन्धकों को समय समय पर सतर्क करते रहना चाहिए ।

3. विनियोजित पूँजी पर समुचित लाभ तथा उसमें वृद्धि का प्रयास (Efforts for Reasonable Return on Capital Employed & Increase therein) – प्रत्येक व्यावसायिक फर्म का उददेष्य अन्ततः लाभ कमाना होता है । इस उददेष्य की प्राप्ति के लिये ही तो सब कार्यरत व्यक्ति प्रयास करते है । अगर व्यवसाय के निर्णय एवं भावी नियोजन समयानुकुल न रहे तो उसका उतरदायित्व प्रबन्धकीय अर्थशास्त्री व प्रबन्धकों पर है और उसमें उनकी अकुशलता झलकती है। चूँकि प्रबन्धकीय अर्थशास्त्री आर्थिक मामलों में विशेषज्ञ माना जाता है तो उसका उतरदायित्व है कि वह सही पूर्वानुमानों, उपयुक्त मूल्य एवं उत्पादन नीतियों के द्वारा निरन्तर फर्म की लाभार्जन क्षमता में वृद्धि में सहायक हो और फर्म को विनियोजित पूँजी पर समुचित लाभ मिल जावे । वैसे लाभ में निरन्तर वृद्धि वांछनीय है। अगर वह फर्म को विनियोजित पूँजी पर समुचित लाभ दिलवाने में असमर्थ रहा तो फर्म के प्रबन्धकों का विष्वास खो बैठेगा व उसकी प्रतिष्ठा कम होगी । यही नही, फर्म में उसकी उपादेयता ही संन्दिग्ध हो जायेगी ।

4. फर्म में अपनी उच्च प्रतिष्ठा व प्रस्थिति जमाना (Establishing High Reputation & Status in the Firm) – प्रबन्धकीय अर्थशास्त्री को अपने कार्यो में दक्षता, निष्ठा, सफल पूर्वानुमानों एवं फर्म में बढती लाभ अर्जन शक्ति का निर्माण करके फर्म में अपनी उच्च प्रतिष्ठा कायम करनी चाहिये ताकि उसे फर्म में अपना उपयुक्त स्थान मिले । अगर वह अपने द्वारा प्रदत आर्थिक मामलों की सलाह में प्रबन्ध का समर्थन प्राप्त कर लेता है तथा जटिल आर्थिक समस्याओं का सुबोध हल प्रस्तुत करता है तो प्रबन्धकों में उसके प्रति विष्वास एवं आस्था जागृत होगी और अगर वह उपर्युक्त कार्यो में अकुशल एवं असफल रहा तो अपनी प्रतिष्ठा एवं स्थान खो बैठेगा । अतः काफी सतर्कता, विवेक एवं निष्ठा की आवष्यकता है ।

5. सौहार्द्रपुर्ण सम्बन्ध (Sweet Relations) – प्रबन्धकीय अर्थशास्त्री का कर्तव्य है कि उसे फर्म के सभी प्रबन्धको व कार्यरत लोगों से सौहार्द्रपूर्ण सम्बन्ध रखने चाहिए ताकि न केवल मानसिक शान्ति के बातावरण में कार्य हो वरन् उसमें कुशलता आए, सहयोग मिले और विरोध की प्रवृति उत्पन्न न हो।

   स्पष्ट है कि प्रबन्धकीय अर्थशास्त्री को अपने उपर्युक्त उतरदायित्वों के प्रति सजग रहना चाहिए तथा अपने कार्य में निष्ठा, दक्षता और यथार्थता के निकट ही विशेषज्ञ सेवाऍ देकर अपनी उपादेयता सिद्व करनी चाहिए अन्यथा व्यवसायी उसे विलासिता मानकर परित्याग की सोच सकते हैं जो न केवल उसके स्वयं के रोजगार को खतरा है वरन् सभी प्रबन्धकीय अर्थशास्त्रीयों की प्रतिष्ठा को धक्का पहुँचा सकता है । उनकी उपदेयता को धूमिल कर देता है ।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

व्यावसायिक/प्रबन्धकीय अर्थशास्त्री की उपादेयता अथवा उपयोगिता

सभी व्यवसायिक प्रबन्धको के लिए प्रबन्धकीय व्यावसायिक अर्थशास्त्री अनेक कार्यो से उपयोगी सिद्ध हो सकता है जिसमें प्रमुख ये है –

1. आर्थिक मामलों में उपयोगी सलाह देकर वह प्रबन्धको को भावी नियोजन व निर्णयों में सहायता प्रदान करता है ।
2. अनिष्चितताओं की जोखिम में कमी – प्रबन्धकीय अर्थशास्त्री भविष्य की अनिष्चितताओं को दूर करके जोखिम में कमी करता है । वह व्यवसाय में सफल पूर्वानुमानों के द्वारा प्रबन्धकों को उपयुक्त निर्णय लेनें में मदद करता है ।
3. विष्वसनीय पूर्वानुमान – प्रबन्धकीय अर्थशास्त्री फर्म के मूल्यों, विक्रय, पूँजी, माल तालिकाओं का पूर्वानुमान लगाकर प्रबन्धकों का भावी नियोजन में उपयोगी सामग्री उपलब्ध करते है । बाजार अनुसन्धान में फर्म के उत्पादों में आवष्यक सुधार किया जा सकता है ।
4. मितव्ययितापूर्ण संचालन – प्रबन्धकीय अर्थशास्त्री फर्म के विभिन्न क्षेत्रों में आर्थिक विश्लेषण का प्रत्येक क्षेत्र में मितव्ययिता को बढावा दे सकता है जिसमें फर्म का मितव्ययितापूर्ण संचालन सम्भव होता है ।
5. उत्पादन एवं वितरण लागतों मे कमी करना – प्रबन्धकीय अर्थशास्त्री फर्म की आन्तरिक एवं बाह्य परिस्थितियों का विश्लेषण कर उत्पादन एवं वितरण में उपयुक्त सामंजस्य स्थापित कर लागतों मं कमी करवा सकता है ।
6. फर्म की प्रतिस्पर्द्धात्मक शक्ति में वृद्धि – फर्म के विष्वसनीय पूर्वानुमान मितव्ययतापूर्ण संचालन तथा लागतों में कमी से फर्म की प्रतिस्पर्द्धात्मक शक्ति में वृद्धि की जाती है ताकि फर्म को प्रतियोगी फर्मो के मुकाबले लाभ रहे ।
7. लाभ अर्जन क्षमता में वृद्धि – प्रबन्धकीय अर्थशास्त्री प्रबन्धकों को उपयोगी सलाह देकर फर्म की लाभ अर्जन शक्ति में वृद्धि कर सकता है ।
8. सहकारी आर्थिक नीतियों का कार्यान्वयन – आजकल व्यापार एवं उद्योग में बढते राजकीय हस्तक्षेप के कारण प्रबन्धकीय अर्थशास्त्री फर्म को सरकार की सम्बन्धित आर्थिक नीतियों का लागू करवाकर सरकारी क्षोभ से बचाने में सहायता कर सकता है ।
9. बाह्य परिस्थितियों से तालमें रखने में सहायता मिलती है और फर्म को अपनी नीतियों में मौद्रिक नीति, राजकोषीय नीति, मूल्य नीति आदि का समायोजन करने में उपयोगी रहता है।

बोध प्रश्न :–

- व्यावसायिक निर्णयों के लेने में आन्तिरिक तत्वों का उल्लेख कीजिये ।
- व्यावसायिक निर्णयों के लेने में बाह्य तत्वों का उल्लेख कीजिये ।
- प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र के उतरदायित्वों को समझाइयें ।
- व्यावसायिक अर्थशास्त्र की उपयोगिता समझाइये ।
- व्यावसायिक अर्थशास्त्री के विभिन्न कार्यो को समझाईयें ।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

1.3 आगमन व निगमन प्रणालियां :–

आर्थिक अध्ययन की रीतियों का तात्पर्य :–

अध्ययन रीति से आशय उस तर्कपूर्ण प्रणाली से होता है जिसका उपयोग सत्यता की खोज करने के लिए किया जाता है । पूर्व अध्याय में हम यह देख चुके है कि अर्थशास्त्र विज्ञान है । विज्ञान के अन्तर्गत 'कारण' और 'परिणाम' के बीच सम्बन्ध स्थापित करते हुए निष्कर्ष निकाले जाते है और ऐसा करने के लिए वह कुछ निष्चित विधियों को अपनाता है । चूंकि अर्थशास्त्र भी एक विज्ञान है, इसलिए वह भी अपने नियमों व सिद्धान्तो की खोज करने में कुछ विधियों अथवा प्रणालियों का सहारा लेता है । इन विधियों अथवा प्रणालियों को अर्थशास्त्र के 'अध्ययन की रीतियॉ' कहा जाता है। 'रीति' शब्द का अभिप्राय ''उस तर्कपूर्ण प्रणाली से है जिसका प्रयोग सच्चाई को खोजने या उसे व्यक्त करने हेतु किया जाता है ।'' अर्थशास्त्र में आर्थिक अध्ययन की रीतियों का बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है । बेजहाट (Bagehat) ने लिखा है कि ''यदि आप ऐसी समस्याओं को बिना किसी रीति से सुलझाना चाहते है, तो आप ठीक उसी प्रकार असफल रहेंगे जिस प्रकार कि एक साधारण अक्रमण के द्वारा किसी आधुनिक सैनिक दुर्ग को जीतने ।''

आर्थिक विचारों के इतिहास (History of Erconomic Thought) के अध्ययन से ज्ञात होता है कि आर्थिक निष्कर्षो को निकालने के लिए अर्थशास्त्रियों के विभिन्न प्रणालियों का प्रयोग किया है। इनमें से प्रमुख प्रणालियॉ अनुमान प्रणली का निगमन प्रणाली (Deductive Method), अनुभव प्रणाली या आगमन प्रणाली (Inductive Method), गणितीय प्रणाली (Mathematical Method), मनोवैज्ञानिक प्रणाली (Psychological Method), संस्थात्मक प्रणाली (Institutional Method), समता प्रणाली (Method of Anology) इत्यादि है। इनमें से निगमन (Deductive) व आगमन (Inductive) प्रणालियॉ अधिक लोकप्रिय रही है। इन प्रणालियों की विस्तार से व्याख्या नीचे दी जा रही है।

अनुमान प्रणाली या निगमन प्रणाली

निगमन प्रणाली से आशय :–

इस प्रणाली को काल्पनिक रीति (Hypothetical Method), विश्लेषण रीति (Analytical Method), अमूर्त रीति (Abstract Method) आदि अनेक नामों से पुकारा जाता है । इस प्रणाली का प्रयोग प्राचीनकाल से लेकर आज तक लगातार होता आया है । इसे प्रथम बार प्रयोग लाने का श्रेय ब्रिटेन के परम्परावादी अर्थशास्त्रीयों को है । इस प्रणाली में 'सामान्य से विशिष्ट की ओर' (from general to particular) बढ़ा जाता है । अर्थात सामान्य सत्य के आधार पर विशिष्ट सत्य का पता लगाया जाता है । इस प्रणाली में मानव व्यवहार के कुछ स्वयं सिद्ध तत्वों (aximos) तथा निर्विवाद बातों (undisputable facts) को ले लिया जाता है । और फिर तर्क के द्वारा व्यक्तिगत परिस्थितियों के बारे में अनुमान लगाये जाते है । उदाहरण के लिए, यह एक स्वयंसिद्ध बात है कि मानव मरणशील है (सामान्य सत्य) । इस सामान्य सत्य के आधार पर तर्क की सहायता से यह कहा जा सकता है । कि X, जो एक मनुष्य है अवष्य मरेगा (विशिष्ट सत्य) । इसी प्रकार, यह सर्वमान्य सत्य है कि अन्य बातों के समान रहने पर, ज्यों ज्यों वस्तु की कीमत में कमी होती है, त्यों त्यों वस्तु की मांग बढ़ती है । इसी सर्वमान्य सत्य व तर्क की सहायता से हम यह कह सकते है कि समाज में रहने वाले किसी भी व्यक्ति के द्वारा वस्तु की कीमत घटने पर उसकी मॉग बढ़ायी जायेगी।

उपयोगिता ह्रास नियम अर्थशास्त्र का एक महत्वपूर्ण नियम है । इस नियम के अनुसार ज्यों ज्यों वस्तुओं के स्टॉक में वृद्धि होती जाती है, त्यों त्यों उस वस्तु से मिलने वाली सीमान्त उपयोगिता घटती है । इस सर्वमान्य सत्य के आधार पर यह सिद्ध किया जा सकता है कि मोहन जैसे जैसे रोटी का उपभोग बढ़ायेगा उसे रोटी से मिलने वाली सीमान्त उपयोगिता घटते हुए क्रम में प्राप्त होगी । इस प्रकार अनुामन प्रणाली में हम सामान्य सत्यों से विशिष्ट सत्यों की खोज करते है । अनुमान प्रणाली की तीन अवस्थाएँ है, यथा – पर्यवेक्षण, स्वयं सिद्धि तथा

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

तर्क। इस सन्दर्भ में प्रो. जे. के. मेहता (J.K. Mehta) का कहना है कि ''अनुमान व निगमन तै वह तर्क है जिसमें हम दो तथ्यों के बीच करण–परिणाम–सम्बन्ध से आरम्भ करते है, और उस (तर्क) की सहायता से उस कारण का परिणाम जानने का प्रयत्न करते है, जबकि यह कारण अपना परिणाम व्यक्त करने में अन्य बहुत से कारणों से मिला रहता है ।''

प्रो. बोल्डिंग (Boulding) ने इस प्रणाली को मानसिक प्रयोग की विधि (Method of Intellectual Experiment), ने नाम से पुकारा है । प्रो. बोल्डिग के अनुसार, ''वास्तविक जगत बहुत जटिल होता है । एक सरल आर्थिक घटना के परिणामों को भी आसानी से समझाना बड़ा कठिन कार्य है । फलतः हम ऐसी आर्थिक प्रणाली को स्वीकार कर लेते है । जो काफी सरल हो और सबकी समझ में आ जाती हो । हम इन सरल प्रणालियों में निहित सम्बन्धों का पता लगाते है और धीरे धीरे जटिल मान्यताओं को समावेश करते हुए अन्त में वास्तविकता के निकट तक पहुँच जाते है ।''

संक्षिप्त इतिहास :–

जैसा कि हम पूर्व में ही इस बात को स्पष्ट कर चुके है, अनुमान प्रणाली का प्रयोग प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के द्वारा बहुत अधिक किया गया था । प्रो. जे.एस.मिल ने इस प्रणाली की सहायता से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की जटिल समस्या को हल किया था । रिकार्डो ने इस प्रणाली को चरम सीमा तक पहुँचाया और 'लगान का सिद्धान्त' बनाया । निगमन प्रणाल के आधार पर अर्थशास्त्रियों ने उपयोगिता ह्रास नियम, उपभोक्ता की बचत, उत्पादन के नियम, मॉग व पूर्ति का नियम, मूल्य निर्धारण, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार, प्रतिस्थापन का सिद्धान्त, लागत, मजदूरी, ब्याज व लाभ जैसे महत्वपूर्ण नियमों व सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया है, यही कारण है कि गणितिय सम्प्रदाय (Methematical School) और आस्ट्रियन समुदाय (Austrian School) के अर्थशास्त्रियों ने इस प्रणाली का समर्थन किया है ।

अनुमान या निगमन प्रणाली के दो रूप :–

अनुमान प्रणाली के मुख्य रूप से दो भागो में बॉटा जा सकता है : प्रथम, गणितीय रीति (Methematicla Method), द्वितीय, अगणितीय रीति (Non Mathematical Method)। 'अगणितीय रीति' का प्रयोग प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के द्वारा सबसे अधिक किया गया था । इस नीति में गणित तथा गण्ति के चिन्हों का प्रयोग नही किया जाता है, परन्तु 19 वी शताब्दी में एजवर्थ (Edgeworth) ने 'गणितीय रीति' का प्रयोग पर्याप्त मात्रा में किया। बाद में जे.आर. हिक्स (J.R. Hicks) ने उदासीनता की वक्र रेखाओं की व्याख्या में इस रीति का प्रयोग किया है। वर्तमान समय में तो यह रीति अर्थशास्त्र के अध्ययन का मुख्य अंग बन चुकी है ।

अनुमान या निगमन प्रणाली के गुण

अनुमान प्रणाली के प्रमुख प्रमुख गणों को नीचे दिया जा रहा है :–

(1) सरलता (Simplicity) – अनुमान अथवा नियमन प्रणाली अन्य प्रणालियों की अपेक्षा अधिक सरल है । थोडी सी सावधानी अपनानें पर प्रत्येक व्यक्ति इस विधि का प्रयोग में ला सकता है। सरल होने के कारण ही वह आसानी से समझ में आ जाती है । प्रत्येक व्यक्ति के लिए यह समीझव नही होता कि वह पहले प्रयोग व निरीक्षण करे और फिर किसी सामान्य सत्य को निकाले। इसके विपरीत, प्रत्येक व्यक्ति सामान्य सत्य के आधार पर तर्क की सहायता से विशिष्ठ सत्य की खोज कर सकता है । अतः अर्थशास्त्र मे, जहॉ समस्याओं की जटिलता होती है वहॉ इस प्रणाली का सफलतापूर्वक प्रयोग किया जा सकता है ।

(2) यथार्थता या वास्तविकता (Realistic) – अनुमान प्रणाली यथार्थ प्रणाली है । इस प्रणाली के द्वारा निकाले गये निष्कर्ष हमेशा शुद्ध होते है । इसके दो कारण है : प्रथम, तर्को के आधार पर इसकी त्रुटियों को दूर कर लिया जाता है । दूसरा, इस प्रणाली में गणित का प्रयोग होने से त्रुटियों की सम्भावना कम रहती है ।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

गणित की ही सहायता से हमें उन परिणामों की भी जानकारी जोती है, जिनकी जानकारी पूर्व में नही होती । उदाहरण के लिए, यदि मुद्रा मात्रा, कुल उत्पादन तथा चालू मूल्य सम्बन्धी तथ्य दिये हुए हों, तो मुद्रा की मात्रा को बढ़ाने से कीमतों में हुई वृद्धि का तुरन्त पता लगाया जा सकता है ।

(3) निष्चितता (Certainty) – अनुमान या निगमन प्रणाली की सत्यता व निष्चितता का मुख्य कारण यह` कि इस विधि में निर्विवाद, स्वयंसिद्ध तथा सर्वमान्य बातों को ही आधार बनाया जाता है। जब प्रणाली का आधार ठोस हो, तब अनिष्चितता का प्रष्न ही नही उठता है । तर्क करके गलतियों को सुधार लिया जाता है, और गलतियॉ कम रह जाती है । इस प्रकार, आधार के सत्य होनें पर सिद्धान्त भी सत्य होते है ।

(4) सर्वव्यापकता (Universality) – अनुमान या निगमन प्रणाली सर्वव्यापकता प्रणाली है । इसके द्वारा निकाले गये निष्कर्ष सुनिष्चित, सत्य तथा सभी देशों में लागू होते है, क्योंकि उनका आधार मानवीय स्वभाव है । इसके विपरीत, अनुभव प्रणाली के द्वारा बनाये गये नियम उसी देश व समय के लिए लागू होते है । उदाहरण के लिए, माल्थस का जनसंख्या सम्बन्धी सिद्धान्त उन्ही देशों में लागू होता है जिन देशों के लिए निरीक्षण के बाद उसे बनाया गया था । इसके विपरीत, उपयोगिता ह्रास नियम, जिसका प्रतिपादन अनुमान प्रणाली के आधार पर किया गया है, सभी के लिए सत्य है ।

(5) निष्क्षता (Impartiality) – अनुमान या निगमन प्रणाली की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि अन्वेषक मनमाने ढंग से इनका प्रयोग नही कर सकता है । जब सामान्य सत्यों को आधार मान लिया जाता है, तो तर्क की सहायता से स्वाभाविक निष्कर्ष ही निकलेंगे । कोइ भी अन्वेषक अनुमान प्रणाली के आधार पर मनमाने निष्कर्ष नही निकाल सकता है, जबकि अनुभव प्रणाली में मनमाने निष्कार्षो के निकाले जाने की सम्भावना अधिक रहती है, क्योंकि इस क्रिया में अन्वेषण हमेशा ऐसे क्षेत्र को चुनेगा जहॉ उसके विचारों की पुष्टि हो सकती है। उदाहरण के लिए, एक खोजकर्ता यह बताना चाहता है कि जनसंख्या की वृद्धि के कारण देश में भुखमरी उत्पन्न होती है । इस निष्कर्ष में पहुॅचने के लिए अन्वेषक या खोजकर्ता पूरे देश का सर्वेक्षण तो नही करेगा, हॉ वह केवल उन स्थानों का ही सर्वेक्षण करेगा जहॉ जनसंख्या के बढ़ने के कारण भुखमरी भी बढ़ रही है और उस सर्वेक्षण के आधार पर ही सिद्धान्त का प्रतिपादन करेगा । खोजकर्ता का ऐसा निर्णय निष्क्ष और सर्वमान्य नही होगा । अतः अनुमान प्रणाली ही निष्पक्ष प्रणाली हो सकती है ।

(6) अनुभव प्रणाली की पूरक प्रणाली (Complementary to Inductive Method) – अनुमान या निगमन प्रणाली अनुभव या आगमन प्रणाली की सहायक प्रणाली है । अर्थशास्त्र में सदा प्रयोग सम्भव नही होते है । इसलिए अनुमान प्रणाली का महत्व अर्थशास्त्र के अध्ययन में बढ़ जाता है। वर्तमान समय में अर्थशास्त्र गणितीय स्वरूप बढ़ रहा है । और अर्थशास्त्र दिन पर दिन विकसित भी हो रहा है । ऐसी दशा में अकेले अनुभव प्रणाली की सहायता से आर्थिक सिद्धान्तों की रचना नही ं की जा सकती है । अतः ऐसी दशा में हमें अनुमान प्रणाली की सहायता लेनी होती है ।

(7) भविष्यवाणी की सम्भावना (Possibility of Forcasts) – अनुमान या निगमन प्रणाली, अनुमानों के आधार पर भविष्यवाणी करने की क्षमता रखती है । अनुमान प्रणाली के द्वारा आर्थिक घटनाओं का अनुमान लगा लिया जाता है और इसी के आधार पर भविष्यवाणी भी की जाती है। यह सर्वविदित है कि व्यक्ति की उपभोग प्रवृति एक सीमा के बाद सीमित हो जाती है । यदि उसका आय स्तर लगातार बढता है, तो आये और उपभोग के बीच का अन्तराल बढेगा । परिणामस्वरूप 'स्वतः बचतें (Automatic savings) होगी । इस आधार पर यह भविष्यवाणी की जाती है कि आय के एक निष्चित सीमा से अधिक बढ़ जाने पर भविष्य में बचतें भी बढेगी और ऐसी भविष्यवाणियॉ सत्य भी होंगी ।

(8) आंकडो के संकलन की आवष्यकता नही (Collection of Data not Essential) – अनुमान प्रणाली का पूर्ण लेखा जोखा अनुमानों पर आधारित होता है । इसलिए इस प्रणाली में ऑकड़ो को संग्रह करने तथा ऑकड़ो

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

की विवेचना करने की आवष्यकता नही पड़ती है । ऑकडों की जटिलता न होने के कारण यह प्रणली अधिकाधिक लोकप्रिय होती जा रही है । इन्ही गुणों के कारण इस प्रणाली की प्रशंसा करते हुए केयरनेस (Cairness) ने लिखा है । कि ''यदि सावधानी से काम लिया जाय तो अनुमान प्रणाली अतुलनीय है और मानव बुद्धि द्वारा अन्वेषण करने वाले यन्त्र में अनन्त शक्तिशाली यन्त्र है ।

अनुमान या निगमन प्रणाली के दोष :–

अनुमान प्रणाली के उपर्युक्त गुणों को देखने से हमें इस प्रणाली के बारें में यह धारणा नही बना लेनी चाहिए कि यह निर्दोष प्रणाली है । सच तो यह है कि इस प्रणाली की कटु आलोचना हुई है, क्यांकि इस प्रणाली में कुछ दोष है । इसके प्रमुख देषों को आगे दिया जा रहा है :–

(1) निष्कर्ष वास्तविकाता से परे होते है (Conclusions are Divorced from Reality) – अनुमान या निगमन प्रणाली का सबसे बड़ा दोष यह है कि इस प्रणाली के द्वारा निकाले गये निष्कर्ष हमेशा वास्तविकता से दूर रहते है । इसका प्रमुख कारण यह है कि जिन बातों को सामान्य सत्य के अन्तर्गत मान लिया जाता है, वे सब बातें सत्य नही होती है । अतः गलत आधार पर बनाये गये नियम भी गलत हो जाते है । इस सम्बन्ध में वैगनर (Wagner) का कहना है कि ''गलत सिद्धान्तो के प्रतिपालन में प्रणाली का कोई दोष नही है, दोष तो उस रीति के गलत प्रयोगों में है । यदि सावधानी से सामान्य सत्यों को चुन लिया जाय तो निष्कर्ष भी अवष्य सत्य होंगे । वास्तविकता तो यह है कि सामान्य सत्यों की यथार्थता का पता लगाना बड़ा कठिन है, इसलिए गलती का होना स्वाभाविक है ।''

(2) निष्कर्षो की व्यवहारिकता में कमी (Conclusions are Less Practical) – अनुमान प्रणाली के निष्कर्ष तर्क के आधार पर तो सही हो सकते है, परन्तु व्यवहार में उनकी सत्यता संदिग्ध है । कारण, इस प्रणाली के आधार पर जब सामान्य सत्य से विशिष्ट सत्य की ओर बढ़ा जाता है, तब सामाजिक वातावरण के परिर्वतनों को ध्यान में नही रखा जाता है, जबकि व्यवहार में सामाजिक वातावरण का बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है । अतः इस प्रणाली के निष्कर्ष व्यावहारिकता से कोषों दूर रह जाते है । कुछ विद्वानों का विचार है कि यह इस प्रणाली का दोष नही है, बल्कि इसके प्रयोग का दोष है । इस सम्बन्ध में जीड (Gide) का कहना है कि ''प्रतिष्ठित सम्प्रदाय की गलती इस प्रणाली के अधिक प्रयोग में नहीं, वरन् अमूर्त को ही वास्तविकाता समझ लेने में है।''

(3) सार्वभौमिकता का आभाव (Lack of University) – जो लोग इस प्रणाली की सार्वभौमिकता का दावा करते है, वे यह भूल जाते है कि प्रत्येक देश की सामाजिक परिस्थितियॉ समान नही होती है, अतः जो नियम एक देश के लिए भी सही हो । उदाहरण के लिए, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार व बैंको के नियम सार्वभौमिक नही होते है ।

(4) अर्थशास्त्र के पूर्ण विकास का असम्भव होना (Full Development of Economics is not possible) – प्रायः यह कहा जाता है कि यदि अनुमान प्रणाली का अधिक प्रयोग होता रहा, तो अर्थशास्त्र का पूर्ण विकास नही हो पायेगा, क्यांकि इस प्रणाली की सहायता से अर्थशास्त्र के सभी पहलुओं का अध्ययन नही किया जा सकता है ।

(5) आर्थिक दशाओं को यथास्थिर मान लेना (Change Ignored) – अनुमान प्रणाली इस बात को मानकार काम करती है कि आर्थिक दशाएँ यथास्थिर रहती है । उनकी यह धारण गलत है, क्योंकि परिवर्तन शाष्वत है । जहॉ मूलाधार ही बदलता रहता है वहॉ इस प्रणाली का प्रयोग करना खतरनाक है ।

प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों द्वारा अनुमान या निगमन प्रणाली का आवष्यकता से अधिक प्रयोग किया गया था जिसका परिणाम यह हुआ कि जर्मन ऐतिहासिक सम्प्रदाय (German Historical School) के अर्थशास्त्रियों ने अनुमान प्रणाली की कटु आलोचना की और उन्होनें अनुभव (आगमन) प्रणाली के प्रयोग पर अधिक बल दिया । रोशर

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

(Roscher) नाम के अर्थशास्त्री ने कहा कि ''अर्थशास्त्र का उद्देष्य इस प्रकार का है कि यह केवल अनुभव व तर्क से ही पूरा हो सकता है ।'' लैस्ली (Leslie) के अनुसार, ''अर्थशास्त्र अभी तक निगमन विज्ञान के स्तर तक नही पहुँच सका है ।'' इसी प्रकार, कार्ल मेंजर (Karl Menger) ने कहा है कि ''अच्छी से अच्छी अमूर्त विचार धारा भी तथ्यों के किसी अच्छे संग्रह की तुलना में कम महत्वपूर्ण है ।''

अनुमान प्रणाली में उपर्युक्त दोषो के आ जाने के कारण कुछ समय के लिए यह प्रणाली अर्थशास्त्र के क्षेत्र से उठ गयी थी ।

अनुभव प्रणाली या आगमन प्रणाली

अनुभव या आगमन प्रणाली से आशय :–

अनुभव प्रणाली को अगमन प्रणाली भी कहा जाता है । यह प्रणाली अनुमान प्रणाली के ठीक विपरीत कार्य करती है । जैसाकि हमें ज्ञात है अनुमान प्रणाली में ''सामान्य सत्य से विशिष्ट सत्य की ओर' (from general to particular) बढ़ा जाता है, जबकि अनुभव प्रणाली में विशिष्ट सत्य से सामान्य सत्य की ओर (from particular to general) कार्य किया जाता है । अनुभव प्रणाली में व्यक्तिगत निरीक्षणों तथा प्रयोगों के आधार पर विशिष्ट सत्यों का पता लगाया जाता है फिर उन विशिष्ट सत्यों से सामान्य सत्य निकाले जाते है । उदाहरण के लिए, दो गिलास पानी, धातु व लकडी के टुकडों की सहायता से हमें प्रयोग करना है । प्रयोग के समय जब हमने पानी के एक गिलास में धातु और लकड़ी के टुकडों को डाला तो पता चला कि धातु के टुकडे तो पानी में डूब चुके है, किन्तु लकड़ी के टुकडे पानी में तैरने लगे है । इस प्रयोग से हमने यह निष्कर्ष निकाल लिया कि अन्य बातों के समान रहने पर पानी में धातु के टुकडें डूबेंगे तथा लकडी तैरेगी । यह निष्कर्ष लिकाल लिया कि अन्य बातों के समान रहने पर पानी में धातु के टुकडे डूबेगें तथा लकडी तैरेगी । यह निष्कर्ष प्रत्येक दशा में और प्रत्येक स्थान से सही सिद्ध होगा । यहॉ प्रयोग के दौरान, पानी में धातु व लकड़ी के टुकडो का डूबना व तैरना विशिष्ट सत्य हुआ । इस विशिष्ट सत्य के आधार पर जो निष्कर्ष निकाला गया है विह सामान्य सत्य हुआ । इस प्रकार विशिष्ट सत्यों के आधार पर सामान्य सत्यों की खोज की जाती है ।

अब अर्थशास्त्र से सम्बन्धित उदाहरण लीजिए । जब बाजार में गेहूँ का मूल्य घट जाता है, तब गेहूँ की खरीद करने वाले ग्राहकों की संख्या में वृद्धि हो जाती है तथा गेहूँ की अधिक मात्रा खरीदी जाती है । यह विशिष्ट सत्य है, जिसे हमने अनुभव के आधार पर ज्ञात किया है । अतः अब हम इस विशिष्ट सत्य के आधार पर यह सामान्य सत्य निकाल सकते है कि ''वस्तु का मूल्य गिरने पर उसकी मॉग बढेगी ।'' इसे ही अर्थशास्त्र मे 'मांग के नियम' का नाम दिया गया है । इस प्रकार, यह प्रणली अनुभवों के आधार पर आधारित है, जिसके कारण इसका नाम 'अनुभव प्रणाली' पड़ा । इस प्रणाली को ऐतिहासिक (Historical), प्रायोगिक (Experimental), सांख्यकीय (Statistical) और वास्तविक (Realistic) प्रणाली के नाम से पुकारा जाता है । प्रो. जे. के. मेहता के अनुभव या आगमन प्रणाली के बारे में कहा है कि ''अनुभव या आगमन प्रणाली तर्क की वह विधि है, जिसमें हम बहुत सी व्यक्तिगत आर्थिक घटनाओं के आधार पर कारणों और परिणामों के बीच सामान्य सम्बन्ध स्थापित करते है ।''

अनुभव या आगमन प्रणाली के रूप

इस प्रणाली के निम्न दो रूप है :–

(1) प्रयोगात्मक रूप (Experimental Method) – जिस प्रकार प्राकृतिक विज्ञान में खुलकर प्रयोग (Experimental) होते है अर्थशास्त्र में प्रयोग उतनी बहुतायत से तो नही होते, किन्तु सीमित रूप में आवष्य होते है ।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

(2) सांख्यिकीय रीति (Statistical Method) – अनुभव प्रणाली में सांख्यिकीय रीति का प्रयोग अधिक किया जात है। इसमें ऑकड़ो को एकत्र किया जाता है, उनका वर्गीकरण किया जाता है । और फिर सांख्यिकीय सिद्धान्तों के आधार पर इन ऑकडो का विश्लेषण करके सामान्य निष्कर्ष व आर्थिक सिद्धान्त बनाये जाते है । प्रायः वर्तमान समय में इस रीति का अधिकाधिक प्रयोग किया जाने लगा है ।

संक्षिप्त इतिहास (Brief History) :-

अनुभव या आगमन प्रणाली का प्रयोग सर्वप्रथम जर्मन ऐतिहासिक सम्प्रदाय के अर्थशास्त्रियों ने किया था, जिनमें हिल्डेब्राण्ड (Hildebrnd), रोशर (Roscher), सिसमांडी (Sismondi), – नीज (Knies) तथा लिस्ट (List) के नाम उल्लेखनीय है । एडम स्मिथ ने निगमन प्रणाली के साथ साथ आगमन प्रणाली का भी प्रयोग किया था । माल्थस ने जनसंख्या के सिद्धान्त को इसी प्रणाली के आधार पर पूरा किया । ऐंजिल्स ने भी उपभोग का नियम इसी प्रणाली के आधार पर बनाया । इस प्रणाली की सहायता से प्रत्येक देश की सरकार तथा विभिन्न व्यापारिक संस्थाएँ ऑकडे एकत्र करती हैं और इन तथ्यों एवं ऑकडो की सहायता से अर्थशास्त्री आर्थिक नियमों का निर्माण करते है।

नुभव या आगमन रीति के गुण

इस प्रणाली के प्रमुख गुण निम्नलिखित है :–

(1) वास्तविकता (Realistic) – अनुभव या आगमन प्रणाली से प्राप्त निष्कर्ष वास्तवविकता के बहुत करीब होते है, क्योंकि ये वास्तविक घटनाओं व तथ्यों के अवलोकन के आधार पर निकाले जाते है। अतः यह प्रणाली वास्तविक जीवन की समस्याओं को हल करने में बहुत सहायक होती है।

(2) निष्कर्षो की जॉच की सुविधा (Facility of Verification) – अनुभव प्रणाली के द्वारा जो निष्कर्ष निकाले जाते है, उनकी सत्यता की जॉच वास्तविक प्रयोगों के द्वारा की जाती है। अतः इस प्रणाली में गलती होनें की सम्भावना नही रहती है।

(3) अनुमान प्रणाली की पूरक (Complementary to Deductive Method) – अनुभव या आगमन प्रणाली अनुमान या निगमन प्रणाली की पूरक या सहायक प्रणाली है, क्योंकि यह अनुभव प्रणाली द्वारा निकाले गये निष्कर्षो की वास्तविकाता व सत्यता की जॉच करती है । दूसने शब्दों में, अनुमान प्रणाली अनुभव प्रणाली के निष्कर्षो की जॉच के लिए कसौटी का काम करती है ।

(4) प्रावैगिक दृष्टिकोण (Dynamic Outlook) – यह प्रणाली गतिशील दृष्टिकोण अपनाती है। यह इस बात को स्पष्ट करती है कि मानव व्यवहार पर परिस्थितियों और इसके परिवर्तनों का क्या प्रभाव पड़ता है, जिसके कारण पुराने सिद्धान्तों को ज्यों का त्यों लागू नही किया जा सकता है। हिल्डेब्राण्ड (Hildebrand) ने कहा है कि ''एक सामाजिक प्राणी के रूप में मनुष्य सभ्यता की सन्तान एवं इतिहास की उपज है ।''

(5) जटिलताओं पर ध्यान (Complexities taken into Consideration) – अनुभव प्रणाली आर्थिक समस्याओं की जटिलताओं पर आवष्यक ध्यान देकर यह स्पष्ट करती है कि सार्वभौमिक सिद्धान्तओं का निर्माण करना कठिन है । अर्थात् एक सिद्धान्त किन्ही दी हुई दशाओं के अधीन ही सही उतरता है ।

अनुभव या आगमन रीति के दोष

अनुभव प्रणाली के प्रमुख दोष निम्नलिखित है :–

(1) जटिलता (Complexity) – अनुभव प्रणाली अनुमान प्रणाली की अपेक्षा काफी जटिल है । इस प्रणाली में ऑकड़ों की सहायता ली जाती है । ऑकडो का संग्रह करना और फिर उनकी विष्लेषणात्मक व्याख्या करना

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

प्रत्येक व्यक्ति के लिए सम्भव नही है । इस प्रणाली का प्रयोग करने वाले व्यक्तियों को प्रशिक्षण देना जरूरी है । और प्रशिक्षण की व्यवस्था पर काफी खर्च करना होता है । इस प्रकार यह प्रणाली खर्चीली भी है ।

(2) पक्षपातपूर्ण प्रणाली (Partiality) – अनुभव या आगमन प्रणाली का सबसे बड़ा दोष यह है कि इसके द्वारा प्राप्त निष्कर्ष पक्षपातपूर्ण होते है । अनुभव प्रणाली में एक खोजकर्ता यह बताना चाहता है कि जनसंख्या की वृद्धि के कारण देश में भुखमरी उत्पन्न होती है । खोजकर्ता अपनी इस बात को सिद्ध करने के लिए सम्पूर्ण देश का तो सर्वेक्षण नही करेगा, वह केवल उन्ही स्थानों का सर्वेक्षण करेगा जहॉ उसे इस प्रकार की सम्भावनाऍ देखनें को मिलेगी । खोज के आधार पर वह अपनी बात को सिद्ध कर देगा कि जनसंख्या की वृद्धि भुखमरी बढती है । खोजकर्ता ाक यह निष्कर्ष न तो सर्वमान्य होगा और न ही निष्पक्ष । अतः अनुभव प्रणाली पक्षपातपूर्ण होगी । प्रो. बोल्डिंग (Prof. Boulding) के शब्दो में, ''सांख्यिकी सूचना केवल ऐसी बातों या निष्कर्षो को ही प्रस्तुत कर सकती है । जिनके सही होने की अधिक या कम सम्भावना है, परन्तु यह पूर्णतया निष्चित निष्कर्ष नही दे सकती है ।''

(3) क्षेत्र का सीमित होना (Narrow Scope) – अनुभव या आगमन प्रणाली एक सर्व व्यापक प्रणाली नही है । अनेक कारणों से इसका क्षेत्र सीमित हो गया है । जैसा कि हमें ज्ञात है, अर्थशास्त्र में हम मानव व्यवहार का अध्ययन करते है । मानव व्यवहार के अध्ययन में प्राकृतिक विज्ञानों के समान प्रयोगों की सहायता नही ली जा सकती है, क्योंकि जड़ पदार्थो पर तो प्रयोग करने सम्भव है, पर चेतन प्रणियों पर नही। हम परीक्षण के आधार पर मानवीय समृद्धिका सही सही मूल्यांकन नही कर सकते है । अतः मानव व्यवहार का अध्ययन अनुभव प्रणाली की अपेक्षा अनुमान प्रणाली से करना अधिक अच्छाा है । इस प्रकार, अनुभव प्रणाली कुछ ही क्षेत्र के लिए उपयुक्त हो सकती है।

(4) निष्कर्ष का सत्य न होना (Conclusions are not True) – अनुभव प्रणाली से निकाले गये निष्कर्ष सत्यता के परे होते है, क्योंकि अन्वेषण के द्वारा सर्वेक्षण का पूरा क्षेत्र नही चुना जाता है। यह सर्वेक्षण के लिए किसी खास हिस्से का ही चुनाव करता है और कभी कभी यह चुना हुआ क्षेत्र समूचे क्षेत्र का सही सही प्रतिनिधित्व नही करता है। अतः परिणाम गलत हो जाते है। उदाहरण के लिए, अन्वेषक किसी जिले के ऐसे ग्रामीण अंचल का आर्थिक सर्वे करे जिसमें बीस गॉव हो, पर वह अपने सर्वेक्षण के लिए इनमे से दो ऐसे गॉव चुनता है, जहॉ सबसे ज्यादा गरीबी व्याप्त हो। ऐसी दशा में उसके निष्कर्ष समूचे ग्रामीण अंचल के लिए सही नही होंगे । इसलिए यह कहा जाता है कि यह प्रणाली प्रायः सत्यता से परे है।

(5) सामाजिक विज्ञान के लिए कम उपयुक्त (Less Suitable for Social Sciences) – अनुभव प्रणाली सामाजिक विज्ञान के लिए उपयुक्त नही है । इसका उपयोग प्राकृतिक विज्ञान के लिए ही किया जा सकता है । एक ओर तो सामाजिक शास्त्रों की घटनाओं का निरीक्षण करना कठिन होता है । और दूसरी ओर इनका नियन्त्रित प्रयोग लगभग असम्भव है ।

दोनों प्रणालियों के सम्बन्ध में विवाद :–

अर्थशास्त्रियों के लिए यह एक विवादस्पद प्रष्न रहा है कि इन दोनों में से कौनसी प्रणाली उत्तम है– अनुमान प्रणाली या अनुभव प्रणाल ? एडम स्मिथ ने दोनों प्रणालियों का प्रयोग किया था, जबकि रिकार्डो ने केवल अनुमान प्रणाली का । अनुमान प्रणाली के समर्थक अर्थशास्त्रियों ने यह तर्क दिया है कि चूंकि अर्थशास्त्र में मनुष्य के व्यवहार का अध्ययन किया जाता है, इसलिए यहॉ प्रयोगो का कोई महत्व नही है, परन्तु प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों जैसे – सीनियम, कैरनीज, मिल, माल्थस आदि ने अनुभव प्रणाली का प्रयोग भी किया । प्रों. मार्शल का कहना है कि ''इतिहास अनुक्रमों तथा संयोगो का बताता है, लेकिन घटनाओं की व्याख्या करना, उनसे शिक्षा प्राप्त करना एवं निष्कर्ष निकालना केवल तर्क के ही द्वारा सम्भव है ।''

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

प्राचीनकाल में एक विचारधारा ऐसी भी थी जिसने आर्थिक नियमों की रचना के लिए अनुमान प्रणाली की अपेक्षा अनुभव प्रणाली की अधिक उपयुक्त और अपयोगी माना था । इस विचारधारा के विद्वानों का कहना है कि अनुमान प्रणाली के द्वारा निकाले गये निष्कर्ष वास्तविकता से कोसों दूर होते है । अनुमान प्रणाली का अर्थशास्त्र में अधिकाअधिक प्रयोग होने के कारण सिसमांडी (Sismondi) – तक को यह कहना पड़ा कि ''मुझे यह दृढ़ विष्वास है कि अर्थशास्त्र को अमूर्त विज्ञान बनाकर बड़ी गलती की गयी है ।'' प्रतिष्ठित सम्प्रदाय के अर्थशास्त्रियों के एक वर्ग का यह विचार था कि अनुमान प्रणाली के द्वारा निकाले गये निष्कर्षो को जब जब व्यावहारिकता की कसौटी पर कसा गया तब तब वे झूठे साबित हुए है । उदाहरण के लिए, प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री जे.बी. से ने अति उतपादन की समस्या को नजरअन्दाज कर दिया था, वे अति उत्पादन तथा बेरोजगारी जैसी समस्याओं के बारे में आशावान थे और यह मानते थे कि 'पूर्ति स्वयं मॉग को उत्पन्न' (Supply creates its own demand) कर लेगी । ऐसी दशा में न तो अति उत्पादन होगा और न बेरोजगारी, परन्तु कुद समय के बाद उनकी धारणा असत्य हो गयी । अति उत्पादन और बेरोजगारी की समस्या विष्वव्यापी समस्या बन कर रह गयी । परिणामस्वरूप अनुमान (निगमन) प्रणाली की कटु आलोचना की जाने लगी । इसके प्रमुख आलोचक ऐतिहासिक सम्प्रदाय (Historical School) के अर्थशास्त्री रोशर (Roscher), नीज (Knies), हिल्डेब्राण्ड (Hildebrnd), क्लिफ लेस्ली (Cliffe Leslie) आदि रहे है। इस प्रकार ऐतिहासिक सम्प्रदाय के अर्थशास्त्रियों ने आर्थिक अध्ययन के लिए अनुभव या आगमन प्रणाली का समर्थन किया । उनका कहना था कि अगर अर्थशास्त्र में किसी समय प्रयोग करना सम्भव न हो, तो ऐतिहासिक लेखों में भूतकाल में किये गये प्रयोगों के परिणामों की सहायता ली जा सकती है । क्लिफ लेस्ली (Cliffe Leslie) का कहना है कि ''राजनीतिक अर्थशास्त्र अभी अनुमान विज्ञान की स्थिति तक नही पहुँचा है । आर्थिक विष्व के मौलिक नियमों का ज्ञान अभी पूरा नही हुआ है और उन्हें धैर्यपूर्वक अनुभव प्रणाली से ही जाना जा सकता है ।''

अनुमान या निगमन प्रणाली में जिन स्वयं सिद्ध एवं सर्वमान्य बातों को आधार माना जाता है वास्तव में वे बातें सत्य नही होती है, जिसके परिणामस्वरूप इस प्रणाली के द्वारा निकाले गये निष्कर्ष भी गलतहो जाते है । उदाहरण के लिए, एडम स्मिथ ने इस बात को स्वीकार किया था कि व्यक्ति स्वहित की भावना से प्रेरित होकर कार्य करता है और इस मान्यता के आधार पर उनहोनें अनेक आर्थिक नियमों की रचना कर डाली । यदि गहराई से देखा जो, तो व्यक्ति स्वहित से ही प्रेरित होकर कार्य नही करता है, बल्कि वह स्वदेश प्रेम, परोपकारिता, विष्वबन्धुत्व आदि जैसी अनेक भावनाओं से भी प्रेरित होता है और कार्य करता है । इस प्रकार, हम देखते हैं कि व्यक्ति में अकेले स्वहित (Self interest) की ही भावना का बोलबाला नही होता वरन् वह अन्य बातों से भी प्रभावित होता है । अतः स्वहित की मान्यता के आधार पर बनाये गये नियम झूठे हो सकते है ।

दोनों विधियों की पूरकता :–

उपर्युक्त अध्ययन से यह स्पष्ट है कि अनुमान (निगमन) और अनुभव (आगमन) प्रणालियों में प्रयोग में भारी विवाद होता आया है और आज भी यह विवाद का विषय है । दोनों ही रीतियों के समर्थक अपनें अपनें पक्ष में ठोस तर्क देते है । किन्तु इन दोनों प्रणालियों के गुण दोषो को देखनें के बाद हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचतें है कि ये दोनों प्रणालियॉ एक दूसरे की पूरक अथवा एक दुसरे की सहयोगी है ।

दुसरे शब्दों में, अर्थशास्त्र के अध्ययन के लिए कोई भी एक रीति परिपूर्ण नही हो सकती है । अर्थशास्त्र के पूर्ण विकास के लिए दोनो ही विधियों के पारस्परिक सहयोग की आवष्यकता है । प्रो. मार्शल ने इन दोनों विधियों को एक दूसरे की पूरक बताया है । उनके मतानुसार एक विधि द्वारा प्राप्त निष्कर्षो की सत्यता को जॉचने के लिए दूसरी विधि का सहयोग आवष्यक है । इस सन्दर्भ में मार्शल ने श्मोलर (Schmoller) के इस कथन का उल्लेख किया है कि ''अनुमान (निगमन) एवं अनुभव (आगमन) दोनों ही विधियॉ वैज्ञानिक अध्ययन के लिए उतनी ही आवष्यक है जितनी कि चलने के लिए दायें और बायें दोनों पैरों की आवष्यकता होती है ।'' श्मोलर के कथन से

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

मिलता जुलता कथन प्रो. वैगनर (Wagner) का भी है । ये लिखते है कि ''रीति के इस विवाद का वास्तविक हल अनुभव तथा अनुमान में से एक चुनने में नही है वरन् दोनों को ही अपनानें में है ।''

हॉ, कौनसी रीति का उपयोग किस समय किया जाय, यह जॉच के स्वरूप, उपलब्ध सामग्री एवं जॉच की स्थिति पर निर्भर करता है । यदि उपलब्ध सामग्री अधिक है तो अनुभव प्रणाली का प्रयोग अधिक अच्छा है और यदि जॉच शुरू की जा रही हो, तो भी अनुभव प्रणाली का उपयोग अधिक उपयुक्त होगा । इसी प्रकार अन्तिम निष्कर्ष निकालने के लिए जिस समय जॉच व्यापाक स्थिति में पहुँच जाती है, उस समय अनुमान प्रणाली की सहायता लेना अधिक अच्छा होगा । संक्षेप में, हम कह सकते है कि जहॉ ऑकड़ो की अधिकता हो और जिनके निष्कर्षो पर मानव स्वभाव का कोई प्रभाव न पड़ता हो, वहॉ अनुभव प्रणाली का उपयोग उपयुक्त होगा । परन्तु, जहॉ मानव प्रकृति की प्रधानता हो और जिन परिस्थितियों में प्रयोगात्मक परीक्षण असम्भव हों, वहॉ अनुमान प्रणाली अधिक उपयुक्त होगी । इस प्रकार, दोनों प्रणालियॉ एक दूसरे की पूरक है । दोनों प्रणालियों की पूरकता के सम्बन्ध में एरिक रौल व मूलर के विचार उल्लेखनीय है । एरिक रौल (Eric Roll) के अनुसार ''अनुभव और अनुमान प्रणाली का आपस में सम्बन्ध है ।'' मूलर (Muller) के शब्दों में ''जैसे कपड़ा काटने के लिए कैंची के एक फल से काम नही चलता है, ठीक उसी प्रकार अर्थशास्त्रियों के लिए दोनां प्रणालियॉ नितान्त आवष्यक है ।'' प्रो. सेम्युलसन (Prof. Samuelson) ने कहा है कि ''उचित रूप से समझनें पर सिद्धान्त एवं पर्यवेक्षण, निगमन एवं आगमन में विरोध नही हो सकता है ।'' आधुनिक अर्थशास्त्री दोनों की प्रकार की रीतियों का प्रयोग करते आ रहे है । आज इस मिश्रित रीति को वैज्ञानिक रीति (Scientific Method) कहा जाने लगा है । इस वैज्ञानिक रीति में पॉच बातों का समावेश पाया जाता है : (i) तथ्य (Facts), (ii) तर्क (reasoning) (iii) जॉच (Verification), – (iv) भविष्यवाणी (Predicition) तथा (v) ऑकडों का संकलन (Collection of data) ।

<u>बोध प्रश्न :–</u>

- तर्क का क्रम सामान्य से विशिष्ट की ओर किस प्रणाली में होता है।
- तर्क का क्रम विशिष्ट से सामान्य की ओर किस प्रणाली में होता है।
- ''ष्लोमर'' ''निगमन एवं आगमन दोनो ही विधिया वैज्ञानिक अध्ययन के लिए उतनी ही आवष्यक है जितनी की चलने के लिये बाये और दाये पैर की आवष्यकता होती है'' इस कथन का विवेचन कीजिये।
- अर्थशास्त्र के अध्ययन की दोनो नीतियो के गुण दोषो का वर्णन कीजिये।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

1.4 व्यष्टि (सूक्ष्म) एवं समष्टि (व्यापक) अर्थ शास्त्र :–

बढ़ती आर्थिक जटिलताओं एवं कट्टर व्यावसायिक प्रतिस्पर्द्धा के इस युग में प्रत्येक व्यावसायिक फर्म को अपनी व्यावसायिक सफलता के लिये कई प्रकार की नीतियों का निर्माण एवं क्रियान्वयन करना पड़ता है जैसे– उत्पादन नीति, क्रय–विक्रय नीतियां, विनियोग नीति, विज्ञापन नीति, लाभ नियोजन एवं नियंत्रण नीति आदि। इन सब नीतियों के निधारण में व्यावसायिक फर्मो को व्यष्टि एवं समष्टि आर्थिक विश्लेषण की महती भूमिका हैं यहां एक ओर व्यष्टि आर्थिक विश्लेषण व्यावसायिक फर्मो को अपनी व्यक्तिगत समस्या के समाधान में मार्गदर्शन करता है वहां समष्टि आर्थिक विश्लेषण व्यावसायिक फर्मो की आर्थिक समस्याओं को समूची अर्थव्यवस्था के सन्दर्भ में नीतियां निर्धारित करने में मद्द करता है।

व्यावसायिक फर्मो की आर्थिक समस्याओं की प्रकृति की भिन्नता के कारण उनकसे आर्थिक विश्लेषण की कइ विधियों का प्रयोग किया जाता हैं उनमें व्यष्टि आर्थिक विश्लेषण (Micro-Economic Analysis) अर्थशास्त्र के ज्ञान की वह शाखा है जिसमें व्यवसायिक फर्मो की विशिष्ट एव व्यक्तिगत समस्याओं का विश्लेषण किया जाता हैं जबकि समष्टि आर्थिक विश्लेषण (Micro-Economic Analysis) ज्ञान की वह शाखा है जिसमें आर्थिक समस्याओं का विश्लेषण समूची अर्थव्यवस्था अथवा समग्र के सन्दर्भ में किया जाता है। ये दोनों प्रकार के विश्लेषण व्यावसायिक फर्मो को अपनी अपनी व्यावसायिक नीतियां निर्धारण करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं जिनका संक्षिप्त विवरण अलग–अलग इस प्रकार है।

व्यष्टि आर्थिक विश्लेषण (Micro-Economic Analysis) :–

व्यष्टि आर्थिक विश्लेषण अर्थशास्त्र के ज्ञान की वह शाखा है जिसके अन्तर्गत एक व्यक्तिगत आर्थिक इकाई–विशिष्ट फर्म, विशिष्ट उद्योग, विशिष्ट व्यक्ति अथवा उपभोक्ता, व्यक्तिगत मूल्य आदि के आर्थिक व्यवहार का अध्ययन किया जाता हैं इसका सम्बन्ध किसी व्यक्ति, फर्म अथवा उद्योग या उद्योग की किसी विशिष्ट इकाई के आर्थिक व्यवहार के अध्ययन से है। कुछ विद्वानों ने इसे इस प्रकार परिभाषित किया है।

प्रो. चेम्बरलिन के शब्दों में व्यष्टि मॉडल पूर्णतः व्यक्तिगत व्याख्या पर आधारित होता है तथा अन्तर वैयक्तिक सम्बन्धो का अध्ययन करता है।

प्रो. बोल्डिंग (E. F. Boulding) के अनुसार ''व्यष्टि अर्थशास्त्र विशिष्ट फर्मो, विशिष्ट परिवारों वैयक्तिक कीमतों, मजदूरियो, आयों, वैयक्तिक उद्योगों एवं विशिष्ट वस्तुओं का अध्ययन है।

1. The micro model is built solely on the individuals and deals with interpersonal relations only. – Chamberlin.
2. Micro-Economics is the study of particular firms, particular house – holds, individual prices, wages, incomes, individiual industries and particular commodities – R.E. Boulding.

प्रो. लेफ्टविच (Leftwitch) के शब्दों में ''व्यष्टि अर्थशास्त्र का सम्बन्ध आर्थिक इकाइयों की आर्थिक क्रियाओं से है, जैस–उपभोक्ताओं, साधन स्वामियों एवं व्यावासायिक फर्मो आदि।

हेण्डरसन एवं क्वान्ट (Handerson and Quant) के मतानुसार ''व्यष्टि अर्थशास्त्र व्यक्तियों तथा व्यक्तियों के ठीक से परिभाषित समूहों की आर्थिक क्रियाओं का अध्ययन है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इसी प्रकार गार्डनर एकले (Gardner Ackley) के अनुसार व्यष्टि अर्थशास्त्र विशिष्ट उद्योगो उत्पादनों और फर्मो के कुल उत्पादन के विभाजन, विभिन्न प्रतिस्पर्धी उपयोग में साधनों के वितरण आय के विभाजन तथा विशिष्ट वस्तुओं एवं सेवाओं के मूल्यो के निर्धारण से सम्बन्धित है। (Micro Economics also uses aggregates, but not in the context which relates them to economy wide total-G. Ackley)

इस प्रकार स्पष्ट है कि व्यष्टि आर्थिक विष्लेषण, आर्थिक विश्लेषण की वह शाखा है जिसके अन्तर्गत वैयक्तिक उपभोक्ता वैयक्तिक फर्म, वैयक्तिक उद्योग, व्यक्तिगत बचतों, वैयक्तिक विनियोग, वैयक्तिक कीमतों आदि के आर्थिक व्यवहार का विश्लेषण किया जाता है । इस प्रकार व्यष्टि विश्लेषण विशिष्ट आर्थिक इकाइयों (Particular economic units) का अध्ययन है । इसके अन्तर्गत योगों अथवा समग्र (Aggregates) का भी अध्यन किया जाता है पर ये योग सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था से सम्बन्धित न होकर केवल किसी क्षेत्र विशेष से सम्बन्धित होते है । संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि व्यष्टि अर्थशास्त्र व्यक्तियों या व्यक्तियों के विशिष्ट समूहों के विशिष्ट आर्थिक अंगों तथा उनके पारस्परिक प्रभाव और विशिष्ट आर्थिक मात्राओं व उनके मूल्य निर्धारण का अध्ययन करता है ।

–: व्यष्टि आर्थिक विश्लेषण के तीन रूप :–

व्यष्टि आर्थिक स्थैतिकी | व्यष्टि आर्थिक तुलनात्मक स्थैतिकी | व्यष्टि आर्थिक प्रावैगिकी

(1) व्यष्टि आर्थिक स्थैतिकी (Micro Economic Static) – यह आर्थिक विश्लेषण की वह शाखा है जिसके अन्तर्गत किसी समय–बिन्दु पर व्यष्टि घटकों के पारस्परिक सम्बन्धों से सन्तुलन की स्थिति की व्याख्या की जाती है। इसमें यह मान लिया जाता है कि व्यष्टि घटकों के सम्बन्ध में कोई परिर्वतन नही होता। उदाहरणार्थ किसी समय बिन्दु पर मांग एवं पूर्ति के दिये हुए फलन से जो कीमत निर्धारित होती है वह व्यष्टि घटकों के सम्बन्ध में कोई परिवर्तन न होने पर वर्तमान एवं पर्यन्त बनी रहती है।

समीकरण के रूप :–

$D = f\ (p)$ मांग कीमत का फलन है और पूर्ति भी कीमत का फलन है ।

$S = f\ (p)$ अतः सन्तुलन कीमत पर मांग एवं पूर्ति बराबर होगी । यह व्यष्टि आर्थिक

$D = s$ स्थैतिकी का उदाहरण है ।

(2) व्यष्टि आर्थिक तुलनात्मक स्थैतिकी (Micro Economic Comparative Static) – इसे तुलनात्मक व्यष्टि स्थैतिकी कहते है । यह व्यष्टि विश्लेषण की वह शाखा है जिसके अन्तर्गत अलग अलग समय बिन्दुओं पर व्यष्टि घटको (Variables) के पारस्परिक सम्बन्धो से स्थापित विभिन्न सन्तुलनों (Equilibriums) की तुलनात्मक व्याख्या की जाती है । इसके अन्तर्गत प्रारम्भिक साम्य और नये साम्य की तुलना की जाती है । उदाहरणार्थ, एक समय बिन्दु पर मांग एवं पूर्ति की सापेक्षिक शक्तियों से सन्तुलन मूल्य 3 रू प्रति इकाई निर्धारित होता है और फिर बाद में दूसरे समय बिन्दू पर पूर्ति में कमी होने से नया साम्य मूल्य 5 रू प्रति इकाई निर्धारित होत है । इन दोनों साम्य अवस्थाओं की तुलनात्मक व्याख्या ही तुलनात्मक व्यष्टि आर्थिक स्थैतिकी है ।

(3) व्यष्टि प्रावैगिकी (Micro Dynamics) – यह व्यष्टि विश्लेषण की वह शाखा है जिसमें प्रारम्भिक साम्यावस्था तक पहुंचने के लिए परिवर्तनों की प्रक्रिया एवं मार्ग (Process and Path of Change) की व्याख्या की जाती है। यह उन शक्तियों का विश्लेषण करती है जो पुराने साम्य को भंग कर नयी साम्यावस्था में पहुंचानें की

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

अवधि में कार्यशील रहती है । इसका सबसे अच्छा उदाहरण मूल्य निर्धारण का मक्कड़ जाल मॉडल (Cobweb Model of Determination) है । इसके अन्तर्गत एक साम्य का दूसरे साम्य पर पहुंचने की प्रक्रिया अथवा परिवर्तन के मार्ग का अध्ययन किया जाता है ।

व्यष्टि आर्थिक विश्लेषण का क्षेत्र (Scope of Micro-Economic Analysis) – व्यष्टि अर्थशास्त्र चूंकि वैयक्तिक इकाइयों के विशिष्ट आर्थिक व्यवहार से सम्बन्धित होता है, अतः व्यष्टि अर्थशास्त्र के क्षेत्र के अन्तर्गत उन सब आर्थिक सिद्धान्तों एवं नियमों का समावेश होता है जो सीमान्त विश्लेषण (Marginal Analysis) पर आधारित है । इसमें उपभोग एवं उत्पादन के सिद्धान्तों के साथ साथ विनिमय के वस्तु कीमत सिद्धान्त (Theory of Product Pricing) तथा वितरण के साधन कीमत सिद्धान्त (Theory of Factor Pricing) का अध्ययन किया जाता है, जिन्हें संक्षेप में निम्न तालिका द्वारा प्रदर्शित किया जा सकता है –

–: व्यष्टि आर्थिक का क्षेत्र :–			
(1) उपभोग के सिद्धान्त	(2) उत्पादन के सिद्धान्त	(3) वस्तु कीमत सिद्धान्त	(4) साधन कीमत सिद्धान्त

(1) उपभोग के सिद्धान्त (Theory of Consumption) – इसके अन्तर्गत सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम, अधिकतम सन्तुष्टि नियम, उपभोक्ता की बचत, मांग का नियम, मांग की लोच आदि नियमों का अध्ययन किया जाता है।

(2) उत्पादन के सिद्धान्त (Theory of Production) – इसके अन्तर्गत उत्पादन के विभिन्न साधनों के संयोग से उत्पादन फलन, उत्पादन में वैयक्तिक फर्मों एवं विशिष्ट उद्योगों में क्रियाशील उत्पादन नियमों, पैमाने के प्रतिफलों, उत्पादन लागतों, साधनों के अनुकूलतम संयोगों तथा अधिकतम उत्पादन से सम्बन्धित नियमों का अध्ययन होता है ।

(3) वस्तु कीमत सिद्धान्त (Theory of Product Pricing) – विभिन्न बाजार अवस्थाओं में फर्मो द्वारा वस्तुओं के मूल्य निर्धारण और लाभ अधिकतमकरण के सिद्धान्तों का अध्ययन इसके अन्तर्गत आते है, जैसे – पूर्ण प्रतियोगिता में मूल्य निर्धारण, एकाधिकार में मूल्य निर्धारण, मूल्य विभेदीकरण, अपूर्ण प्रतियोगिता में मूल्य निर्धारण आदि व्यष्टि अर्थशास्त्र के क्षेत्र में आते है ।

(4) साधन कीमत सिद्धान्त (Theory of Factor Pricing) – उत्पादन में संलग्न उत्पादन के सभी साधनों को सामूहिक उत्पति में से प्रतिफल देना व्यष्टि अर्थशास्त्र की विषय सामग्री है । श्रम की मजदूरी, भूस्वामी का लगान, पूंजीपति का ब्याज तथा साहसी का लाभ आदि वितरण के सिद्धान्तों को साधन कीमत सिद्धान्त भी कहा जाता है ।

व्यष्टि आर्थिक विश्लेषण की व्यावसायिक नीतियों के निर्धारण में भूमिका / योगदान :–

व्यष्टि आर्थिक विश्लेषण के अन्तर्गत विशिष्ट आर्थिक इकाइयों एवं व्यावसायिक फर्मो के आर्थिक व्यवहार का अध्ययन किया जाता है, व्यावसायिक फर्मों के उत्पादन, मांग एवं पूर्ति तथा उत्पादनों की कीमतों और साधनों की सापेक्षिक कीमतों का विवेचन होता है। यही कारण है कि व्यष्टि आर्थिक विश्लेषण व्यावसायिक फर्मों के तीन महत्वपूर्ण कार्य सम्पादित होते है (अ) क्या उत्पादन किया जाये और कितना उत्पादन किया जाये, (ब) कैसे उत्पादन किया जाये अर्थत् उत्पादन का संगठन क्या हो तथा (स) विभिन्न उत्पादन साधनों के बीच सामूहिक उत्पति का बंटवारा कैसे हो। यही कारण है कि प्रो. कीन्स ने व्यष्टि आर्थिक विश्लेषण को वैचारिक यंत्र का एक

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

महत्वूपर्ण अंग माना है। यह व्यावसायिक फर्मो को उनकी आर्थिक समस्याओं के समाधान एवं व्यावसायिक नीतियों के निर्माण मं निम्नांकित तरीकों से योगदान करता है –

(1) व्यावसायिक समस्याओं के समग्र विश्लेषण में सहायक (Helful in Aggregate Analysis of Business Problems) – व्यष्टि आर्थिक विश्लेषण अर्थव्यवस्था की विभिन्न वैयक्तिक फर्मों एवं व्यावसायिक संगठनों की आर्थिक समस्याओं का अलग अलग अध्ययन कर समूची अर्थव्यवस्था की कार्यप्रणाली को समझाने में मदद करता है क्योंकि सभी वैयक्तिक इकाइयां मिलकर ही सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था का निर्माण करती है । प्रो. सेम्यूलसन ने इसीलिये लिखा ''यह नही समझना चाहियें कि व्यष्टि अर्थशास्त्र महत्वहीन विवरणों से सम्बन्धित है, बड़ा चित्र अपने छोटे छोटे भागों से ही बनता है'' स्पष्ट है कि समग्र विश्लेषण के परिप्रेक्ष्य में व्यावसायिक फर्मों को अपनी समस्याओं के समाधान एवं आर्थिक नीतियों के निर्माण में व्यष्टि आर्थिक विश्लेषण उपयोगी है ।

(2) कीमत निर्धारण में उपयोगी (Useful in Price Determination) – व्यष्टि आर्थिक विश्लेषण व्यावसायिक फर्मो को अपने उत्पादनों की कीमत निर्धारण तथा उत्पादन में लगे साधनों की कीमत निर्धारण में मदद करता है। विभिन्न बाजार परिस्थितियों में वस्तुओं का मूल्य निर्धारण (Product Pricing) नीतियों और उत्पादन साधनों की कीमत निर्धारण (Factor Price Determination) का कार्य व्यष्टि आर्थिक विश्लेषण के द्वारा ही संभव होता है ।

(3) अन्तर वैयक्तिक सम्बन्धों का विश्लेषण एवं आर्थिक निर्णयों में मार्गदर्शन (Analysis of interrelated Behaviour and direction in Economic Decisions) – व्यष्टि आर्थिक विश्लेषण व्यावसायिक फर्मों के अन्तर वैयक्तिक आर्थिक सम्बन्धों का विवेचन करता है तथा उनके आर्थिक निर्णयों में मार्ग दर्शन करता है। आजकल व्यावसायिक फर्मों के प्रबन्ध में मांग एवं लागत विष्लेषण, रेखीय प्रोग्रामिंग (Linear Programming) की विधियों से लाभ को अधिकतम करने में प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र का महत्व व्यष्टि विश्लेषण की उपयोगिता सिद्व करता है ।

(4) व्यावसायिक फर्मो की वैयक्तिक समस्याओं के विश्लेषण एवं समाधान में सहायक (Helful in Analysis and Solution of Problems of Business Firms) – व्यष्टि आर्थिक विश्लेषण के अन्तर्गत व्यावसायिक फर्मों की व्येक्तिक समस्याओं का अध्ययन, परीक्षण एवं विश्लेषण का उन समस्याओं के उचित हल की नीतियों के निर्धारण में मदद मिलती है ।

(5) व्यष्टि आर्थिक विश्लेषण समष्टि विश्लेषण का पूरक है (Micro Analysis is Complimentry to Macro Economic Analysis) – व्यष्टि आर्थिक विश्लेषण वैयक्तिक फर्मों के आर्थिक व्यवहार, वैयक्तिक बचतों, विनियोगों एवं व्यय का अध्ययन करता है और यह सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था के विश्लेषण से समष्टि विश्लेषण का सहयोग देता है अतः दोनों परस्पर पूरक एवं सहयोगी शाखाएं है । यह व्यावसायिक फर्मो के नीति निर्धारण में उपयोगी रहती है ।

(6) व्यष्टि विश्लेषण व्यावसायिक फर्मों में साधनों, वस्तुओं एवं सेवाओं के प्रवाह को दर्शाता है (Explains Flow of Goods and Services) – व्यष्टि आर्थिक विश्लेषण में एक ओर परिवारों से व्यावसायिक फर्मों की ओर उत्पादन साधनों – श्रम, भूमि, पूंजी, प्रबन्ध एवं साहस के प्रवाह (Factor Flow) का विश्लेषण किया जाता है तो दूसरी ओर व्यावसायिक फर्मों से उत्पादित वस्तुओं एवं सेवाओं का प्रवाह (flow of Goods and Services) परिवारों की ओर होने का विश्लेषण होता है । इससे व्यावसायिक फर्मो को अपनी उत्पादन एवं वितरण नीतियों में मदद मिलती है ।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

(7) व्यावसायिक फर्मों की क्षेत्रवार समस्याओं के समाधान में सहायक (Helful in Solving Sectoral Problems)– व्यष्टि आर्थिक विश्लेषण के द्वारा व्यावसायिक फर्मों को अपनी अलग अलग विशिष्ट आर्थिक समस्याओं, क्षेत्रीय समस्याओं तथा परस्पर सम्बन्धित समस्याओं के समाधान में वांछित नीति निर्धारण मं सहायता मिलती है।

(8) आर्थिक कल्याण की आवष्यक शर्तों का निरीक्षण एवं निर्धारण (Investigation and Formulation of Essential Conditions for Economic Welfare) – जहां एक ओर व्यष्टि आर्थिक विश्लेषण के द्वारा आर्थिक कल्याण की शर्तों के निरीक्षण एवं जांच में मदद मिलती है वहां दूसरी ओर यह व्यावसायिक फर्मों को आर्थिक कल्याण के लिये वांछित आवष्यक शर्तों के सम्बन्ध में नीति निर्धारण में उपयोगी उपकरण प्रदान करता है ।

(9) लागत एवं उत्पादन विश्लेषण (Cost and Production Analysis) – व्यष्टि आर्थिक विश्लेषण के द्वारा ही व्यावसायिक फर्में अपनी उत्पादन लागतों एवं उत्पदन की मात्रा एवं प्रकार के बारे में विश्लेषण करके अपनी लागतों को न्यूनतम करने तथा उत्पादन को अधिकतम करने की नीतियॉ निर्धारित कर सकती है । महंगे साधनों को अपेक्षाकृत सस्ते साधनों से प्रतिस्थापन करना तथा कम उत्पादन साधनों के स्थान पर अधिक उत्पादक साधनों को लगाने में व्यष्टि विश्लेषण की महती भूमिका रहती है ।

(10) मांग पूर्वानुमान एवं उत्पादन नियोजन (Demand Forecasting and Production Planning)- व्यष्टि आर्थिक विश्लेषण के द्वारा ही व्यावसायिक फर्में उपने उत्पादनों की भावी मांग का पूर्वानुमान लगा सकती है और उसी के अनुरूप उत्पादन की प्रकृति, मात्रा एवं उत्पादन की विधि का नियोजन कर सकती है अतः व्यष्टि आर्थिक विश्लेषण की उत्पादन नियोजन तथा मांग पूर्वानुमान में महत्वपूर्ण भूमिका रहती है ।

(11) लाभ की नीति, नियोजन एवं नियंत्रण में भूमिका (Role in Profit Policy, Profit Planning and Control) – व्यावसायिक फर्मों को अपनी लाभ नीति निर्धारण, लाभ के नियोजन तथा नियंत्रण में व्यष्टि आर्थिक विश्लेषण की काफी मदद मिलती है ।

(12) कर नियोजन में सहायता (Help in Tax Planning) – व्यष्टि आर्थिक विश्लेषण के द्वारा सरकार द्वारा उत्पादन और विक्रय पर लगाये जाने वाले करों, आयकर, सम्पति कर, आयात कर, निर्यात कर आदि के समुचित विश्लेषण से व्यावसायिक फर्मों को अपने करों की समस्या के समाधान तथा कर नियोजन नीति निर्धारण में सहायता मिलती है ।

(13) प्रबन्ध की कुशलता का माप एवं कुशलता वृद्धि की नीति निर्धारण (Measurement of Managerial Efficiency and Policy formulation for Higher Efficiency) – प्रबन्ध की कुशलता व्यावसायिक फर्म की सफलता का प्रमुख आधार है अतः व्यष्टि विश्लेषण फर्मो मं कार्यरत प्रबन्ध की कुशलता का मापदण्ड प्रस्तुत करता है, उसकी खामियों को उजागर करता है । तथा, उसके आधार पर ही प्रबन्ध कुशलता में भावी वृद्धि की नीति निर्धारण में उपयोगी उपकरण उपलब्ध करता है ।

(14) व्यावसायिक भविष्यवाणियों का आधार तैयार करता है (Prepares Basis of Future Predictions) – व्यष्टि आर्थिक विश्लेषण व्यावसायिक फर्मो को उनके व्यावसाय में सम्बन्धित कई प्रकार की भविष्यवाणियों के लिये आधार प्रस्तुत करता है ।

(15) आर्थिक मॉडल निर्माण में सहायता (Help in Formation of Economic Models) – व्यष्टि आर्थिक विश्लेषण व्यावसायिक फर्मो को वास्तविक आर्थिक घटनाओं के मॉडल निर्माण में सहायता प्रदान करता है । ओर उनका वास्तविक स्थितियों से विचलन वांछित नीति निर्धारण में उपयोगी रहता है ।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

व्यष्टि आर्थिक विश्लेषण की सीमाएँ / मर्यादा / दोष :–

यद्यपि व्यष्टि आर्थिक विश्लेषण व्यावसायिक फर्मो की नीति निर्धारण एवं समस्याओं के समाधान में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है फिर भी इस विश्लेषण में कई ऐसी कमियां एवं खामियां है कि व्यावसायिक फर्मो को अपनी नीतियों के निर्धारण एवं समस्याओं के समाधान में समष्टि विश्लेषण का सहारा लेना पड़ता है । प्रमुख सीमाएं एवं दोष इस प्रकार है ।

(1) सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था का ज्ञान न हो पाना (Lack of Knowledge of whole Economy) –चूंकि व्यष्टि आर्थिक विश्लेषण अर्थव्यवस्था की वैयक्तिक मांग आय, वैयक्तिक कीमत तथा विशिष्ट आर्थिक इकाइयों का अध्ययन करता है अतः इसके अन्तर्गत सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था की कार्यप्रणाली का ज्ञान नहीं हो पाता अतः व्यवसायिक फर्मो द्वारा नीति निर्धारण की सफलता संदिग्ध रहती है ।

(2) अवास्तविक मान्यताओं पर आधारित विश्लेषण अधूरा रहता है (Incomplete Analysis Based on Unrealistic Assumptions) – व्यष्टि आर्थिक विश्लेषण में अवास्तविक मान्यताओं को आधार बनाया जाता है पहला ''पूर्ण रोजगार की कल्पना'' तथा दूसरा ''अन्य बातें समान रहें'' जबकि व्यवहारिक जीवन मं न तो कहीं ''पूर्ण रोजगार'' की स्थिति दृष्टिगोचर होती है और न अन्य बातें ही समान रहती है । अतः अवास्तविक मान्यताओं पर आधारित विश्लेषण अधूरा एवं अव्यावहारिक होता है । व्यावसायिक फर्मो की नीतियां भी इन काल्पनिक मान्यताओं के कारण प्रभावी सिद्ध नही हो पाती ।

(3) समष्टि विरोधाभासों की समस्या का जन्म (Problem of Macro Paradoxes) –व्यष्टि आर्थिक विश्लेषण के आधार पर निकाले गये निष्कर्ष कई बार सामूहिक सामान्य निष्कर्षो के साथ मेल नही खाने से समष्टि मूलक विरोधाभासों की समस्या उत्पन्न होती है । उदाहरणार्थ व्यक्तिगत बचत एक अच्छा गुण है किन्तु राष्ट्रीय बचत एक दुर्गुण है Individual Saving is a virtue but National Saving is a Vice) – इसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति को बैंक से अपनी जमाओं से धन निकालने की स्वतंत्रता होने पर भी बैंक फेल नहीं होते किन्तु अगर सभी लोग एक साथ बैंको से धन निकालने लगें तो बैंक फेल हो जायेंगे । एक व्यक्ति कम मजदूरी लेकर अपनी बेकारी से छुटकारा पा सकता है किन्तु सभी बेकार लोग मजदूरी में कटौती स्वीकार करने पर भी रोजगार में नहीं लगाये जा सकते । स्पष्ट है कि व्यष्टि विश्लेषण के निष्कर्ष समष्टि विश्लेषण के निष्कर्षो से भिन्न हो सकते हैं और कभी कभी भ्रमात्मक स्थिति भी उत्पन्न कर देते है ।

(4) कई आर्थिक समस्याओं का अध्ययन व्यष्टि विश्लेषण में संभव नही (Some Economic Problems cannot be studied Through Micro-Analysis) – कई आर्थिक समस्याएं राष्ट्रीय स्तर की होती है । और उनका विश्लेषण समष्टि अर्थशास्त्र में ही संभव है, जैसे–आर्थिक नियोजन, राष्ट्रीय आय एवं समाज में धन का वितरण, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार, प्रशुल्क एवं राजस्व के सिद्धान्त, बैंकिंग समस्याएं आदि इन समस्याओं के विश्लेषण में व्यष्टि आर्थिक विश्लेषण सर्वथा अनुपयुक्त है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि व्यष्टि विश्लेषण उपभोक्ता व्यवहार के मांग सिद्वान्तो उत्पादन के सिद्धान्तो, कीमत निर्धारण के सिद्धान्तो तथा वितरण के सिद्धान्तो के लिये उपयुक्त है किन्तु रोजगार, आर्थिक नियोजन, राजस्व, बैंकिंग, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार आदि के अध्ययन में अनुपयुक्त है ।

समष्टि अर्थशास्त्र अथवा समष्टि आर्थिक विश्लेषण

समष्टि आर्थिक विश्लेषण का अर्थ (Meaning of Macro Economic Analysis) :- समष्टि आर्थिक विश्लेषण आर्थिक विश्लेषण की वह शाखा है जिसमें अर्थव्यवस्था की समस्त इकाइयों का पृथक पृथक अध्ययन न कर उनका समग्र रूप में अध्ययन किया जाता है । इसके अन्तर्गत सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था से सम्बन्धित योगों या समूहों, जैसे–राष्ट्रीय आय, राष्ट्रीय बचत, कुल विनियोग, कुल रोजगार, कुल उत्पादन, कुल उपभोग तथा सामान्य मूल्य

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

स्तर का अध्ययन किया जाता है । इसके अन्तर्गत आर्थिक व्यवस्था का उसके सम्पूर्ण रूप में अध्ययन किये जाने के कारण इसे समग्र का अर्थशास्त्र (Economics of Aggregates) भी कहते है । इसमे वैयक्तिक इकाइयों का अध्ययन नहीं करके सम्पूर्ण आर्थिक संगठन की औसतों अथवा उनके योगफलों, सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था के विशाल समूहों तथा उनके औसत के रूप में अध्ययन व व्याख्या इस प्रकार की जाती है जिससे इनका पारस्परिक सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है ।

प्रो. बोल्डिंग के अनुसार, ''समष्टि अर्थशास्त्र वैयक्तिक इकाईयों का नही बल्कि उनके योगो (या समूह) का अध्ययन करता है इसमें व्यक्तिगत आय के स्थान पर राष्ट्रीय आय, व्यक्तिगत कीमतों के स्थान पर कीमत स्तर तथा व्यक्तिगत उत्पादन के स्थान पर राष्ट्रीय उत्पादन का अध्ययन किया जाता है ।'' इसको बोल्डिंग ने अन्यत्र अपनी दूसरी पुस्तक में इस प्रकार व्यक्त किया है । ''समष्टि अर्थशास्त्र आर्थिक मात्राओं के योगों व औसतों की प्रकृति, सम्बन्धो व व्यवहारों का अध्ययन है ।''

गार्डनर एक्ले के मतानुसार '' समष्टि अर्थशास्त्र आर्थिक मुद्दो पर व्यापक रूप से विचार करता है।

इसका सम्बन्ध आर्थिक जीवन के 'सम्पूर्ण पहलुओं' या आयाम से है । यह आर्थिक अनुभव के 'हाथी' के व्यक्तिगत अंगों के कार्य संचालन, आकार, व पहचान की अपेक्षा उसके कुल आकार, शक्ल एवं संचालन का अध्ययन करता है । अन्य रूप में यह एक वन की प्रकृति का अध्ययन करता है। न कि व्यक्तिगत पेडों का जिनसे जंगल बना है। परन्तु यहां यह स्पष्ट करना आवष्यक है कि समष्टि अर्थशास्त्र के अन्तर्गत सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था के योगों से छोटे भागो का भी अध्ययन किया जा सकता है पर यह आवष्यक है कि ऐसे छोटे योग सम्पूर्ण योगों के उप–विभाजन के रूप में ही हो । इसलिए गार्डर ऐक्ले ने स्पष्ट किया 'समष्टि अर्थशास्त्र के अन्तर्गत सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था के योगों से छोटे योगो का भी उपयोग होता है पर वे छोटे योग सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था के योगों के उपविभाग के रूप मे होते है (Macro economics aggregates smaller than for the whole economy but in a context which makes them subdivision of an economy wide total) इस प्रकार संक्षेप में समष्टि अर्थशास्त्र आर्थिक व्यवस्था का उसके समग्र या सम्पूर्ण रूप से अध्ययन करता है और इसी कारण इसे समग्रीकृत अर्थशास्त्र (Aggregative Economics) भी कहते है । इसे आय सिद्धान्त (Income Theory) के रूप में भी जाना जाता है।

समष्टि आर्थिक विश्लेषण का क्षेत्र (Scope of Macro-Economic Analysis):-

समष्टि अर्थशास्त्र का क्षेत्र बहुत व्यापक है । इसके अन्तर्गत उन सब आर्थिक समस्याओं का समावेश होता है जो सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था से सम्बन्धित एवं समग्र प्रकृति की है । समष्टि अर्थशास्त्र का क्षेत्र अग्र तालिका से स्पष्ट है:–

समष्टि आर्थिक विश्लेषण का क्षेत्र							
(1)	(2)	(3)	(4)	(5)	(6)	(7)	(8)
आय एवं रोजगार का सिद्धान्त	सामान्य मूल्य स्तर का सिद्धान्त	आर्थिक विकास का सिद्धान्त	व्यापार चक्रों का सिद्धान्त	अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार एवं विदेशी विनिमय का सिद्धान्त	मुद्रा एवं बैंकिंग का सिद्धान्त	राजस्व का सिद्धान्त	वितरण का समग्र सिद्धान्त

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

(1) आय एवं रोजगार का सिद्धान्त (Theory of Income and Employment) – इसके अन्तर्गत अर्थव्यवस्था में आय एवं रोजगार के स्तर का निर्धारण, तत् सम्बन्धी समस्याओं तथा निर्धारक तत्वों का विश्लेषण किया जाता है । इसके अन्तर्गत (अ) उपभोग फलन (Consumption Function), (ब) विनियोग फलन (Investment Function), (स) गुणक (Multiplier), तथा (द) त्वरक (Accelerator) आदि का अध्ययन होता है ।

(2) सामान्य मूल्य स्तर का सिद्धान्त (Theory of General Price Level) – समष्टि अर्थशास्त्र में सामान्य मूल्य स्तर के निर्धारण के साथ अर्थव्यवस्था में (अ) मुद्रास्फीति (Inflation), (ब) मुद्रा का संकुचन (Deflation), (स) मुद्रा अपस्फीति (Disinflation), तथा (द) मुद्रा स्ंस्फीति (Reflation) आदि का अध्ययन किया जाता है ।

(3) आर्थिक विकास एवं नियोजन का सिद्धान्त (Theory of Development & Planning) – अर्थव्यवस्थाओं में विकास एवं नियोजन के सिद्धान्त समष्टि अर्थशास्त्र की परिधि मं आते है । इसके अन्तर्गत विकास एवं नियोजन की प्रविधियों, व्यूहरचना तथा सिद्धान्तों का विश्लेषण किया जाता है।

(4) व्यापार चक्रों के सिद्धान्त (Theory of Trade Cycles) – अर्थव्यस्था में आने वाले उतार चढावों का विष्लेषण, उनका दुष्प्रभावों पर नियन्त्रण, उन उतार चढावों को रोकने के उपाय आदि के लिए मौद्रिक नीति, राजकोषीय नीति एवं व्यापार नीति में समायोजन करने पड़ते है । इन सबका अध्ययन समष्टि अर्थशास्त्र में होता है ।

(5) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तथा विदेशी विनिमय सिद्धान्त (Theory of International Trade & Foreign Exchange) – अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सिद्धान्त, व्यापार शर्ते, विदेशी विनिमय दरों का निर्धारण, विनिमय दरों में उतार चढाव का विष्लेषण, विदेशी विनिमय नियंत्रण आदि समस्याओं का अध्ययन समष्टि अर्थशास्त्र के क्षेत्र में आते है ।

(6) मुद्रा एवं बैंकिग के सिद्धान्त (Principles of Money & Banking) – समष्टि अर्थशास्त्र के क्षेत्र में मुद्रा एवं बैंकिंग के सिद्धान्त का भी समावेश होता है । इसके अन्तर्गत मौद्रिक व्यवस्थाएं, साख व्यवस्था, बैकिंग के सिद्धान्त, केन्द्रीय बैंक की व्यवस्था एवं कार्यप्रणाली एवं अन्तर्राष्ट्रीय वित का अध्ययन किया जाता है ।

(7) राजस्व के सिद्धान्त (Theory of Public Finance) – इसके अन्तर्गत अधिकतम सामाजिक कल्याण की दृष्टि से सार्वजनिक व्यय, आय तथा सार्वजनिक ऋणो से सम्बन्धित सिद्धान्तो का विश्लेषण किया जाता है । आधुनिक युग में राजकोषीय नीति का दूसरी नीतियों से समायोजन बैठाया जाता है । ये सब समष्टि अर्थशास्त्र की विषय सामग्री है।

(8) वितरण का समष्टि का सिद्धान्त (Macro-Theory of Distribution) – समष्टि अर्थशास्त्र के क्षेत्र में वितरण का समष्टि–मूलक सिद्धान्त भी आता है । जिसके अन्तर्गत उत्पति के विभिन्न साधनों का राष्ट्रीय आय में सापेक्षिक हिस्सा निर्धारित करने के सिद्धान्तों का विश्लेषण किया जाता है । स्पष्ट है कि समष्टि अर्थशास्त्र का क्षेत्र काफी व्यापाक हो गया है ।

समष्टि आर्थिक विश्लेषण के भेद

(1) समष्टि स्थैतिक (Macro Static) – इसे समष्टि भाव स्थिरावस्था भी कहा जाता है । इसके अन्तर्गत सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था का विश्लेषण सन्तुलन की स्थिति में किया जाता है । इसके अन्तर्गत सन्तुलन की समायोजन प्रक्रिया तथा सन्तुलन स्थापना के कारणों पर ध्यान न देकर अन्तिम सन्तुलन अवस्था का अध्ययन होता है जिसे समीकरण (Y=C+1) के रूप में व्यक्त किया जा सकता है जो क्रमशः समस्त आय, उपभोग व्यय तथा विनियोग को सूचित करते है ।

(2) तुलनात्मक समष्टि स्थैतिक (Comparative Macro Static) – इसे तुलनात्मक समष्टिभाव स्थिरावस्था भी कहा जाता है । इसके अन्तर्गत उपभोग तथा निवेश आदि में विभिन्न परिर्वतनों के परिणामस्वरूप प्राप्त होने वाली विभिन्न अवस्थाओं की तुलना की जाती है । यह विश्लेषण प्रत्याशित (Ex-ente) तथा वास्तविक (Ex-post)

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

सन्तुलन की तुलना करता है, संक्षेप में यह विभिन्न सन्तुलन बिन्दुओं की तुलना करता है । प्रो. कीन्स का बदलने सन्तुलन का विद्धान्त इसका अनुपम उदाहरण है ।

(3) समष्टि प्रावैगिक (Macro Dynamics) – या समष्टि भाव गत्यावस्था – अर्थशास्त्र के विभिन्न घटकों, उपभोग, आय, रोजगार व विनियोग में निरन्तर परिवर्तन की प्रक्रिया चलती रहती है । अतः यह विश्लेषण सम्पूर्ण गत्यात्मक अर्थव्यवस्था के कार्य की व्याख्या करता है । यह विश्लेषण आर्थिक समष्टिभाव घटकों (Macro Economics Variables) में निरन्तर होने वाले परिवर्तनों तथा समायोजनों की प्रक्रिया का अध्ययन करता है । यह अर्थव्यवस्था का प्रत्येक क्षण विश्लेषण करके अर्थव्यवस्था में परिवर्तनों के चलचित्र का दृष्य प्रस्तुत करता है, कारणों और परिणामों का पृथक् पृथक विश्लेषण व्याख्या करता है ।

समष्टि आर्थिक विश्लेषण की व्यावसायिक नीतियों के निर्धारण में भूमिका /योगदान /महत्व

यद्यपि व्यष्टि आर्थिक विश्लेषण व्यावसायिक फर्मो के निति निर्धारण का मुख्य आधार है फिर भी समष्टि आर्थिक विश्लेषण भी व्यावसायिक फर्मो को अपनी अनेक समस्याओ की जटिलताओं को समझने तथ उनका समाधान करने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है, जैसे निम्नलिखित विवरण से स्पष्ट है ।

(1) जटिल अर्थव्यवस्था की कार्यप्रणाली के ज्ञान से नीति निर्धारण में मदद (Helful in Policy Formulation) – समष्टि आर्थिक विश्लेषण व्यावसायिक प्रबन्धकों को सम्पूर्ण अर्थव्यवसथा की जटिल कार्यप्रणाली को समझने तथा उसके आधार पर व्यावसायिक फर्मो की समस्याओं का विश्लेषण करने और उनका उपयुक्त समाधान खोजने का मार्गदर्शन मिलता है । आर्थिक तेजी–मंदी के समय व्यावसायिक फर्मो को उपयुक्त नितियॉ अपनाने का मार्गदर्शन समष्टि विश्लेषण द्वारा ही संभव है ।

(2) आर्थिक नीति निर्धारण में उपयोगी (Useful in Economic Policy Formulation) – आज के ''कल्याणकारी राज'' के युग में सरकार ऐसी आर्थिक नीतियों का निर्माण एवं क्रियान्वयन करती है जिससे राष्ट्रीय आय में वृद्धि हो, राजेगार बढे, देश में बचत और विनियोग बढे, कीमतों में स्थिरता रहे आदि । अतः देश में आर्थिक विकास एवं स्थायित्व की उचित नीतियों का निर्माण एवं क्रियान्वयन समष्टि आर्थिक विश्लेषण पर ही निर्भर करता है । इसके सम्बन्ध में प्रो. बोल्डिंग ने ठीक ही कहा है, ''आर्थिक नीति के दृष्टिकोण से समष्टि अर्थशास्त्र बहुत महत्वपूर्ण है क्योंकि सरकार की आर्थिक नीतियों का सम्बन्ध व्यक्तियों से न होकर व्यक्तियों के समूहों या योगो से होता है ।'' व्यावसायिक फर्मे अपनी नीतियों को सरकारी नीतियों के अनुरूप ढाल कर उनकी अनुकूल परिस्थितियों का लाभ उठा सकती है तथा प्रतिकूल नीतियों से बचने के लिये अपनी नीतियॉ निर्धारित कर सकती है ।

(3) आर्थिक नियोजन में उपयोगी (Useful in Economic Planning) – आज का युग ''नियोजन'' का युग है। विष्व के अधिकांश विकसित एवं विकासशील राष्ट्र अपनी आर्थिक समृद्धि के लिए आर्थिक नियोजन से विकास का मार्ग प्रशस्त कर रहे है। आर्थिक नियोजन की प्रक्रिया अर्थशास्त्र के समग्र विश्लेषण से ही सम्भव होती है। इस प्रकार समष्टि अर्थशास्त्र आर्थिक नियोजन का प्राण है।

(4) व्यष्टि अर्थशास्त्र के विकास के लिए भी समष्टि अर्थशास्त्र आवष्यक है । (Macro Analysis helps in Development of Micro-Analysis) – व्यष्टि विश्लेषण में भी समष्टि विश्लेषण की आवयष्यकता पडती है। जैसे एक वस्तु का मूल्य निर्धारण बहुत कुछ देश में प्रचलित मूल्यस्तर व समूची अर्थव्यवस्था में उसकी मांग एवं पूर्ति पर निर्भर करेगा। फर्म के सिद्धान्त का प्रतिपादन भी बहुत सी फर्मो के व्यवहार को सामूहिक रूप में अध्ययन करने से हुआ है। सम–सीमान्त उपयोगिता नियम का प्रतिपादन भी व्यष्टि विश्लेषण के आधार पर तभी सम्भव हुआ है जबकि व्यक्तियों के समूहों के व्यवहार का अध्ययन किया गया। इस प्रकार व्यष्टि

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

अर्थशास्त्र के नियमो का निर्माण और उनकी परख भी समग्र रूप से की जा सकती है। अतः स्पष्ट है कि व्यष्टि अर्थशास्त्र के विकास में समष्टि अर्थशास्त्र का बहुत महत्व है।

(5) जटिल आर्थिक समस्याओं के समाधान में उपयोगी (Useful in solving the complicated Economic Problems) – समष्टि अर्थशास्त्र सरकार को आर्थिक नीति निर्धारण और आर्थिक नियोजन में तो उपयोगी रहता ही है पर इसके अतिरिक्त यह सरकार को अन्य राष्ट्रीय स्तर की समस्याओं के निराकरण में भी योगदान देता है। अर्थशास्त्री राष्ट्रीय आय, राष्ट्रीय बचत, राष्ट्रीय विनियोग, उपभोग, राष्ट्रीय वितरण–उत्पादन आदि के समग्र अध्ययन से जटिल समस्याओं को सुलझाने में समष्टि अर्थशास्त्र का सहारा लेते है।

(6) समष्टि मूलक विरोधाभासों को समझने के लिए समग्र या समूह का ज्ञान आवष्यक (Knowledge of Whole Economy is essential to understand Macro Paradoxes) – एक अर्थव्यवस्था केवल स्वतन्त्र वैयक्तिक आर्थिक इकाइयों का योग मात्र नहीं होती वरत् इसके व्यवहार की अपनी स्वतन्त्र विशेषताएं हेती है । अनेक फर्मे बनती और नष्ट हो जाती हैं पर अर्थव्यवस्था चलती रहती है। अतः ये विरोधाभास तथ्य समष्टि अर्थशास्त्र के पृथक अध्ययन का महत्व प्रकट करते है। प्रो. बोल्डिंग के अनुसार समष्टि विश्लेषण विरोधाभास का आशय उन धारणाओं से है जो किसी व्यक्ति के लिए सही हों पर सम्पमर्ण अर्थव्यवस्था की दृष्ट्रि से गलत हो जायें, जैसे – व्यक्तिगत बचत व्यक्ति के दृष्टिकोण से लाभदायक हैं पर अगर सभी व्यक्ति बचत करने लगे तो सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था की दृष्टि से हानिकारक होगी क्योंकि इससे प्रभावूपर्ण मांग में कमी से आय तथा रोजगाार तथा बचतों का स्तर गिरेगा। इन विरोधाभासें के कारण ही सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था के लिए पृथक समष्टि शाखा की आवष्यकता है।

(7) कुछ आर्थिक समस्याओं के विश्लेषण में व्यष्टि अर्थशास्त्र की अनुपयुक्तता – कुछ आर्थिक समस्यायें ऐसी है निका विश्लेषण व्यष्टि अर्थशास्त्र से न होकर समग्र रूप में समष्टि आर्थिक विश्लेषण द्वारा ही संभव है जैसे–सामान्य बेरोजगारी की समस्या, व्यापर चक्रों की समस्या, मौद्रिक समस्याएं, अन्तर्राष्ट्रीय व्यपार एवं विदेशी विनिमय की समस्याएं, बैकिंग की समस्यायें आदि। व्यावसायिक फर्मो को इन समस्याओं के प्रतिकूल प्रभावों से बचने की नीतियां तथा अुकूल प्रभावों के लाभ की नीतियां अपनानी चाहिये ।

(8) मौद्रिक समस्याओं के विश्लेषण एवं समाधान में सहायक (Helpful in Analysis and Solution of Monetary Problems) – समष्टि आर्थिक विश्लेषण की सहायता से मौद्रिक समस्याओं का विश्लेषण करने तथा उनका यथोचित समाधान ढूँढने में मदद मिलती है। जब सरकार मुद्रा और साख की मात्रा में होने वाले परिवर्तनो का विश्लेषण कर उसकी समस्याओं के समाधान की नीति निर्धारित करती है तो व्यावसायिक फर्मो को भी सरकारी नीति की सफलता के लिये सरकारी निर्देशो के अनुरूप व्यावसायिक नीति अपनानी पड़ती है।

(9) व्यापार चक्रों के विश्लेषण में उपयोगी (Useful in Analysis of Trade Cycles) – समष्टि आर्थिक विश्लेषण के द्वारा ही आर्थिक तेजी–मंदी के कारणों का विश्लेषण संभव हैं और सरकार को व्यापार चक्रों के दुष्प्रभाव दूर करने के लिये प्रभावी कदम उठाने पड़ते है। व्यावसायिक प्रबन्ध को भी सरकारी नीति के क्रियान्वयन में मदद करने के लिये उसके अनुरूप ही नीति का अनुसरण करना पडता है । व्यवसायिक फर्मे व्यापार चक्रो के दुष्प्रभावों से बचने के लिये उपयुक्त आर्थिक नीतियां अपनाकर अपनी आर्थिक समृद्धि का मार्ग प्रशस्त कर सकती है।

(10) सामान्य बेरोजगारी की समस्या का विश्लेषण एवं समाधान करने में सहायक (Helpful in Anlysis and Solution of Problem of General Unemployment) – समष्टि आर्थिक विश्लेषण ही देश में सामान्य बेरोजगारी के कारणों को उजागर कर उसके समाधान के उपाय सुझाता है कि प्रभावपूर्ण मांग में कमी को

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

दूर करने के लिये अर्थव्यवस्था में कुल उपभोग एवं कुल विनियोग में वृद्धि आवष्यक है। व्यावसायिक फर्मे भी सरकारी नीतियों के अनुरूप अपनी नीतियों में बदलाव लाती है, नई नीतियां अपनाती है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि व्यष्टि आर्थिक विश्लेषण की अपूर्णता एवं अपर्याप्तता तथा समष्टि अर्थशास्त्र की व्यावहारिक उपयोगिता के कारण समष्टि अर्थशास्त्र का आज के युग में बोलबाला है ।

समष्टि अर्थशास्त्र की सीमाएं या कठिनाइयॉ एवं सम्भावित खतरे

समष्टि अर्थशास्त्र की पर्याप्त ख्याति उसकी व्यावहारिक उपयोगिता के बावजूद इस शाखा की ऐसी कुछ सीमाएं या कमियां है जो इसके उपयोग में सतर्कता बरतने को आगाह करती है –

(1) व्यक्तिगत इकाइयों के योग के आधार पर निकाले गये समष्टि अर्थशास्त्र के निष्कर्ष भ्रमात्मक (Conclusions drawn on basis of individual units are illusive) – समष्टि विश्लेषण का सम्बन्ध व्यक्तिगत इकाइयों के योगों व औसतों से होता है पर व्यक्तिगत या छोटे समूहों के योगों से निकाले गये निष्कर्ष व्यक्तिगत दृष्टि से ठीक हो सकते है – पर सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था की दृष्टि से गलत हो सकते है, जैसे – (अ) बैंक से व्यक्तिगत आहरण (Drawing) से बैंक पर विशेष प्रभाव नही पडता मगर सामूहिक रूप से सभी अपनी जमाओं को निकालें तो बैंक फेल हो जायेगा, (ब) व्यक्तिगत बचत व्यक्ति की दृष्टि से लाभदायक है पर समूची अर्थव्यवस्था की दृष्टि से सार्वजनिक बुराई बन जाती है । इसी कारण कीन्स ने ठीक ही कहा है ''बचत जो एक व्यक्तिगत गुण है वह सार्वजनिक बुराई बन जाती है ।'' बचतों में वृद्धि उपभोग में कमी द्वारा उत्पादन व रोजगार में कमी को जन्म दे सकती हैं ।

(2) गलत एवं भ्रमात्मक निष्कर्ष (Wrong and Illusive Conclusions) – अगर अर्थशास्त्री व्यक्तिगत अनुभवों या धारणा को आधार मानकर सम्पूर्ण समाज या अर्थव्यवस्था के सम्बन्ध में निष्कर्ष निकाले तो वे भ्रमात्मक एंव अवास्तविक होगें । इसलिये प्रो. बोल्डिंग ने समष्टि अर्थशास्त्र के व्यक्तिगता अनुभवों से कोई निष्कर्ष न निकालने की सलाह दी क्योंकि सामाजिक चिन्तन में त्रुटियों का यह एक बड़ा स्त्रोत है । इस सम्बन्ध में प्रो. सेम्यूलसन ने समष्टिमूलक विरोधाभास के सात उदाहरण प्रस्तुत किये जो व्यक्तिगत रुप से तो सच है पर समष्टि की दृष्टि से गलत हो सकते है।

(3) समूहों या समाज में व्याप्त विभिन्नता की उपेक्षा (Ignores Diversity in various Sectors of the Economy) – समष्टि विश्लेषण समूहों के योगो या औसतों पर निर्भर करता है । इस कारण समूह में पाये जाने वाले अंगो का अन्तर या महत्व स्पष्ट नही होता । समूह की अपेक्षा अंगों की रचना महत्वपूर्ण होती है । जैसे सामान्य मूल्य स्तर जो अनेक वस्तुओं के मूल्य का समग्र औसत है, यह स्पष्ट नहीं करता कि कौन सी वस्तुओं के मूल्यों में कितना अन्तर हुआ। हो सकता है खाद्यान्न के मूल्यों में कमी हुई हो जबकि औद्योगिक माल के मूल्यों में वृद्धि हुई हो । इसकी प्रकार राष्ट्रीय आय में वृद्धि यह स्पष्ट नहीं करती है । कि कौन से वर्ग की आय बढी है और कितनी–कितनी बढ़ी है । अतः समूह के योग के आधार पर भविष्यवाणी, सुझाव या विवेचन तब तक उचित न होगा जब तक कि समूह की रचना, उसके अंगो का स्वभाव तथा उनके आपसी सम्बन्ध की जानकारी न हो ।

(4) समष्टि अर्थशास्त्र के योग (Aggregates) अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों को समान रूप से प्रभावित नही करते (Macro aggregates do not effect the various sectors equally) – जैसे कुल मांग में वृद्धि से कुछ उद्योगो में सीमान्त उत्पति ह्रास नियम लागू होने से उत्पादन बढ़ाने में कठिनाई आयेगी, जब सी. उ. वृद्धि वाले उद्योगों में उत्पादन कम लागत पर अधिक हो सकेगा। इसी प्रकार मध्यम वर्ग की आय बढ़ने पर साइकिल उद्योग पर बुरा प्रभाव और स्कूटर उद्योग पर अच्छा प्रभाव पड़ेगा ।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

(5) समूह के माप में कठिनाई (Measurement of Aggregates is Difficult) – विभिन्न प्रकार की सेवाओं और वस्तुओं को समष्टि विश्लेषण के लिए योगों में बदलने के लिए माप की कठिनाइयॉ आती है । यद्यपि मुद्रा एक सामान्य मापदण्ड है परन्तु उसकी भी सीमाएं है ।

(6) समष्टि आर्थिक विश्लेषण की प्रक्रिया जटिल (The Process of Macro Analysis is Complicated) – जैसे राष्ट्रीय आय को ज्ञात करने में अनेक कठिनाइयां है । सामान्य मूल्य स्तर को ज्ञात करना टेढी खीर है । समष्टि विश्लेषण की प्रक्रिया सिद्धान्त में बहुत सरल प्रतीत होती है परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से अत्यन्त जटिल है।

व्यष्टि आर्थिक विश्लेषण और समष्टि आर्थिक विश्लेषण में अन्तर

व्यष्टि आर्थिक विश्लेषण	स्मष्टि आर्थिक विश्लेषण
1. इसमें वैयक्तिक आर्थिक इकाइयों का अध्ययन होता है अर्थात यह अंश तथा व्यक्तिगत व्याख्या पर आधारित है।	1. इसमें सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था का वृहत् एवं एक समय इकाई के रूप में अध्ययन होता है अर्थात् कुल सम्बन्धो की व्याख्या करता है।
2. इसमें वस्तुओं व सेवाओं की कीमत निर्धारण एवं विभिन्न उपयोगो में आवंटन का अध्ययन होता है। यह कीमत विश्लेषण से सम्बन्धित है।	2. इसमें आर्थिक सिद्धान्तो का लक्ष्य राष्ट्रीय आय के स्तर व साधनों के समग्र उपभोग को निर्धारित करने का अध्ययन होता है। यह आय विश्लेषण से सम्बन्धित है ।
3. इसका क्षेत्र सीमान्त विश्लेषण पर आधारित नियमों तक सीमित है।	3. इसका क्षेत्र राष्ट्रीय आय, पूर्ण रोजगार, राजस्व, मुद्रा–बैंकिंग आदि सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था से सम्बन्धित समस्याओं के विश्लेषण से विस्तृत है।
4. इसका महत्व आजकल अपेक्षाकृत कम है।	4. इसका महत्व दिनों दिन बढता जा रहा है।
5. यह वैयक्तिक कीमतो, वैयक्तिक उपभोग, उत्पादन आदि की ओर संकेत करता है।	5. यह सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था के सामान्य मूल्य, कुल उपभोग, कुल उत्पादन और राष्ट्रीय आय–स्तर का संकेत करता है।
6. यह वैयक्तिक फर्मो, उद्योगों व उत्पादन इकाईयों में उतार चढाव की व्याख्या करता है।	6. यह सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था के उतार चढावों, आर्थिक मन्दी, अवसाद या आर्थिक तेजी को स्पष्ट करता है।
7. यह वैयक्तिक समस्याओं का समाधान एवं नीति प्रस्तुत करता है।	7. यह राष्ट्रीय या सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था की समस्याओं के समाधान एवं उचित नीति उपलब्ध करता है।
8. यह विश्लेषण सरल है।	8. यह अत्यन्त जटिल एवं दुविधापूर्ण है।

व्यष्टि आर्थिक विश्लेषण और समष्टि आर्थिक विश्लेषण की पारस्परिक निर्भरता

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

यद्यपि व्यष्टि अर्थशास्त्र और समष्टि शास्त्र आर्थिक विश्लेषण की दो अलग अलग शाखाएं है उनका क्षेत्र भिन्न भिन्न है। जहां एक ओर व्यष्टि अर्थशास्त्र में कीमतों का महत्वपूर्ण स्थान है और उसका उद्देष्य कीमत निर्धारण का विश्लेषण करना तथा विशिष्ट साधनों का विशिष्ट उपयोगों में आवंटन करना है तो दूसरी ओर समष्टि अर्थशास्त्र में आय की धारणा महत्वपूर्ण है और उसका उद्देष्य राष्ट्रीय आय के स्तर व साधनों के समग्र उपयोग को निर्धारित करना है । फिर भी ये दोनों एक दूसरे के प्रतियोगी न होकर परस्पर पूरक एवं सहयोगी है। दोनों में परस्पर घनिष्ट सम्बन्ध है । दोनों का विकास परस्पर निर्भर करता है।

प्रो. हैण्डरसन व क्वान्ट ने स्पष्ट किया है कि ''हम यह नहीं कह सकते कि आय की धारणाएं (Income Concepts) व्यष्टि सिद्धान्त में नहीं होती अथवा कीमतें समष्टि सिद्धान्तों मे नही होतीं लेकिन व्यष्टि सिद्धान्तों मे आमदनी का निर्धारण सामान्य कीमत निर्धारण की प्रक्रिया के अन्तर्गत ही आता है । व्यक्ति उत्पादन के साधन बेच कर आय प्राप्त करते है । इन साधनों की कीमते अन्य कीमतों की भांति ही निर्धारित होती है । दूसरी तरफ कीमतें समष्टि सिद्धान्तो में महत्व रखती है । लेकिन समष्टि सिद्धान्तो में व्यक्तिगत कीमतों के निर्धारण की ओर ध्यान न दिया जाकर समग्र कीमत सूचनांको पर ध्यान दिया जाता है ।'' इससे स्पष्ट है कि दोनों शाखाएं परस्पर निर्भर एवं सम्बन्धित है । दोनो की परस्पर निर्भरता अलग अलग उदाहरणों द्वारा स्पष्ट हो जाती है ।

(अ) व्यष्टि आर्थिक विश्लेषण की समष्टि आर्थिक विश्लेषण पर निर्भरता :–

1. वैयक्तिक फर्म या उद्योग को उपने उत्पति के साधनों (श्रम, कच्चा माल, मशीनों आदि) के लिए जो कीमतें देनी पड़ती है । उन कीमतों या प्रतिफलों का निर्धारण साधनों की उसकी स्वयं की मांग पर ही निर्भर होकर इन साधनों की समस्त अर्थव्यवस्था की कुल मांग से प्रभावित होती है।
2. कोई वैयक्तिक फर्म या उद्योग कितना माल बेच सकेगा, यह फर्म की कीमतों पर ही निर्भर नही वरन् समाज में कुल क्रय शक्ति पर निर्भर है ।
3. किसी एक वस्तु का मूल्य निर्धारण पूर्णतः उस विशिष्ट वस्तु की मांग और पूर्ति पर ही निर्भर न होकर अन्य वस्तुओ की कीमतों पर भी या मूल्य स्तर पर निर्भर करता है ।
4. एक वैयक्तिक फर्म या उद्योग को अपनी उत्पादन की मात्रा निर्धारित करते समय समाज की मांग, आय, रोजगार आदि पर ध्यान देना पडता है जो समष्टि अर्थशास्त्र के विषय है । इस प्रकार अनेक ऐसे उदाहरण दिये जा सकते है ।

(ब) समष्टि आर्थिक विश्लेषण की व्यष्टि आर्थिक विश्लेषण पर निर्भरता – जिस प्रकार व्यष्टि विश्लेषण में समष्टि विश्लेषण का सहारा लेना पडता है उसी प्रकार समष्टि विश्लेषण का सहारा लिया जाता है । यह निम्न उदाहरणों से स्पष्ट है :–

1. सम्पूर्ण अर्थशास्त्र का ज्ञान उसके विभिन्न अंगो की जानकारी से होता है, जैसे – राष्ट्रीय आय वैयक्तिक आयों का ही योग है । कुल राष्ट्रीय उत्पादन वैयक्तिक उत्पादन इकाइयों के उत्पादन का सामूहिक योग है ।
2. सम्पूर्ण अर्थशास्त्र के आर्थिक नियोजन में वैयक्तिक फर्मो, उद्योगों, परिवारों या समूहों के नियोजन की आवष्यकता होती है ।
3. आय में वृद्धि से सब वस्तुओं की मांग बढ़ जाने पर वैयक्तिक उद्योगों के उत्पादन में समानुपातिक वृद्धि आवष्यक नहीं, क्योंकि जिन उद्योगो में सीमान्त उत्पति ह्रास नियम लागू होता है, उत्पादन वृद्धि ऊंची लागत पर होगी, जबकि सीमान्त उत्पति वृद्धि नियम लागू होने वाले उद्योगों में उत्पादन वृद्धि कम लागत पर करना सम्भव होगा ।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

उपर्युक्त कतिपय उदाहरणों से दोनों शाखाओं की परस्पर निर्भरता स्पष्ट हो जाती है । आर्थिक समस्याओं के वैज्ञानिक विश्लेषण के लिए दोनों का ज्ञान आवष्यक है । प्रो. सेम्यूलसन ने इसलिए लिखा है । ''वास्तव मं व्यष्टि अर्थशास्त्र और समष्टि अर्थशास्त्र में कोई विरोध नही है । दोनों अत्यन्त आवष्यक है । यदि आप एक को समझते है और दूसरे से अनभिज्ञ रहते है तो आप केवल अर्द्ध शिक्षित है ।'' ("There is really no opposition between Micro and Macro Economics. Both are obsolutely vital and you are only half educated if you understand the one while being ignorant of the other") यदि एक की अपेक्षा कर दूसरे का अनुसरण किया जाये तो व्याख्या एवं निष्कर्ष न केवल भ्रामक और गलत हो सकते हैं बल्कि उनके आधार पर अुनचित एवं विनाशकारी नीति का निर्माण भयावह होगा ।

यद्यपि दोनों शाखायें एक दूसरे की पूरक है फिर भी दोनों के मूलभूत अन्तर को नही भुलाया जा सकता । व्यष्टि अर्थशास्त्र का उपयोग तो वस्तुओं और साधनों की कीमतें निर्धारित करने तथा साधनों के विभिन्न उपयोगों में आवंटन के लिए करना चाहियें जबकि समष्टि अर्थशास्त्र का उपयोग सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था के कार्यकरण (Working) की जानकारी के लिए आवष्यक है ।

इस सम्बन्ध में प्रो. एक्ले (Prof. Ackley) का कथन काफी उपयुक्त लगता है ''वास्तव में व्यष्टि एवं समष्टि सिद्वान्त के बीच कोई सुनिष्चित रेखा नही खींची जा सकती लेकिन सार्थक परिणामों पर पहुंचने के लिए हम पाते है कि समष्टि मूलक समस्याओं का हल समष्टि मूलक उपकरणों से तथा व्यष्टि मूलक समस्याओं का हल व्यष्टि मूलक उपकरणों द्वारा ही निकालना चाहिए।'' (Actually the Line between Macro economic and Micro economic theory cannot be precisely drawn, "Rather, to reach meaningful results, we find that we must approach macro economic problems with macro economic tools and the micro economic problems with macro economic tools"

संक्षेप में यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि आर्थिक समस्याओं की प्रकृति एवं स्वरूप में भिन्नता के कारण उनक वैज्ञानिक विश्लेषण के लिए परस्पर निर्भर व्यष्टि एवं समष्टि अर्थशास्त्र दोनों की सहायता आवष्यक है । दोनों पूर्णतया भिन्न या स्वतन्त्र न होकर एक ही लक्ष्य की प्राप्ति के दो पहलू है और वे एक दूसरे की परस्पर सहयोगी एवं पूरक विधियां है ।

बोध प्रश्न :–

- व्यष्टि आर्थिक विश्लेषण का अर्थ, महत्व एवं सीमाए बताइये ।
- समष्टि आर्थिक विश्लेषण का अर्थ समझाईये तथा व्यावसायिक नीतियों के निर्धारण में महत्व समझाइये ।
- व्यष्टि तथा समष्टि अर्थशास्त्र के सेम्यूलसन कथन को समझाइये ।
- ''अर्थशास्त्री को आर्थिक समष्टिभाव तथा आर्थिक व्यष्टिभाव दोनो प्रकार की समस्या का अध्ययन करना पडता है, दोनों एक दूसरे के विकल्प नही बल्कि पूरक है'। इस कथन की विवेचना कीजिये।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

v/;k;&1

mi;kfxrk

(UTILITY)

1-1 mi;kfxrk dk vFk ,o ifjHkk"kk

1-2 mi;kfxrk dh fo'k"krk,¡

1-3 mi;kfxrk dh eki

1-4 mi;kfxrk d idkj

1-1 mi;kfxrk dk vFk ,o ifjHkk"kk (Meaning and Definition of Utility)

fdlh oLr e fo|eku x.k dk ge mi;kfxrk dgr g ftl l gekjh fdlh vko';drk dh ifr gkrh gkA oLrvk e fo|eku ;gh x.k mi;kfxrk g tk gekjh vko';drk dk lUr"V djrk gA vkfFkd fo'y"k.k e mi;kfxrk dh /kkj.kk dk ifjp; ifrf'Br vFk'kkL=h t cUFke (J. Bentham) u fn;k FkkA vFk'kkL= e mi;kfxrk dk vFk fdlh oLr dh vko';drk ifr dh 'kfDr dk mi;kfxrk dgr gA dkb Hkh oLr pkg ykHknk;d gk ;k gkfudkjd ;fn og fdlh eu"; dh fdlh vko';drk dk lUr"V djrh g rk vFk'kkL= d vulkj mle mi;kfxrk gA n/k e mi;kfxrk g] ;g ykHknk;d Hkh gA blh idkj vQhe] xktk] 'kjkc vkfn oLr, gkfudkjd gkrh g fQj Hkh bue mi;kfxrk gkrh g D;kfd ; miHkkDrk dh vko';drk dk lUr"V djrh gA

ik- ok?k (Waugh) u mi;kfxrk d vFk dk Li"V djr g, fy[kk g fd vFk'kkL=h d fy, mi;kfxrk ekuoh; vko';drkvk dk lUr"V dju dh {kerk gA

ik- Fkke l d vulkj] ^^pkg fdlh oLr d miHkkx dk miHkkDrk ij cjk iHkko iM vkj pkg mld miHkkx l lekt dk vfgr gk] fdUr ;fn og oLr fdlh miHkkDrk d efLr"d ;k 'kkjhfjd vko';drk dk ijk dj rk ble mi;kfxrk ekuh tkrh gA**[1]

fyll rFkk LVfu;j d vulkj] ^^fdlh oLr d miHkkx l fdlh miHkkDrk dk tk lUrf"V ikIr gkrh g]

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

mi;kfxrk dgykrh gA**[2]

ufou d vulkj] ^^vFk'kkL= e mi;kfxrk dk vFk flQ bl rF; l g fd dN ykxk dk bldh vko';drk g] mUg og ;g D;k pkfg,\ ;g vFk'kkL=h d fy, ifjdYiuk dk fo"k; ugh gA[3]

1-2 mi;kfxrk dh fo'k"krk,

mi;kfxrk dk vFk le>ku d ckn ge bldh fo'k"krkvk dk o.ku dj jg g &

1- mi;kfxrk ,d lkif{kd fopkj g

mi;kfxrk le; LFkku o 0;fDr d lkFk viuk :i cnyrh jgrh gA xeh e cQ mi;kxh g ij lnh e ughA l;kl 0;fDr d fy, ikuh dh mi;kfxrk cgr gkrh gA ij l;kl c> tku d ckn ikuh dh mi;kfxrk [kRe gk tkrh gA bl idkj mi;kfxrk ,d lki{k fopkj g tk oLr rFkk miHkkDrk d e/; vkilh lEcU/k ij vk/kkfjr gkrh gA

2- mi;kfxrk dk lEcU/k ykHknk;drk l ugh gkrk

mi;kfxrk l vk'k; ekuoh; vko';drkvk dk lUr"V dju dh 'kfDr l gA t l 'kjkc 'kjkch dh vko';drk dk lUr"V djrh g rk 'kjkc 'kjkch dh nf"V l mi;kfxrk gA ij ykHknk;drk ugh gA

3- mi;kfxrk 0;fDrxr gkrh g

fd lh oLr dh mi;kfxrk lHkh miHkkDrkvk d fy, ,d lh ugh gkrh g ;g miHkkDrk dh LoHkko] :fp] vknr] vkfFkd] lkekft d] /kkfed ifjfLFkfr;k rFkk eu%fLFkfr ij fuHkj djrh gA /ke e vkLFkk j[ku 0;fDr d fy, /kkfed iLrd dh mi;kfxrk gA vr% mi;kfxrk 0;fDrxr gkrh gA

4- mi;kfxrk dk ufrdrk l dkb lEcU/k ugh gkrk

cuge u fy[kk g ^^mi;kfxrk 'kCn dk ufrdrk dh nf"V l dkb egRo ugh gA** dN oLrvk d miHkkx dk lekt dh nf"V l vufrd ekuk tkrk gA t l fgUnLrku e lkekU;r;% 'kjkc ihu oky 0;fDr;k dh fuUnk dh tkrh g ijUr vkfFkd nf"V l ble mi;kfxrk gkrh g] D;kfd 'kjkch dh vko';drk dh ifr gkrh gA

---

1. "So long as an article satisfies man's some desire of body or mind, it processes utility in the economic sense, although this may be pernicious in its effect on the consumer or on others, or detrimental to the conimunity generlly
2. According to lipsey and steiner, "The satisfaction that some one receives from cemming commodities is called it's utility.
3. According to Nevin, "In economics the expression a commodity conveys utiluty, means merely that some people want it, why they want it, Is not the concern of economist."

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

5- mi;kfxrk ver gkrh g

mi;kfxrk dk dkb Hkkfrd Lo:i ugh gkrk g u gh ge bl N ldr] u n[k ldr gA mi;kfxrk dk doy vuHko fd;k tk ldrk gA ;g ,d ekufld fopkj gA

6- mi;kfxrk dk lEcU/k miHkkx oLrvk l

mi;kfxrk dk lEcU/k doy miHkkx oLrvk l gh gkrk g u fd mRiknd oLrvk l] D;kfd lUrf"V dk vglkl doy miHkkx dju ij gh gkrk gA

7- mi;kfxrk vko';drk dh rhork ij fuHkj djrh g

miHkkDrk dh vko';drk dh ohork d lkFk mi;kfxrk e vUrj vk tkrk gA fdlh miHkkDrk fdlh oLr dh ftruh vf/kd vko';drk gkxh] mldh mi;kfxrk mruh gh vf/kd gkxhA tl l;kl 0;fDr d fy, ikuh dh mi;kfxrk cgr vf/kd gkrh g ijUr l;kl feVu ij ikuh dh dkb mi;kfxrk ugh jg tkrhA

8- mi;kfxrk Ø; dk ikRlkfgr djrh g

miHkkDrk dk tc fdlh oLr e mi;kfxrk feyrh g rk ml og [kjhnu d fy, ikRlkfgr gkrh gA ;fn fdlh oLr e mi;kfxrk ugh gkrh g rk 0;fDr ml oLr dk ugh [kjhnrkA

1-3 mi;kfxrk dh eki ¼Measurement of utility½

fdlh oLr ;k lok dh mi;kfxrk mld vkUrfjd x.kk ij ugh cfYd miHkkDrk dh eukoKkfud ,o 0;fDrxr nf"Vdk.k ij fuHkj djrh gA D;k mi;kfxrk dk ekik tk ldrk g\

bl lnHk e vFk'kkfL=;k u nk nf"Vdk.k viuk; g&

1- x.kukokpd nf"Vdk.k ¼Cardinal Applroach½

2- Øeokpd nf"Vdk.k ¼Ordinal Approach½

1- x.kukokpd nf"Vdk.k ¼&

xf.krh; lEink; d ik- toUl] eUtj rFkk okyjl u mi;kfxrk dh eki d i;kl fd; ijUr mud fopkjk dk oKkfud :i ik- ek'ky u fn;kA bl nf"Vdk.k d vulkj mi;kfxrk dk enk :ih ieku e ekik tk ldrk g tc dkb 0;fDr fdlh oLr dk [kjhnrk g rk mldk Hkxrku enk e djrk gA 0;fDr ml oLr dh dher ml oLr l ikIr gku okyh mi;kfxrk l vf/kd ugh pdk;xkA vr% dher gh oLr dh m;kfxrk dh eki gA ;fn fdlh iu dh dher 5 :i; g rk ml iu dh mi;kfxrk 5 :i; gA bl idkj ek'ky d vulkj mi;kfxrk dk x.kukRed l[;k, ¼vFkkr 1]2]3]4---------- vkfn l[;k,½ nh tk ldrh gA tc ge oLr dh mi;kfxrk dk bl idkj dh l[;kvk }kjk 0;Dr djr g rk ml x.kukokpd mi;kfxrk ¼Cardinal Utelity½ dgr gA bl nf"Vdk.k d vk/kkj ij ge Kkr dj ldr g fd ,d oLr l ikIr mi;kfxrk nljh oLr l ikIr mi;kfxrk l de g vFkok vf/kdA

2- Øeokpd nf"Vdk.k ¼&

ijVk] fgEl] ,yu vkfn u crk;k fd mi;kfxrk ,d eukoKkfud rFkk 0;fDrxr fopkj lki{k gA bl enk :ih ieku e ugh eki ldrA ; ek'ky d fopkj l lger ugh gA bUgku dgk fd ek'ky }kjk i;Dr enk :ih ekin.M mi;kfxrk dk ekiu dk dkb fuf'pr ,o fLFkj iekuk ugh g D;kfd enk d eY; e mrkj&p<ko vkr jgr gA vr% bl nf"Vdk.k d vulkj mi;kfxrk dk ekik ugh tk ldrkA cfYd fofHkUu oLrvk l feyu okyh mi;kfxrkvk dh doy ryuk dh tk ldrh g vFkkr lokf/kd mi;kfxrk inku dju okyh oLr dk iFke] ml l de

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

mi;kxh dk f}rh; rFkk mll de mi;kxh dk rrh; LFkku vkfn d Øe e mi;kfxrk dh x.kuk dj ldr gA blfy, bl Øeokpd nf"Vdk.k dgk tkrk gA

1-4 mi;kfxrk d idkj ¼Kinds of Utility½

mi;kfxrk dk ge rhu Hkkxk e ckV ldr g&

1- lhekUr mi;kfxrk ¼Marginal Utility½

2- dy mi;kfxrk ¼Total Utility½

3- vklr mi;kfxrk ¼Average Utility½

1- dy mi;kfxrk ¼Total Utility½

miHkkDrk }kjk fdlh oLr dh miHkkx dh xb leLr bdkb;k l ikIr mi;kfxrk dk ;kx gh dy mi;kfxrk dgykrk gA mnkgj.k d fy, ge ,d ckj e 4 jlxYy dk miHkkx djr g rk igy jlxYy l 25] nlj l 20] rhlj l 16] pkFk l 12 d cjkcj m;kfxrk feyrh g rk gekj fy, jlxYyk dh dy mi;kfxrk ¼25$20$16$11½ 72 gA dy mi;kfxrk dk fuEu l= l ekik tk ldrk g &

$$TU = \sum MU$$

TU = dy mi;kfxrk

∑MU lhekUr mi;kfxrk dk ;kx

2- lhekUr mi;kfxrk ¼Marginal Utility½ ¼&

fdlh oLr dh ,d vfrfjDr bdkb dk miHkkx dju l ikIr gku okyh vfrfjDr mi;kfxrk dk lhekUr mi;kfxrk dgr gA lhekUr mi;kfxrk dk fuEu <x l Hkh ekik tkrk gA

$$MUn = TUn - TUn - 1$$

MUn = n bdkb dh lhekUr mi;kfxrk

TUn = n bdkb dh dy mi;kfxrk

TUn-1 = n-1 bdkb dh dy mi;kfxrk

lhekUr mi;kfxrk dk ge fuEu l= l Hkh eki ldr g&

x oLr dh lhekUr mi;kfxrk dk ekiu dk l= = $MUx = \frac{\Delta TUx}{\Delta Qx}$

Mux = x oLr dh lhekUr mi;kfxrk

ΔTux = x oLr dh dy mi;kfxrk e ifjoru

ΔQx = x oLr dh dy ek=k e ifjoru

mijkDr nkuk idkj dh mi;kfxrk ¼dy mi;kfxrk rFkk lhekUr mi;kfxrk½ dk ge fuEu rkfydk }kjk fn[kk ldr g

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

rkfydk 1-1

x oLr dh bdkb;k	x oLr dh dy mi;kfxrk ¼Tux½	x oLr dh lhekUr mi;kfxrk ¼Mux½
1.	20	20
2.	35	15
3.	46	11 /kukRed lhekUr mi;kfxrk
4.	54	8
5.	60	6
6.	60 (vf/kdre)	0 'kU; lhekUr m-
7.	55	-5 _.kkRed lhekUr m-

tl k fd rkfydk 1-1 }kjk Li"V g fd ikjEHk e x oLr d miHkkx l ikIr dy mi;kfxrk e tc rd of) gkrh g] rc rd lhekUr mi;kfxrk /kukRed gkrh g] tl gh dy mi;kfxrk fLFkj gk tkrk g] ol gh lhekUr mi;kfxrk 'kU; gk tkrh gA NBh bdkb dk miHkkx dju ij i.k rflr dk vuHko gkrk gA NBh bdkb ij dy mi;kfxrk vf/kdre gA 7oh bdkb dk miHkkx dju l dy mi;kfxrk fxju yxrh g rk lhekUr mi;kfxrk _.kkRed gk tkrk g 7oh bdkb d miHkkx l mi;kfxrk d LFkku ij vui;kfxrk feyu yxrh gA bl ge fuEu j[kkfp= dh lgk;rk l Hkh le>k ldr g&

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

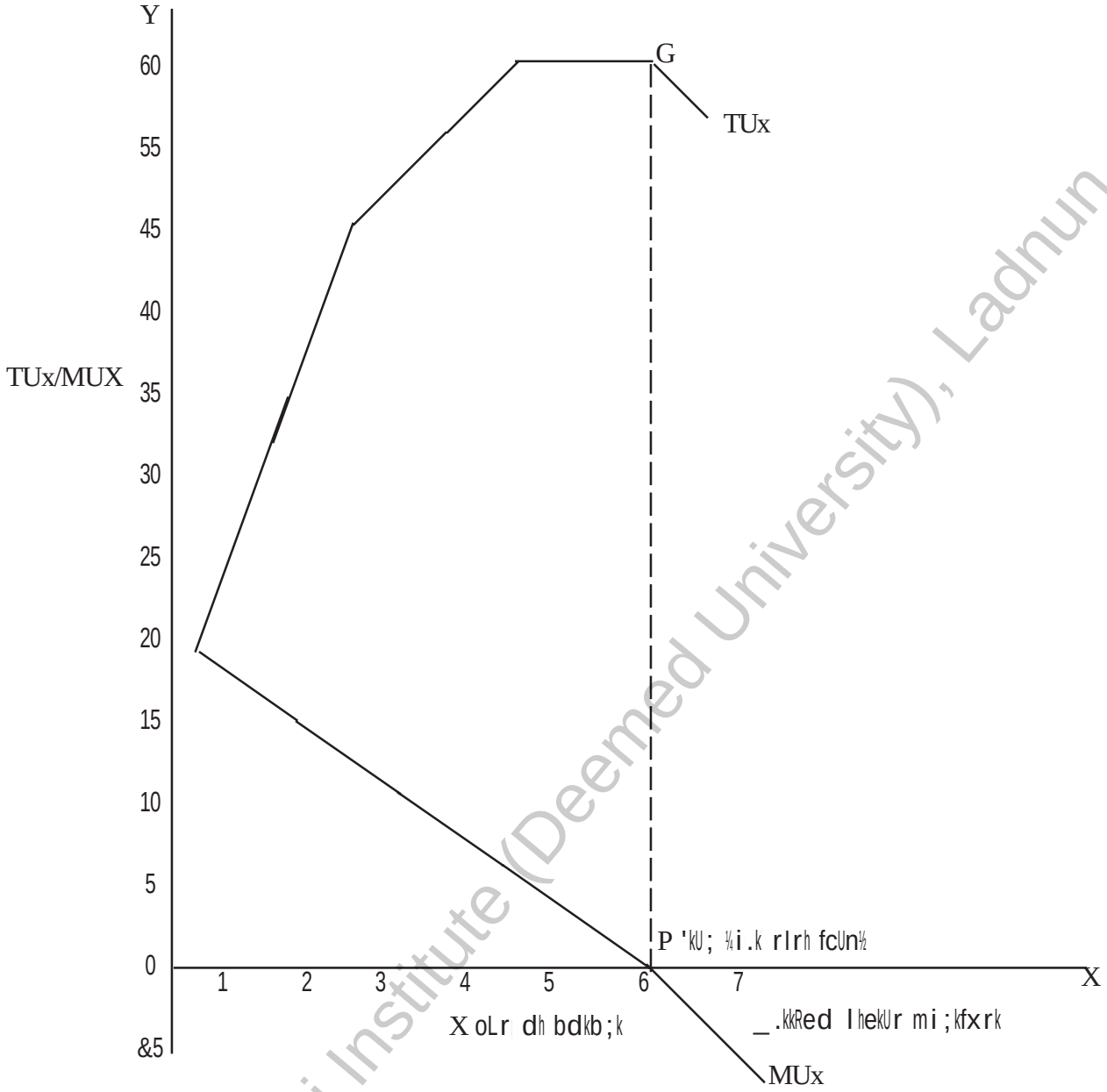

j[kkfp= 1-1

fp= e OX v{k ij X oLr dh ek=k rFkk OY v{k ij Y oLr dh lhekUr mi;kfxrk rFkk dy mi;kfxrk dk fn[kk;k x;k gA dy mi;kfxrk G fcUn rd c< jgh g G fcUn ij dy mi;kfxrk vf/kdre g blh d vu:i p fcUn ij lhekUr mi;kfxrk 'kU; ¼MU=O½ gA ;g fLFkrh tc gkrh g tc mi;kfxrk x oLr dh NBh bdkb dk mi;kx djrh gA tc miHkkDrk lkroh bdkb dk mi;kx djrk gA rc lhekUr mi;kfxrk _.kkRed gk tkrh g rk dy m;kfxrk G fcUn d ckn ?kVu yxrh gA

dy mi;kfxrk rFkk lhekUr mi;kfxrk d chp lEcU/k ¼Relation between Total Utility and Marginal Utility½

1- tc rd lhekUr mi;kfxrk /kukRed gkrh g rk dy mi;kfxrk c<rh gA

2- tc lhekUr mi;kfxrk 'kU; gk tkrh g rc dy mi;kfxrk vf/kdre gkrh gA

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

3- tc lhekUr mi;kfxrk _.kkRed gkrh g rk dy mi;kfxrk ?kVu yxrh gA

3- vklr mi;kfxrk ¼Average Utility½

fdlh oLr dh fofHkUu bdkb;k d mi;kx l iklr dy mi;kfxrk e miHkkx dh xb bdkb;k d dy l[;k dk Hkkx nu ij tk HkkX;Qy iklr gkrk g] ml ge vklr mi;kfxrk ¼AU½ dgr gA

bl ge fuEu l= }kjk eki ldr g & $AU = \frac{TU}{NU}$

AU = vklr dh mi;kfxrk

TU = dy mi;kfxrk

NU= bdkb;k dh l[;k

ck/k i'u

y?kÙkjkRed i'u

1- mi;kfxrk l vki D;k le>r g \
2- dy mi;kfxrk fdl dgr g \
3- lhekUr mi;kfxrk dk l= dh lgk;rk l le>kb;A
4- D;k mi;kfxrk dk ekik tk ldrk g\ Li"V fdft,A
5- mi;kfxrk d x.kkukokpd vkj Øeokpd nf"Vdk.k dk Li"V dhft,A
6- vklr mi;kfxrk dk vFk crkb;A
7- oLr&X dh uoh (9th) bdkb l iklr dy mi;kfxrk 20 g vkj nloh bdkb l 15 gA nloh (10th) bdkb dh lhekUr mi;kfxrk dh x.kuk djA
8- fuEufyf[kr rkfydk e oLr&X d miHkkx l iklr lhekUr mi;kfxrk nh g %

X dh bdkb;k	1	2	3	4	5
MUx	10	9	7	3	&5

dy mi;kfxrk Kkr fdft,A

fucU/kkRed i'u

1- mi;kfxrk fdl dgr g bldh fo'k"krk, crkb;A
2- dy mi;kfxrk rFkk lhekUr mi;kfxrk dk Li"V dhft;A
3- dy mi;kfxrk rFkk lhekUr mi;kfxrk d e/; lEcU/kk dh 0;k[;k j[kkfp= dh lgk;drk l djA

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

v/;k;&2

lhekUr mi;kfxrk ál fu;e

LAW OF DIMINISHING MARGINAL UTILITY

2-1 ifjp;

2-2 fu;e dh ifjHkk"kk,

2-3 fu;e dk ifriknu dFku

2-4 mnkgj.k }kjk fu;e dk Li"Vhdj.k

2-5 fu;e dh ekU;rk,

2-6 fu;e ykx gku d dkj.k

2-7 fu;e d viokn

2-8 fu;e dh vkykpuk

2-9 fu;e dk egÙo

2-1 ifjp; ¼Introduction½

lhekUr mi;kfxrk ál fu;e dk ifriknu loiFke gjeu gufjd xklu ¼Hermann Henrich Gossen½ u fd;k FkkA blh dkj.k bl xklu dk iFke fu;e ¼The firsr Law of Gossen½ Hkh dgk x;k gA ckn e bl fu;e dh oKkfud 0;k[;k ik- ek'ky }kjk dh xb FkhA ;g fu;e ,dy oLr miHkkDrk lUryu dh 0;k[;k djrk gA bl rf"V dk fu;e ¼Law of Satiety½ Hkh dgk tkrk gA

2½2 fu;e dh ifjHkk"kk, ¼Definitions of the Law½

fofHkUu vFk'kkfL=;k u bl fu;e dh ifjHkk"kk, nh g tk bl idkj g&

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

xklu d vulkj] ^^tc ge fdlh ,d lUrf"V dk fcuk fdlh 0;ko/kku d yxkrkj i;kx djr jgr g rk ml lUrf"V dh ek=k rc rd fujUrj ?kVrh g tc rd fd ml l i.k rflr dh ikflr ugh gk tkrhA**

fyll ,o LVfu;j d vulkj] ^^;fn vU; lHkh oLrvk d miHkkx dh fLFkj j[kk tk, rk tl&tl fdlh ,d oLr d miHkkx dh dy ek=k c<xh] mldh mÙkjkrj bdkb;k l iklr mi;kfxrk ?kVrh tk,xhA

vk/kfud vFk'kkL=h ik- ckfYMx d vulkj] ^^tc dkb miHkkDrk vU; lHkh oLrvk d miHkkx dk fLFkj j[kr g,] fdlh oLr d miHkkx e of) djrk g rk ifjoruh; oLr dh lhekUr mi;kfxrk vUrr% vo';; ?kVrh gA**

2-3 fu;e dk ifriknu dFku ¼Statement of the Law½

ik- ,yÝM ek'ky d vulkj] ^^fdlh 0;fDr d ikl fdlh oLr d LVkd dh ek=k e of) gku l] tk vfrfjDr ykHk mldk iklr gkrk g] vU; ckrk d leku jgu ij] og oLr d LVkd dh ek=k e iR;d of) d lkFk&lkFk ?kVrk pyk tkrk gA**

bl idkj ge dg ldr g fd fdlh oLr dk yxkrkj miHkkx djr jgu ij ml oLr dh iR;d vxyh bdkb l feyu okyh vfrfjDr mi;kfxrk ?kVu yxrh gA ?kVrh gb vfrfjDr mi;kfxrk dk gh lhekUr mi;kfxrk ál fu;e dgk tkrk gA

fu;e dh 0;k[;k ¼Exaplanation of Law½

;g fu;e bl vuHko ij vk/kkfjr g fd 0;fDr miHkkx dh fØ;k e tl&tl fdlh oLr fo'k"k dh ek=k c<krk g] vU; ckr leku jgu ij ml oLr dh iR;d vxyh bdkb l feyu okyh vfrfjDr mi;kfxrk Øe'kh ?kVrh tkrh gA /khj&/khj ,d ,lh LFkfr vk tkrh g tgk miHkkDrk dh vko';drk i.k lUr"V gk tkrh gA ,lh n'kk e miHkkx dh xb vfrfjDr bdkb dh mi;kfxrk 'kU; gk tkrh g] vxj bld ckn Hkh ge miHkkx pky j[kr g rk ge mi;kfxrk d LFkku ij vui;kfxrk ¼disutility½ feyu yxrh g ftl _.kkRed mi;kfxrk dgk tkrk gA

2-4 mnkgj.k }kjk fu;e dk Li"Vhdj.k

bl fu;e dk ge ,d dkYifud rkfydk }kjk vPNh rjg le> ldr gA fuEu rkfydk ,d miHkkDrk }kjk jkfV;k d miHkkx l iklr mi;kfxrk dk crkrh g&

rkfydk 2-1

jkVh dh l[;k ¼Units½	lhekUr mi;kfxrk ¼MU½	dy mi;kfxrk ¼TU½	voLFkk,¡ ¼Stages½
1	20	20	
2	15	35	
3	11	46	iFke voLFkk
4	8	54	
5	4	58	
6	0	58	f}rh; voLFkk ¼i.k rflr fcUn½
7	&4	54	rrh; voLFkk

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

mijkDr rkfydk l Li"V g fd tc miHkkDrk igyh jkVh dk miHkkx djrk g rk ml 20 bdkb d cjkcj feyrh g tl&tl miHkkDrk d ikl jkVh dh bdkb;k c<rh tkrh g ol&ol jkVh l iklr gku okyh lhekUr mi;kfxrk ?kVrh tkrh g nljh jkVh l ml 15] rhljh l 11] pkFkh l 8 rFkk ikpoh l 4 bdkb d cjkcj mi;kfxrk feyrh gA bl idkj ge n[kr g fd ,d ,lh fLFkrh vk tkrh g tc NBh jkVh l 'kU; rFkk lkroh jkVh l _.kkRed mi;kfxrk feyrh gA

ge fu;e dk Li"V dju d fy, mijkDr rkfydk dk j[kkfp= }kjk Li"V dj ldr g&

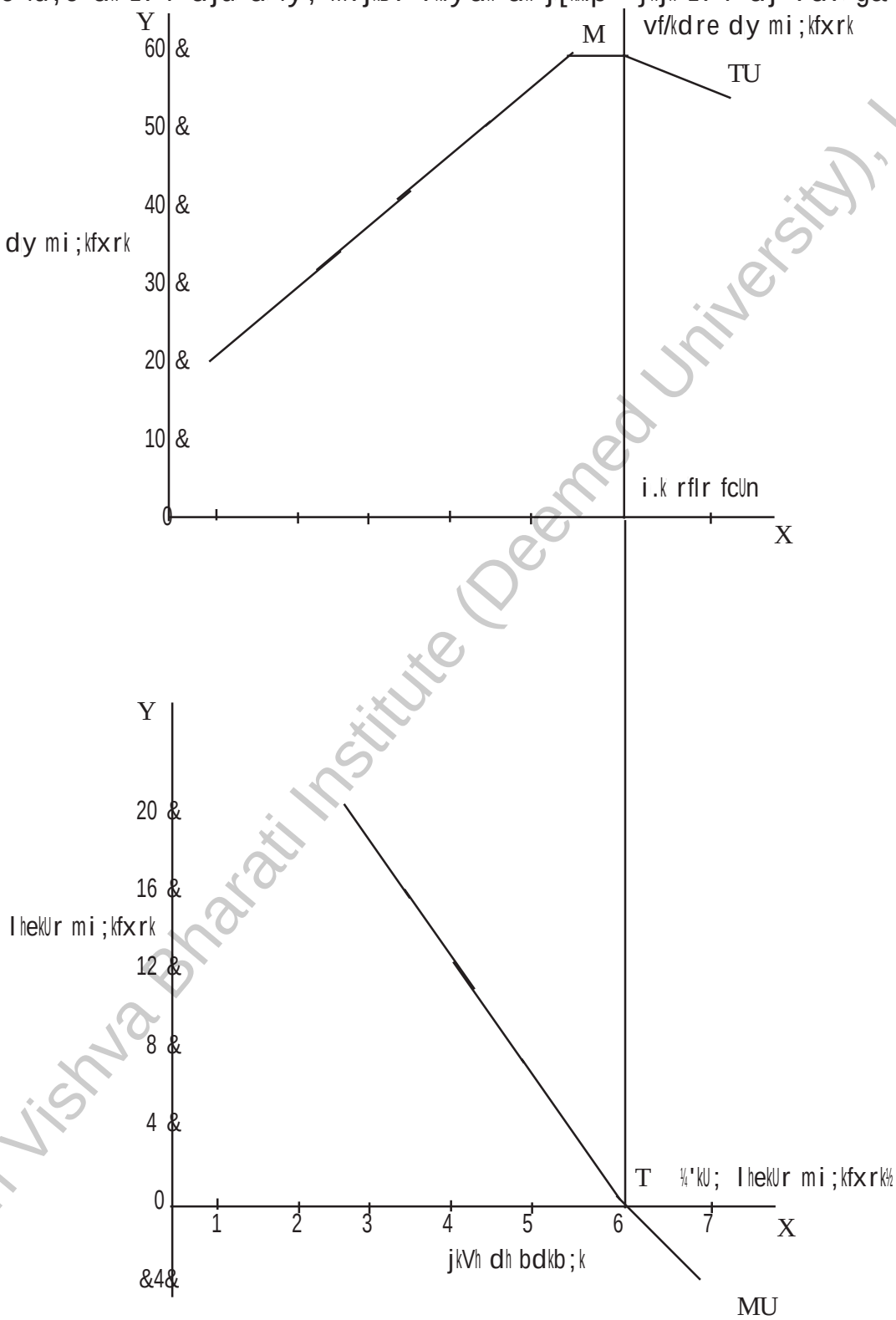

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

fp= d Åij d Hkkx e oY v{k ij dy mi;kfxrk rFkk uhp d Hkkx e lhekUr mi;kfxrk dk fn[kk;k x;k g rFkk v{k ox ij jkVh dh bdkb;k fn[kkb xb gA t lk fd fp= l Li"V g fd t l&t l miHkkDrk d ikl jkVh dh l[;k c<rh tkrh g ol&ol jkVh l feyu okyh lhekUr mi;kfxrk de gkrh g rFkk dy mi;kfxrk ?kVrh gb nj l c<rh gA NBh bdkb ij dy mi;kfxrk vFkkr M fcUn ij vf/kdre g NBh bdkb ij T lhekUr mi;kfxrk 'kU; g bl i.k rflr fcUn dgr gA ft l T fcUn ij fn[kk;k x;k gA bld ckn jkVh dh lkroh bdkb dk miHkkx dju ij MU _.kkRed gk tkrk g rFkk TU fxjuk 'k: gk tkrk gA dkb Hkh food'khy miHkkDrk jkVh dh lkroh bdkb dk miHkkx ugh djxkA

2½5 fu;e dh ekU;rk,¡ ¼Assumptions of the Law½

ge igy gh crk pd g fd mi;kfxrk ál fu;e vU; ckr leku jgu ij gh ykx gkrk gA bl fu;e dh dN ekU;rk, ,o lhek, g tk bl idkj g&

1- oLr dh iR;d bdkb;k x.k] ek=k rFkk cukoV e leku gkuh pkfg,A
2- oLr dh bdkb;k dk miHkkx yxkrkj gkuk pkfg,A
3- oLr dh bdkb;k mi;Dr o lefpr gkuh pkfg,A
4- oLr d eY; e ifjoru ugh gkuk pkfg;A
5- oLr dh LFkkukiu oLr dk eY; Hkh leku jguk pkfg,A
6- miHkkDrk dh ekufld fLFkfr ,d lh jguh pkfg;A
7- miHkkDrk dh vk;] :fp] vknr] LoHkko o Q'ku e ifjoru ugh gkuk pkfg;A
8- miHkkDrk dh ikFkfedrk e ifjoru ugh gkuk pkfg;A
9- mi;kfxrk ál fu;e doy l[ke; vkfFkd n'kkvk e gh ykx gkrk gA
10- miHkkDrk ij in'ku iHkko ugh gkuk pkfg,A

2½6 lhekUr mi;kfxrk ál fu;e ykx gku d dkj.k ¼Reason for Diminishing Marginal Utility½

;g i'u mBuk LoHkkfod g fd ;g fu;e D;k ykx gkrk g\& fuEu dkj.kk l ;g fu;e ykx gkr g tk bl idkj g&

1- oLrvk dk vi.k LFkkukiu gkuk

ge n[kr g fd ik;k O;ogkj e oLr, ,d nlj d i.k LFkkukiu ugh gkrhA fofHkUu oLrvk dk ,d fuf'pr vuikr e gh dke e yk;k tk ldrk gA vU;Fkk ,d oLr dk mi;kx fLFkj j[kdj nljh oLr dk miHkkx c<ku ij lhekUr m;kfxrk ?kVrh nj l gh iklr gkxhA mnkgj.k d fy, jkVh d lkFk lCth dk ,d fuf'pr vuikr e dke fy;k tkrk gA ;fn lCth dh ek=k fLFkj j[kdj jkVh dh ek=k dk c<k;k tkrk g rk ;g vuikr cny tk,xkA ifj.kkeLo:i jkVh dh vfrfjDr ek=k l ?kVrh gb mi;kfxrk feyxh D;kfd jkVh lCth ,d nlj d i.k LFkkukiu ugh gA

2- vko';drk fo'k"k dh ifr lEHko

eu"; dh vko';drk, vuUr gkrh gA fdlh fo'k"k vko';drk dh ifr dh tk ldrh gA tc dkb miHkkDrk dkb oLr dk yxkrkj i;kx djrk g rk mll iklr mi;kfxrk ?kVrh tkrh gA ,d Lrj ij mi;kfxrk 'kU; gk tkrh g tgk miHkkDrk dk i.k rflr gk tkrh gA vf/kd bdkb;k dke e yu ij lUrf"V dk ugh c<k;k tk ldrk gA

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

3- vko';drk dh rhork e deh

tl&tl ge fdlh oLr dk miHkkx djr g rk gekjh vko';drk lUr"V gku yxrh gA vko';drk dh rhork e deh vku d dkj.k mldh vfrfjDr bdkb;k l iklr gku okyh mi;kfxrk Hkh de gkrh tkrh gA

4- oLr d vud miHkkx

oLrvk d vud miHkkx gkr gA blfy, lcl igy ge oLr dk vf/kd egRo oky e mi;kx yr gA tc og vf/kd egRo d mi;kx l de egRo d mi;kx e ykrk g rk mldh lhekUr mi;kfxrk ?kVrh gA

2-7 fu;e d viokn ¼Exceptions the law½

lhekUr m;kfxrk á l fu;e lkoHkkfed g] blh 0;kogkfjdrk thou d gj {k= e fn[kkb nrh gA bl fu;e d dN viokn crk; tkr gA ijUr o lgh ugh gA lHkh viokn fn[kkoVh g] dkb Hkh viokn okLrfod ugh g ; fn[kkoVh viokn fuEufyf[kr g&

1- ;fn fdlh oLr dh cgr NkVh ek=k ;k bdkb dk mi;kx fd;k tk, rk ;g fu;e ykx ugh gkrkA

   ;g viokn lgh ugh g D;kfd fu;e dh ,d ekU;rk ;g Hkh g fd miHkkx dh tku okyh oLr dh i;klr ek=k gkuh pkfg,A

2- nyHk oLrvk] viklr o foy{k.k oLrvk tl& Mkd fVdV] nyHk fp=] ijkuh efr;k] rFkk ijku flDd vkfn d lxg e ;g fu;e ykx ugh gkrkA

   ;g viokn Hkh lgh ugh g D;kfd bl lxg e le;kUrj gkrk g le;kUrj gku dkj.k ftu ijku flDdk] fp=k rFkk nyHk efr;k dk lxg fd;k tkrk g o le:i ugh gkrhA tcfd fu;e dh ekU;rk g fd lHkh bdkb;k le:i gkA

3- eknd oLrvk tl& 'kjkc] Hkkx] xktk rFkk vQhe vkfn d miHkkx e ;g fu;e ykx ugh gkrkA

   ;g viokn Hkh lgh ugh g D;kfd bl fu;e dh ekU;rk dgrh g fd miHkkDrk dh ekufld n'kk lUrfyr gkuh pkfg,A tcfd eknd oLrvk dk miHkkx dju ij miHkkDrk dk ekufld lUryu Bhd ugh gkrkA

4- e/kj xku o jli.k dfork] xty] lxhr ij ;g fu;e ykx ugh gkrkA

   ;g viokn Hkh xyr g D;kfd ,d gh rjg dh dfork] lxhr lur&lur uhjlrk vo'; vk gh tkrh g pkg og fdruh Hkh lUnj D;k u gkA eu Hkju d dkj.k mi;kfxrk fxj tkrh gA

5- enk lp;] 'kfDr lp;] fn[kkok] 'kku&'kkdr dh bPNk vkfn d lnHk e ;g fu;e ykx ugh gkrkA

   ;g viokn Hkh uke ek= o fn[kkoVh g D;kfd ; oLrvk ,d vko';drk ;k ,d oLr ugh gkrh vfir vud oLrvk dk leg gkrh gA tcfd geu ekU;rk ekuh Fkh fd ,d oLr dh vko';drk gkuh pkfg,A

6- dtl 0;fDr dh /ku ikfIr dh bPNk dHkh lUr"V ugh gkrhA ,lh n'kk e ;g fu;e viokn ekuk tkrk gA

   ge vFk'kkL= e dtl 0;fDr dk vlkekU; 0;fDr ekur g D;kfd mldh ekufld gkyr lkekU; ykxk dh rjg ugh gkrh g blfy, ;g viokn ugh ekuk tk ldrkA

7- miHkkDrk dh l[;k e of) gku ij ;g fu;e ykx ugh gkrk tl VfyQku i;kx dju okyk dh l[;k c<u ij mi;kfxrk c<rh tk jgh gA

   ;g Hkh lPpk viokn ugh g D;kfd fdlh 'kgj e ij VyhQky miHkkDrk ij fopkj djuk lgh ugh gA ;fn

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

,d miHkkDrk u ikl ,d l vf/kd Qku g rk u; VyhQku dh mi;kfxrk igy Hkh vi{kk vo'; de gkxhA

mi;Dr vioknk dk n[ku ij ge fu"d"k fudky ldr g fd ; lc viokn uke ek= d ;k fn[kkoVh g] okLrfod ughA ik- Vkftx u dgk fd ^^bl fu;e dk fo'o0;kih dguk dkb egRoi.k xyrh ugh gkxhA* vk/kfud vFk'kkfL=;k d vulkj vU; ckr leku jgu ij ;g fu;e ,d lhek d ckn ;k vUrr% vo'; ykx gkrk gA

2-8 fu;e dh vkykpuk ¼Criticism of the Law½

vud vFk'kkfL=;k u bldh fuEufyf[kr vkykpuk, dh g&

1- mi;kfxrk ekiuh; ugh g] tcfd ;g fu;e bl ekU;rk ij vk/kkfjr g mi;kfxrk dk enk :ih ieku l eki ldr gA tcfd mi;kfxrk ,d eukoKkfud fopkj gA

2- enk :ih iekuk =fVi.k g D;kfd enk dk Lo; dk eY; gh fLFkj ugh jgrk rk ml ekid d :i e i;kx djuk xyr gA enk dk eY; enk d ifjek.k fl)kUr d vulkj] mldh ifr d }kjk fu/kkfjr gkrk gA

3- enk dh lhekUr mi;kfxrk fLFkj ugh jgrh& ,d /kuh 0;fDr d fy, enk dh lhekUr mi;kfxrk de gkrh g tcfd xjhc 0;fDr d fy, enk dh lhekUr mi;kfxrk vf/kd gkrh gA

4- fu;e dh lHkh 'krk dk ,d lkFk ijk djuk lEHko ugh gkrkA blh dkj.k bl fu;e dh 'kk'ork o lkoHkkfedrk lfnX/k gk tkrh gA

5- ;g fu;e miHkkDrk d 0;fDrxr fopkjk ,o Hkkoukvk dk fo'k"k egRo nrk gA tcfd ge tkur g vFk'kkL= dk lEcU/k Hkkoukvk l ugh g oju lk/kuk }kjk vf/kdre lUrf"V ikIr dju l gA

6- ;g fu;e bl ekU;rk ij vk/kkfjr doy mlh oLr dh ek=k ij fuHkj djrh g] ;g xyr g tcfd oLr dh mi;kfxrk vU; ijd rFkk LFkkukiu oLrvk dh ek=k ,o miyC/krk ij Hkh fuHkj djrh gA

2-9 fu;e dk egRo ¼Importance of the Law½

lhekUr mi;kfxrk âkl fu;e vFk'kkL= d vk/kkjHkr fu;ek e l ,d gA bl fu;e dk v/;;u l)kfUrd ,o 0;kogkfjd nkuk nf"V;k l egRoi.k g ft l ge fuEu 'kh"kdk d vUrxr le>k ldr g &

¼v½- l)kfUrd egRo

bl fu;e dk i;kx vud vkfFkd fu;ek d ifriknu e gvk gA bl fu;e d l)kfUrd egRo dk ge fuEu idkj l le>k ldr g &

1- **ekx d fu;e dk vk/kkj** lekx dk fu;e lhekUr mi;kfxrk âkl fu;e ij vk/kkfjr gA ;g fu;e bl rF; dk LI"V djrk g fd miHkkDrk fdlh oLr dk vf/kd ek=k e i;kx djrk g rk ml l mi;kfxrk de feyxh ft ld ifj.kkeLo:i de dher nuk pkgxkA bld foifjr fdlh oLr dh de ek=k i;kx e yrk g rk ml l vf/kd mi;kfxrk feyxh ifj.kkeLo:i vf/kd dher nu d fy, r;kj gkxkA bl ge fuEu rjg Hkh le>k ldr g &

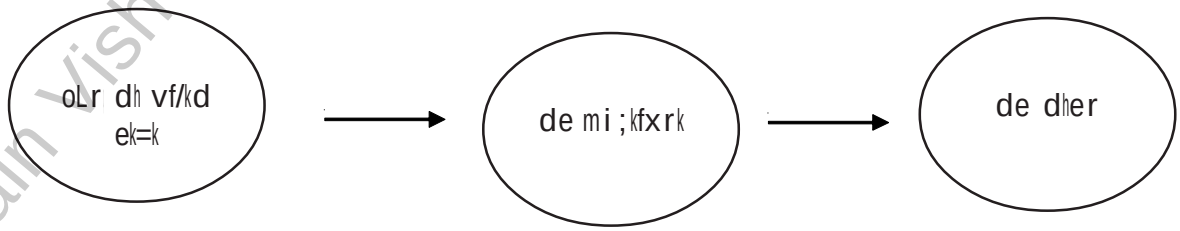

fp= & v

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

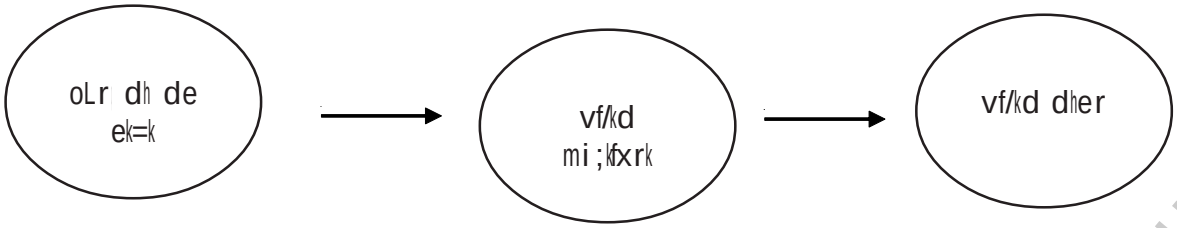

fp= & c

mijkDr fp= l LI"V g fd fdlh oLr dh de dher ij vf/kd ek=k rFkk vf/kd dher ij de ek=k ekxh tk,xhA ;gh ekx dk fu;e dgrk gA

2- **le&lhekUr mi;kfxrk fu;e dk vk/kkj %** le&lhekUr mi;kfxrk fu;e ge ;g ckrkrk fd ,d miHkkDrk viu lhfer lk/kuk dk vlhfer vko';drkvk ij fdl idkj l [kp dj fd ml vf/kdre lUrf"V ikIr gkA bl fu;e dk vk/kkj lhekUr mi;kfxrk âkl fu;e g ft ld vk/kkj ij ,d miHkkDrk viuh vk; dk de ykHknk;d okyh oLr l gVkdj vf/kd ykHknk;d okyh oLr e yxkrk gA

3- **miHkkDrk dh cpr e egRo %** miHkkDrk dh cpr d fopkj dk vk/kkj lhekUr mi;kfxrk âkl fu;e gh gA dkb Hkh miHkkDrk fdlh oLr dk rc rd [kjhnrk g tc rd ml oLr dh lhekUr bdkb dh mi;kfxrk mld eY; d cjkcj gkrh gA bl lhekUr bdkb d igy okyh bdkb;k l miHkkDrk dk vf/kd mi;kfxrk ikIr gkrh g] tcfd mlu lHkh bkdb;k d fy, leku eY; fn;k gA ;gh vfrfjDr mi;kfxrk miHkkDrk dh cpr gkrh gA

4- **eY; fl)kUr e egRo %** ;g fu;e eY; fl)kUr d fy, vk/kkjf'kyk dk dk; djrk g] D;kfd ;g fu;e Li"V djrk g fd oLr dh ifr e of) gku ij eY; e deh D;k vkrh gA bl fl)kUr d vk/kkj ij ifr vf/kd gku ij oLr dh lhekUr mi;kfxrk de gk tkrh g QyLo:i oLr d eY; e deh vk tkrh gA

¼c½ 0;kogkfjd egRo

bl fu;e dk 0;kogkfjd thou e Hkh cgr egRo g tl &

1- **u; mRiknu dk ikRlkfgr djuk %** mi;kfxrk âkl fu;e dk egRo doy miHkkx d {k= e gh ugh g cfYd mRiknu d {k= e Hkh gA ge n[kr g fd 0;fDr fdlh oLr dk yxkrkj miHkkx djrk jg rk ml dh mi;kfxrk de gku yxrh g vc ml dh ;fp ub oLr d ifr c<u yxrh gA mRiknd 0;fDr dh bl :fp dk n[kdj mRiknu d lk/kuk dk ub oLrvk d mRiknu e yxk;xk] ft ll ub rjg dh oLrvk dk mRiknu gkxkA bl l u; mRiknu dk fodkl gku yxrk gA

2- **oLr d miHkkx rFkk fofue; eY; e vUrj dk Li"V dju e lgk;d %** MCY;- t-ckey d vulkj gok] ikuh] /ki vkfn dh mi;kfxrk ghjk] iuk] tokgjkr vkfn dh ryuk e vR;kf/kd gkrh g] ijUr fofu;e eY; cgr deA ml ;g fu;e Li"V djrk g D;kfd tk oLr, vf/kd ek=k e miyC/k gkrh g] mudh lhekUr mi;kfxrk cgr de gkrh g] QyLo:i fofue; eY; de gkrk gA ;gh dkj.k g fd gok] ikuh /ki] jr vkfn dh ifr vf/kd gku d dkj.k budh lhekUr mi;kfxrk 'kU; d lehi igp tkrh g budk fofue; eY; cgr de gk tkrk gA Bhd bl d foifjr] lhfer ek=k okyh oLr, ¼ghjk] iuk] tokgjkr½ vkfFkd oLrvk dh J.kh e vkrh g] ftudh lhekUr mi;kfxrk vi{kkdr vf/kd gku d dkj.k budk fofue; eY; Hkh vf/kd gkrk gA

3- **ixfr'khy dj i.kkyh dk vk/kkj %** ixfr'khy dj i.kkyh dk vk/kkj ;gh rF; g fd /ku vf/kd gku d dkj.k

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

/ku dh lhekUr mi;kfxrk /kfud ox d fy, de gkrh g] tc fd fu/ku d ikl /ku dh deh gku dkj.k /ku dh lhekUr mi;kfxrk vf/kd gkrh gA blh dkj.k vehjk ij vf/kd o xjhck ij de dj yxk;k tkrk gA ljdkj blh vk/kkj ij /kuh 0;fDr ij ixfr'khy ij dj yxkrh gA

4- **/ku d iuforj.k dh uhfr e lgk;d** lekt oknh 0;oLFkk dk vk/kkj gA ;g fu;e /kfud ox d fy, /ku dh lhekUr mi;kfxrk de gkrh gA blfy, /kfud ox l T;knk ek=k e dj ydj fu/ku ox d vkfFkd dY;k.k gr bl jkf'k dk mi;kx djuk pkfg,A bll lekt e fo|eku vkfFkd fo"kerk dk Hkh de fd;k tk ldxkA

bl fu;e d l)kfUrd ,o 0;kogkfjd egRo dk n[kdj ge dg ldr g fd ;g fu;e ,d eukoKkfud lR; g blfy, bldk {k= 0;kid gA bl lEcU/k e djuØkl dk dguk g fd ^^;g fu;e doy jkVh] eD[ku] jy ;k=k o 0;fDr dh gV vkfn oLrvk ij gh fØ;k'khy ugh gkrk cfYd vFk'kkfL=;k d 0;k[;kuk] jktuhfrKk d Hkk"k.kk rFkk tkl lh dgkfu;k d vud lfnX/k 0;fDr;k d lEcU/k e Hkh leku :i l lR; mrjrk gA** blfy, ge ;g dg ldr g fd mi;kfxrk âkl fu;e lo0;kid o lkoHkkfed lR; dk fy; g, gA

ck/k i'u

y?kÙkjkRed i'u

1- lhekUr mi;kfxrk âkl fu;e dh ifjHkk"kk nhft ,A

2- lhekUr mi;kfxrk âkl fu;e D;k ykx gkrk g \

3- lhekUr mi;kfxrk âkl fu;e dh ekU;rk, crkb;A

4- mi;kx eY; rFkk fofue; eY; d e/; vUrj dk crkb;A

5- lhekUr mi;kfxrk âkl fu;e d egRo dk crkb;A

6- lhekUr mi;kfxrk âkl fu;e d viokn crkb;A

fucU/kkRed i'u

1- lhekUr mi;kfxrk âkl fu;e dh 0;k[;k j[kkfp=k dh lgk;rk l Li"V dhft ,A bldh lhek, rFkk 0;kogkfjd egRo crkb,A

2- ^^lhekUr mi;kfxrk âkl fu;e** dk vkykpukRed ijh{k.k dhft ,A

3- ^^fd lh eu"; d ikl fd lh oLr d LVkd dh ek=k e of) gku l tk vfrfjDr ykHk ml dk ikIr gkrk g] vU; ckrk d leku jgu ij] og oLr d LVkd dh ek=k e iR;d of) d lkFk&lkFk ?kVrk pyk tkrk gA** ¼ek'ky½ foopuk dhft ,A

4- lhekUr mi;kfxrk âkl fu;e dk le>kb,A D;k bl fu;e d dkb okLrfod viokn gA

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

v/;k;&3

ifrLFkkiu dk fu;e

LAW OF SUBSTITUTION

3-1 ifjp;

3-2 ifjHkk"kk,

3-3 fu;e dh 0;k[;k

3-4 fu;e dh ekU;rk,

3-5 fu;e dh vk/kfud 0;k[;k

3-6 fu;e dh vkykpuk

3-7 fu;e dk egRo

3-1 ifjp;

ifrLFkiu dk fu;e ,d 0;kid fu;e g tk mRiknu] miHkkx rFkk vFk'kkL= d vU; lHkh {k=k e ykx gkrk gA tc ifrLFkkiu dk fu;e miHkkx d {k= e ykx gkrk g rc bl ge ml le&lhekUr mi;kfxrk fu;e dgr gA

ifrLFkkiu d fu;e dh ge miHkkx d {k= e ckr djr g& ge lc tkur g eu"; dh vko';drk, vlhfer gkrh g tc fd lk/ku lhfer gkr gA iR;d miHkkDrk d lkeu ;g leL;k gkrh g fd og viu lhfer lk/kuk dk vlhfer vko';drkvk d e/; fdl idkj [kp dj fd ml vf/kdre mi;kfxrk iklr gkA bl nf"V l le&lhekUr mi;kfxrk fu;e miHkkDrk dk ekx n'ku nrk gA miHkkDrk dk viu odfYid mi;kx oky lhfer lk/

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

kuk dk vlhfer vko';drkvk e bl rjg ckVuk pkfg, fd fofHkUu mi;kxk l ikIr gku okyh lhekUr mi;kfxrk cjkcj fey ,lk dju ij miHkkDrk dk vf/kdre dy mi;kfxrk feyxhA bl ifrLFkkiu dk fu;e dgr g D;kfd bl fu;e d vulkj miHkkDrk viu lk/kuk dk de mi;kxh oLrvk l gVk dj vf/kd mi;kxh oLrvk dk ifrLFkkiu djA

le&lhekUr mi;kfxrk fu;e blfy, dgk tkrk g fd miHkkDrk viu lhfer lk/kuk dk bl rjg ckVrk g ftl ml iR;d oLr l feyu okyh lhekUr mi;kfxrk cjkcj gkA tc miHkkDrk ,lk djrk g rk ml vf/kdre lUrf"V feyrh g rFkk og lUryu e gkrh gA

le&lhekUr mi;kfxrk fu;e dk ifriknu lu 1854 e ifl) vFk'kkL=h ,p- ,p- xklu u fd;k FkkA blfy, bl xklu d f}rh; fu;e d uke l Hkh tkuk tkrk gA bl fu;e dk vU; ukek l Hkh tkuk tkrk g tl& vf/kdre lUrf"V dk fu;e ¼Law of Maximum Satifactian½] rVLFkrk dk fu;e ¼Law of Indiference½ miHkkx dk fu;e ¼Law of Consumption½ fer0;;rk dk fu;e ¼Law of Economy½ vkfn ukek l tkuk tkrk gA

;g fu;e lhekUr m;kfxrk ál fu;e ij vk/kkfjr gA lhekUr mi;kfxrk ál fu;e e ,dy oLr miHkkDrk lUryu dk crk;kA le&lhekUr mi;kfxrk fu;e e ge cgoLr miHkkDrk lUryu dh ppk djxA

3-2 ifjHkk"kk,

,p- ,l- xklu d vulkj] ^^;fn lHkh vko';drkvk dk i.k lUrf"V d fcUn rd rIr djuk lEHko ugh g] rk vf/kdre lUrf"V ikIr dju d fy, ;g vko';d g fd fofHkUu vko';drkvk dh lUrf"V ml fcUn ij jkd nh tk,] tgk mldh rhork leku gkA**

ik- t- ,e- tk'kh d vulkj] ^^ ,d oLr d lEcU/k e] ftl vudk :i l dke e fy;k tk ldrk g] miHkkDrk ml fofHkUu miHkkxk e bl idkj forfjr djxk fd iR;d mi;kx l ml leku lhekUr mi;kfxrk ikIr gk] vkj rHkh mldh dy mi;kfxrk Hkh vf/kdre gkxhA*

ik- egrk d vulkj] ^^;fn ,d gh gb le;kof/k e ,d oLr vud vko';drkvk dk ijk dj ldrh g rk bldh nh gb ek=k l vf/kdre lUrk"k ikIr dju d fy, bldh ek=k dk fofHkUu vko';drkvk d chp bl idkj ckVuk pkfg, fd ml fuf'pr dky e bldh lhekUr mi;kfxrk yxHkx leku gk tk;A**

ik- fgDl d vulkj] ^^iR;d n'kk e 0;; dh lhekUr bdkb;k l mi;kfxrk e leku of) ikIr gkrh g] rk mi;kfxrk vf/kdre gkxhA**

ik- ek'ky d vulkj] ^^;fn fdlh 0;fDr d ikl ,d ,lh oLr g tk vud i;kxk e ykb tk ldrh g rk og mldk fofHkUu mi;kxk e bl idkj forfjr djxk fd lHkh mi;kxk e bldh lhekUr mi;kfxrk leku jg D;kfd ;fn bldh lhEkkUr dh ryuk e vf/kd gkxh rk og nlj mi;kx l bldh dN ek=k gVkdj vkj mldk iFke miHkkx e bldk mi;kx djd vf/kd ykHk ikIr dj ldxkA**

mi;Dr ifjHkk"kk l Li"V g **ik- ek'ky** }kjk fn;k x;k dFku ,d oLrd lnHk e fn;k x;k] ftldk fofHkUu i;kxk e dke fy;k tk ldrk gA ;gk oLr d LFkku ij ge enk dk mi;kx Hkh dj ldr g vFkkr enk ,d ,lh oLr g ftl ge fofHkUu i;kxk e ckV ldr gA og enk dk bl rjg ckVxk fd mll ml vf/kdre lUrf"V feyA

3-3 fu;e dh 0;k[;k

bl idkj ge n[kr g fd ,d miHkkDrk viuh lhfer vk; dk fofHkUu oLrvk ij fdl idkj 0;; dj fd ml vf/kdre lUrf"V ikIr gk] tc miHkkDrk dk vf/kdre lUrf"V ikIr gkrh g rk dgk tkrk g fd miHkkDrk lUryu dh n'kk e gA vr% Li"V g fd le&lhekUr mi;kfxrk fu;e miHkkDrk d lUryu dk crkrk gA

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

mnkgj.k }kjk Li"Vhdj.k %&

ge ;gk le&lhekUr mi;kfxrk fu;e dh 0;k[;k ,d dkYifud rkfydk }kjk Li"V dj ldr gA ekuk fd ,d miHkkDrk d ikl 0;; dju d fy, 7 :i; g ftUg og nk oLrvk ij 0;; djuk pkgrk gA ekuk nkuk oLrvk ¼A rFkk B½ d eY; leku gA vFkkr nkuk oLr, ,d :i; fdyk gA A rFkk B oLr d miHkkx dju l tk mi;kfxrk feyrh ml fuEu rkfydk e fn[kk;k g&

rkfydk 3-1

oLr dh bdkb;k	A&oLr dh lhekUr mi;kfxrk	B&oLr dh lhekUr mi;kfxrk
1	55 ¼1½	45 ¼2½
2	45 ¼3½	36 ¼4½
3	36 ¼5½	28 ¼7½
4	28 ¼6½	21
5	21	15
6	15	11
7	11	8
8	5	6

mijkDr rkfydk lhekUr mi;kfxrk ál fu;e d vulkj gj vxyh bdkb l ?kVrh lhekUr mi;kfxrk l crkrh gA miHkkDrk d ikl 7 :i; g vc ml nk oLrvk ij bl rjg 0;; djuk g fd ml vf/kdre lUrf"V iklr gk tk,A ,d food'khy miHkkDrk loiFke 1:i; dk ml oLr ij [kp djxk ft ll mldk vf/kd mi;kfxrk feyrh gA rkfydk l Li"V g fd :i; dh igyh bdkb dk og A oLr ij [kp djx D;kfd ml lokf/kd mi;kfxrk A bdkb ij 55 d cjkcj fey jgk gA mld ckn nljk :i;k B oLr ij] rhljk A oLr ij] pkFkk B oLr ij] ikpok A oLr ij] NBk :i;k B oLr rFkk lkrok :i;k A oLr ij [kp djxkA nkuk oLrvk ij 0;; dh tku okyh bdkb;k dk dk"Bdk ¼brackats½ e fn[kk;k x;k gA bl rjg miHkkDrk A oLr ij 4 :i; rFkk B oLr ij 3 :i; [kp djrk gA A oLr dh 4 bdkb;k l feyu okyh mi;kfxrk ¼55$45$36$28½ 164 g tc fd B oLr dh 3 bdkb;k l feyu okyh mi;kfxrk ¼45$36$28½ 109 gA bl idkj dy mi;kfxrk 164$109=273 g tk lokf/kd lUrf"V dk crkrh gA

vxj miHkkDrk viuk lkrok :i;k B oLr ij u [kp djd A oLr ij [kp djrk g rk og B oLr l iklr 28 d cjkcj dh mi;kfxrk [kk;xk rFkk A oLr l iklr 21 dh mi;kfxrk iklr djxk mldh dy mi;kfxrk 266 gh jg tk,xh tk vf/kdre l de gA bl ge j[kkfp= dh lgk;rk l Li"V dj ldr g &

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

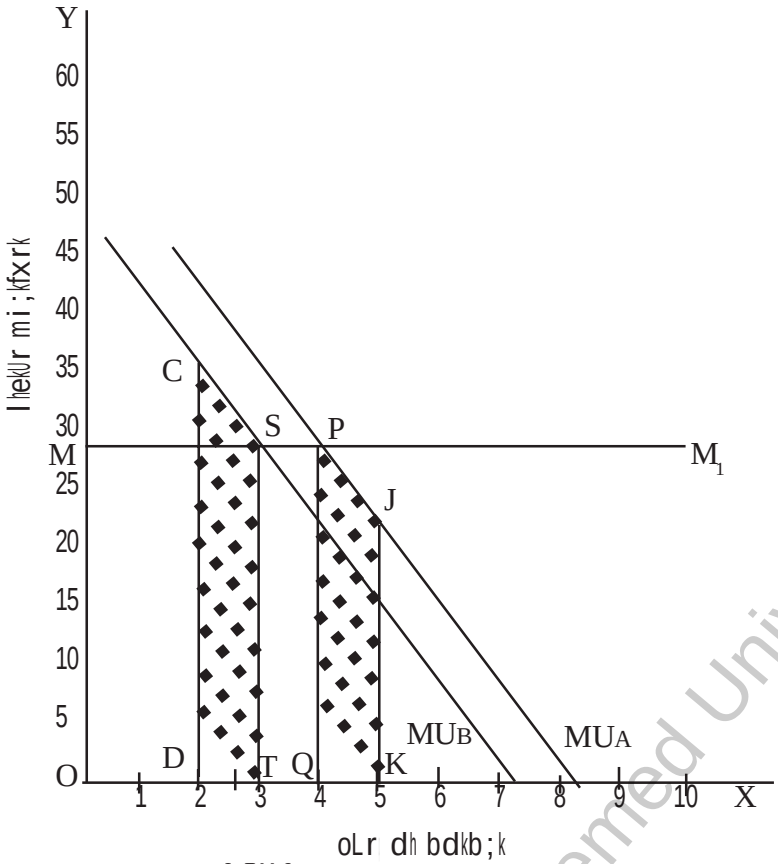

j[kkfp= 3-1

fp= e OX v{k ij oLr dh bdkb;k rFkk OY v{k ij miHkkx l feyu okyh lhekUr mi;kfxrk dk fn[kk;k x;k gA fp= e MUA rFkk MUB nk j[kk, Øe'k% A rFkk B oLr l ikIr gku okyh lhekUr mi;kfxrkvk dk crkrh gA MM_1 j[kk A rFkk B nkuk d miHkkx l ikIr gku okyh lhekUr mi;kfxrk dk crkrh gA fp= e A oLr l ikIr gku okyh lhekUr mi;kfxrk PQ rFkk B oLr l ikIr gku okyh lhekUr mi;kfxrk ST d cjkcj gA fu;e d vulkj tgk lhekUr mi;kfxrk cjkcj gkrh g ogk dy mi;kfxrk vf/kdre gkrh gA vr% fp= e A oLr dh lhekUr mi;kfxrk PQ B oLr dh lhekUr mi;kfxrk ST d cjkcj g] blfy, miHkkDrk 7 :i; e l 4 :i; A oLr ij rFkk 3 :i; B oLr ij [kp djrk g rk ml vf/kdre lUrf"V feyrh gA

ekuk miHkkDrk [kp e ifjoru dj A oLr ij 5 :i; [kp djrk g vkj B oLr ij 2 :i; [kp djrk g rk A oLr l feyu okyh lhekUr mi;kfxrk PQ JK rFkk B l gku okyh gkfu CDST gA fp= e bl fLFkfr dk Nk;knkj djd fn[kk;k gA B oLr l ikIr gku okyh mi;kfxrk CDST, A oLr l ikIr gku okyh mi;kfxrk PQJK l T;knk gA vr% Li"V g vxj miHkkDrk 5 :i; A ij rFkk 2 :i; B ij [kp djrk g rk mldh dy mi;kfxrk e deh vk;xhA miHkkDrk lUryu e rHkh gkxk tc 4 :i; A oLr ij rFkk 3 :i; B oLr ij [kPk djxkA

3-4 fu;e dh ekU;rk, ¼Assumption of the Law½

1- miHkkDrk food'khy gA

2- miHkkDrk dh :fp] Q'ku e ifjoru ugh gkrkA

3- mi;kfxrk ekiuh; g rFkk bl enk :ih ieku e ekik tk ldrk gA

4- enk dh lhekUr mi;kfxrk fLFkj jgrh gA

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

5- oLrvk dk NkVh&NkVh bdkb;k e foHkkftr fd;k tk ldrk gA

6- LFkkukiu ,o ijd oLrvk d eY; e dkb ifjoru ugh gkrkA

7- miHkkDrk dk y{; vf/kdre lUrf"V ikIr djuk gkrk gA

3-5 fu;e dh vk/kfud 0;k[;k ¼Modern Inter Pretatian of the Law½@vkuikfrdrk dk fu;e ¼Law of Proportionality½

vk/kfud vFk'kkfL=;k u le&lhekUr mi;kfxrk fu;e dh 0;k[;k vkuikfrdrk d fu;e d :i e dh gA bud vulkj ge n[kr g miHkkDrk viuh dy lUrf"V dk vf/kdre ml fcUn ij djrk g tgk oLr dh lhekUr mi;kfxrk vkj mld eY; dk vuikr nljh oLr dh lhekUr mi;kfxrk vkj mld eY; d vuikr d cjkcj gkxkA vFkkr vf/kdre lUrf"V d fy, nk 'krk dk ijk gkuk t :jh g&

1- fofHkUu oLrvk dh lhekUr mi;kfxrk rFkk mld eY; dk vuikr cjkcj gk rFkk

2- fofHkUu oLr ij [kp dh xb jkf'k dk ;kx miHkkDrk dh dy vk; dh jkf'k d cjkcj gkA

vk/kfud vFk'kkfL=;k u bl fu;e l xf.krh; :i e bl idkj le>k;k g&

iFke 'kr

$$\frac{MUx}{Px} = \frac{MUy}{Py} = \frac{MUz}{Pz}$$

MUx = x oLr dh lhekUr mi;kfxrk

Px = x oLr dh dher

MUy = y oLr dh lhekUr mi;kfxrk

Py = y oLr dh dher

MUz = z oLr dh lhekUr mi;kfxrk

Pz = z oLr dh dher

f}rh; 'kr ¼&

mijkDr lehdj.k nljh 'kr ijh ugh djrk vr% vk; dk ifrcU/k dju d fy, fuEu 'kr dk Hkh ijk gkuk t :jh gA

¼qx X px½ $ ¼qy X py½ $ ---------- = I

qx = x oLr dh ek=k

px = x oLr dk eY;

qy = q oLr dh ek=k

Py = y oLr dk eY;

I = miHkkDrk dh vk;

bl idkj ge n[kr g fd le&lhekUr mi;kfxrk d fu;e dk vk/kfud Lo:i bl ekU;rk ij vk/kkfjr gA nh gb vk; lhek d vUnj miHkkDrk rHkh vf/kdre lUrf"V ikIr dj ldrk g tc lHkh oLrvk l ikIr lhekUr mi;kfxrk ,o eY;k d vuikr e lekurk gkA

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

3-6 fu;e dh vkykpuk ¼Criticism of the Law½

bl fu;e dh e[; vkykpuk, bl idkj g&

1- oLrvk dh vfoHkkT;rk

fu;e ykx gku d fy, ,d ekU;rk ,lh Hkh g tk ;g crkrh g fd i;kx dh tku okyh oLr NkVh&NkVh bdkb; e cVh gkA ijUr vkykpdk dk dguk g fd dN oLr, ,lh g ftudk foHkktu ugh fd;k tk ldrk tl& dkj] fÝt] jfM;k bR;kfnA bl idkj budh lhekUr mi;kfxrk dk ekidj vU; oLrvk dh lhekUr mi;kfxrk l ryuk djuk lHko ugh gA

2- vfuf'pr ctV fof/k

ik- ckfYMx u ctV vof/k dk /;ku e j[kr g, bl fu;e dh vkykpuk dh gA budk dguk g fd ;g fu;e ,d fuf'pr vof/k e gh ykx gkrk g ijUr gekjh ctV vof/k fuf'fpr ugh gkrhA vud oLr, ,lh gkrh g tk ,d ctV vof/k e [kjhnh rk tkrh g ij i;kx nljh ctV vof/k rd Hkh fd;k tkrk gA

3- ijd oLrvk d lEcU/k e

ijd oLrvk d lEcU/k e ;g fl)kUr ykx ugh gkrkA mnkgj.k d fy, iu&L;kgh] dkj&iVky vkfn oLr, ,d fuf'pr vuikr e gh [kjhnh tkrh gA ble ifrLFkkiu dk fl)kUr ykx ugh gkrkA

4- oLr d eY; e ifjorru

ge tkur g fd fdlh Hkh oLr dh lhekUr mi;kfxrk mld eY; ij fuHkj djrh gA vf/kdrj n[kr g fd eY; cnyr jgr g ftudh otg l lhekUr mi;kfxrk Hkh cny tkrh gA ftld dkj.k fofHkUu oLrvk dh lhekUr mi;kfxrk rFkk eY;k dh vkuikfrdrk e lekurk ugh gkrhA

5- fu;e dh ekU;rk,] nk"ki.k g

;g fu;e ftu ekU;rkvk ij vk/kkfjr g og nk"ki.k g tl&

1- miHkkDrk dk i.k food'khy ekuuk v0;ogkfjd gA

2- miHkkDrk dh :fp] Q'ku jhfr fjokt dk fLFkj ekuuk lgh ugh g miHkkDrk dh vk;] :fp Q'ku bR;kfn cnyr jgr gA ; lnk leku ugh jgr g

3- mi;kfxrk dk eki djuk lgh ugh g ;g fu;e ekudj pyrk g fd mi;kfxrk dk ekik tkrk gA

4- ;g fu;e ekudj pyrk g fd enk dh lhekUr mi;kfxrk fLFkj jgrh g tcfd ;g xyr g D;kfd enk d de ;k T;knk gku ij mldh lhekUr mi;kfxrk e vUrj vk tkrk gA

;|fi le&lhekUr mi;kfxrk dh vkykpuk dh xb g ij fQj Hkh ge ;g ekuuk iMxk fd ,d le>dj 0;fDr blh fu;e d vulkj gh 0;ogkj djrk gA

3-7 fu;e dk egRo ,o {k= ¼Importance and Scope of the Law½

ek'ky d vulkj] ^^ifrLFkkiu dk fl)kUr vkfFkd fØ;k d iR;d {k= ij ykx gkrk gA** bl idkj ifrLFkkiu d fu;e dk mi;kx miHkkDrk 0;ogkj rd gh lhfer u gkdj vFk'kkL= d gj {k= e fd;k tk ldrk gA bl fu;e dk fofHkUu {k=k e i;kx fuEu idkj l g&

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

1- miHkkx d {k= e

tc ge miHkkx d {k= e ifrLFkkiu d fl)kUr dk le lhekUr mi;kfxrk fu;e dgk tkrk gA ;g fu;e crkrk g fd iR;d miHkkDrk viuk vf/kdre lUrf"V ikIr dju d fy, viuh lhfer vk; dk fofHkUu oLrvk ij] bl rjg l [kp djxk fd iR;d oLr l ikIr gkuh okyh lhekUr mi;kfxrk cjkcj gkA bl l= d :i e fuEu idkj l 0;Dr dj ldr g&

$$\frac{MUx}{Px} = \frac{MUy}{Py} = \frac{MUz}{Pz}$$

2- mRiknu d {k= e

iR;d vRiknd viu ykHk dk vkf/kdre dju d fy, mRiknu d fofHkUu lk/kuk dk fdl idkj feyk; fd ml de l de ykxr ij vf/kd l vf/kd mRiknu ikIr gkA bu leL;kvk d lek/kku d fy, ifrLFkkiu d fu;e dh lgk;rk l mRiknd lk/kuk dk b"Vre l;kx <<rk jgrk gA ;g fu;e egx lk/ku dk lLr lk/ku l ifrLFkkfir dju e lgk;rk djrk gA mRiknd ,lk ifrLFkkiu rc rd djrk jgxk tc rd fd mRiknu d leLr lk/kuk dh lhekUr mRikndrk cjkcj u gk tk,A bl l= d :i e fuEu idkj 0;Dr fd;k tk ldrk g&

$$\frac{X\ lk/ku\ dh\ lhekUr\ mRifÙk}{X\ lk/ku\ dh\ dher} = \frac{Y\ lk/ku\ dh\ lhekUr\ mRifÙk}{Y\ lk/ku\ dh\ dher}$$

3- fofue; d {k= e

;g fu;e eY;&fu/kkj.k e Hkh lgk;rk djrk gA fofue; e ge ,d oLr d cny nljh oLr dk ifrLFkkfir djr gA vFkkr nyHk oLr d LFkku ij de nyHk oLr ikIr djr gA vf/kd nyHk oLr dk ifrLFkkfir dju l ml dh deh /khj&/khj lekIr gk tkrh g vkj ml dh fofue; 'kfDr de gk tkrh gA tcfd nljh rjQ de nyHk oLr ft ldk ge ikIr djr jgr g] /khj&/khj de gku d dkj.k ml dh fofue; 'kfDr c< tkrh gA vUrr% ,d ,lh fLFkfr vk tkrh g tc nkuk dh lhekUr mi;kfxrk leku gk tkrh gA

4- forj.k d {k= e

forj.k d {k= e bl fu;e dk le&lhekUr mRikndrk fu;e dgr gA oreku le; e vFk0;oLFkk e mRiknu d iR;d lk/ku dk ml dk fgLlk ml dh lhekUr mRikndrk d cjkcj ndj forj.k dh leL;k gy dj nh tkrh gA mRiknd lHkh lk/kuk dk i;kx bl vuikr e djrk g fd mRiknu lk/ku dh lhekUr mRikndrk leku jg] vU;Fkk og mRiknu d ,d lk/ku d LFkku ij nlj lk/ku dk rc rd ifrLFkkfir djrk jgxk tc rd lHkh lk/kuk dh lhekUr mRikndrk leku u gk tk,A vr% ;g fl)kUr miknu d lk/kuk d ijLdkj d fu/kkj.k e Hkh lgk;d gA

5- jktLo d {k= e

jktLo d {k= e vf/kdre lkekftd ykHk dk fl)kUr Hkh blh fu;e ij vk/kkfjr gA ljdkj lkotfud vk; djk l ikIr gkrh gA bl vk; dk lkotfud 0;; d ek/;e l lkotfud dk;Øek ij [kp fd;k tkrk gA bl lnHk e nk ckr& ¼1½ djkjki.k l djnkrkvk dk R;kx djuk iMrk g(¼2½ lkotfud 0;; e ykxk dk ykHk feyrk gA vr% ljdkj d lkeu ;g leL;k vkrh g fd og fdl lhek rd djkjki.k vkj fdl lhek rd lkotfud 0;; djA vr%

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

,l e rHkh ljdkj rHkh lQy gk ldrh g tc lkotfud 0;; l iklr lhekUr mi;kfxrk] djkjki.k d lhekUr R;kx d cjkcj gkA

ljdkj dk ;g Hkh pkfg, fd og fofHkUu enk ij nl idkj 0;; dj fd mul feyu okyh lhekUr mi;kfxrk cjkcj gk rFkk dj Hkkj dk cVokjk Hkh bl idkj dj fd iR;d dk lhekUr R;kx yxHkx cjkcj jgA

6- le; dk odfYid mi;kx

ik- ckfYMx bl fu;e dk lhfer le; vFkkr 24 ?k.V d mi;kx l lEcU/k djr gA o crkr g fd dkb Hkh 0;fDr lhfer le; dk mi;kx bl rjg l djd vf/kdre lUrf"V iklr dj ldrk g fd bld odfYid i;kxk l iklr lhekUr mi;kfxrk leku gkA vr% enk ,o le; nkuk dh lhferrk d dkj.k nkuk dk vf/kdre d'kyrk d lkFk mi;kx gkuk pkfg;A

bl idkj ge n[kr g fd ifrLFkkiu d fu;e dk {k= cgr 0;kid gA **ik- ek'ky d vulkj]** ^^bl fu;e dk i;kx vkfFkd vul/kku d ik;% lHkh {k=k e gkrk gA** **ik- jkfcUl d vulkj** ^^;g fu;e vFk'kkL= dk vkpkj gA**

ck/k i'u

y?kÙkjkRed i'u ¼Short Answer Questions½

1- ifrLFkkiu fu;e dk le>kb;A

2- ,YÝM ek'ky }kjk nh xb le&lhekUr mi;kfxrk fu;e dh 0;k[;k dhft ;A

3- le&lhekUr mi;kfxrk fu;e dh ekU;rk, crkb;A

4- le&lhekUr mi;kfxrk fu;e dh vk/kfud 0;k[;k dk Li"V dhft ;A

5- ifrLFkkiu fu;e fdu {k=k e ykx gkr gA

6- le&lhekUr mi;kfxrk fu;e dh ifjHkk"kk crkb;A

fucU/kkRed i'u ¼Essay Type Questions½

1- ifrLFkkiu fu;e dh vkykpukRed 0;k[;k dhft ,A bldh dku lh ekU;rk, g\

2- le&lhekUr mi;kfxrk fu;e dh 0;k[;k dhft ,A 0;kogkfjd thou e bld egRo dh if"V dhft ,A

3- le&lhekUr mikfxrk fu;e dh foopuk dhft , vkj ,d fp= dh lgk;rk l ;g fl) dhft , fd ,d miHkkDrk dk vf/kdre lUrf"V iklr gkrh g] ;fn og bl fu;e d vulkj dk; djrk gA

4- miHkkx e ifrLFkkiu d fu;e dh 0;k[;k dhft ,A okLrfod thou e bl fu;e d ykx gku e D;k&D;k dfBukb;k gkrh gA

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

v/;k;&4

ekx rFkk ekx dk fu;e

DEMAND AND LAW OF DEMAND

4-1 ekx dk vFk

4-2 ekx dh ifjHkk"kk,

4-3 ekx rkfydk

4-4 ekx j[kk

4-5 ekx d idkj

4-6 ekx Qyu

4-7 ekx d fu/kkjd rRo

4-8 ekx dk fu;e

4-9 ekx d fu;e dh ekU;rk,

4-10 ekx d fu;e d ykx gku d dkj.k

4-11 ekx d fu;e d viokn

4-12 ekxh xb ek=k e ifjoru rFkk ekx e ifjoru

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

vkfFkd fo'y"k.k e ekx rFkk ifr dh vo/kkj.kk vR;Ur egRoi.k gA vFk'kkL= d fo"k; e fdlh vKkr 0;fDr u glh&etkd e dgk fd ;fn fdlh rkr dk vFk'kkL= d iR;d i'u d mÙkj e ekx ,o ifr dk jVk n rk og ,d fo}ku vFk'kkL=h cu ldrk gA vkt iR;d vFk'kkL=h bl ckr l lger g fd ekx dk fu;e vFk'kkL= dk vk/kkjHkr fu;e gA

4-1 ekx dk vFk ¼Meaning of Demand½

lk/kkj.k cky&pky dh Hkk"kk e fdlh oLr dh ekx dju l l vk'k; vf/kdkj iod fdlh oLr dk ekxukA ijUr vFk'kkL= e ekx dk vFk fo'k"k vFk e fy;k tkrk gA ek= ;g ckr dguk fd ejh ekx 10fdyk pkoy gA vFk'kkL= d vulkj ;g xyr g D;kfd vFk'kkL= e ekx l rhu pj tM g, g&

¼1½ eY; ¼Price½

¼2½ le; ¼Time½

¼3½ ek=k ¼Quantity½

fdlh Hkh oLr dh ekx djr le; 3ckr crkuh t :jh g fdl eY; ij] fdruh ek=k e] fdl le; ij oLr dk ekxk tk jgk g mnkgj.k d rkj ij e> 15: fdyk d eY; ij 10fdyk pkoy vkt dh ekx gA bl okD; e ekx l lEcfU/kr rhu rRo & eY;] ek=k rFkk le; g tk vFk'kkL= dh nf"V l lgh gA

4-2 ekx dh ifjHkk"kk,¼Defitions of Demand½

fyll d vulkj] ^^fdlh oLr dh ek=k] tk ?kjy mi;kx dh bPNk l Ø; dh tkrh g] ekx dh ek=k dgykrh gA**

Ckk?k d vulkj] ^^fdlh oLr dh ekx ml oLr ek=k rFkk ml dh dher l lEcfU/kr gkrh g tk dher fo'k"k ij [kjhnh tk ldrh gA**

e;l d vulkj] ^^fdlh oLr dh ekx mu ek=kvk dh rkfydk gkrh g ftUg Ørk fdlh le; fo'k"k ij lHkh lEHkkfor eY;k [kjhnu d fy, rRij jgrk gA**

ik- cUge d vulkj] ^^fdlh nh gb dher ij fdlh oLr fo'k"k dh ekx ml oLr dh og ek=k g tk ml dher ij ,d fuf'pr le;e [kjhnh tk;xhA**

mi;Dr ifjHkk"kkvk }kjk Li"V g fd ekx e fuEu ckrk dk gkuk t :jh g&

- **iHkko i.k bPNk dk gkuk& iHkkoi.k bPNk d vUrxr**
  1- bPNk dk gkuk]
  2- bPNk dk ijk dju d fy, lk/ku] rFkk
  3- lk/ku dk [kp dju dh rRijrk dk gkukA
- **,d fuf'pr dher dk gkukA**
- **fuf'pr le; dk gkukA**

4-3 ekx rkfydk (Demand Schedule)

,d ckrkj e fdlh oLr fo'k"k dh fdlh fo'k"k le; vof/k e fofHkUu eY;k ij ekxh tku okyh ek=k

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

dk ,d rkfydk d :i e idV dju dh ekx rkfydk dgk tkrk gA nlj 'kCnk e ge dg ldr g fd ekx rkfydk] eY; rFkk ekxh xb ek=k e dk;kRed lEcU/k dk crkrk gA

cUge d vu|lkj] ^^fdlh ckt kj e ,d fuf'pr le; e fofHkUu eY;k ij fdlh oLr dh fofHkUu ek=k, ekxh tkrh g bUg ,d rkfydk d :i e fy[kk tk, rk ;g ekx rkfydk d :i e ekuh tkrh gA**

ekx rkfydk 2 idkj dh gkrh gA

¼1½ 0;fDrxr ekx rkfydk (Market Demand Schedule)

¼2½ 0;fDrxr ekx rkfydk (Individual Demand Schedule)

¼1½ 0;fDrxr ekx rkfydk

0;fDrxr ekx rkfydk l vk'k; tc fdlh le; fo'k"k ij fdlh ,d miHkkDrk }kjk oLr dh fofHkUu dherk ij ekxh tku okyh ek=kvk dk idV djrh g vFkkr 0;fDrxr ekx rkfydk ge bl ckr dh tkudkjh nrh g fd ,d fuf'pr le; e ,d 0;fDr fofHkUu eY;k ij fdlh oLr fo'k"k dh fdruh ek=k ekxrk gA

bl ge fuEu rkfydk }kjk le>k ldr gA

rkfydk 4-1 0;fDrxr ekx rkfydk

X oLr| dh dher ifr bdkb|	ekxh tku okyh ek=k
¼:i;k e½	¼bdkb;k e½
Px	Qx
20	10
30	8
40	6
50	4
60	0

rkfydk }kjk ge n[k ldr g fd ,d miHkkDrk fofHkUu dherk ij D;k ekx djrk g] tc oLr dk eY; 20 :i; g rk miHkkDrk }kjk x oLr dh ekx 10 bdkb;k g] blh idkj tc oLr dk eY; c<dj 30 :gk tkrk g rk miHkkDrk 8 oLrvk dh ekx djrk gA 0;fDrxr ekx rkfydk crkrh g fd miHkkDrk de eY; ij vf/kd rFkk vf/kd eY; ij de ek=k dk [kjhnrk gA

¼2½ ckt kj ekx rkfydk

ckt kj e fdlh oLr d cgr lkj Ørk gkr gA tc fofHkUu dherk ij fdlh oLr d ckt kj e lc Ørkvk dh dy ekx dk idV fd;k tkrk g rk ml ckt kj ekx rkfydk dgr gA nlj 'kCnk e tc lHkh 0;fDrxr ekx rkfydkvk dk ge tkM yr g rk og ckt kj ekx rkfydk cu tkrh gA ckt kj ekx rkfydk fdlh oLr fo'k"k dh fdlh fo'k"k le; e fofHkUu eY;k ij ekxh tku okyh ek=kvk dk crkrh g bl ge fuEu ckt kj rkfydk }kjk le>k ldr gA

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

rkfydk 4-2 ck tkj ekx rkfydk

oLr dh dher ifr bdkbl ¼:i;k esa½	ekxh tkus okyh ekx ¼bdkb;k esa½		ck tkj esa dqy ekx ¼bdkb;k esa½
	A	B	
20	12	18	30
30	18	15	25
40	8	12	20
50	6	9	15
60	4	6	10

mi;Dr rkfydk e fdlh ck tkj fo'k"k e le; fo'k"k ij x oLr dh ekx dk crk;k x;k gA ekuk bl ck tkj e 2foØrk g A rFkk B bu dh vyx&vyx ekx feydj ck tkj dh ekx cu tkrh gA

4-4 ekx j[kk ¼Demand Corve½

tc ge ekx rkfydk dk j[kkfp= }kjk 0;Dr fn;k tkrk g rk ml ekx j[kk ;k ekx oØ dgr gAA nlj 'kCnk ge ;g Hkh dg ldr g fd ekx oØ ekx rkfydk dk j[kkfp=h; iLrfrdj.k g tk ,d oLr dh fofHkUu dherk ij ekxh xb fofHkUu ek=k d lEcU/k dk crkrk gA

ik- y¶Vfop d vulkj] ^^ekx oØ oLr dh mu vf/kdre ek=kvk dk idV ftUg miHkkDrk le; dh ,d vof/k e fofHkUu dherk ij [kjhnxA**

0;fDrxr ekx j[kk ge 0;fDr fo'k"k dh ekx dk crkrh gA tcfd ck tkj ekx j[kk ij ck tkj dh ekx dk crkrh g ekx j[kk e oLr dh ekx rFkk eY; d lc/k dk j[kkfp= d ek/;e l n'kkrh gA bl ge fuEu fp= }kjk le>k ldr g &

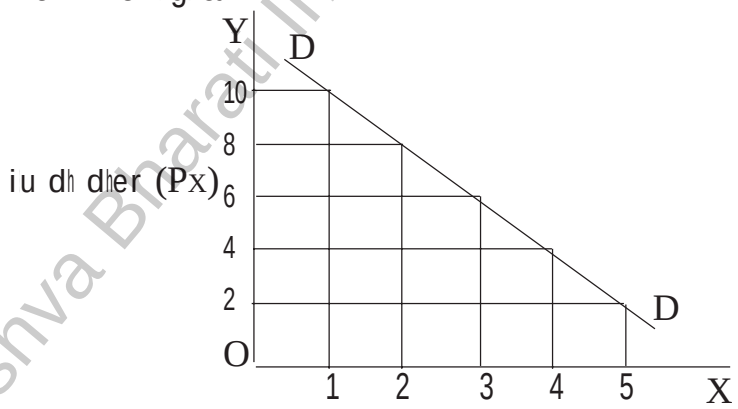

j[kkfp= & 4-1

iu dh ek=k

fp= e ox v{k ij iu dh ek=k rFkk OY v{k ij iu dh dher dk fn[kk;k x;k g] DD ekx j[kk g tk crkrh g iu d eY; de gku ij ekx c<rh g rFkk iu d eY; c<u ij ekx ?kVrh gA

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

tc iu dk eY; 10: g rk iu dh ekx 1 gA tc eY; ?kVdj 8: gk x;k rk iu dh ekx ,d l c<dj 2 gk xb gA bl idkj ge tkur g fd ekx oØ eY; vkj ekx e lEcU/k dk crkrk gA

4-5 ekx d idkj ¼Kinds of Demand½

fdlh Hkh oLr ;k lok gr ekx dh ek=k ik;¼ 3 ckrk ij fuHkj jgrh g & 1- fdlh oLr dh dher (Px)] 2- miHkkDrk dh vk; (I) rFkk 3- lEcfU/kr oLrvk dh dherA vr% bUgh rhuk ckrk d vk/kkj ij ik ckcj }kjk ekx d 3 idkj crk; x; g&

¼1½ eY; ekx ¼2½ vk; ekx ¼3½ vkMh ;k frjNh ekx

1- eY; ekx ¼Price Demand½

eY; ekx l vk'; oLr dh ml ekx ek=k l g ftldh vU; ckr leku jgr g,] fofHkUu eY;k ij ifr le; bdkb ekx dh tkrh gA ;gk vU; ckr leku jgu l vk'; miHkkDrk dh vk;] vfHk:fp] LoHkko] Q'ku o vU; oLrvk d eY;k vkfn e ifjoru ugh gkrkA vU; ckr leku jgu ij tc oLr dh eY; vkj ekxh xb ek=k d chp lEcU/k crk;k tkrk g rk ml dher ekx dk uke fn;k tkrk gA ekx&Qyu d :i e dher ekx dk fuEu idkj iLrr dj ldr g&

$$Dx = f(Px)$$

Qx = X oLr dh ekx

Px = x oLr d eY;

bl idkj ge jg ldr g fd eY; ekx l vk'k; ,d fuf'pr le;kof/k e fofHkUu eY;k Lrjk ij miHkkDrk }kjk fdlh Hkh oLr dh [kjhnh tku okyh ek=kvk l vxk;k tkrk g bl ge fuEu j[kkfp= }kjk le> ldr g&

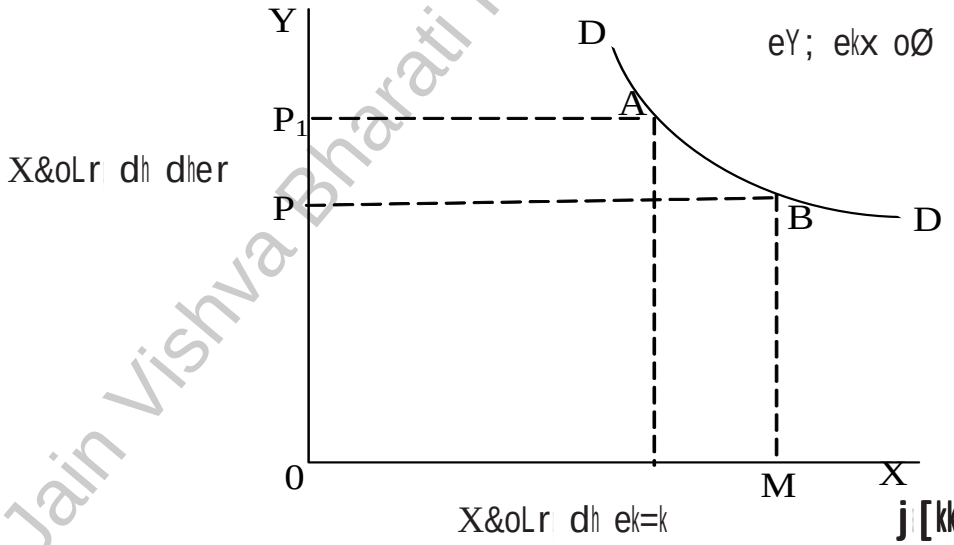

j[kkfp= & 4-2

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

j[kkfp= e DD ekx oØ Åij ck; l uhp nk; vkj fxjrk gvk _.kkRed <ky okyk fn[kk;k x;k gA ;g eY; rFkk ekx e foifjr lEcU/k dk crkrk g vFkkr eY; d ?kVu ij ekx c<rh g rFkk eY; c<u ij ekx ?kVrh gA t lk fd fp= e crk;k x;k gA fd OP dher ij oLr dh ekx OM g dher c<u ij vFkkr OP_1 gku ij ekx ?kVdj OM_1 gk tkrh gA bl idkj ge dg ldr g fd eY; ekx oØ dher d fofHkUu Lrjk ij ekx dh fofHkUu ek=kvk dk oDr djr gA

2- vk; ekx (Income Demand)

vk; ekx l vk'k; oLrvk dh ml ek=kvk l g ftUg] ml oLr dh dher fLFkj jgu ij miHkkDrk }kjk vk; d fofHkUu Lrjk ij [kjhnh gA vU; vkr leku jgu ij tc miHkkDrk dh vk; rFkk fdlh oLr dh ekx e lEcU/k crk;k tkrk g rk bl oLr dh vk; ekx dk uke fn;k tkrk g ekx Qyu d :i e vk; ekx dk fuEu :i e crk ldr g&

$$Dx = f(Y)$$

Dx = x oLr dh ekx

Y= miHkkDrk dh vk;

bl idkj ge dg ldr g fd vU; ckr leku jgu ij ,d fuf'pr le; e miHkkDrkvk }kjk vk; d fofHkUu Lrjk ij oLrvk dh [kjhnh tku okyh ek=kvk dk vk; ekx dgk tkrk gA vk; ekx e oLrvk d eY;k d lkFk&lkFk miHkkDrk dh :fp] Q'ku] vknr o LoHkko dh fLFkj eku fy;k tkrk gA ifl) teu vFk'kkL=h ,fty d uke ij vk; ekx j[kk dh ,fty&j[kk (Engel curve) Hkh dgk tkrk gA

,fty oØ

,d oLr dh mu ek=kvk dk iLrr djrk g ftUg miHkkDrk fofHkUu vk; Lrjk ij [kjhnrk gA vFkkr ;g vk; ekx od gkrk gA ,fty oØ miHkkDrkvk dh vk; rFkk oLrvk dh ekxh xb ek=kvk d lEcU/k dk O;Dr fd;k tkrk gA vk; ekx oLrvk dh idfr ij fuHkj djrh gA bl nk Hkkxk e ckVk tk ldrk g&

¼A½ J"B oLr, (Superior Goods)

J"V oLr, mu oLrvk dk dgr g ftudh ekx lkekU;r Ørk dh vk; c<u d lkFk&lkFk c<rh gA rFkk vk; ?kVu d lkFk&lkFk oLrvk ekx ?kVrh gA vk; vkj ekx d e/; /kukRed lEcU/k ik;k tkrk gA bl ge fuEu j[kkfp= }kjk le>k ldr g &

miHkkDrk vk;

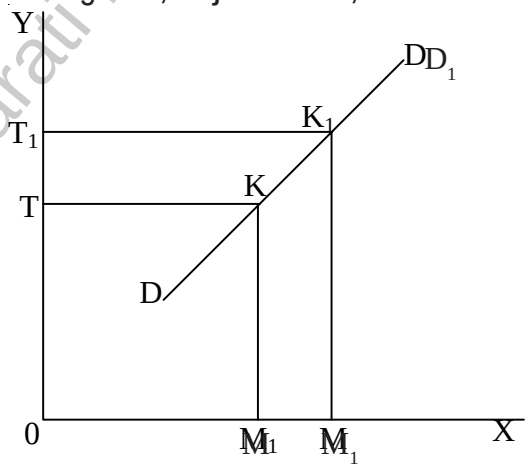

oLr dh ek=k

j[kkfp= & 4-3

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

fp= e vk; ekx oØ dk DD_1 }kjk fn[kk;k x;k gA t lk fd fp= l Li"V g fd vk; ekx oØ DD_1 ck; l nk; Åij mBrk gvk vFkkr /kukRed <ky okyk gkrk gA OT, vk; Lrj ij oLr dh ekx OM_1 g tk fd vk; c<u ij vFkkr OT_1 ij oLr dh ekx Hkh OM g tk fd vk; c<u ij vFkkr OT_1 ij oLr ekx c<dj OM_1 gk tk,xh vFkkr miHkkDrk K l K_1 u; lUryu ij igp tkrk gA vr% J"B oLrvk d lnHk e vk; iHkko /kukRed gkrk gA

¼B½ fu"d"V oLr, (Inferior Goods)

fu"d"V oLrvk dh ekx vk; c<u d lkFk&lkFk ?kV tkrh g rFkk vk; ?kVu d lkFk&lkFk ekx c< tkrh gA bu oLrvk d lEcU/k e miHkkDrk dh vk; rFkk ekx e _.kkRed lEcU/k gkrk gA vk; ekx j[kk ck; l nk; uhp l vkj fxjrh gb gkrh gA blge fuEu j[kkfp= }kjk Li"V dj ldr g&

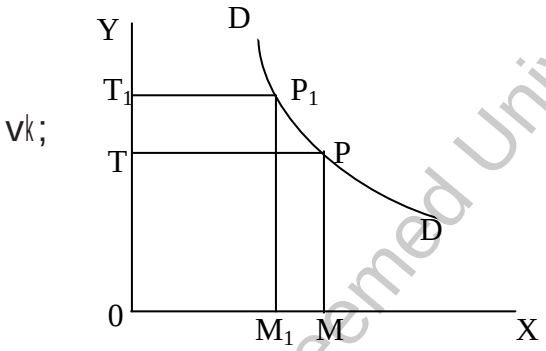

oLr dh ek=k

j[kkfp= 4-4

fp= e DD_1 vk; ekx oØ gA t c miHkkDrk dh vk; dk Lrj OT g rk oLr dh ekx OM gA t l gh miHkkDrk dh vk; c<dj OT_1 gk tkrh g rk ekx ?kVdj gh OM_1 jg tkrh gA vr% ghu oLrvk d lnHk e vkt iHkko _.kkRed gkrk gA

bl J.kh e lk/kkj.kr;k] vfuok; vko';drk, t l& ekVk diMk] ekVk vukt vkfn oLr, vkrh gA vkfFkd nf"V l ; oLr, fuEu dkfV dh gkrh g bu oLrvk dh ifr gj gkyr e gkuk vfuok; ekuk tkrk gA vk; c<u ij miHkkDrk budh ekx e deh blfy, djrk g c<h gb vk; dk vi{kkdr J"B oLrvk ij 0;; djuk vf/kd ilUn djrk gA

3- vkMh ekx ;k frjNh ekx (Cross Demand)

vkMh ekx l vk'; ^vU; ckr leku jgu ij* t c Y oLr dh dher vkj X oLr dh ekx e lEcU/k crk;k tkrk g rk , lh ekx dk frjNh ekx dgr gA ekx Qyu d :i e frjNh ekx dk fuEu :i e 0;Dr fd;k tkrk g&

$$Dx = F(Py)$$

Qx - X oLr dh ekx

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

Px - xoLr dh dher

fdlh oLr dh ekx doy ml oLr d eY; ;k miHkkDrk dh vk; l gh iHkkfor ugh gkrh] cfYd vU; lEcfU/kr oLrvk d eY; l Hkh iHkkfor gkrh gA blfy, ^vkMh ekx ;k frjNh ekx fdlh oLr dh mu ek=kvk dk crkrh g tk vU; ckr leku jgu ij] miHkkDrk ,d fuf'pr le; e ml l lEcfU/kr oLr d eY; e ifjoru gku ij Ø; djrk gA*

bl idkj frjNh ekx& ,d oLr dh ekxh xb mu ek=kvk l gkrk g tk ml oLr fo'k"k dh dher e ifjoru u gkdj fdlh vU; lEcfU/kr oLr dh dher d QyLo:i gkrk gA ?kfU"B :i l lEcfU/kr oLrvk dk nk Hkkxk e ckV ldr g &

¼A½ LFkkukiu oLr, ¼Substitution Goods½

; o oLr, gkrh g ftudk ,d oLr d LFkku ij nljh oLr dk i;kx fd;k tkrk gA t l& pk; d LFkku ij dkQhA ifrLFkkiu oLrvk d eY; rFkk ml dh ekx dh xb ek=k d chp iR;{k lEcU/k gkrk gA ;fn ,d oLr d eY; e of) gkrh g rk ifrLFkkukiu oLr ¼Y½ dh ekx e of) gkrh gA vFkkr ifrLFkkukiu oLr, d lnHk e tc ,d oLr dh dher e of) gk tkrh g rk nljh oLr dh ekx c< tkrh gA blh dkj.k g fd oLr dh ekx oØ d <ky /kukRed gkrk gA bl ge fuEu j[kkfp= }kjk Li"V dj ldr g &

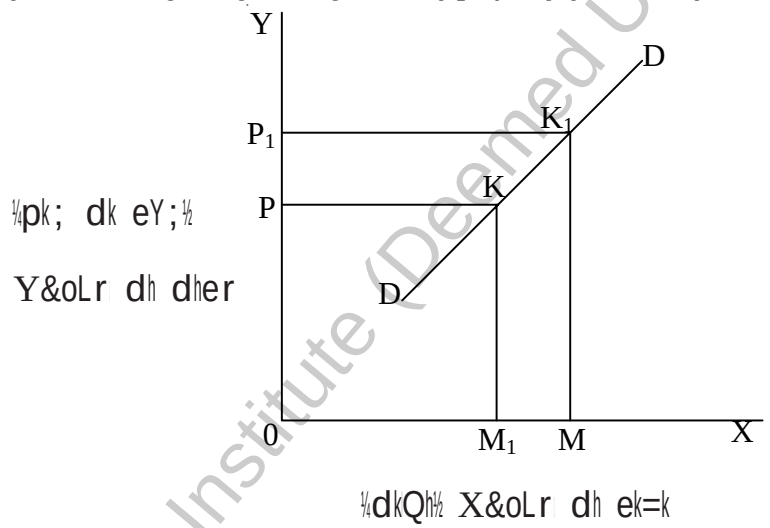

j[kkfp= 4-5

fp= l Li"V g DD oØ LFkkukiu ekx oØ g tk X oLr dh ekx o Y oLr dh dher e lh/kk lEcU/k crkrk gA ;fn Y oLr dh dher OP l c<dj OP_1 gk tkrh g rk X oLr dh ek=k OM l c<dj OM_1 c<dj gk tkrh gA

¼B½ ijd oLr, ¼Complementry Goods½

ijd oLr, l vk'; tc fdlh vko';drk dh ifr d fy, nk oLrvk dk ,d lkFk i;kx e yr g rk ; oLr, ijd oLr, dgykrh gA t l& dkj o iVky] iu o L;kghA ijd oLrvk e fdlh ,d oLr dk eY; c<u ij nljh oLr dh ekx Lor% gh de gk tkrh g] ijd oLrvk d ekx oØ dk <ky _.kkRed gkrk g] tk ml oLr dh ekx rFkk ijd oLr dh dher e mYVk lEcU/k crkrh gA bl ge fp= }kjk Li"V dj ldr g&

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

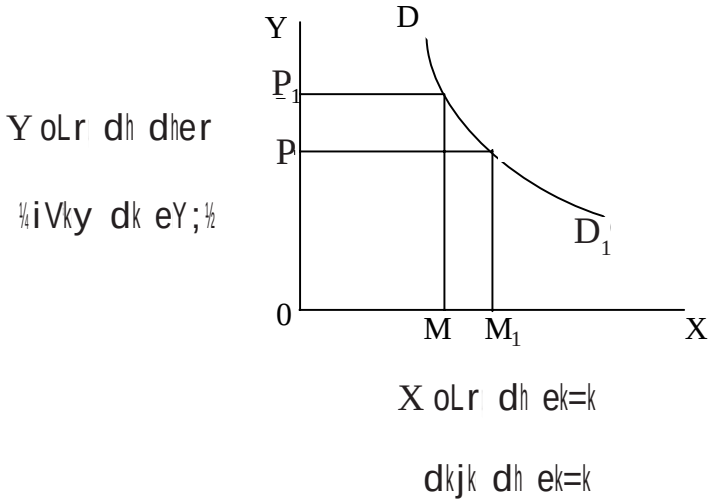

j[kkfp= 4-6

tl k fd fp= }kjk Li"V g DD_1 ijd oLr dh ekx j[kk gA YoLr dh dher OP l c<dj OP_1 gk tkrh g rk X ijd oLr dh ekx OM_1 l fxjdj OM gk tkrh gA vr% fp= }kjk Li"V g fd tl&tl iVky dk eY; c<rk g ol&ol dkjk dh ekx de gkrh tkrh gA

¼C½ Lor= oLr, ¼Independeni Goods½

,lh oLr, ftud eY; ?kVu ;k c<u ij nljh oLrvk dh ekx ij dkb iHkko ugh iMrk rk ,lh Lor= oLr, dgk tkrk gA tl& iVky d eY; c<u ;k ?kVu ij phuh d eY; ij dkb iHkko ugh iMrkA

ekx d vU; idkj ¼Other Kinds of Demand½

4- l;Dr ekx ¼Joint Demand½

tc fdlh ,d vko';drk dh ifr d fy, nk ;k nk l vf/kd oLrvk dh ekx ,d lkFk dh tkrh g] rk ml ^l;Dr ekx* dgr gA tl& dkj ,o iVky pk; dh ekx e ^pk; dh iÙkh] n/k] phuh bR;kfnA bue ,d oLr d eY; e ifjoru dk nljh oLr dh ekx ij vR;f/kd iHkko iMrk gA

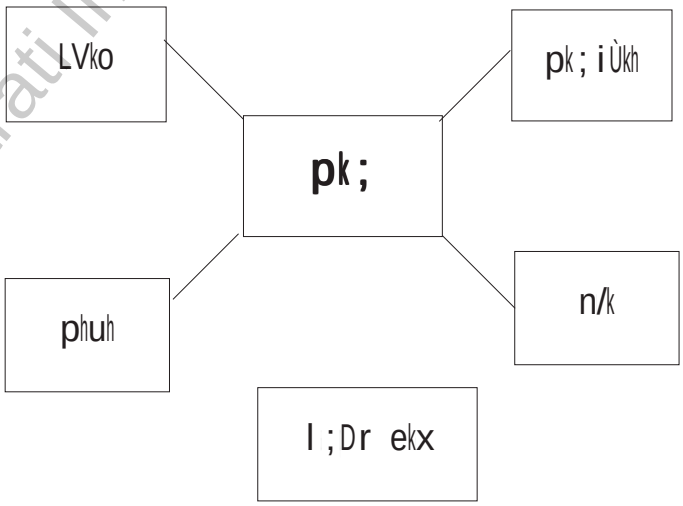

j[kkfp= 4-7

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

5- O;Riu ekx ¼Derived Demand½

O;Riu ekx l vk'; tc fdlh oLr dh ekx blfy, dh tkrh g fd ml oLr dh lgk;rk l fdlh vU; oLr dk mRiknu fd;k tkrk g rk ml oLr dh ekx O;Riu ekx dgykrh g t l& oL= mRiknu d fy, dikl] Cyhfpx ikmMj] jx] e'khu] Jfed(edku cuku d fy, bV] lheUV] puk] feÍh bR;kfn dh ekxA

6- lkefgd ;k fefJr ekx ¼Composite Demand½

tc ,d oLr dk i;kx vud vko';drkvk dh ifr d fy, fd;k tkrk g rk bldh ekx lkefgd ekx dgykrh gA vFkkr tk vud idkj dh vko';drkvk dh ifr djrh g t l& dk;yk] ikuh] fct YkhA mnkgj.k d fy, xgLFk }kjk Åtk dh ekx vud i;kxk e dh tkrh g mijkDr lHkh i;kxk e Åtk dh ekx lkefgd ekx gA

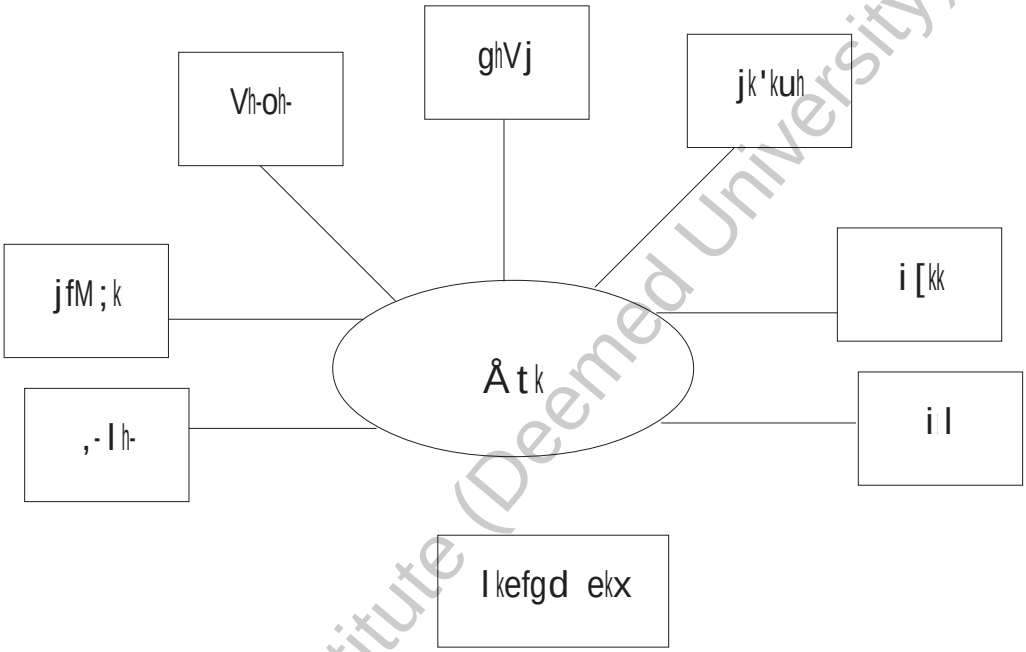

j[kkfp= 4-8

4-6 ekx Qyu ¼Demand Function½

ekx Qyu fdlh oLr dh ekx rFkk ml d fofHkUu fu/kkjd rRok e lEcU/k dk crkrk gA fdlh Hkh oLr dh fdruh ek=k ,d miHkkDrk ;k ck tkj e fo|eku lHkh miHkkDrk [kjhnxA ;g doy oLr dh dher ij gh fuHkj ugh djrk] oju vud ?kVdk ij fuHkj djrk gA ; ?kVd ftUg Lor= pj dgk tkrk g] tk ,d lkFk ;k iFkd&iFkd :i e oLr dh ek=k dk iHkkfor djr gA cht xf.krh; :i e ge dg ldr g fd ekx vud ?kVdk dk Qyu g&

$$Qdx = F (Px, Py, I, T, P, Yd)$$

bl idkj ge n[kr g fd ekx Qyu mu lHkh rRok dk Li"V djrk g ft ll fdlh oLr dh ekx iHkkfor gkrh gA ekxQyu nk idkj dk gkrk g&

1- O;fDrxr ekx Qyu

2-ck tkj ekx Qyu

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

1- 0;fDrxr ekx&Qyu

Dx= F (Px, Py, Y, T)

;gk Dx = x oLr dh ekx

Px = x oLr dh dher

Py = lEfU/kr oLrvk dh dher

Y = miHkkDrk dh ekfnd vk;

T = :fp] rFkk

F = Qyu

2- cktkj ekx&Qyu

mijkDr rRok d vykok cktkj ekx Qyu e nk rRok dk vkj 'kkfey fd;k tkrk gA vr% cktkj ekx&Qyu&

Dx = f (Px, Py, Y, T, P, Yd)

P = tul[;k dh ek=k]

Yd = vk; dk fooj.k

bl idkj oLr dh ekx db rRok ij fuHkj djrh gA ijUr ekx d fu;e dh ljy 0;k[;k d fy, doy ml oLr dh dher e ifjoru gku dk iHkko ml oLr dh ekx ek=k ij n[kk tkrk gA ekx dk iHkkfor dju oky vU; ?kVdk dk fLFkj eku fy;k tkrk gA

4-7 ekx fu/kkjd rÙo (Determinants of Demand)

¼1½ oLr dh dher (Px)

oLr dh dher oLr dh ekx dk iHkkfor djrh gA vU; ckr leku jgu ij oLr d eY; e deh vkrh g rk oLr dh ekx c< tkrh g bld foifjr tc oLr dk eY; c< tkrk g rk oLr dh ekx de gk tkrh gA blh dk ekx dk fu;e dgr gA

¼2½ lEcfU/kr oLr dh dher (Py)

,d oLr dh ekx ij lEcfU/kr oLrvk ¼LFkkukUrj.k rFkk ijd½ d eY; dk iHkko iMrk gA ijd oLrvk d lnHk e tc ,d oLr d eY; e of) gkrh g rk Lor% gh nljh oLr dh ekx e deh vk tk,xhA blh idkj LFkkukiu oLrvk e ,d oLr d eY; e deh vkrh g nljh oLr dh ek=k c< tk,xhA

¼3½ miHkkDrk dh vk; (I)

miHkkDrk dh vk; Hkh oLr dh ekx dk iHkkfor djrh g vU; ckr leku jgu ij miHkkDrk dh vk; c<u ij lkekU; oLrvk dh ekx c<rh g tcfd bld foifjr miHkkDrk dh vk; de gku ij oLr dh ekx Hkh de gkrh gA fdlh oLr dh ekx fdlh Hkh miHkkDrk dh ekx mldh vk; ij fuHkj djrh gA

?kfV;k ;k fuEu dkfV dh oLr, ¼tl ekVk vukt½ dh ekx miHkkDrk dh vk; c<u ij de gkrh tkrh g rFkk vk; de gku ij ekx c< tkrh gA

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

¼4½ miHkkDrk dh :fp] Q'ku] LoHkko (T)

oLr dh ekx miHkkDrk dh :fp] Q'ku] LoHkko vkfn l Hkh iHkkfor gkrh gA ftu oLrvk d ifr miHkkDrk dh :fp g ;k ftudk Q'ku g rk ml dh ekx vf/kd gkxhA bl d foijhr de ftu oLrvk d ifr :>ku de g oLr dh ekx de gkxhA

¼5½ tul[;k

tul[;k dh jpuk dk Hkh ekx ij iHkko iMrk gA lkekU; :i l ,d n'k e ftruh vf/kd tul[;k gkxh oLr dh ekx mruh ekx vf/kd gkxhA

¼6½ vk; dk fooj.k

vxj n'k e vk; dk forj.k leku gkxk rk ekx T;knk gkxhA ;fn n'k e vk; dk fooj.k vleku gkxk rk oLr dh ekx de gkxhA D;kfd vf/kdrj ykxk d ikl oLr, [kjhnu d fy, i;kIr /ku ugh gkxkA

¼7½ tyok; rFkk ekle e ifjorlu

eu"; dh vud vko';drk, tyok; l iHkkfor gkrh gA blh dkj.k tyok; rFkk ekle e ifjoru l oLr dh ekx iHkkfor gkrh gA mnkgj.k d fy, lnh e Åuh diMk dh ekx] xeh e T;l d inkFkk dh ekx tkrh gA

¼8½ 0;kikj dh fLFkfr

0;kikfjd lef) d le; e (Boom period) e 0;kikj] m|kx] /kU/k mUufr dh vkj gkr gA bl l jktxkj ,o vk; e of) gkrh g ftl l oLrvk dh ekx c<rh gA bl d foijhr enh dh n'kk e vk; dk Lrj de gku yxrk g] jktxkj e deh vku yxrh g rk vf/kdk'k oLrvk dh ekx de gk tkrh gA

¼9½ Kku e of)

Kku e of) l eu"; dh vko';drk, c<rh gA vko';drkvk dh ifr ekx e of) djrh gA u;&u; vkfo"dkj] ub oLrvk dh][kkt] foKkiu vkfn ekx e of) djr gA lykfLVd dk lkeku] fctyh d fofHkUu i;kxk vf/kd i;Dr gku d dkj.k fdlh oLr dh ekx cgr c< xb gA

¼10½ ljdkjh uhfr

ljdkj mnkj uhfr viuk dj vunkuk ,o djk e deh }kjk fdlh oLr dh ekx dk ikRlkfgr dj ldrh g] tcfd Åp djk ,o fu;U=.k }kjk ekx dk grkRlkfgr dj ldrh gA vr% ljdkj dh uhfr;k dk Hkh ekx ij iHkko iMrk gA

¼11½ Hkfo"; e eY; c<u dh vk'kdk

vxj Hkfo"; e oLr d eY; c<u dh vk'kdk fn[kkb nrh g rk miHkkDrk oLrvk dh ekx c<k nx ftl l Hkfo"; e mUg Åph dherk ij u [kjhnuk iMA

¼12½ enk dh ek=k@enk ,o lk[k uhfr

ljdkj dh ekfnd ,o lk[k uhfr Hkh ekx dk iHkkfor djrh gA ;fn ljdkj ,lh ekfnd ,o lk[k uhfr viukrh g] ftl l enk dh ek=k e of) gkrh gA ,l e ykxk dh vk; c<xh rk lkekU; :i l oLrvk dh ekx c< tk,xhA bl d foifjr enk dh ek=k ?kVu ij lkekU;r;k ekx e deh gk tk,xhA

¼13½ oLr dh ifr

tc fdlh oLr dh ifr lhfer gkrh g rk ekx Hkh lhfer jgrh gA D;kfd ml ifr l vf/kd ekx ugh gk ldrhA

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

¼14½ cpr dju dh iofÙk

vxj ykxk e cpr dju dh iofÙk c<h gb g rk mud ikl 0;; dju d fy, jkf'k de gkxh ft l l ekx ?kVxhA

4-8 ekx dk fu;e ¼Law of Demand½

ge igy crk pd g ekx ,o eY; e ?kfu"B lEcU/k gA ekx dk fu;e ,d x.kkRed dFku gA lkekU;r% ekx dk fu;e ge crkrk g fd vU; ckr leku jgr g, fd lh oLr dh ck tkj dher rFkk bldh ekx ek=k e foifjr lEcU/k dk 0;Dr djrk gA ;gk vU; ckr leku jgu dk vFk g fd miHkkDrk dh vk; ,o vfHk:fp;k ijd ,o LFkkukiu oLrvk dh dher vkfn fLFkj jgu ij tc fd lh oLr dh dher e of) gk tkrh g rk ml dh ekxh xb ek=k e deh gk tkrh g rFkk tc ml oLr dh dher e deh gk tkrh g rk ml dh ekx c< tkrh gA

ek'ky d vulkj] ^^tc oLr dk eY; ?kV tkrk g rk ml dh ekx c< tkrh g vkj tc eY; c< tkrk g rk ml dh ekx de gk tkrh gA**

lE;y lu d vulkj] ^^vU; ckr leku jgu ij] ;fn ck tkj e fd lh oLr dh vf/kd ek=k iLrr dh tk,] rk og de eY; ij gh cph tk ldrh gA

cUge d vulkj] ^^ekx dh ek=k dher l lEcfU/kr gkrh gA**

mi;Dr ifjHkk"kkvk ij ge fu"d"k fudy fudky ldr g fd vU; ckr leku jgu ij fd lh oLr dh dher rFkk ml dh ekx tku okyh ek=k e foifjr lEcU/k crkrk gA vFkkr ekx j[kk uhp dh vkj >drh gb gkrh gA

ek'ky u lhekUr mi;kfxrk âkl fu;e d vk/kkj ij ekx d fu;e dh 0;k[;k dhA ,d miHkkDrk ,d oLr dh ml le; rd [kjhnrk g tc fd ml iklr gku okyh lhekUr mi;kfxrk ml d }kjk nh tku okyh dher d leku u gk tk,A

4-9 ekx d fu;e dh ekU;rk, ¼Assumption of the Law of Demand½

ekx dk fu;e rHkh ykx gkrk g tc fd vU; ckr leku jgA vr% ekx d fu;e dh ekU;rk, fuEu g&

¼1½ miHkkDrk dh vk; fLFkj jguh pkfg, vFkkr vk; e fd lh idkj dk ifjoru ugh gkuk pkfg,A

¼2½ miHkkDrk d LoHkko] :fp rFkk vknrk e dkb vUrj ifjoru ugh gkuk pkfg,A

¼3½ vU; oLrvk d eY; e ifjoru ugh gkuk pkfg,A

¼4½ oLr d eY; e fudV Hkfo"; e of) dh lEHkkouk ugh gkuh pkfg,A

¼5½ ft l oLr dk Ø; fd;k tk jgk og ifr"Bkj{kd oLrvk dh J.kh dh ugh gkuh pkfg,A

¼6½ oLr dh fd lh ub LFkkukiu oLr dh [kk t ugh gkuh pkfg,A

4-10 ekx d fu;e ykx gku d dkj.k

vf/kdk'k Hkkx oØk dk <ky uhp nkfguh vkj D;k gkrk g\ ekx d fu;e ykx gku d dkj.k lekU;r% ekx oØ nk;h vkj uhp dh rjQ >dr gA bldk ekx oØ dk _.kkRed <ky Hkh dgk tkrk gA

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

ekx oØ dk uhp dh vkj <ky dher o ekx d foifjr lc/k dk crkrk gA fdlh Hkh oLr dh ekx Åph dher ij de rFkk de dher ij vf/kd gkrh gA , lk D;k gkrk g fd Ørk fdlh oLr dk uhph dher ij vf/kd rFkk Åph dher ij de ek=k e [kjhnr gA ekx d fu;e vFkok ekx oØ d uhp dh vkj >du d fy, fuEu dkjd mÙkjnk;h g&

1- lhekUr mi;kfxrk âkl fu;e

ekx dk fu;e okLro e lhekUr mi;kfxrk âkl fu;e ij vk/kkfjr gA miHkkDrk ge'kk oLr dk miHkkx ml fcUn ij jkdrk g tgk oLr dh lhekUr mi;kfxrk vkj dher cjkcj gk vFkkr Mux = Px tc oLrvk dk eY; de gkrk g rk iu% lUryu e vku d fy, miHkkDrk dh x oLr dk mi;kx c<kuk gkxk ft ll Mux dh ek=k ?kVxh ¼miHkkDrk }kjk oLr dh ftruh vf/kd bdkb;k Øe dh tk;xh mu bdkb;k l feyu okyh lhekUr mi;kfxrk ?kVrh tkrh g vr% eY; fxju ij vf/kd Ø; dh tk,xh½ vkj , lk ml le; rd djxk tc rd iu% lUryu e u vk tk, vFkkr

$$\frac{MUx}{Px}$$

ekx dk fu;e mi;kfxrk âkl fu;e l gh fudyrk gA tc oLr dh ek=k c<rh g rk lhekUr mi;kfxrk ¼MU½ ?kVrh gA ,d miHkkDrk fdlh Hkh oLr dk eY; ml oLr dh lhekUr mi;kfxrk l vf/kd ugh nxkA lUryu dh fLFkrh e oLr dh dher = lhekUr mi;kfxrk gkrh gA vr% miHkkDrk dk oLr dh vf/kd ek=k d miHkkx d fy, ifjr dju d fy, oLr dh dher de djuh gkxhA

2- ifrLFkkiu iHkko

ekx d fu;e ykx gku dk ,d dkj.k ifrLFkkiu iHkko Hkh gkrk gA tc fdlh oLr dk vU; oLr d LFkku ij i;kx fd;k tkrk g rk ml ifrLFkkiu oLr, dgr g tl& pk; vkj dkQhA tc fdlh oLr dh dher ?kVrh g vkj vU; oLrvk dh dher fLFkj jgrh g rk og lLrh oLr vU; oLrvk dh ryuk e vkj lLrh gkrh g vr% miHkkDrk vU; oLrvk d LFkku ij dN lhek rd bldk ifrLFkkiu djr g ifj.kkeLo: i bl oLr dh ekx c< tkrh gA blh idkj tc fdlh oLr dk eY; c< tkrk g rFkk vU; oLrvk dk eY; fLFkj jgrk g rk bl egxh oLr d LFkku ij vU; oLrvk dk i;kx fd;k tkrk gA blh dkj.k ekx de gk tkrh gA ifrLFkkiu iHkko d dkj.k fdlh oLr dh dher fxju ml dh ekx c< tkrh g tcfd dher c<u ij oLr ekx de gk tkrh gA

3- vk;&iHkko@Ø; 'kfDr e of)

oLr dh dher ?kVu l miHkkDrk dh okLrfod vk; ¼Reat Income½ c< tkrh g ft ll bl oLr dh o vU; oLrvk dh igy l vf/kd ek=k [kjhnu dh fLFkfr e vk tkrh gA blh rjg fdlh oLr dk eY; c< tkrk g rk miHkkDrk dh okLrfod vk; ?kV tkrh g ft ll og ml oLr o vU; oLrvk dh igy l de ek=k Ø; dj ldxkA bl gh vk;&iHkko dgr gA bl idkj okLrfod vk; c<u ij oLr dh ekx e of) gkrh gA mnkgj.k d fy, ?kh dk eY; 150 : i; ifr fdyk l ?kVdj 100 : i; ifr fdyk gk tkrk g] rk , lh n'kk e miHkkDrk ?kh l 100 : i; e ikIr dj yxk vkj ml dh vk; e 50 : i; dh cpr gkxhA ;fn miHkkDrk bu cp g, : i; dk Hkh [kp dj rk ?kh dh ekx c<dj M< fdyk gk tk,xhA

vk; iHkko /kukRed ;k _.kkRed gk ldrk gA ;g /kukRed rc gkrk g tc vk; d c<u ij ekx c<rh g , lk lkekU; oLrvk d lEcU/k e gkrk gA ;g _.kkRed rc gkrk g tc vk; c<u ij ekx de gkrh gA , lk ?kfV;k oLrvk d lEcU/k e gkrk gA

4- u; Ørkvk dk io'k rFkk ijku Ørkvk dk cfgxeu

lkekU;r;k vf/kdk'k Ørkvk dh vk; vYidky e fLFkj jgrh gA tc fdlh oLr dk eY; de gk

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

tkrk g rk dN u; Ørk [kjhnu ;kX; gk tkr g] vr% oLr dh ekx c< tkrh gA bld foifjr tc oLr egxh gk tkrh g rk dN Ørk tk igy ml [kjhnr Fk vc ml ugh [kjhn ik;x vkj oLr dh ekx de gk tk;xhA bl idkj eY; ?kVu ij u; Ørkvk d io'k rFkk eY; c<u ij ijku Ørkvk dk cfgxeu d dkj.k Hkh ekx j[kk nk;h vkj uhp >drh gb gkrh gA

; pkjk rRo l;Dr :i l dher ,o ekx dh ek=k e foifjr lEcU/k LFkkfir djr g, ekx d fu;e dk ykx djr g ,o blh dkj.k ekx oØ uhp nk;h vkj >dk gvk _.kkRed <ky okyk pØ gkrk gA

4-11 ekx d fu;e d viokn ¼Eeceptions to the Low of Demand½

ekx dk fu;e ge cukuk g fd Åph dher ij oLr dh de ekx rFkk de dher ij vf?kd ekx gkrh g vkj bl rF; dk j[kkfp= ij 0;Dr dju ij cuu okyh ekx j[kk ck; l nk; dk Åij l uhp >drh gb gkrh gA ;g ekx d fu;e dk lkekU; :i g] ijUr dN vlekU; ifjfLFkfr;k e dher vkj ekx dk foifjr lEcU/k dk;e ugh jgrkA bu voLFkkvk e dher c<u ij ekx c<rh g rFkk dher de gku ij ekx Hkh de gkrh g] blh dk ekx d fu;e dk viokn dgk tkrk g] tgk ekx dk fu;e ykx ugh gkrkA ekx d fu;e d ie[k viokn bl idkj g&

¼1½ ifr"Bk&lpd oLrvk dh ekx

dN oLr, t l cgeY; vkHk"k.k ghj tokgjkr] dherh o'k Hk"kk] dyk vkdfr;k] in'kudkjh oLr, egxh gku ij Hkh /kuh 0;fDr;k }kjk vf/kd ek=k e Ø; dh tkrh gA /kuh ykx Åph dher okyh oLrvk dh [kjhn dj ;g fn[kkuk pkgr Fk fd o lekt e vU; ykxk l J"B g mPp gA bld foifjr eY; de gku ij o mUg [kjhnuk cUn dj nr gA bl idkj eY; of) l ekx e of) gkrh g bll 0;fDr dh ifr"Bk c<rh gA mnkgj.k d fy, ghj vFkok tokgjkr dk eY; ftruk T;knk gkxk mruk gh /kuhox }kjk ml dh ekx T;knk gkxhA bUg lifl) vFk'kkL=h FkkuLVhj oCyu ¼Veblen½ d uke ij ^oCyu* oLr, Hkh dgk tkrk gA ; foykflrk dh oLr,] vkHk"k.k] ghj bR;kfn gkrh gA

ijUr ;g ekx d fu;e dk lPpk viokn ugh g] D;kfd ekx d fu;e dh ;g ekU;rk g fd oLr ifr"Bk&lpd oLr, ugh gkuh pkfg,A

yfdu fQfyi gkMfod] cgknj [kku o tku cXehM u viuh iLrd ^An Iniroduction to Modern Economi* e oCyu oLr, dk Hkh fxfQu oLrvk dh Hkkfr ekx dk viokn ekuk gA

2- Hkfo"; e oLrvk d eY;k d c<u dh vk'kdk

;fn ck tkj iofÙk;k d v/;;u l vxj ,lk irhr gkrk g fd Hkfo"; e dher vkj vf/kd c<xh rk eY; c<u ij Hkh oLr dh ekx igy l vf/kd gk tk,xhA blh idkj l ;) ck< o l[k d le; oLrvk dh dherk e of) dh lEHkkouk jgrh g vr% miHkkDrk oLr dh dher c<u d lkFk ekx Hkh c<k nr gA

;g Hkh ekx d fu;e dk viokn ugh dgk tk ldrk D;kfd fu;e dh ,d ekU;rk ;g Hkh g fd oLr d eY; e fudV Hkfo"; e of) dh lEHkkouk ugh gkuh pkfg,A

3- vKkurk

dHkh&dHkh miHkkDrk vKkurk d dkj.k oLr d eY; vf/kd gku ij ml vf/kd mi;kxh vFkok mÙke le> dj vf/kd ek=k e Ø; dju yxrk g] tcfd nljh vkj oLr dk de eY; ndj ml fud"V le>u yxrk gA blfy, og Åp eY;k ij oLr vf/kd rFkk uhp eY; ij de Ø; djrk gA

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

okLro e ;g Hkh ekx d fu;e dk viokn ugh g D;kfd ekx d fu;e dh ,d ;g Hkh ekU;rk gkrh g fd oLr dk i.k Kku gkuk pkfg,A

4- vkikrdkyhu fLFkfr

vkikrdkyhu fLFkfr t l ;)] vdky] vkfn e Hkh ekx dk fu;e ykx ugh gkrkA xgLFkk dk ;g vk'kdk gkrh g fd Hkfo"; e ;g oLr fcYdy Hkh ugh feyxhA blfy, o eY; vf/kd gku ij Hkh vf/kd ek=k e [kjhnr gA ;g viokn ugh& D;kfd lkekU; ifjfLFkfr;k e ekx dk fu;e ykx gkrk gA

5- fxfQu dk fojk/kkHkkl vFkok fuEu dkfV dh oLr vk dh ekx

ekx d fu;e dk ,d gh lPpk viokn g tk ^fxfQu d fojk/kkHkkl* d uke l tkuk tkrk gA fxfQu oLr, fo'k"k idkj dh fud"V oLr, g ftudk ukedj.k fcVu d **lj jkcV fxfQu** d uke ij fd;k x;k gA fxfQu d vulkj fxfQu oLr og fu"d"V oLr g] ft le _.kkRed vk;&iHkko] /kukRed ifrLFkkiu iHkko dk feVk nrk g] ft ll dher d ?kVu ij oLr dh ekx Hkh ?kV tkrh g vkj dher d c<u ij mldh ekx c< tkrh g bl fxfQu dk fojk/kkekl dgk tku yxk ,lh fLFkfr rHkh ikb tkrh g tcfd bl oLr ij miHkkDrk dh vk; dk ,d cMk Hkkx [kp fd;k tkrk g] ft ll mldh dher d ?kVu l miHkkDrk dh okLrfod vk; e dkQh ifjoru vk tkrk gA

nlj 'kCnk e ge dg ldr g fd ;o oLr, gkrh g ftudk mi;kx ik;k fu/ku ox }kjk fd;k tkrk gA dHkh&dHkh fuEu J.kh dh bu ?kfV;k oLrvk d eY; e vR;f/kd deh gk tkrh g rk budk miHkkx ?kVk nr gA ifj.kke Lo:i fud"V oLrvk dh ekx ?kV tkrh g tcfd vPNh oLrvk dh ekx c< tkrh gA ;g ,d fojk/kkHkkl ¼Paradox½ g] D;kfd fud"V oLr dh dher de gku mldh ekx de gk tkrh gA bl fojk/kkHkkl dk fxQhu dk fojk/kkHkkl ¼Giffin's Paradox½ dgk tkrk gA ;g fojk/kkHkkl dHkh&dHkh thou e lgh mrjrk gA bl ge fuEu j[kkfp= }kjk le>k ldr g &

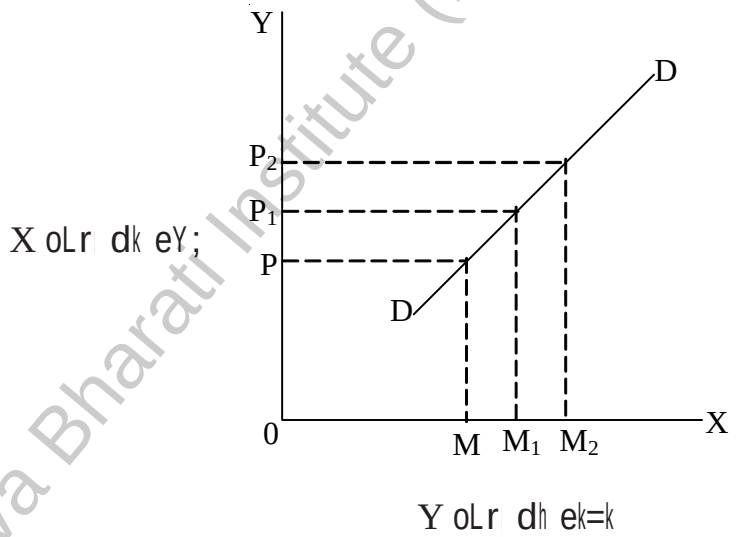

j[kkfp= & 4-9

tlk fd fp= l Li"V g fd tl&tl oLr dk eY; c<rk g oLr dh ekx Hkh c<rh gA tc oLr dk eY; OP_1 g rk ekx OM_1 gA tc eY; c<dj OP_2 gk tkrk g rk ekx Hkh c<dj OM_2 gk tkrh gA ;fn eY; ?kVdj OP jg tkrk g rk ekx Hkh ?kVdj OM gk tk;xhA

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

mi;Dr n'kkvk dk ekx d fu;e d vioknk d :i e tkuk tkrk gA bu n'kkvk d vUrxr ekx dk fu;e ykx ugh gkrk g vFkkr ekx oØ Åij l uhp nk; l ck; u tkdj uhp l Åij dk tkrk g o eY; o ekx e foifjr lEcU/k u gkdj lh/kk lEcU/k gkrk g yfdu bu vioknk d gkr g, Hkh ekx dk fu;e 0;kogkfjd thou e [kjk mrjrk gA lolk/kkj.k miHkkDrk de eY; ij oLr dh ekx vf/kd djrk g vkj c< g, eY;k ij de ekx gh djrk gA

4-12 ekxh xb ek=k e ifjorru rFkk ekx e ifjorru ¼Change in Quantity Demanded & Change in Demand½

vU; ckr leku jgu ij ekxh xb ek=k e ifjoru l vk'k; oLr dh dher e ifjoru d dkj.k ml dh [kjhnh xb ek=k e of) ;k deh l gA ;g ,d gh ekx j[kk ij pyu dk crkrk gA tcfd ekx e ifjoru l vk'k; oLr dh dher d vfrfjDr vU; rRok d dkj.k ekxh xb ek=k e of) ;k deh l gA ble ekx oØ Åij dh vkj **(Forward Shift)** ;k uhp dh vkj **(Backward Shift)** f[kld tkrk gA

A ekxh xb ek=k e ifjoru@ekx d foLrkj rFkk ekx e ldpu ¼Change in Quantity Demanded/ Expension and Coniraction of Demand½

^vU; ckr leku jgu ij* tc fdlh oLr dh dher e deh gku ij] oLr dh ekxh xb ek=k e of) gkrh g rk ml ^ekx e foLrkj* dgr gA bld foifjr tc oLr dh dher e of) gku ij ekxh xb ek=k e deh gkrh g rk ml ^^ekx e ldpu** dgr gA ;g okD;k'k ^ekxh xb ek=k e ifjoru** ekx d fu;e d lkFk tMk gA l{ki e tc fdlh oLr dh viuh dher e ifjoru gku ij ml dh ekxh xb ek=k e tk ifjoru gkrk g ml ekx foLrkj ;k ekx dk ldpu dgr gA ; ifjoru ,d ekx oØ ij ?kfVr gkr gA

ekx d foLrkj ,o ldpu e miHkkDrk dh ekx vuqlph ugh cnyrh gA ekx d foLrkj ,o ldpu dh ^^,d gh ekx oØ ij vUrj.k** **(Movement along the same demand Curve)** Hkh dgk tkrk gA ^^vU; ckr fLFkj jgu ij tc oLr d doy eY; ifjoru d dkj.k oLr dh ekxh xb ek=k e tk ifjoru gkr mUg ekx e foLrkj vFkok ldpu d uke l tkuk tkrk gA bl ge fuEu fp= }kjk Li"V dj ldr g &

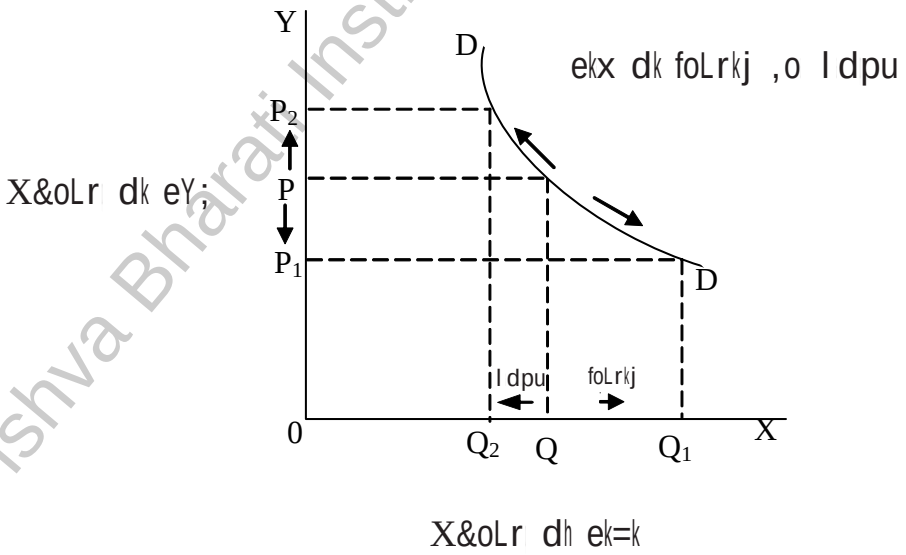

j[kkfp= & 4-10

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

tlkfd fp= l Li"V g **DD** ekx oØ gA tc eY; **OP** g rc oLr dh ekx **OQ** gA tc eY; ?kVdj **OP_1** gk tkrk g rk ekx e foLrkj gk tkrk g vc ekxh xb ek=k c<dj **OQ** l **OQ_1** gk tkrh g vFkkr eY; ?kVu d dkj.k ekx e foLrkj gk tkrk gA blh rjg vxj eY; c<dj **OP_2** gk tkrk g rk oLr dh ekxh xb ek=k ldfpr gkdj **OQ2**jg tkrh gA eY; c<u d dkj.k ekx e ldpu gk tkrk gA

B. ekx e ifjoru@ekx e of) ;k deh (Change in Demand Increase & decrease in Demand)

tc fdlh oLr dh ekxh ek=k e mldh dher d vykok vU; rRok d dkj.k ifjoru gkrk g rk ml ekx e of) ;k deh dgr gA nlj 'kCnk e ge dg ldr g fd ;fn oLr dh dher e dkb ifjoru u gk] vkj mi HkkDrk dh vk;] :fp] Q'ku] tul[;k vkfn e ifjoru d dkj.k ekx e ifjoru gkr g rk bl ge ekx e of) ;k deh dgk tkrk gA ekx e of) ;k deh l mi HkkDrk dh ekx vulph cny tkrh g] ft ld ifj.kkeLo:i mi HkkDrk dk ekx oØ Hkh nk;h ;k ck;h vkj f[kld tkrk gA bldk ge ^^ekx oØ dk f[kldu k** ;k ekx oØ dk LFkkukUrj.k ¼Shift of Demand Curve½ Hkh dgr gA bl ge fuEu j[kfp= }kjk Li"V dj ldr g&

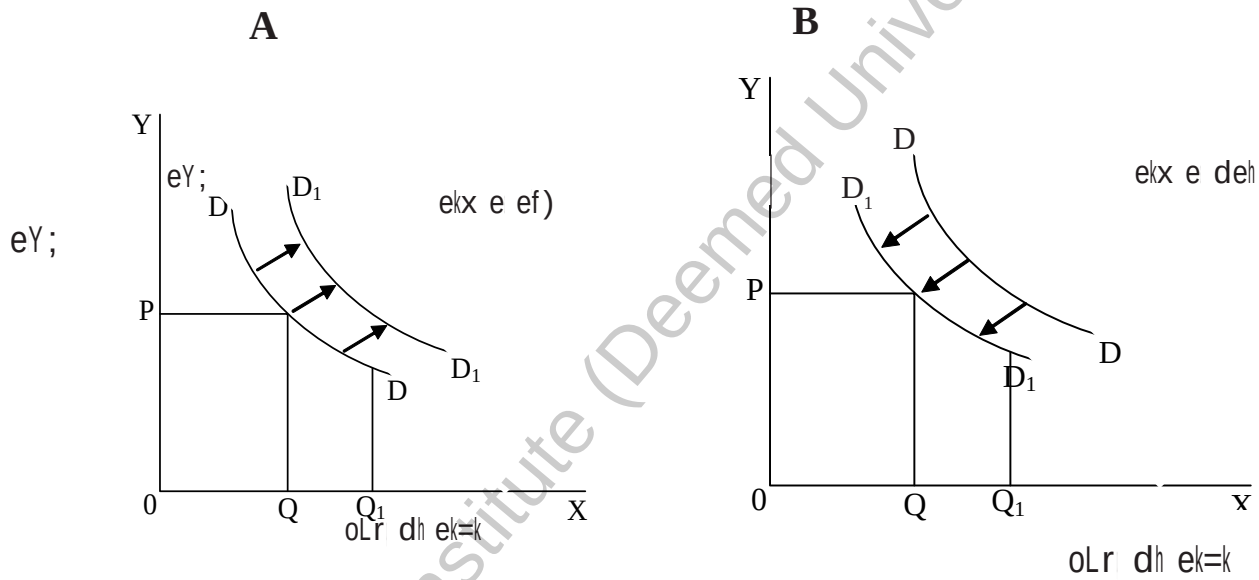

j[kkfp= & 4-11

tlkfd fp= **A** }kjk Li"V fd;k x;k g fd eY;k d fLFkj jgr g, ekx oØ **DD** l Åij dh vkj f[kldd j **D_1D_1** gk x;k gA tgk eY; **OP** ij igy **OQ** ek=k ekxh tkrh Fkh vc eY; fLFkj jgu ij Hkh ekx ek=k **OQ** l c<dj **OQ_1** gk xb g vFkkr ekx oØ ckb vkj f[kld tkrk gA

fp= **B** e ekx dh deh dk Li"V fd;k x;k gA DD ekx oØ uhp dh vkj f[kldj D_1D_1 gk x;kA OP eY; ij igy OQ_1 ek=k ekxh tkrh Fkh vc mlh eY; ij ekx ek=k ?kVdj OQ_1 l OQ gk xb gA

ekx e of) d dkj.k (Causes of Increase in Demand)

ekx of) d e[; dkj.k fuEufyf[kr g &

1- mi HkkDrk dh vk; of) gkrh gA
2- tc ifrLFkkiu oLr dh dher e of) gkrh gA
3- tc ijd oLr dh dher e deh gkrh gA

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

4- tc Q'ku ;k tyok; e ifjoru d dkj.k oLr d fy, miHkkDrk dh :fp e ifjoru ykrk gA
5- tc Hkfo"; e eY; c<u dh vk'kdk gkA
6- Ørkvk dh l[;k e of) gkA

ekx e deh d dkj.k (Causes of decrease in Demand)

ekx deh d e[; dkj.k fuEufyf[kr g &

1- miHkkDrk dh vk; e deh gkrh gA
2- tc ifrLFkkiu oLr dh dher e deh gkrh gA
3- tc ijd oLr dh dher e of)h gkrh gA
4- tc Q'ku ;k tyok; e ifjoru d dkj.k oLr d fy, miHkkDrk dh :fp e deh ykrk gA
5- tc Hkfo"; e eY; de gku dh vk'kdk gkA
6- Ørkvk dh l[;k e deh gkA

lkjk{k :i e bl fp= e fn[kk;k x;k g &

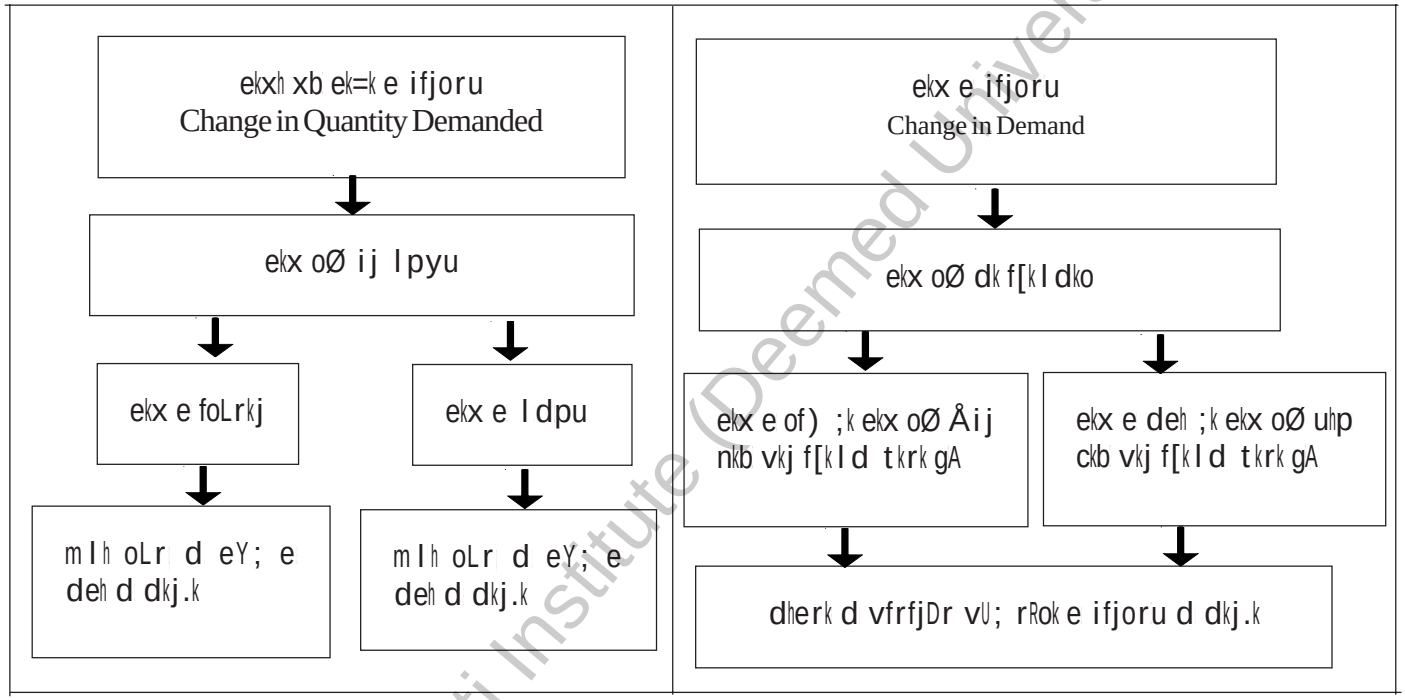

l{ki e

¼1½ ekx e foLrkj %& oLr d eY;k e deh d dkj.k gkrk gA

¼2½ ekx e ldpu %& oLr d eY;k e of) d dkj.k gkrk gA

¼3½ ekx e of) ;k deh eY; d vfrfjDr vU; dkj.kk l gkrh g tcfd ekx e foLrkj ,o ldpu dk lh/kk lEcU/k eY;k e ifjoruk l gA

¼4½ ekx dk iHkkfor dju oky rRok e tl vk;] Q'ku] jhfr&fjokt] miHkkDrk dh :fp o LoHkko rFkk vknr vkfn e nh?kdky e gh ifjoru gkr g] ekx e of) ;k deh dk egRo nh?kdky e gh gA nljh vkj vYidky e ; rRo fLFkj jgr g] mue ifjoru dh lEHkkouk fLFkj jgrh gA doy oLr d eY;k e gh mrkj&p<ko vkr g vr% ekx e foLrkj rFkk ldpu dk egRo vYidky e gh gA

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

ck/k i'u

y?kjkRed i'u (Short Time Questions)

1- ekx l vki D;k le>r g\

2- ekx d fu;e dh 0;k[;k dhft ,A

3- ekx rkfydk dh lgk;rk l ekx d fu;e dh 0;k[;k dhft ,A

4- ekx oØ D;k g\

5- ckt kj ekx fdl dgr gA

6- ,ft y ekx oØ fdl dgr g\

7- ekx Qyu l vki D;k le>r g\

8- eY; ekx rFkk vkMh ekx e vUrj crkb;A

9- fxfQu d fojk/kkHkk"k dk le>kb;A

10 0;RiUu ekx fdl dgr g\

fucU/kkRed i'u (Essay Time Questions)

1- ekx dh ifjHkk"kk nhft , rFkk ekx d idkj crkb;A

2- ekx d fu;e dh 0;k[;k dhft , rFkk mu rRok dh l{ki e 0;k[;k dj ftud dkj.k ekx oØ dk nkb vkj f[kl dko gkrk gA

3- ekx dh vo/kkj.kk dk mnkgj.k }kjk le>kb; fdl h oLr dh ekx dk iHkkfor dju oky ?kVdk dk crkb;A

4- ekx d fu;e dh foopuk dhft ,A D;k oLr dk eY; c<u ij ml dh ekx e of) gk ldrh gA mnkgj.k ndj le>kb;A

5- ekx fu;e D;k gA vf/kdk'k ekx oØ uhp dh vkj D;k >d g, gkr g\

6- ekx e of) o ekx e foLrkj rFkk ekx e deh o ekx e ldpu dk vUrj Li"V djA mu ifjfLFkfr;k dk le>kb; ftud vUrxr eY;k e of) d lkFk&lkFk ekx e of) gkrh gA

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

v/;k;&5

ekx dh ykp

ELASTICITY OF DEMAND

5-1 ekx dh ykp dk vFk

5-2 ekx dh ykp dh ifjHkk"kk,

5-3 ekx dh dher ykp dh Jf.k;k

5-4 ekx dh ykp ekiu dh fof/k;k

5-5 ekx dh ykp dk iHkkfor dju oky rRo

5-1 ekx dh ykp dk vFk ¼Meaning of Elasticty½

ekx dk fu;e ,d x.kkRed dFku g tk ge ;g crkrk g fd dher ifjoru d dkj.k ekx fd l fn'kk e cny jgh g ijUr ifjoru dh nj dh tkudkjh ugh nrk ekx dh ykp ekx d fu;e dh ifj.kkRed 0;k[;k gA tcfd ekx dh ykp ekx d fu;e dh tk ifjoru dh nj crku e gekjh enn djrk gA lekU;r;k tc ge ekx dh ykp dh ckr djr g rk ge ekx dh dher ykp dk gh crkr gA

fd lh oLr d eY; e ifjoru d QyLo:i ml oLr dh ek=k e gku oky ifjoru dh eki gh ekx dh ykp ;k ekx dh dher ykp dgykrh gA

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

ekx dh ykp oLr dh dher e vkuikfrd ifjoru rFkk bl ifjoru d QyLo:i oLr dh ekx ek=k e g, vkuikfrd ifjoru dk vuikr gkrk gA

vFkkr ekx dh eY; ykp oLr d eY; e vk, lkif{kd ifjoru d dkj.k oLr dh ekx e tk lkif{kd vUrj vkrk g ml crkrk gA vFk'kkL= e ekx dh ykp dh vo/kkj.kk dk fodflr dju dk J; **ik- ek'ky** dk gA fofHkUu vFk'kkfL=;k u ekx dh eY; ykp dk ifjHkkf"kr fd;k g ft le l dN fuEu g &

$$ep = \frac{\text{ekx e gvk vkuikfrd ifjoru}}{\text{eY; e gvk vkuikfrd ifjoru}}$$

5-2 ekx dh ykp dh ifjHkk"kk, (Defination of Elasticity)

ek'ky d vulkj] ^^ckt kj e ekx dh ykp vf/kd ;k de g] ;g bl ckr ij fuHkj g fd tc eY; e ,d fuf'pr deh gku l ekx vf/kd ;k de c<rh g vkj eY; e ,d fuf'pr of) l ml dh ekx e vf/kd ;k de deh gkrh gA**

ckfYMx d vulkj] ^^fd lh oLr d eY; e ,d ifr'kr ifjoru gku d ifj.kkeLo:i ml oLr dh ekx e tk ifr'kr ifjoru gkrk g] og ekx dh ykp dgykrh gA

$$(ep) = \frac{\text{ekx e ifr'kr ifjoru}}{\text{eY; e ifr'kr ifjoru}}$$

Jh efr tku jkfcUlu d vulkj] ^^ekx dh ykp fd lh eY; ;k mRifÙk fo'k"k ij] eY; e vYi ifjoru d QyLo:i [kjhnh xb ek=k d vkuikfrd ifjoru dk eY; d vkuikfrd ifjoru dk eY; d vkuikfrd ifjoru l Hkkx nu ij iklr gkrh gA**

y¶Vfop d vulkj] ^^ekx dh ykp fd lh oLr dh dher d ifjoru gku ij ekx d ifjoru dh {kerk dk ekx dh ykp dgr gA

ik- cUge d vulkj] ^^ekx dh ykp dh /kkj.kk fd dher e FkkMh lh deh gku ij fcØh dh ek=k e fdruh of) gkxhA**

mi;Dr lHkh ifjHkk"kkvk d v/;;u d ckn ,d ckr Li"V gkrh g fd ekx dh ykp l vk'k; fd lh oLr d eY;k e gku oky ifjoruk d ifj.kke Lo:i ekx e gku oky ifjoruk d ikjLifjd lc/kk l gA

5-3 ekx dh dher ykp dh Jf.k;k vFkok Hkn ¼Degree of Price Elasticity½

dher e ifjoru gku d ifj.kkeLo:i lHkh oLrvk dh ekx ij ,d&lk iHkko ugh gkrk dN dh ekx dh ykp de gkrh g rFkk dN dh vf/kd ekx dh ykp dk fuEu 5Jf.k;k e ck°Vk tkrk g&

1- i.kr;k ykpnkj ekx ¼Perfectly Elasticity Demand½ (e =)

tc fd lh oLr dh dher e ux.; ifjoru ¼vFkok dher LFkj jgu ij Hkh½ gku ij Hkh ekx e cgr vf/kd deh ;k of) gkrh g rc ,lh oLr dh ekx dk i.kr;k ykpnkj ekx dgk tkrk gA 0;ogkfjd ,o okLrfod thou e fd lh oLr dh ekx i.kr;k ykpnkj ekx ugh gkrhA bl fuEu j[kkfp= }kjk Li"V fd;k tk ldrk g &

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

$\Delta P = O$

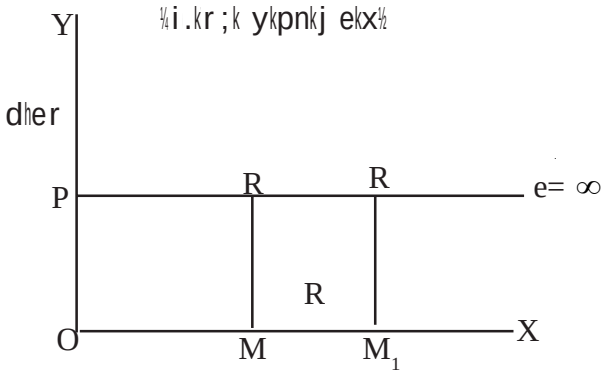

j[kkfp= & 5-1

tlk fd fp= e fn[kk;k x;k DD i.kr;k ykpnkj ekx oØ gA OP dher ij oLr dh ekx OM gA dher e vfr l{e ifjoru gku ij dher ij oLr dh ekx c<dj OM_1 gk tkrh gA ;gh dkj.k g fd i.kr;k ykpnkj ekx&oØ OX v{k d lekukUrj ,d iMh j[kk d :i e gkrk gA vFkkr ekx oØ ,d {kfr tkdkj ljy j[kk gkxhA ;g ,d dkYifud n'kk gA

2- vR;f/kd ykpnkj ekx ¼Highly Elastic Demand½

tc fdlh oLr dh ekx e vkuikfrd ifjoru] eY; d ifjoru l vf/kd gkrk g rk ml vf/kd ykpnkj ekx dgr gA mnkgj.k& ;fn fdlh oLr d eY; e 10% dHkh rk ekx e 25% of) gk tkrh g rk ,lh oLr dh ekx vf/kd ykpnkj dgh tk;xhA bl idkj dh ykp ik;% foykflrk dh oLrvk t l& dkj.k ghj] tokgjkr] oh- lh- Mh- bR;kfn l gkrh gA bl ge fuEu fp= }kjk Li"V dj ldr g &

$\Delta P < \Delta Q$

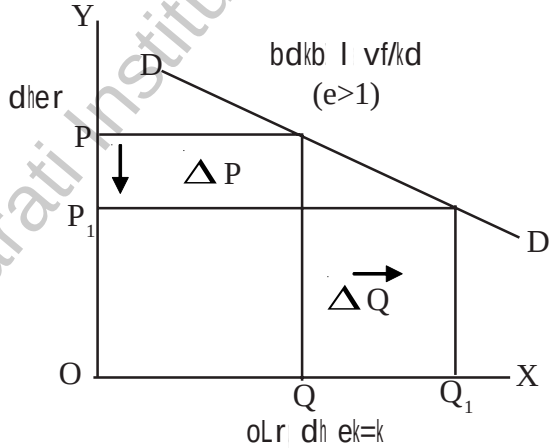

j[kkfp= & 5-2

tlk fd fp= l Li"V g fd oLr dh dher e FkkMk lk ifjoru OP l OP_1 gvk tcfd ekx e cgr vf/kd ifjoru OQ l OQ_1 gk x;kA fp= l Li"V g fd ekx e vk;k ifjoru eY; e vk, ifjoru l vf/kd gA ;gh dkj.k g fd ;gk ekx dh ykp bdkb l vf/kd (ep>1) gA

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

3- ykpnkj ekx ;k bdkb ykpnkj ekx ¼Elastic Demand½

tc fdlh oLr dh dher e gku okyk vkuikfrd ifjoru] ml oLr dh ekx d vkuikfrd ifjoru d cjkcj gk rk ekx dh ykp bdkb d cjkcj gkrh gA vkjkenk;d oLrvk t l Vh- oh-] LdVj] dyj] bR;kfn dh ykp bdkb d cjkcj gkrh gA

ge ldr g fd tc fdlh oLr dh dher e ifjoru d ifj.kkeLo:i ml dh ekx e Hkh mlh vuikr e ifjoru gkrk g rk , lh oLr dh ekx dk bdkb ykpnkj ekx dgk tkrk gA bl fuEu fp= }kjk Li"V dj ldr g &

$\Delta P = \Delta Q$

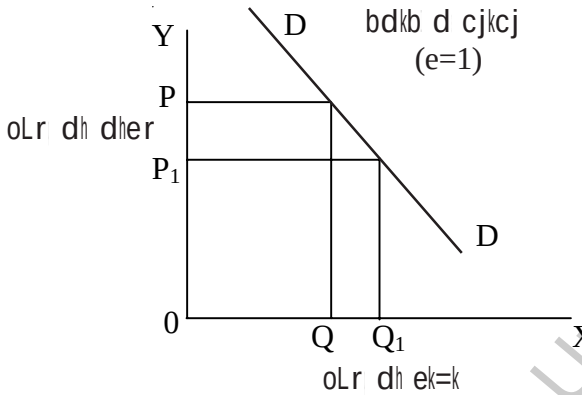

j[kkfp= & 5-3

fp= }kjk Li"V g fd tc dher OP_1 g rk oLr dh ekx OQ gA t l gh dher OP_1 l c<dj OP gk tkrh g rk ekx Hkh OQ l c<dj OQ_1 gk tkrh gA fp= l Li"V g fd ekx e ifjoru dk vuikr dher e ifjoru d vuikr d ckjkcj gA vr% ekx dh ykp bdkb d cjkcj gA

4- vR;kf/kd cykpnkj@bdkb l de ykp ¼Highly Inelastic Demand½

tc fdlh oLr dh dher d ifjoru d QyLo:i ml dh ekx e de vkuikfrd ifjoru gkrk g rk , lh oLr dh ekx dk vR;f/kd cykpnkj ekx dgr gA , lh ykp ik;% vfuok; ;k vko';d oLrvk t l vukt phuh vkfn dh ekx e ikb tkrh gA dher e ifjoru l , lh oLrvk dh ekx T;knk iHkkfor ugh gkrh D;kfd budk i;kx vfuok; :i l djuk gkrk gA

nlj 'kCnk e ge dg ldr g fd tc ekxh xb ek=k e ifjoru] dher e ifjoru d vuikr l de gk rk ekx dh dher ykp bdkb de gkrh gA bl ge fuEu fp= }kjk Li"V dj ldr g &

$\Delta P < \Delta Q$

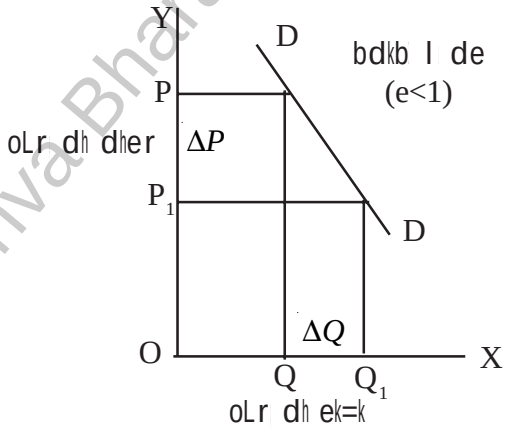

j[kkfp= & 5-4

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

t lkfd fp= l Li"V g tc oLr dh dher OP_1 g rk ekx OQ_1 g t l gh eY; c<dj OP gk x; rk ekx Hkh OQ_1 l de gkdj OQ gk xbA fp= }kjk Li"V g dher e ifjoru ekx e ifjoru l vf/kd gA vr% ekx dh bdkb ykp de gA

5- i.kr% cykpnkj ekx ¼Perfectly Inelastic Demand½

tc fdlh oLr dh dher d ifjoru d QyLo:i ml dh ekx e dkb ifjoru u gk rk , lh ekx dk i.kr% cykpnkj ekx dgr gA nlj 'kCnk e tc oLr d eY; e vR;f/kd ifjoru dk Hkh ml dh ekx ij dkb iHkko ugh iMrk rk , lh oLr dh ekx i.krk;k cykpnkj ekx dgykrh gA ;g Hkh dkYifud gkrh gA

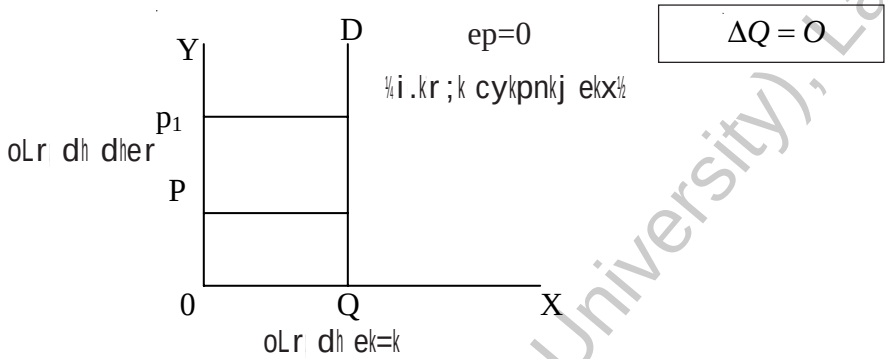

j[kkfp= & 5-5

fp= }kjk Li"V g fd OP eY; ij OQ ekx gA dher d c<u ij OP, ij Hkh OQ ekx dh gA nlj 'kCnk e] dher dh of) ;k deh dk oLr dh ekx ij dkb iHkko ugh iM jgk g ft ld dkj.k oLr dh ekx i.kr;% cykpnkj gA i.kr;% cykpnkj ekx&oØ OY v{k d cjkcj lekUrj [kMh j[kk d :i e gkrh gA bl xf.krh; :i e ep = 0 fn[kk ldr gA ; o oLr, gkrh g tk ,d fo'k"k vuikr e i;kx yh tk ldrh g t l& ued] thou jDrd nokb;k vkfn dh ekx i.kr;k cykpnkj gkrh gA , lh oLr, Hkh 'kkfey gkrh g ftu ij miHkkDrk dh vk; dk cgr de Hkkx [kp gkrk g t l lb] ekfpl bR;kfnA

5-4 ekx dh dher ykp dk ekiu dh fof/k;k ¼Mathod of Measuring the Elasticity of Demand½

ge ;gk ekx dh ykp dk ekiu dh ie[k fof/k;k dk v/;;u djx %&

1- dy 0;; fof/k ¼Total Outlay Method½

ekx dh ykp ekiu dh dy 0;; fof/k dk ifriknu **ik- vYÝM ek'ky** u fd;k FkkA

ek'ky d vulkj] ^^fdlh oLr d eY; e vk; ifjoru l ml ij 0;; dh xb dy jkf'k e tk ifjoru vkrk g ogh ml oLr dh dher ykp gA**

bl fof/k e dher ifjoru l igy rFkk dher ifjoru d ckn oLr ij fd; x; dy 0;; dh ryuk dh tkrh gA

dy 0;; d vk/kkj ij ekx dh ykp dk fuEufyf[kr idkj l le>k tk ldrk g&

¼1½ ;fn dher e of) ;k deh gku ij dy 0;; fLFkj jgrk g rk ekx dh ykp bdkb d cjkcj gkrh gA ¼ep=1½

¼2½ ;fn dher d ?kVu ij dy 0;; c<rk g] dher d c<u ij dy 0;; ?kVrk g] rc ekx dh ykp

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

bdkb l vf/kd gkrh gA ¼ep>1½

¼3½ ;fn dher d ?kVu ij dy 0;; ?kVrk g dher d c<u ij dy 0;; c<rk g] rc ekx dh ykp bdkb l de gkrh gA ¼ep<1½

dy 0;; fof/k }kjk ekx dh ykp dk fuEu mnkgj.k }kjk le>k ldr g &

rkfydk 5-1

fofHkUu eY;k ij oLr dh ekx rFkk dy 0;;

fLFkfr	oLr dh dher	dy 0;;	dy 0;; ij iHkko	ekx dh ykp
A	5 4	100 100	dy 0;; leku jgrk g	ep=1
B	5 4	100 200	dy 0;; c<rk g	ep>1
C	5 4	100 90	dy 0;; ?kVrk g	ep<1

rkfydk 5-1 e oLr d eY;k rFkk dy 0;; dk fn[kk;k x;k gA rkfydk l Li"V g fd fLFkfr A e oLr d eY; c< ;k ?kV dy 0;; e dkb ifjoru ugh vkrkA , lh fLFkfr ekx dh ykp bdkb d cjkcj (ep=1) gkrh gA

rkfydk l Li"V g fd nljh fLFkfr B e oLr d eY; ?kVu ij dy 0;; c<rk g ;k oLr d eY; c<u ij dy 0;; ?kVrk gA , lh fLFkfr e ekx ykp bdkb l vf/kd (ep>1) gkrh gA rkfydk }kjk Li"V g fd rhljh fLFkfr C e oLr d eY; de gku ij dy 0;; ?kVrk g ;k oLr d eY; c<u ij dy 0;; c<rk gA , lh fLFkfr e ekx dh ykp bdkb l de (e<1) gkrh gA

ek'ky dh dy 0;; fof/k dk ge fuEu j[kk fp= }kjk Li"V dj ldr g &

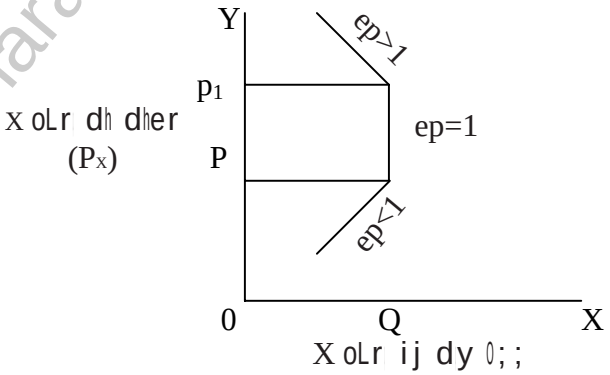

j[kkfp= & 5-6

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

tlk fd fp= e OX ij dy 0;; rFkk OY ij oLr dh dher dk fn[kk;k x;k gA tc dher OP_2 l vf/kd gkrh g rk ekx dh ykp bdkb l vf/kd gkrh g D;kfd dher tl&tl c<rh g dy 0;; de gk tkrk g] dher de gku ij dy 0;; c< tkrk g rk ekx dh ykp ,d l vf/kd g (ep>1) gkrh g tk vR;kf/kd ykpnkj dk crkrh gA blh rjg tc dher O l OP_1 d e/; gkrh g rk ekx dh ykp bdkb l de gkrh gA vFkkr tl &tl dher c<rh g rk dy 0;; c<rk g rFkk dher ?kVu ij dy 0;; Hkh ?kVrk g rk ekx dh eY; bdkb l de (ep<1) gkxhA bl idkj dher OP l OP_1 d e/; gkrh g rk dy 0;; fLFkj jgrk g rk ekx ykp bdkb d cjkcj (ep=1) gkrh gA

2- T;kferh; jhfr vFkok fcUn ykp fof/k ¼Geometrical Method or Point Merhod½

fcUn ykp fof/k e tc fdlh oLr dh dher e l{e ifjoru gku ij bl ifjoru dh oLr dh ekx ek=k ij tk ifrfØ;k gkxh] ml ekx dh fcUn ykp dgk tkrk gA ,lh n'kk e ekx&oØ d fdlh fcUn ij ekx dh ykp Kkr djuk vf/kd mi;Dr jgrk g] ekx oØ d fofHkUu fcUnvk ij ekx dh ykp vyx&vyx gkrh g ,lh n'kk e fcUn&ykp i.kkyh dk viuk;k tkrk gA nlj 'kCnk e ge dg ldr g tc ekx j[kk d fdlh ,d fcUn ij ykp Kkr dh tkrh g] rk ml fcUn ykp fof/k dgr gA bl fuEu fp= }kjk Li"V fd;k tk ldrk g&

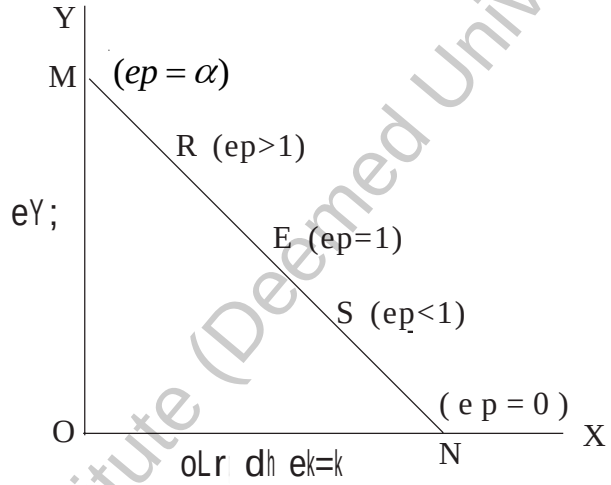

j[kkfp= & 5-7

fp= e MN ekx j[kk fn[kkb xb gA ekx oØ ij E ,d fo'k"k fcUn g] tk ekx j[kk dk nk Hkkxk e ckVrk g & ¼1½ fupyk Hkkx EN (Lower Sector) rFkk ¼2½ Åijh Hkkx EM (Uper Sector)A

ekxj[kk MN d fofHkUu fcUnvk ij ekx dh ykp bl idkj gkxh &

1- ekx dh bdkb ykp (ep=1) ¼ ogk gkxh tgk ekx oØ dk fupyk Hkkx = Åijh HkkxA ;g E fcUn ij gkxhA

E fcUn ij ekx dh ykp = $\frac{EN}{EM}$ =1

2- vR;f/kd ykpnkj ekx (ep>1) ¼

R fcUn ij ekx dh ykp = $\frac{RN}{RM}$ >1

D;kfd RN > RM gA ;gk ekx vR;f/kd ykpnkj gA

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

3- vR;f/kd cykpnkj ekx (ep<1) ‚

S fcUn ij ekx dh ykp $= \frac{SN}{SM} < 1$

D;kfd SN < SM gA vr% ;gk ekx vR;f/kd cykpnkj gA

4- ekx dh 'kU; ykp $(\Sigma d = 0)$ ‚ N fcUn ij ¼tgk ekx oØ OX dk Nrh gA½

N fcUn ij ekx dh ykp $(ep) = \frac{O}{NM} = 0$

vFkkr ;gk ekx dh ykp 'kU; gA

5- ekx ykp vUur $(EP = \alpha) : M$ fcUn ij ¼tgk ekx oØ OY v{k dk Li'k djrk gA½

M fcUn ij ekx dh ykp $(EP) = \frac{NM}{O} = \alpha$

vFkkr M fcUn ij ekx dh ykp vUur gkxhA

3- pki ykp fof/k ‚& ¼Are Elasticty of Demand Method½

tc ge Hkkx j[kk d nk fcUnvk d chp ekx dh ykp Kkr dh tkrh g rk ml ekx dh pki ykp dgr gA bl jhfr }kjk ,d gh ekx oØ d nk fcUnvk d e/; ykp dh eki Kkr dh tkrh gA tc dher ifjoru d dkj.k ekx n'kkvk ¼ekxh xb ek=kvk½ e cMk ifjoru gkrk g rk ,lh fLFkfr e lgh eki Kkr dju d fy, pki ykp fof/k vf/kd J"B jgrh gA

pki ykp ekiu dk l=& $ep = \frac{q_0 - q_1}{q_0 + q_1} X \frac{P_0 + P_1}{P_0 - P_1}$

ep = ekx dh dher ykp

q_0 = ifjoru d io dh ek=k

q_1 = ifjoru d i'pkr dh ek=k

p_0 = ifjoru d io dh dher

p_1 = ifjoru d i'pkr dh dher

bl fuEu mnkgj.k }kjk Li"V dj ldr g &

ekuk fdlh oLr dk eY; 15 :i; g rc ml oLr dh ekx 10 bdkb;k gA ckn e oLr dk eY; ?kVdj 10 :i; gk x;kA oLr dh ekx c<dj 20 bdkb;k gk tkrh g rk ,lh n'kk e ekx dh ykp fuEu rjg l Kkr djx &

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

$$ep = \frac{q_0 - q_1}{q_0 + q_1} X \frac{P_0 + P_1}{P_0 - P_1}$$

$$= \frac{10 - 20}{10 + 20} X \frac{15 + 10}{15 - 10}$$

$$= \frac{-10}{30} X \frac{25}{5}$$

$$= \frac{-1}{3} X \frac{5}{1}$$

$$= \frac{-5}{3}$$

$$ep = 1.6$$

ekx dh ykp 1-6 ;k bdkb l vf/kd g vFkkr oLr dh ekx vR;f/kd ykpnkj gA

;gk _.kkRed fpUg dk Hkyk nr g D;kfd ekx dh ykp ge'kk _.kkRed gkrh g tk oLr dh ek=k vkj eY; e foifjr lEcU/k dk crkrh gA tc dHkh _.kkRed fpUg dk Li"V :i l ugh yxkr bl dk vFk g fpUg fNik gvk (Hidden or Implied) gA

4- ifr'kr fof/k (Precentage Method)

bl fof/k dk ifriknu ik- ¶yDl }kjk fd;k x;kA bl fof/k e ekx dh ykp Kkr dju d fy, oLr dh ekx d ifr'kr ifjoru e eY; d ifr'kr ifjoru dk Hkkx fn;k tkrk g ;fn ,lk dju ij HkkxQy 1 vkrk g rk ekx dh ykp bdkb bdkb d cjkcj ¼ep=1½ gkxhA ;fn ,d vf/kd vkrk g rk ekx dh ykp bdkb l vf/kd (ep>1) gkxhA rFkk 1 l de vku ij ekx dh ykp bdkb l de ¼ep<1½ gkxhA

l= :i e &

$$\text{ekx dh ykp} = \frac{\text{ekx e ifr'kr ifjoru}}{\text{eY; e ifr'kr ifjoru}}$$

mnkgj.k d fy, & ekuk ekx e ifjoru 20 ifr'kr rFkk eY; e ifjoru 10 ifr'kr rk ekx dh ykp gkxh &

$$ep = \frac{20\%}{10\%} = 2$$

vFkkr ekx dh ykp bdkb l vf/kd (ep>1) gA

ekuk ekx e ifjoru 10 ifr'kr rFkk eY; e ifjoru 20 ifr'kr rk ekx dh ykp gkxh &

$$ep = \frac{10\%}{20\%} = 0.5$$

vFkkr ekx dh ykp bdkb l de ¼ep<1½ gA

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

5-5 ekx dh ykp dk iHkkfor dju oky rRo (Fators affecting Elasticity of Demand)

fdlh oLr dh ekx dh ykp dk iHkkfor dju oky ie[k dkjd ;k rRo fuEufyf[kr g &

1- oLr dh idfr

fdlh oLr dh ekx dh ykp de gkxh ;k vf/kd cgr dN ;g oLr dh idfr ij fuHkj djrk gA ik;% ;g n[kk tkrk g fd vfuok; oLrvk dh ekx tl ued] vkVk] pkoy] ry] ekfpl] fdrkc vkfn dh ekx vR;f/kd cykpnkj gkrh gA tcfd vkjkenk;d oLr, tl jfM;k] Vh-oh-] i[kk] dyj] n?k vkfn dh ekx dh ykp bdkb d cjkcj gkrh gA foykflrk oLrvk tl & dkj] egxk Quhpj] ghj tokgjkr] cf<;k diM vkfn dh ekx vR;f/kd ykpnkj gkrh gA

2- oLr dh dher

ekx dh ykp ij oLr dh dher dk Hkh iHkko iMrk gA oLr dk eY; vf/kd gkxk rk ekx dh ykp vf/kd gkxhA oLr dk eY; uhpk gku ij oLr dh ekx cykpnkj gkxh rFkk e/;e eY; Lrj ij oLr dh ekx ykpnkj gkrh gA ijUr dN ifjfLFkfr;k e ;g dFku lgh ugh mrjrkA tl & /kuhox d fy, Åph dher okyh oLrvk dh ekx Hkh cykpnkj gkrh gA tl & lkuk] ghjk] tokgjkrA oLrvk d eY;k e ?kV&c< gku ij Hkh ekx ij dkb fo'k"k iHkko ugh iMrkA

3- oLr d i;kx

ftu oLrvk d vf/kd i;kx gkr g mudh ekx vf/kd ykpnkj gkxhA ,lh oLr dk eY; ?kVu ij ml oLr dk vf/kd i;kxk e yk;k tkrk g] tcfd eY; c<u ij doy vko';d dk;k e gh dke e yk;k tkrk gA tl & fctyh dk i;kx] cYc] ghVj] il] xhtj] fÝt] dyj vkfn db dkek e fd;k tkrk gA ;fn fctyh dh nj c< tkrh g rk bl vR;f/kd egRoi.k dk; e gh i;kx fd;k tk,xk tl cYc tyku e de egRoi.k dk; tl ghVj] xhtj vkfn e ugh fd;k tk,xkA ftl oLr dk i;kx doy ,d dk; d fy, fd;k tkrk g] ml dh ekx dh ykp cykpnkj gkxhA

4- LFkkukiu oLrvk dh miyfC/k

ik;% ;g n[kk tkrk g ftu oLrvk d ftru vf/kd ckt kj e LFkkukiu ¼pk; d LFkku ij dkQh vkfn½ oLr, gkxhA mu oLrvk dh ekx dh ykp mruh gh vf/kd gkxhA ftu oLrvk d LFkkukiu ¼tl & flxjV] 'kjkc vkfn½ ugh gkr mudh ekx vi{kkdr cykpnkj gkrh gA

5- miHkkDrk dh vk;

ftu ykxk dh vk; cgr vf/kd ;k cgr de gkrh g mud }kjk ekxh tku okyh oLrvk dh ekx dh ykp cykpnkj gkrh gA D;kfd xjhc 0;fDr doy vfuok; olrvk dk gh miHkkx djxk ftudh ekx cykpnkj gkrh gA tcfd /kuh 0;fDr d ikl enk vf/kd gku d dkj.k eY; ifjoru dk dkb vlj ugh gkrkA bld foifjr] e/;e ox d ykxk }kjk [kjhnh tku okyh oLrvk dh ekx ykpnkj gkrh gA

6- miHkkDrk dh vknr

ykxk dk ftu oLrvk dh vknr iM tkrh g tl & xV[kk] iku] flxjV] pk; vkfn dh ekx ykp cykpnkj gkrh gA ; ykx dher e ifjoru ij fo'k"k /;ku ugh nrA ftu oLrvk dk miHkkx dHkh&dHkh 'kkfd;k rkj ij

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

fd;k tkrk g mu oLrvk dh ekx dh ykp ykpnkj gkrh gA

7- oLr ij vk; dk 0;; fd;k tku okyk vuikr

,d miHkkDrk ftu oLrvk ij viuh vk; dk cgr de Hkkx [kp djrk g tl & ued] lb] v[kckj] /kkxk vkfn] budh ekx cykpnkj gkrh gA ftu oLrvk ij viuh vk; dk vf/kd Hkkx [kp djrk g tl & dkj] Vh-oh-] fÝt vkfn budh ekx ykpnkj gkrh gA

8- oLr d i;kx dk LFkfxr djuk

ftu oLrvk d miHkkx dk Hkfo"; d fy, LFkfxr fd;k tk ldrk g] mu dh ekx vf/kd ykpnkj gkrh gA mnkgj.k d fy, fdlh 0;fDr d d ikl nk LoVj gA vxj Åuh diM d eY; c< tkr g rk og ub LoVj d fopkj dk LFkfxr dj ldrk gA bld foifjr ftu oLrvk dk Hkfo"; d fy, LFkfxr ugh fd;k tk ldrk mudh ekx cykpnkj gkrh g tl & chekj 0;fDr d fy, nokb dk LFkfxr ugh fd;k tk ldrkA

9- le; vof/k

fdlh oLr dh ekx dh ykp ij le; vf/kd dk Hkh iHkko iMrk gA vYidky e fdlh oLr dh ekx cykpnkj gkrh g D;kfd ifr dk ekx dh ryuk e ifjoru ugh fd;k tk ldrkA nh?kdky e ekx ykpnkj gkrh g D;kfd ifr dk ifjofrr dj ekx dh ryuk e i.k :i l lek;kftr fd;k tk ldrk gA bldk dkj.k ;g Hkh g fd vYidky dh ryuk e nh?kdky e ,d miHkkDrk viuh vknr e lgt :i l ifjoru dj ldrk gA

10- /ku dk forj.k

lekt e /ku dk forj.k leku gku ij vf/kdk'k oLrvk dh ekx vf/kd ykpnkj gkxh D;kfd eY; ifjoru l lHkh ;k vf/kdk'k miHkkDrk dh ekx e ifjoru gkrk gA bld foifjr lekt e /ku dk forj.k v leku g rk vf/kdk'k oLrvk dh ekx cykpnkj gkxhA D;kfd dherk e of) ;k deh /kuh ox dh ekx dk vf/kd iHkkfor ugh djrhA fu/ku ox dh ekx ik;% cykpnkj gh jgrh g D;kfd o doy vfuok; oLr, gh [kjhn ikr gA

11- Hkkjh dher

ftu oLrvk dh dher lkekU; r% fLFkj gkrh g] mudh ekx dh ykp de gkrh gA bld foifjr ftu oLrvk dh dherk e vR;f/kd mrkj&p<ko vkr g] mudh ekx vf/kd ykpnkj gkrh gA

ck/k i'u

y?kjkRed i'u (Short Time Questions)

1- ekx dh ykp D;k g\

2- ekx dh ykp dk iHkkfor dju oky rRo crkb;A

3- i.kr ;k ykpnkj] ekx rFkk i.kr ;k cykpnkj ekx e vUrj Li"V dhft ,A

4- ekx dk fu;e vkj ekx dh ykp e vUrj crkb;A

5- ekx dh ykp ekiu dh fcUn fof/k dk o.ku djkA

6- fcUn ykp rFkk pki ykp fof/k e vUrj Li"V dhft ,A

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

fucU/kkRed i'u (Essay Time Questions)

1- ekx dh ykp dh ifjHkk"kk nhft ,A ekx dh ykp dk iHkkfor dju oky rRok dh foopuk dhft ,A

2- ekx dh ykp d fofHkUu idkjk dk fp=k dh lgk;rk l le>kb,A

3- ekx dh ykp dh Jf.k;k dh 0;k[;k dhft ,A ekx dh ykp dk ekiu dh e[; fof/k;k dh foopuk dhft ,A

4- ekx dh ykp D;k g\ bl ekiu dh fofHkUu fof/k;k D;k g\ mi;Dr j[kkfp=k }kjk viuk mÙkj Li"V dhft ;A

5- ykpnkj rFkk cykpnkj ekx e vUrj crkb;A dN oLrvk dh ekx vU; oLrvk dh ryuk e vf/kd ykpnkj D;k gkrh gA

6- mnkgj.k lfgr crk; fd oLr dh idfr ekx dh dher ykp dk fu/kkfjr djrh gA

7- uhp dh vkj <yok ,d lh/kh ekx oØ cukb, tk nkuk v{kk dk Nrh gkA bl ekx oØ d fofHkUu fcUnvk ij dher ykp fn[kkb,A ,l rhu dkjdk dk Hkh l{ki e crk; tk ekx dh dher ykp ij iHkko Mkyr gA

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

v/;k;&6

rVLFkrk oØ fo'y"k.k

INDIFFERENCE CURVE ANALYASIS

6-1 ifjp;

6-2 mnklhurk oØ dk vFk ,o ifjHkk"kk

6-3 mnklhurk rkfydk

6-4 j[kkfp= }kjk Li"Vhdj.k

6-5 mnklhurk ekufp=

6-6 lhekUr ifrLFkkiu nj

6-7 mnklhurk oØ dh fo'k"krk,

6-8 ctV j[kk

6-9 miHkkDrk dk lUryu

6-1 ,d ifjp;

mnklhurk oØ fo'y"k.k rduhd dk 'kHk vkjEHk loiFke ,d vxt vFk'kkL=h Ýkfll lhnjk ,toFk (francis ysidro edgeworth) u viuh iLrd Mathematical physices e lu 1818 e ifr;kxh ¼LFkkukiu½ rFkk ijd oLrvk d v/;;u e fd;k bl vk/kkj ij ekx dh foopuk dhA mld ckn lu 1906 e bVyh d vFk'kkL=h ijVk u bl fof/k dk

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

viuk;kA ijVk gh ,d ,l vFk'kkL=h Fk ftUgku loiFke ;g Li"V fd;k fd mi;kfxrk ,d ekufld rRo g ftl oLr dk miHkkx dju okyk doy egll dj ldrk gA ;g ge'kk fLFkj ugh jgrk ifj.kkeLo:i bldk eki ugh gk ldrkA bUgku 1909 e viuh iLrd 'Mauel d' Economic politique' e mnklhurk dh 0;k[;k d fy, Øe&okpd nf"Vdk.k dk viuk;kA 1915 e : lh vFk'kkL=h ; tu LyLdh (Evgen Slutsky) }kjk Hkh mnklhurk oØk dk i;kx fd;k x;kA

1934 e ik- fgDl vkj ,yu yUnu l idkf'kr Economica e ,d y[k 'A Reconstruction of the Theory of Value' uked 'kh"kd e rVLFkrk oØ fo'y"k.k dh oKkfud 0;k[;k dhA bl ykdfi; cuku dk J; bUgh dk tkrk gA

ik- fgDl u 1939 e viuh iLrd 'Value and capital e rVLFkrk fo'y"k.k dh foLrr 0;k[;k dhA rFkk 1956 e viuh nljh iLrd A Revision of Demand theory' e bl vkj vf/kd foLrr :i l i;kx fd;kA ik- fgDl u ^lhekUr mi;kfxrk* d LFkku ij ^LFkkukiu nj* (Raie of subsitution) 'kCn dk i;kx fd;kA bud fopkjulkj lhekUr mi;kfxrk dk dkb fuf'pr vFk ugh gA ik- fgDl u fy[kk & ^mi;kfxrk âkl fu;e d LFkku ij ifrLFkkiu dh ?kVrh lhekUr nj dk fl)kUr dk i;kx djuk doy Hkk"kkUrj ugh gA oju bl fl)kUr dh uho e ,d /kukRed ,o Bkl ifjoru gA** bld vfrfjDr vkfLVh;u Ldy d fopkjdk fodLVhM (Vicksteed)] oh tj (Wiser)] pEcjyhu vkfn u Hkh ekx&fo'y"k.k d fy, mnklhurk oØk dk i;kx fd;kA

1-2 mnklhurk oØ dk vFk ,o ifjHkk"kk (Meaning and Definitions of Indifferance Curve)

mnklhurk oØ og j[kk gkrh g ftl ij fLFkr iR;d fcUn nk oLrvk d mu fofHkUu l;kxk dk fn[kkrk gA ftul miHkkDrk dk leku lUrf"V feyrh gA ,d mnklhurk oØ ij fLFkr lHkh l;kxk l miHkkDrk dk leku lUrf"V feyrh g] blfy, og bu l;kxk d puko d ifr mnklhu jgrk gA vFkkr ou bu lHkh l;kxk dk leku egRo nrk gA mUg ,d gh J.kh e j[krk gA

fofHkUu vFk'kkfL=;k u mnklhurk oØ dh fuEu :i l ifjHkkf"kr fd;k g &

g.Mjlu ,o D;k.MV d vulkj] ^^oLrvk d ,lh lHkh l;kx] ftul miHkkDrk dk lUrf"V dk leku Lrj iklr gkrk g] d fcUn&ekx l ,d mnklhurk oØ dk fuek.k gkrk gA**

ckfYMx d vulkj] ^^leku vujkx n'kku okyh j[kk, mnklhurk oØ dgykrh g] D;kfd o oLrvk d ,l l;kxk dk crkrh g tk ,d&nlj l u rk vPN gkr g vkj u cjA**

ik- ,-,y- e;l d vulkj] ^^rVLFkrk rkfydk og rkfydk g tk oLrvk d ,l fofHkUu l;kxk dk crkrh g ftul fd fdlh 0;fDr dk leku lUrf"V iklr gkrh gA ;fn bl rVLFkrk rkfydk dk ,d j[kk d :i e fn[kk;k tk, rk ge rVLFkrk oØ iklr gkrk gA**

ik- t-d- bLFke d vulkj] ^^;g oLrvk dh ek=kvk d mu l;kxk dk fcUn iFk g ftld chp 0;fDr rVLFk jgrk g vkj blfy, bl rVLFkr oØ dgr gA**

mijkDr ifjHkk"kkvk d vk/kkj ij ge dg ldr g fd bu oØk mnklhurk oØ blfy, dgr g D;kfd ; fofHkUu odfYid p;uk d ifr miHkkDrk mnklhurk jgrk gA ; fofHkUu odfYid l;kx leku lUrf"V dk fn[kkr gA

6-3 mnklhurk rkfydk (Indifferance Sehedule)

mnlhurk vulph ;k rkfydk l vk'k; nk oLrvk d mu fofHkUu l;kxk dk crkrh g ftll miHkkDrk dk leku lUrf"V feyrh gA

lh-vkj- eddkuy rFkk ,p-lh- xlrk d vulkj] ^^,d mnklhurk vulph flQ nk oLrvk] mnkgj.k d fy, ^v* vkj ^c* d mu fofHkUu l;kxk dk n'kkrh g ftul dy mi;kfxrk dk leku Lrj fdlh miHkkDrk dk iklr gkrk gA bl ge fuEu rkfydk }kjk le>k ldr g &

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

rkfydk 6-1
mnklhurk rkfydk

oLrvk d l;kx	oLr X ¼vke½	oLr Y ¼vukj½
A	1	25
B	2	20
C	3	16
D	4	13
E	5	11

mijkDr mnklhurk lkj.kh l Li"V g ikjEHk e miHkkDrk dk A l;kx ij vke dh 1 bdkb rFkk vukj dh 25 bdkb;k l ftruh mi;kfxrk feyrh g] mruh gh B l;kx e vke dh 2 rFkk vukj dh 20 bdkb;k l feyxhA mruh gh ml C l;kx ij lrf"V feyxhA t lk fd lkj.kh l Li"V g fd miHkkDrk dk vke dh 1 vfrfjDr bdkb ikIr dju d fy, A l;kx l B l;kx ij vku d fy, ml vukj dh 5 bdkb;k NkMuh iMxhA b ld ckn og vke dh 1 vfrfjDr bdkb ikIr dju d fy, vukj dh /khj&/khj de ek=k nu d fy, r;kj gkxkA vFkkr t l&t l vke dh ek=k c<xh ol&ol og vukj dh de ek=k ndj vf/kd bdkb;k ikIr djuk pkgrk gA miHkkDrk d 0;ogkj e bl rjg dh iofÙk dk dkj.k lhekUr mi;kfxrk âkl fu;e gA

mijkDr rkfydk nk oLrvk d ¼X rFkk Y½ , l fofHkUu l;kx dk crkrh g ftul miHkkDrk dk leku lUrf"V feyrh gA vr% og bu l;kxk d ifr mnklhu g] D;kfd ml bu ikpk e l dkb Hkh l;kx fey tk, mldh lUrf"V lHkh Lrj ij leku gkxhA

6-4 j[kkfp=k }kjk Li"Vhdj.k

tc mnklhurk rkfydk j[kkfp= }kjk fn[kk;k tkrk g rk mnklhurk oØ dgr gA nlj 'kCnk e mnklhurk oØ ,d rVLFkrk leg dk j[kkfp=h; iLrfrdj.k gA ;g nk oLrvk d mu fofHkUu l;kxk dk idV djrh g ftud chp miHkkDrk rVLFk gkrk gA iR;d l;kx lUrf"V dk leku Lrj inku djr gA rkfydk 6-1 dk j[kkfp= 6-1 }kjk Li"V fd;k tk jgk g &

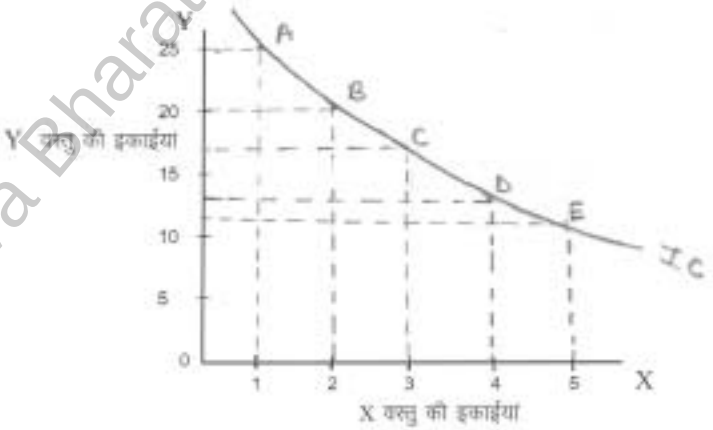

रेखाचित्र – 6.1

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

tlk fd fp= }kjk Hkh Li"V g fd OX v{k ij X oLr rFkk OY v{k ij Y oLr dk fn[kk;k x;k gA A, B, C, D, E, fcUn X rFkk Y oLr d fofHkUu l;kxk dk 0;Dr djr gA A fcUn ij 1 X rFkk 25 Y l ftruh lUrf"V feyrh g mruh gh ml B fcUn ij 2X rFkk 20Y l ikIr gkrh gA D;kfd ml fcUn ij vku d fy, X dh 1 bdkb c<ku d fy, Y dh 5 bkdb;k NkMuh gkxhA C fcUn ij 3X+16Y] D fcUn ij 4X+13Y,] E fcUn 5X+11Y lHkh fcUn leku lUrk"k inku djr gA bu fcUnvk dk feyku okyh j[kk IC [khph tk ldrh gA bl j[kk ij ftru fcUn g o X rFkk Y oLr d mu lHkh l;kxk dk 0;Dr djr g ftud ifr miHkkDrk rVLFk jgrk gA vr% bu fcUnvk d fcUn&iFk dk gh mnklhurk oØ dgk tkrk gA bl leku mi;kfxrk oØ (Isoutility Curve) Hkh dgr gA

6-5 mnklhurk ekufp= (Indifference Map)

mnklhurk oØ ekufp= l vk'k; ,l j[kkfp= g tk ,d l vf/kd mnklhurk oØk dk inf'kr djrk g] vFkkr tc cgr l mnklhurk oØk dk] tk miHkkDrk fo'k"k d fy, lUrf"V d fofHkUu Lrjk dk crkr g] ,d gh fp= e fn[kk;k tkrk g ml mnklhurk ekufp= dgr gA ,d ekufp= e ,d nk; rjQ dk mnlhurk oØ ck; rjQ d mnklhurk oØ l Åp lUrf"V Lrj dk 0;Dr djrk gA D;kfd nk;h rjQ d mnlhurk oØ dk iR;d fcUn nkuk oLrvk dh vf/kd ek=kvk d l;kx l cuk gvk gA

mnklhurk oØ lUrf"V d ,d fuf'pr Lrj dk crkrk gA ;fn miHkkDrk dk ikIr gku oky lUrf"V e ifjoru gkrk g rk mnklhurk oØ dh fLFkfr e ifjoru gkxkA ,lh n'kk e og viuh fLFkfr l mnklhurk oØ d nk; ;k ck; LFkkukUrfjr gkxkA bl idkj fofHkUu lUrf"V Lrjk d lpd fofHkUu mnklhurk oØk l feydj ¼fufer½ fp= dk mnklhurk fp= dgr gA ljy 'kCnk e dg ldr g fd fHkUu&fHkUu lUrf"V Lrjk dk crku oky fofHkUu mnklhurk oØk dk leg mnklhurk ekufp= dgykrk gA bl fuEu j[kkfp= }kjk fn[kk ldr g &

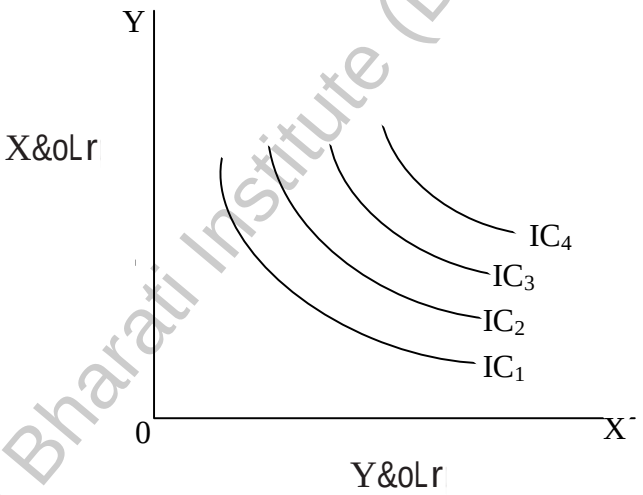

j[kkfp= & 6-2

tlk fd fp= }kjk Li"V g IC_2 oØ IC_1 l Åij g] blfy, IC_2 ij lUrf"V dk Lrj dh vi{kk vf/kd gkxkA blh rjg IC_3 dk lUrf"V Lrj IC_2 dh vi{kk vf/kd gkxkA IC_4 dk lokf/kd gkxkA ge fp= dk n[kdj dg ld ldr fd Åpk mnklhurk oØ uhp mnklhurk oØ ij lUrf"V dk Lrj U;ure gkrk g vkj tl&tl ge ey fcUn l nj gkr tk;x gekjk lUrf"V dk Lrj c<rk tk,xkA

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

6-6 lhekUr ifrLFkkiu nj (Marginal Rate of Subsitution-(MRS))

ifrLFkkiu dh lhekUr nj mnklhurk oØ fo'y"k.k dk ,d egRoi.k midj.k g tk mnklhurk oØ fo'y"k.k e ogh dk; djrk g tk ek'ky d mi;kfxrk fo'y"k.k e lhekUr mi;kfxrk dh /kkj.kk djrh gA bl idkj ifrLFkkiu dh nj nk oLrvk d chp fofue; nj d vuikr dk n'kkrh gA ljy 'kCnk e ge dg ldr g fd ;g nj crkrh g fd ,d oLr d LFkku ij nljh oLr dh fdruh ek=k ifrLFkkfir dh tk, rkfd miHkkDrk viu lUrk"k dk ionÙk cuk; j[k ldA

ifrLFkkiu dh lhekUr nj ,d fofue; vuikr g tk ;g crkrh g fd tc miHkkDrk d ikl nk oLr, gk rk og ,d oLr d LFkku ij nljh oLr dk fdl nj ij NkMu vFkok yu d fy, r;kj gkrk g fd ft ll mll mldh dy lUrf"V e dkb ifjoru u gkA

y¶Vfop d vulkj] ^^X dh Y d fy, lhekUr ifrLFkkiu nj (MRSxy) oLr dh og ek=k g ft ldk] X dh iR;d vfrfjDr bdkb dk ikIr dju d fy, miHkkDrk R;kx dju dk rRij gA**

bl idkj ge dg ldr g fd lUrf"V dk fLFkj j[kr g, ,d oLr dh ek=k c<ku ij nljh oLr dk ?kVku dh nj lhekUr ifrLFkkiu nj dgykrh gA bl fuEu rkfydk d ek/;e l Li"V fd;k tk ldrk g &

rkfydk 6-2

mnklhurk rkfydk rFkk lhekUr ifrLFkkiu nj

oLrvk d l;kx	oLr X ¼vke½	oLr X ¼vukj½	X dh Y d fy, lhekUr ifrLFkkiu nj
A	1	25	-
B	2	20	5:1
C	3	16	4:1
D	4	13	3:1
E	5	11	2:1
F	6	10	1:1

rkfydk }kjk Li"V g fd lUrf"V dk leku Lrj ij cuk; j[ku d fy, Y oLr dh og ek=k] tk X oLr dh ,d vfrfjDr bdkb ikIr dju d fy,] R;kx u dk rRij jgrk g] X dh Y d fy, lhekUr ifrLFkkiu nj dgyk;xhA

mi;Dr lkj.kh e nk oLr, vke o vukj d fofHkUu l;kx fn[kk; x; gA iR;d l;kx miHkkDrk dk leku lUrf"V inku djrk gA oLr X dh ifr bdkb of) d fy, miHkkDrk Y dh vi{kkdr de bdkb;k R;kxu dk r;kj gkrk gA NB l;kx e MRS ?kV dj 1¼1 jg tkrh gA iFke l;kx l NB l;kx rd LI"V g fd X dh Y d fy, lhekUr ifrLFkkiu nj ?kV jgh gA bl âkleku lhekUr ifrLFkkiu nj (Diminising Marginal Rate of Subsititution) dgk tkrk gA lhekUr ifrLFkkiu nj rVLFkrk oØ d <ky (Slope) dk crkrh gA bl ge fp= d }kjk Hkh Li"V dj ldr g &

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

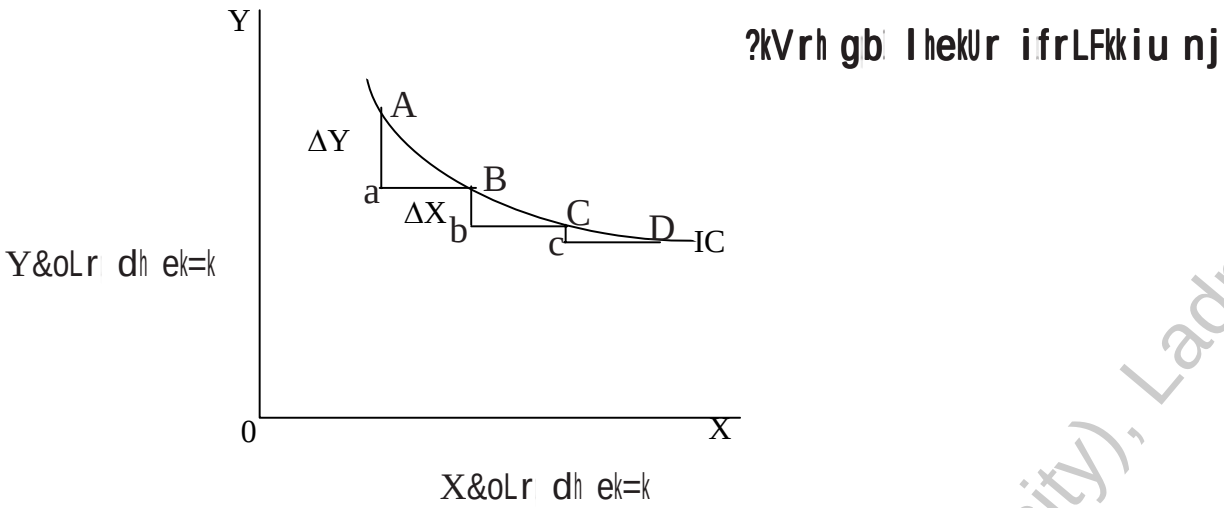

j[kkfp= & 6-3

fp= e OX j[kk ij vke dh ek=k OY ij vukj dh ek=k fn[kkb xb gA fp= l Li"V g fd rVLFkrk oØ IC ij fLFkr nk l;kx A rFkk B fn[kk; x; gA nkuk l;kx ,d gh mnklhurk ij gku l leku lUrf"V inku djr gA miHkkDrk tc fcUn A l B rd igpu d fy, oLr X dh ÄX bdkb iklr dju d fy, oLr Y dh ÄY bdkb;k dk ifjR;kx dj jgk gA bl idkj YoLr dh deh dk ÄY rFkk XoLr dh of) ÄX }kjk fn[kk;k tk ldrk gA nlj 'kCnk e X dh Y d fy, lhekUr ifrLFkkiu nj =-ÄY:ÄX vFkkr

$$MRSxy = \frac{-\Delta Y}{\Delta X}$$

fp= d vulkj

$$AB = BC = CD$$

$$Aa > Bb > Cc$$

Li"V g X oLr dh Y oLr d fy, lhekUr ifrLFkkiu nj ?kVrh gb gkrh gA nlj 'kCnk e tc miHkkDrk mnklhurk oØ ij ck; l nk; uhp dh vkj pyrk g rc MRS ?kVrh gb gkrh gA ;g lno _.kkRed gkrh gA ?kVrh ;k _.kkRed gku d nk dkj.k g &

1- iR;d miHkkx d ckn vfrfjDr bdkb ?kVrk gvk egRo inku djrh gA

2- oLr, ,d nlj dh vi.k LFkkukiu gkrh g ft ld dkj.k ,d oLr dh ek=k e of) nljh oLr d lhekUr egRo dk c<k nrh gA

6-7 mnklhurk oØk dh fo'k"krk, (Characteristics of Indifference Curves)

1- mnklhurk oØ ij fLFkr lHkh fcUn leku lUrf"V dk inku djr g %

t lk geu igy crk;k fd mnklhurk oØ ij fLFkr iR;d fcUn leku lUrf"V dk crkrk gA bl ge fuEu fp= }kjk Li"V dj ldr g &

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

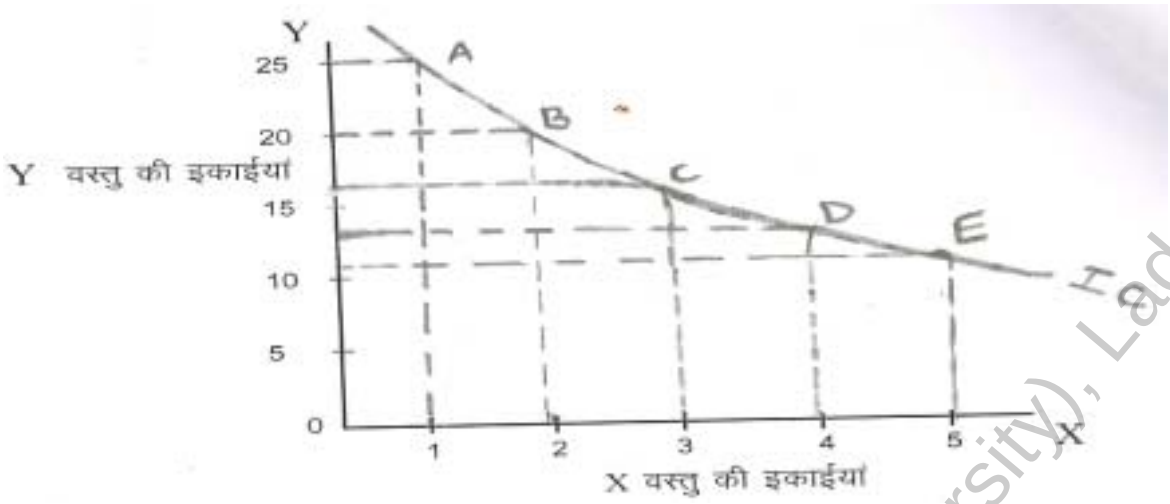

j[kkfp= & 6-4

tlkfd fp= l Li"V g IC_1 ij A, B, C, D rFkk E fcUn fn[kk; x; g ftu ij miHkkDrk dk leku lUrf"V feyrh gA

2- Åpk mnklhurk oØ lno vf/kd lUrf"V inku djrk g\

fdlh mnklhurk oØ d nk;h rjQ d ¼Åp½ lHkh mnklhurk oØ mldh vi{kk lUrf"V d Åp Lrj dk crkr gA D;kfd o nk oLrvk d J"B l;kxk dk 0;Dr djr gA vFkkr Åp mnklhurk oØ ij nkuk oLrvk dh vf/kd ek=k feyu d dkj.k miHkkDrk Åp mnklhurk oØ ij pyk tkrk gA bl fp= }kjk Li"V fd;k tk ldrk g &

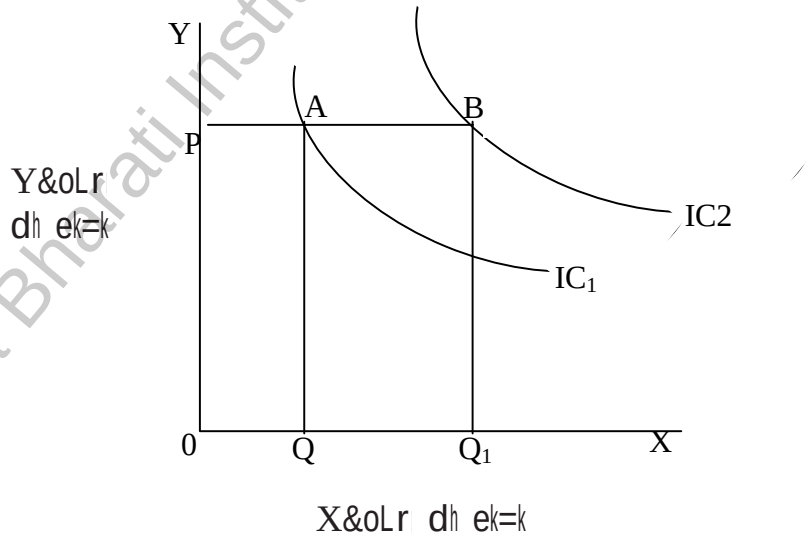

j[kkfp= & 6-5

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

fp= }kjk Li"V g fd l;kx A IC_1 ij fLFkr g tgk miHkkDrk X oLr dh OQ rFkk Y oLr dh OP ek=k miHkkx dj jgk g tcfd B fcUn IC_2 ij fLFkr g tgk miHkkDrk X dh OQ_1 ek=k d lkFk Y oLr OP ek=k dk i;kx dj jgk gA vFkkr &

IC_1 ij fLFkr A fcUn ij OQ + OP

IC_2 ij fLFkr B fcUn ij OQ_1 + OP

fcUn B ij miHkkDrk oLr Y dh ek=k dk fLFkj j[kr g, X oLr ek=k e of) dj jgk gA fcUn B ij X oLr dh vf/kd ek=k i;kx dju d dkj.k] tcfd Y dh ek=k nkuk fcUnvk ij fLFkj g] miHkkDrk B fcUn ij A dh vi{kk vf/kd lUrf"V ikIr djxkA B fcUn ,d Åp mnklhurk oØ ij g blfy, ;g dgk tk ldrk g fd Åpk mnklhurk oØ Åp lUrf"V Lrj dk crkrk gA

3- mnklhurk oØ Åij l uhp nk;h vkj fxjrk gvk gkrk g ¼

; ge'kk Åij l uhp nk;h vkj fxjrk gvk gkrk gA leku lUrf"V Lrj ij j[ku d fy, ;g vko';d g fd ,d oLr dh ek=k e of) dh tk, rk fuf'pr : i l nljh oLr dh ek=k e deh dh tk,] vU;Fkk nk l;kx leku lUrf"V oky ugh gk ldrA blfy, mnklhurk oØ dk <ky lno _.kkRed gkrk gA mnklhurk oØ bl fo'k"krk dk Li"V dju d fy, bld foifjr vkdfr oky mnklhurk oØ yr g &

❋ fLFkfr I - uhp l Åij dh rjQ nk;h vkj p<rk gvk gk ¼

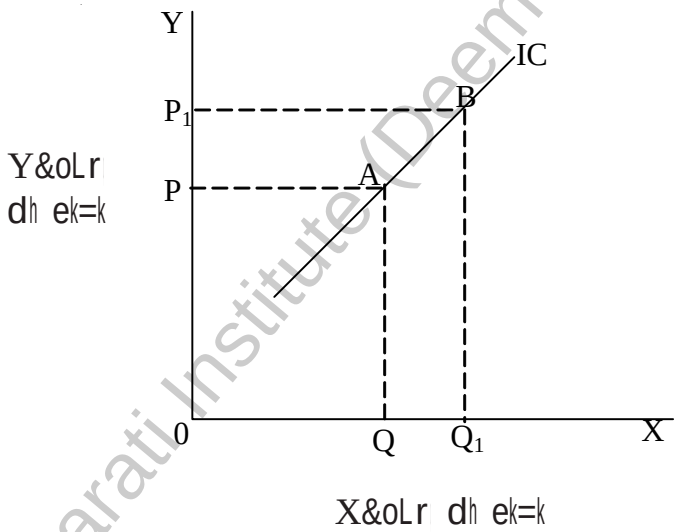

j[kkfp= & 6-6

,lh fLFkfr e A fcUn ij OQ + OP ek=k miHkkx dj jgk g tcfd B fcUn ij OQ_1 + OP_1 dk miHkkx dj jgk g fp= }kjk Li"V g fd miHkkDrk fcUn B ij A dh ryuk e nkuk gh oLrvk dk vf/kd miHkkx dj jgk gA fuf'pr : lk l ml B fcUn ij vf/kd lUrf"V feyxhA vr% mnklhurk oØ dk iR;d fcUn leku lUrf"V ugh n jgk g tk fd mnlhurk oØ dh ekU;rk d foifjr gA vr% mnklhurk oØ ck; l nk; Åij p<rk ugh gk ldrkA

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

❋ fLFkfr II% ;fn mnklhurk oØ OY d yEcor gkrk g%

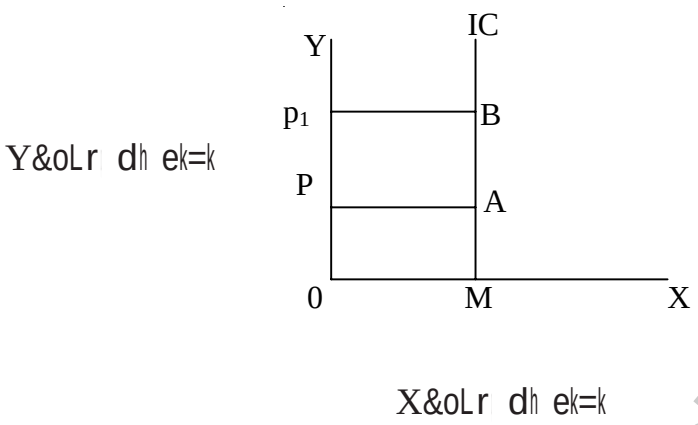

j[kkfp= & 6-7

fp= e ArFkk B fcUn ij miHkkDrk dk leku lUrf"V ugh gk jghA B fcUn ij miHkkDrk Y oLr dh vf/kd ek=k miHkkx dj jgk tcfd oLr dh ek=k fLFkj gA vr% mnlhurk oØ OY v{k d lekUrj ugh gk ldrkA D;kfd ,lh voLFkk e lUrf"V Lrj e ifjoru gkxkA tcfd mnklhurk oØ dk iR;d fcUn leku lUrf"V nrk g vyx&vyx ughA vr% mnklhurk oØ dh vkdfr dHkh Hkh yEcor ugh gk ldrhA

❋ fLFkfr III% ;fn mnklhurk oØ OX d lekukUrj gk%

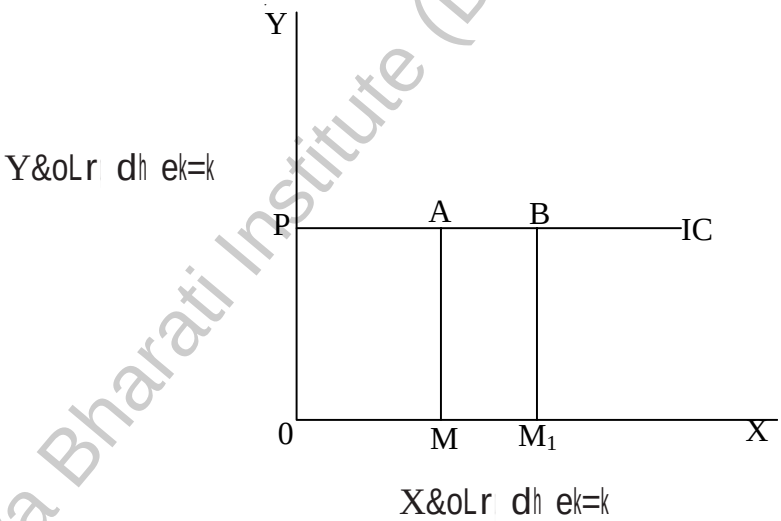

j[kkfp= & 6-8

fp= l Li"V g fd miHkkDrk B fcUn ij A dh ryuk e X dh vf/kd ek=k i;kx dj jgk g tcfd Y dh ek=k fLFkj g tk mnklhurk oØ dh ekU;rk d foifjr gA vr% mnklhurk oØ O-X v{k d lekUrj Hkh ugh gk ldrkA tk fd nh gb fuf'pr vk; e lHko ugh gA

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

mijkDr rhuk fLFkfr;k gh ekU;rk d foifjr gA

fu"d"k :i e ge dg ldr g fd tc Hkh miHkkDrk oLr dh ek=k c<krk g rk ml YoLr dh ek=k dk NkMuk gh iMxk rk gh mnlhurk oØ dk <ky Åij l uhp nk;h vkj >drk gvk gkxkA

4- mnklhurk oØ dHkh Hkh ,d nlj dk ugh dkVr

nk mnklhurk oØ nk oLrvk d fofHkUu l;kxk l iklr vyx&vyx lUrf"V dk crkr gA vxj o ,d&nlj dk dkVr g rk ekU;rk Lor% gh lekIr gk tkrh g D;kfd Åpk mnklhurk oØ Åph lUrf"V d Lrj dk crkrk gA nk mnklhurk oØk d dkVu d fcUn ij nkuk leku lUrf"V dk crkr g tk fd vlEHko g bl ge fp= }kjk Li"V dk ldr g &

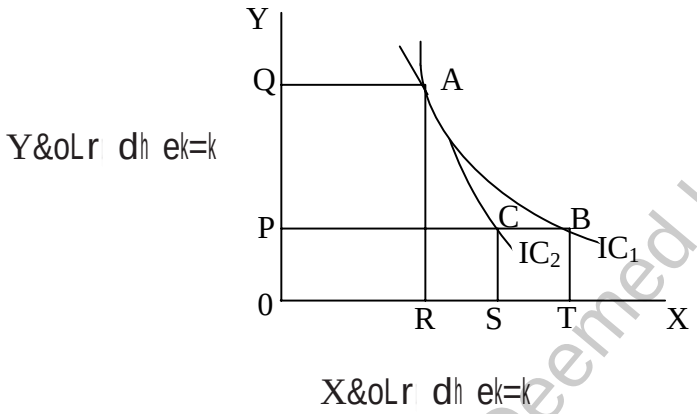

j[kkfp= & 6-9

tlk fd fp= }kjk Li"V g fd ;fn mnklhurk oØ IC_1] rFkk IC_2 nkuk A fcUn ij dkV rk A fcUn ij IC_1 rFkk IC_2 nkuk mnklhurk oØk l leku lUrf"V feyrh gA yfdu ;g vlEHko g D;kfd mnklhurk oØ IC_2, IC_1, dh vi{kk vf/kd lUrf"V dk crkrk g OT > OS vr% miHkkDrk dk B fcUn ij vf/kd lUrf"V fey jgh gA fdUr fp= d vulkj OT rFkk OS nfj;k cjkcj ugh gk ldrhA vr% ;g dgk tk ldrk g fd nk mnklhurk oØ ijLij ,d nlj dk ugh dkV ldrA

- **xf.krh; :i e**

IC ij fLFkfr A rFkk B fcUn ij = OR + OQ = OT + OP

IC_2 ij fLFkfr A rFkk C fcUn ij = OR + OQ = OS + OP

lØkfedrk d fl)kUr d vulkj miHkkDrk dk l;kx B rFkk C nkuk l gh leku lUrf"V gkuh pkfg,A

B rFkk C fcUn ij OT + ØP = OS+ØP

vr% OT = OS gkuk pkfg,A

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

fdUr ;gk OT = OS ugh gA

OT > OS gA

vr% miHkkDrk dk B fcUn ij vf/kd lUrf"V fey jgh gA

5- mnklhurk oØ v{kk dk Li'k ugh djr %

mnklhurk oØ bl ekU;rk ij vk/kkfjr g fd miHkkDrk nk oLrvk d ,d l;kx dk purk gA vxj Li'k djrk g rk bldk vFk gkxk fd nk oLr l;kx e ,d oLr dk miHkkx 'kU; g nljh oLr vR;f/kd ek=k e yh xb g tk fd 0;ogkfjd ugh gA bl fp= }kjk Li"V dj ldr g &

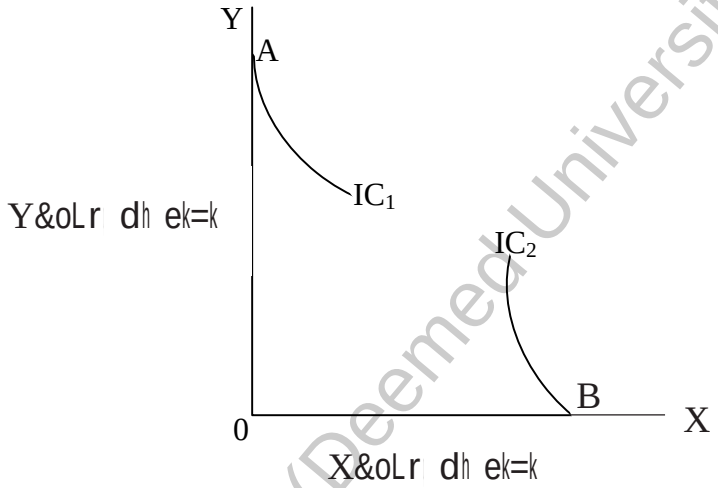

j[kkfp= & 6-10

fp= e Li"V :i l nk mnklhurk oØ IC_1 rFkk IC_2 fn[kk; x; gA mnklhurk oØ IC_1, Y v{k dk rFkk IC_2 X v{k dk Lk'k djrk gA IC_1 d fcUn A ij Y oLr dk miHkkx 'kU; g tcfd IC_2 d B fcUn ij X oLr dk miHkkx 'kU; g tk mnklhurk oØ d fy, vekU; gA ,lh j[kk, gekj mnklhurk oØk dh bl /kkj.kk d fojk/kh g fd ;k vf/kd oLrvk d lg;kx dk [kjhnrk gA Li"V g fd mnklhurk oØ v{kk dk Li'k ugh djrA

6- mnklhurk oØ ey fcUn dh vkj mUurknj (Convex) gkrk g %

mnklhurk oØ doy Åij l uhp dk nk;h vkj gh ugh >dr g] cfYd ey fcUn d mUurknj Hkh gkr gA ; blfy, mUurknj gkr g D;kd ?kVrh gb lhekUr ifrLFkkiu nj d fl)kUr d ykx gku d dkj.k gkr gA ,d mnklhurk oØ ij miHkkDrk X oLr dh ek=k e iR;d of) d fy, Y oLr dh ?kVrh ek=k dk R;kx dju d fy, r;kj jgrk gA bl fp= }kjk Li"V fd;k x;k g &

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

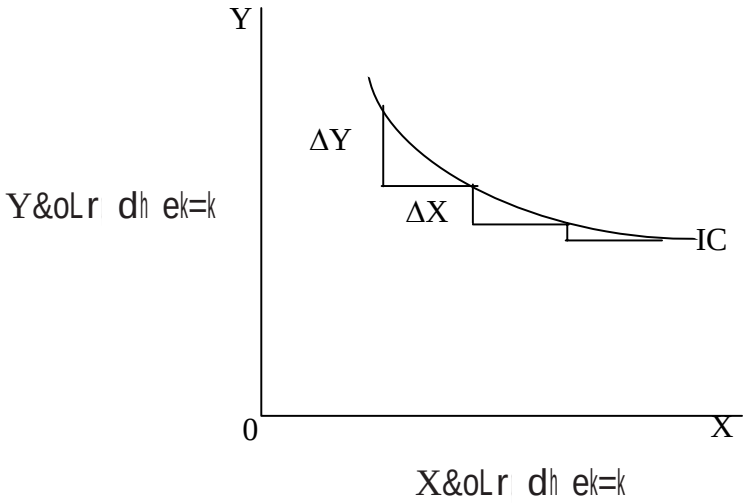

j[kkfp= & 6-11

fp= }kjk Li"V g & ble XoLr dh leku of) d fy, miHkkDrk YoLr dh ?kVrh ek=kvk dk R;kx dj jgk gA ÄY oLr Ye deh rFkk ÄX oLr X dh ek=k e of) dk crkrk gA Y yxkrkj NkVk gkrk tkrk gA tcfd X leku :i l c< jgk gA l= :i e $MRSx = \frac{\Delta Y}{\Delta X}$

Li"V g fd mnklhurk oØ ?kVrh gb lhekUr ifrLFkkiu nj ij vk/kkfjr gA blh dkj.k mnklhurk oØ lno ey fcUn d mUurknj gh gkxkA

7- mnklhurk oØk dk lekUrj gkuk vko';d ugh %

lHkh rVLFkrk oØ ?kVrh gb lhekUr ifrLFkkiu nj dk crkr gA yfdu ?kVrh gb lhekUr ifrLFkkiu nj dk ,d leku gkuk t:jh ugh gA lkekU; :i l ;g nj vyx&vyx gk ldrh gA doy i.k LFkkukiu oLrvk e ;g nj ,d leku gk ldrh g ft ld dkj.k ,lh oLrvk d rVLFkrk oØ ijLij lekuUrj gkr gA okLrfod txr e nk oLr, i.k ifrLFkkiu ugh gkrhA nlj 'kCnk e dgk tk ldrk g fd mnklhurk oØk dh lhekUr ifrLFkkiu nj leku ugh gkrh blfy, ;g lekukUrj ugh gkr ft l fp= }kjk Li"V fd;k tk jgk g &

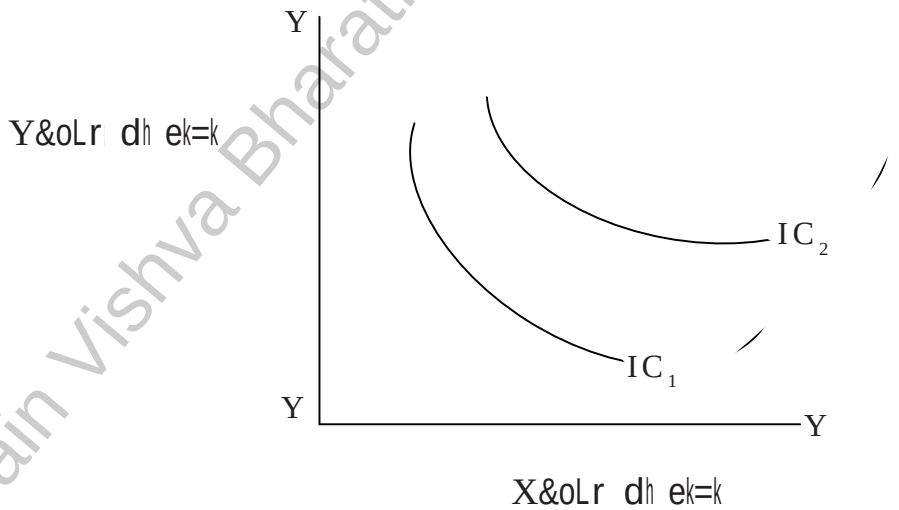

j[kkfp= & 6-12

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

8- fo'k"k ifjfLFkfr;k e mnklhurk oØ xkykdkj gk ldr gA

t-d- egrk d vulkj Hkh iR;d of) d fy, IC xkykdkj Hkh gk ldrk gA fdlh ,d oLr dh fujUrj vf/kd ek=k, i;kx dju ij ,d lhek ij miHkkDrk i.k lUrf"V d fcUn ij igp tkrk gA mld ckn Hkh ;fn og ml oLr dh vfrfjDr bdkb;k miHkkx e ykrk g rk ml mi;kfxrk ;k lUrf"V d LFkku ij vui;kfxd ;k _.kkRed mi;kfxrk iklr gku yxrh gA ,lh fLFkrh og fdlh nljh oLr dh ek=k e deh dju dh ctk; of) dju yxrk g rkfd igyh oLr l iklr _.kkRed mi;kfxrk dh {kfrifr dj ldA ,lh fLFkfr e rVLFkrk oØ xkykdkj gk ldr gA bl fuEu fp= }kjk crk;k x;k g &

Y&oLr dh ek=k

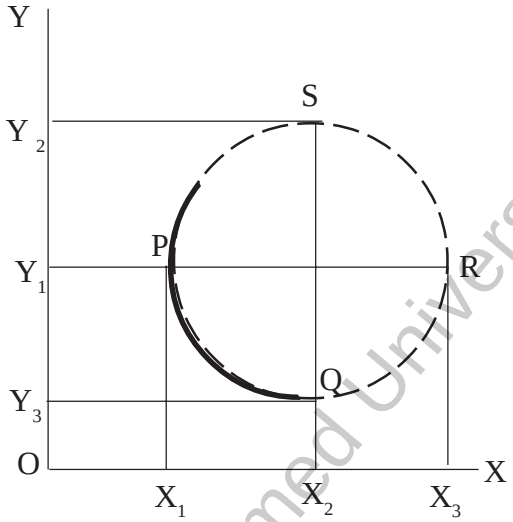

X&oLr dh ek=k

j[kkfp= & 6-13

fp= }kjk Li"V g fd mnklhurk oØ PQ l inf'kr fd;k x;k gA fcUn P rFkk Q miHkkDrk d i.k lUrf"V fcUn gA fcUn P ij X rFkk Y dh $OX_1 + OY_1$ dk i;kx dj jgk gA ;fn miHkkDrk Y oLr dh ek=k dk miHkkx c<kdj OY_1 l vf/kd djrk g rk ml dh lUrf"V e deh gkrh gA bl deh dk ijk dju d fy, og nljh oLr X dh ek=k dk miHkkx c<krk gA fcUn S ij tc miHkkDrk Y oLr dh OY_2 ek=k miHkkx djd lUrf"V e deh djrk g rk bl fcUn ij og oLr X dh ek=k c<kdj lUrf"V Hkh c<krk g rkfd ikjfEHkd lUrf"V Lrj dk fLFkj j[kk tk ldA bl idkj P l S fcUn rd mnklhurk oØ ikjfEHkd mnklhurk oØ PQ d lkFk feydj v)&oÙk ijk dj yrk gA blh idkj ij oÙk dh 0;k[;k dh tk ldrh gA

6-8 dher j[kk@ctV j[kk (Budget Line)

bl eY; vol j j[kk (Price opportunity Line)] iklr gk ldu oky l;kx dh j[kk (Line of attainable combinations) ;k ctV j[kk (Budget-Line) ;k lEHkkfor miHkkx j[kk (Consumption Possibility Line) ¼lEeylu u½ rFkk dher&vuikr j[kk (Price Ratio Line) Hkh dgk tkrk gA

oLr d eY; rFkk miHkkDrk dh vk; dk 0;Dr dju okyh j[kk ctV j[kk dgykrh gA dher j[kk nk oLrvk d (X rFkk Y) d mu fofHkUu l;kxk dk crkrh g tk miHkkDrk viuh nh gb vk; rFkk fn; eY;k l [kjhn ldrk gA bl idkj ;g ,d fuf'pr vk; Lrj ij oLrvk dh nh gb dherk ij miHkkDrk dh Ø; lkeF; dk crkrh gA ;gh dkj.k g

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

fd bl l miHkkDrk dh ekfnd vk; d lkFk lkif{kr dher vuikr dk irk pyrk gA ctV j[kk tgk ,d gk miHkkDrk dh ekfnd vk; dk crkrh g rk nljh lkif{kr eY; vuikr dk crkrh gA

bl ge fuEu mnkgj.k }kjk le>k ldr g & mnkgj.k & }kjk & ekuk miHkkDrk dh vk; : i = 50 gA og nk oLrvk dk miHkkx djrk g X rFkk Y rFkk dher Øe'kk 10 :- rFkk 5 :- gA

rkfydk 6-3

oLrvk d l;kx	X oLr dh ek=k	Y oLr dh ek=k
A	5	0
S	4	2
T	3	4
U	2	6
V	1	8
B	0	10
Z	¼nh gb vk; ,o oLr dh dherk d vUrxr vikl; l;kx½	

mi;Dr lkj.kh crkrh g fd miHkkDrk viuh lEi.k vk; l A,S.T.U.V.B bR;kfn lHkh l;kx [kjhn ldrk gA ;fn miHkkDrk viuh leLr vk; X oLr ij [kp djrk g rk vf/kdre 5 bdkb;k [kjhn ldrk gA vkj ;fn Y oLr ij [kp djrk g rk Y dh vf/kdre 10 bdkb;k [kjhn ldrk gA bl fp= }kjk Li"V fd;k x;k g &

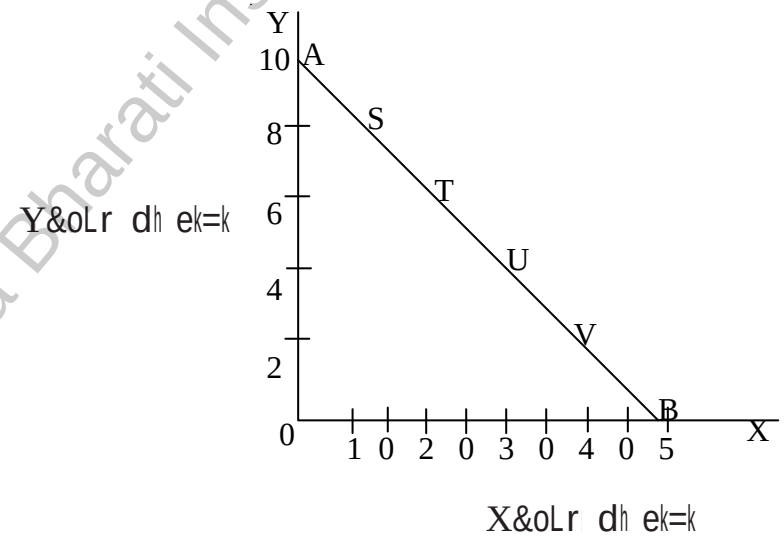

j[kkfp= & 6-14

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

fp= e ; nkuk fLFkfr;k ¼tc miHkkDrk viuh leLr vk; X oLr rFkk Y oLr ij [kp djrk gA½ A rFkk B j[kk }kjk fn[kkb xb gA bu nkuk fcUnvk dk feyku okyh j[kk gh dher j[kk gA miHkkDrk bl lhek j[kk d ckgj fdlh Hkh l;kx fcUn ij miHkkx ugh dj ldrk D;kfd og bldh ctV j[kk l cgkj gA fp= e Z fcUn dk fn[kk;k x;k g tk fd miHkkDrk dh igp l cgkj gA

bl idkj] dher j[kk nk oLrvk d ,l fofHkUu l;kxk dk fcUniFk g tk ,d miHkkDrk }kjk nh xb oLr dherk ,o miHkkx d fy, miyC/k vk; d lkFk [kjhn ldrk gA

dher j[kk dk <ky $= \frac{-OA}{OB}$ ¼_.kkRed fpUg dher j[kk d _.kkRed <ky dk lfpr djrk g½

$$= \frac{Income / Py}{Income / Px}$$

$$= \frac{I}{Py} x \frac{Px}{I}$$

AB dher j[kk dk <ky $= \frac{-Px}{Py}$

Li"V g fd dher j[kk dk <ky nk oLrvk X rFkk Y d dher vuikr dk crkrk gA tc rd oLr dh dher e ifjoru ugh gkxk PX/PY ,d fLFkj jkf'k gkxh tk dher j[kk d <ky dk vifjofrr j[krh gA

dher j[kk e fuEu ifjoru gk ldr g &

dher j[kk e fuEufyf[kr nk ckrk l ifjoru gkrk g &

1- miHkkDrk dh vk; e ifjoru rFkk

2- oLrvk d dherk e ifjru

1- miHkkDrk dh vk; e ifjoru gk rFkk oLrvk dh dher fLFkj jg

miHkkDrk dh vk; e ifjoru l dher j[kk e ifjoru vk tkrk gA ;fn oLrvk dh dher ionÙk jg vkj miHkkDrk dh vk; c< tk; rk og c<h gb vk; l igy dh ryuk e vf/kd oLr [kjhn ldxkA blfy, ub dher j[kk ijkuh dher j[kk d lekukUrj] Åij dh vkj cu tkrh gA dherk d fLFkj jgu l dher j[kk dk <ky $= \frac{-Px}{Py}$ fLFkj jgrk g blfh dkj.k dher j[kk vkil e lekukUrj gA bl fuEu j[kkfp= }kjk fn[kk;k x;k gA

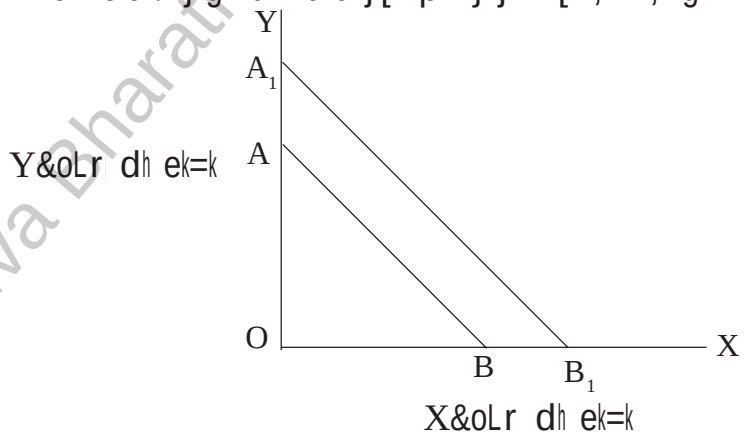

j[kkfp= & 6-15

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

fp= e ijkuh dher j[kk AB fn[kkb gb gA vc ;fn miHkkDrk dh vk; c< tkrh g rk miHkkDrk igy dh ryuk e nkuk gh oLr, vf/kd ek=k e Ø; ldrk gA vc dher j[kk c<u ij ifjofrr gkdj nkb vkj A_1 B_1 gk tk,xhA

fu"d"k fudyk g fd

;fn dher fLFkj jgrh g vkj doy miHkkDrk dh vk;

cnyrh g rk ub ctV j[kk ey j[kk d lekukUrj gkxhA

2- ;fn vk; rFkk Y oLr dh dher (Py) fLFkj jg rFkk X oLr dh dher Px e ifjoru

;fn miHkkDrk dh vk; rFkk Y oLr dh dher e dkb ifjoru ugh vkrk ijUr X oLr dh dher cny tkrh g rk dher j[kk dk <ky Hkh cny tk,xkA ;fn X oLr dh dher de gk tkrh g rk dher j[kk dk <ky Hkh de gk tk,xkA vxj X oLr dh dher c< tkrh g rk dher j[kk dk <ky Hkh c< tk,xkA bl ge fuEu fp= }kjk Li"V dj ldr g &

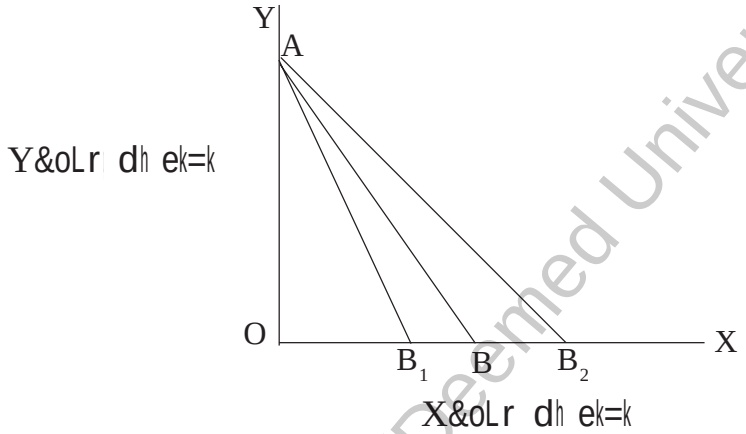

j[kkfp= & 6-16

fp= e ikjfEHkd dher j[kk AB nh gb gA ;fn X oLr dh dher e of) gk xb rc miHkkDrk nh gb vk; l oLr X dh de bdkb;k [kjhnxk vFkkr dher j[kk ifjofrr gk dj AB] gk tk,xhA

bl d foifjr ;fn oLr X dh dher e deh gkrh g rk miHkkDrk nh gb vk; l oLr X dh vf/kd bdkb;k [kjhnxk vFkkr dher j[kk cny dj AB_2 gk tk,xhA bl idkj vU; ckr leku jgu ij X oLr dh dher ?kVu dh n'kk e dher j[kk d OX v{k d ey fcUn l nj gVxk rFkk dher c<u dh n'kk e ey fcUn dh vkj [khldxkA

3- ;fn vk; rFkk X oLr dh dher (Px) fLFkj gk rFkk (Py) oLr dh dher (Py) e ifjoru gk

;gk miHkkDrk dh vk; rFkk X oLr dh dher e dkb ifjoru ugh vkrk ijUr Y oLr dh dher cny tkrh rk dher j[kk dk <ky Hkh cny tk,xkA bl fp= }kjk Li"V fd;k x;k g &

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

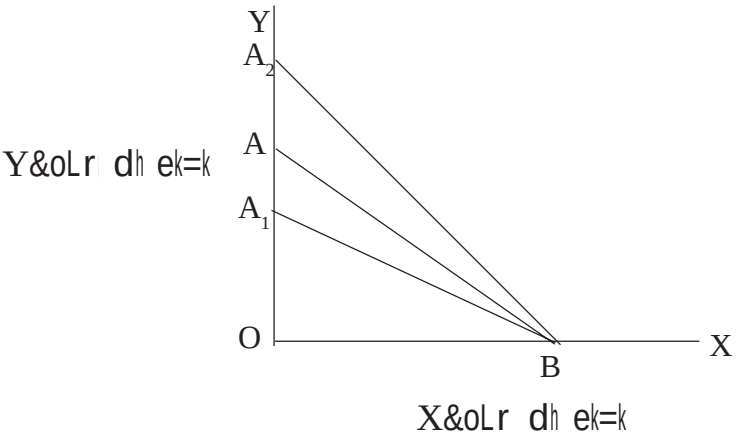

j[kkfp= & 6-17

tlkfd fp= }kjk Li"V g fd ikjEHk e dher j[kk AB gA j[kk dk <ky vk; rFkk Px dh dher fLFkj jgu ij YoLr dh dher e of) gku ij og miHkkDrk viuh nh gb vk; l Y dh de bdkb;k [kjhnxk rFkk dher j[kk ifjoru gkdj A_1B gk tk,xhAvr% dher j[kk uhp dh vkj ljdrh gA

bld foifjr ;fn Y oLr dh dher e deh gku l miHkkDrk viuh nh gb vk; l vf/kd ek=k e YoLr [kjhn ldxk vr% dher j[kk ifjofrr gkdj A_2B gk tk,xhA vr% Py e of) ey fcUn dh vkj rFkk Py e deh dher j[kk dk ey fcUn l nj djxhA

6-9 miHkkDrk dk lUryu (Consumer's Equilibrium)@vf/kdre lUrf"V dh fLFkfr

,d miHkkDrk lUryu dh fLFkfr e rc ekuk tkrk g tc og viuh vk; d i;kx l vf/kdre lUrf"V ikIr djrk gA bl fLFkfr e fdlh Hkh ifjoru l mldh dy lUrf"V de gk tk,xhA

ik- ek'ky u miHkkDrk d lkE; ;k lUryu dh fLFkfr dk le>ku d fy, le&lhekUr mi;kfxrk fu;e (Law of Equi-Marginal Utility) iLrr fd;kA ek'ky d mi;kfxrk fo'y"k.k e miHkkDrk d lUryu d fy,

$$\frac{MUx}{Px} = \frac{MUy}{Py} = \frac{MUn}{Pn}$$ gkuk ¼vkuikfrdrk dk fu;e½ vko';d gA

mnklhurk oØ fo'y"k.k d vUrxr miHkkDrk ml le; lUryu dh fLFkfr e gkrk g tc vU; ckr leku jgu ij nk oLrvk dh dherk d fLFkj jgr g, og viuh vk; dk nk oLrvk ij bl idkj l [kp djrk g fd ml vf/kdre lUrf"V ikIr gkA

mnklhurk oØ fo'y"k.k e miHkkDrk d lUryu dh fLFkfr dN ekU;rkvk ij vk/kkfjr g] tk bl idkj g &

1- miHkkDrk d ikl mnklhurk oØk dk ,d ekufp= gkrk g] tk nk oLrvk d fofHkUUu l;kxk d chp viuh ilUnxh Øe dk fn[kkrk gA

2- miHkkDrk d ikl ,d fuf'pr ekfnd vk; gkrh g ftl og nk oLrvk ij gh [kp djrk gA

3- oLrvk dh dher nh gb gkrh g tk fLFkj jgrh gA

4- oLr dh lHkh bdkb;k le:i rFkk foHkkT; gkrh gA

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

5- miHkkDrk dk le; fo'k"k e :fp o vknr fLFkj gkrh gA

6- miHkkDrk food'khy g fd miHkkDrk viu mnklhurk viu oØ fo'y"k.k e vf/kdre lUrf"V ikIr dju dk gkrk g tk viuh vk; dk nk oLrvk ij bl rjg l 0;; djrk g fd ml vf/kdre lUrf"V feyA

7- ck tkj e i.k ifr;kfxrk gA

8- miHkkDrk d puko ij dkb fu;U=.k ¼ljdkjh ifrcU/k½ u gkA

bu ekU;rkvk d lkFk miHkkDrk viuk lUryu ikIr dju dk i;kl djrk gA ftl l;kx l miHkkDrk dk vf/kdre lUrf"V ikIr gkxh ogh miHkkDrk dk lUryu gkxkA

miHkkDrk d lUryu dh 'kr

mnklhurk oØ }kjk ,d miHkkDrk ml le; lkE; e gkrk g tc fuEu 3 'kr ijh djrk g &

1- ,d miHkkDrk dk lUryu ml fcUn ij gkxk tgk dher j[kk mnklhurk oØ dk Li'k djrh gA

2- Li'k fcUn ij dher j[kk dk <ky mnklhurk oØ d <ky d cjkcj gkrk gA

3- lUryu fcUn ij lhekUr ifrLFkkiu dh nj ?kVrh gb gkuh pkfg, vFkkr mnklhurk oØ ey fcUn d mUurknj gkA

mijkDr 'krk dk fp= }kjk Li"Vhdj.k fd;k x;k g tk bl idkj g &

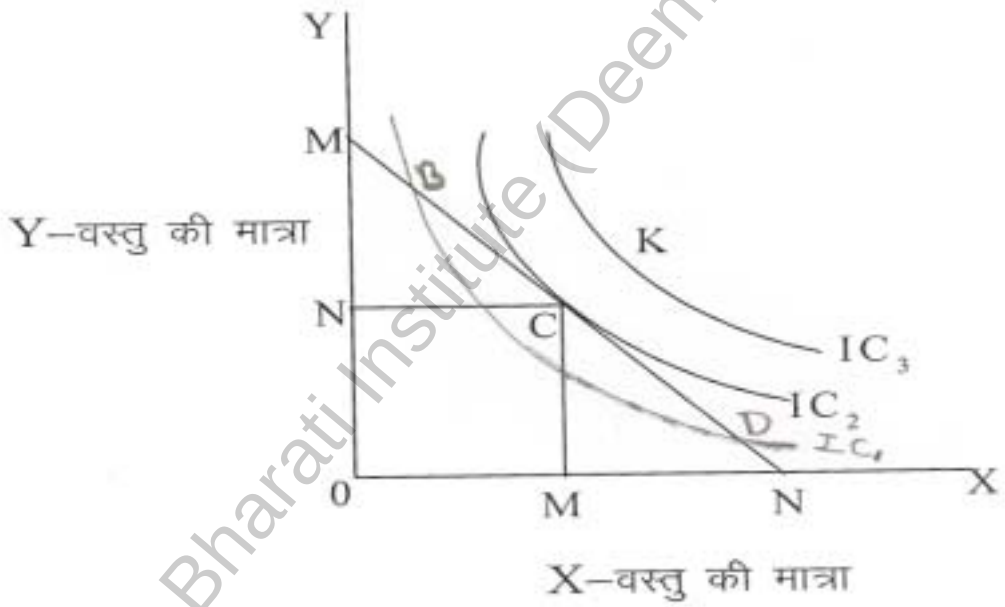

j[kkfp= & 6-18

fp= e mnlhurk oØ ekufp= iLrr fd;k x;k gA fp= e MN dher j[kk fn[kkb xb g rhu mnklhurk oØ (IC_1, IC_2, IC_3) fn[kk; xb gA MN dher j[kk oLrvk d mu lHkh l;kxk dk crkrh g ftUg miHkkDrk viuh nh gb vk; l Ø; dj ldrk gA ctV j[kk MN g bl j[kk d ckgj dkb Hkh mnklhurk oØ ml d miHkkx {k= l ckgj gA mnklhurk oØ IC_3 dk fcUn K miHkkDrk dk miHkkx fcUn ugh cu ldrk D;kfd og dher j[kk MN l ckgj gA miHkkDrk IC_1 ij fLFkr B rFkk D fcUn ij miHkkx djuk ilUn djxA blh rd ij B rFkk D dh vi{kk C dk T;knk ilUn djx D;kfd C fcUn fcUn Åp mnklhurk oØ IC_2 ij fLFkr gA fp= l Li"V g fd miHkkDrk IC_4 ij tk ugh

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

ldrk D;kfd ml Lrj rd igpu d fy, mldh vk; de jg tkrh gA lcl Åpk mnklhurk oØ ftl ij miHkkDrk dher j[kk MN d lkFk igp ldrk g] IC_2 g tk dher j[kk MN dk Li'k djrh g] tgk mldh lUrf'V vf/kdre gkrh gA ;gk igyh 'kr ijh gkrh gA vr% C fcUn ij miHkkDrk dk lUryu fcUn g tgk dher j[kk MN mnklhurk oØ IC_3 dk Li'k dj jgh gA

nljh 'kr mnklhurk oØ dk <ky dher j[kk d <ky d cjkcj gkuk pkfg, vFkkr $MRSxy = \frac{Px}{Py}$ gkrh gA ;g 'kr C fcUn ij ijh gkrh gA C fcUn mnklhurk oØ IC_2 ij fLFkr gA lkFk e ;g dher j[kk MN ij Hkh gA C fcUn ij mnklhurk oØ dk <ky (MRSxy) bl ij Mkyh xb Li'k j[kk MN d <ky d cjkcj g tk $\frac{OM}{ON} = \frac{I/Py}{I/Px} = \frac{Px}{Py}$ gA C fcUn mnklhurk oØ dk <ky $MRSxy = \frac{Px}{Py}$ rFkk dher j[kk dk <ky $\frac{Px}{Py}$ nkuk cjkcj gA

C fcUn ij & dher j[kk dk <ky = mnklhurk oØ dk <kyA

rhljh 'kr lUryu fcUn ij doy dher j[kk dk <ky rFkk mnklhurk oØ dk <ky leku gkuk gh i;kIr ugh g] cfYd miHkkDrk d LFkk;h lkE; d fy, ;g vko';d g fd mnklhurk oØ ey fcUn d mUurknj gk vFkkr X oLr dh Y oLr d fy, ifrLFkkiu nj ?kVrh gb gkuh pkfg,A

doy IC_1 rFkk IC_2 gh ;fDrlxr gA miHkkDrk dk vf/kdre lUrf'V IC_2 d Cfcun ij feyxh D;kfd ;gk rVLFkrk oØ (IC_2) ctV j[kk dk Li'k djrk gA blh C fcUn ij ctV j[kk dk <ky rFkk mnklhurk oØ dh <ky nkuk cjkcj gA vf/kdre lUrf'V d fy, miHkkDrk C fcUn ij X oLr dh OM rFkk Y oLr dh ON ek=k [kjhnxkA blh C fcUn miHkkDrk lUryu dh rhuk 'krk dk ikyu dj jgk gA

ck/k i'u

y?kjkRed i'u (Short Time Questions)

1- mnklhurk oØ fdl dgr gA
2- mnklhurk vulph dk le>kb;A
3- mnklhurk ekufp= l vki D;k le>r gA
4- mnklhurk oØ ey fcUn dh vkj mUurknj D;k gkr g\
5- ctV j[kk fdl dgr gA
6- mnklhurk oØ fo'y"k.k e miHkkDrk dh lUryu 'kr D;k gA
7- ,d miHkkDrk dk ctV 60 :i; g og oLr v rFkk oLr c [kjhn jgk gA oLr v dh dher 5 :i; ifr bdkb rFkk oLr c dh dher 10 :i; ifr bdkb gA bu vdk d vk/kkj ij ctV j[kk [khpA

fucU/kkRed i'u (Essay Time Questions)

1- mnklhurk oØ dh ifjHkk"kk nhft, vkj bldh e[; fo'k"krkvk dk mYy[k djA
2- mnklhurk oØ fdl dgr gA mnklhurk oØ dh lgk;rk l miHkkDrk&lUryu dk o.ku dhft,A mi;Dr j[kkfp= nA
3- dher j[kk dk ifjHkkf"kr dhft, dher j[kk d mu fofHkUu fLFkfr;k dh foopuk dhft, tk fd miHkkDrk dh vk; rFkk nk oLrvk v rFkk c dh dherk e ifjoru d ifj.kkeLo:i mRiUu gkrh gA

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

Section – B

उत्पादन (Production)

2.1 उत्पादन फलन :–

उत्पादन उत्पति के विभिन्न साधनों के संयोग या सहयोग के द्वारा प्राप्त किया जाता है । जिस वस्तु का उत्पादन किया जाता है उसे हम उत्पाद (output) तथा जिन साधनों के सहयोग से उत्पादन किया जाता हैं उनको हम 'पडत' (input) कहते है । किसी फर्म या उद्योग के उत्पाद (output) तथा पडतों (input) के बीच के सम्बन्ध को हम उत्पादन फलन या उत्पादन फंक्शन (Production Function) कहते है ।

उत्पादन फलन की परिभाषा (Definition of Production Function) उत्पादन फलन अथवा उत्पादन फंक्शन को समझनें के लिए निम्न परिभाषाओं को समझना आवष्यक है ।

(अ) डोमिनिक सैल्वेटोर (Dominick Salvatore) के अनुसार, '' किसी वस्तु का उत्पादन फलन वह समीकरण ग्राफ अथवा तालिका है जो किसी दिये हुए समय एवं प्रविधि के अन्तर्गत एक निष्चित मात्रा में आदाओं (input) से उत्पन्न उत्पाद (output) की मात्रा को प्रदर्शित करता है ।''

(ब) प्रो. साइटवस्की के अनुसार '' किसी भी फर्म का उत्पादन उत्पति के साधनों का फल है और यदि गणितीय रूप में रखा जाय, तो उसे उत्पादन फलन कहते हैं ।''

(स) लेफ्टविच के अनुसार ''उत्पादन फलन शब्द उस भौतिक सम्बन्ध के लिए प्रयुक्त किया जाता है जो एक फर्म के साधनों की इकाइयों (पडतों) और प्रति इकाई समयानुसार प्राप्त वस्तुओं व सेवाओं के बीच पाया जाता है ।''

उत्पादन प्रक्रिया में अनेक 'आदाओं' (Input) की आवष्यकता होती है । उन्हें भूमि, श्रम, पूंजी, प्रबन्ध व साहस के रूप में वर्गीकृत कर देने मात्र से विजय की गम्भीरता का आभास नहीं होता है। आधुनिक मशीनी युग में वस्त्र के उत्पादन के लिए अनेक आदाओं की आवष्यकता होती है । ये सभी आदाओं का प्रयोग एक दी हुई प्रविधि के अन्तर्गत होता है । यह आदा एवं प्रदा (Input and output) के बीच भौतिक या परिमाणात्मक सम्बन्ध उत्पादन फलन कहलाता है ।

उत्पादन फलन या फंक्शन को इस प्रकार से भी समझाया जा सकता है कि y फलन है x का, कहने का अभिप्राय है कि y निर्भर करता है x के कार्य पर अर्थात् y की मात्रा x की मात्रा पर निर्भर करेगी या यह कहें कि y का अपना कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं होता है , बल्कि जैसा x करता है वैसा ही y करता है । इन दोनों के सम्बनघ को हम यहॉ पर इस प्रकार से रख सकते है जैसे $y=f(x)$। उत्पादन फलन इस बात की जानकारी देता है कि एक दिये हुए तकनीकी ज्ञान और प्रबन्ध योग्यता की सहायता से उत्पादक पडतों (साधनों) के विभिन्न संयोगो से उत्पादन (Output) की अधिकतम मात्रा किस प्रकार प्राप्त कर सकता है । संक्षेप में, उत्पादन फलन उत्पादन सम्भावनाओं की सूची है । इस सम्बन्ध में सैम्युलसन (Samuelson) ने लिखा है कि ''उत्पादन फलन वह प्राविधिक सम्बन्ध है जो यह बताता हे कि पड़तों, प्रत्येक विशेष समूह द्वारा कितना उत्पादन किया जाता है, यह किसी दिये हुए प्राविधिक ज्ञान के लिए परिभाषित या सम्बन्धित होता है ।''

उत्पादन फलन दो बातों पर निर्भर करता है :–

(अ) एक फर्म के लिए दी हुई टेक्नॉलॉजी।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

(ब) साधनों की मात्रा व किस्म। कोई फर्म ज्यों ज्यों अधिक साधनों का उपयोग करती है त्यों त्यों फर्म का उत्पादन बढता है।

जब फर्म वस्तुओं का उत्पादन करती है, तब वह हमेशा एकसमान तकनीक को नहीं अपनाती है । कुछ दशाओं में वह पूंजी का प्रयोग अधिक और श्रम का प्रयोग कम करती है, जो कुछ दशाओं में पूंजी की अपेक्षा श्रम का प्रयोग अधिक करने लगती है । इस प्रकार साधनों के बीच हेराफेरी करके अधिकतम उत्पादन प्राप्त करने की चेष्टा की जाती है । दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते है कि अधिकतम कुशल तकनीक का प्रयोग करके उत्पादन को अधिकतम करने का प्रयत्न किया जाता है।

एक उत्पादन फलन को हम निम्न सूत्र की सहायता से अधिक स्पष्ट कर सकते है :–

$P = f\ (a, b, c, d \ldots n)$

यहॉ पर :–

P = कुल उत्पादन की मात्रा

f = उत्पादन फलन

a, b, c, d = उत्पति के साधन

एक फर्म कुल उत्पादन को बढ़ा सकती है, यदि वह एक दिये हुए समय में साधनों (a, b, c, d) की मात्राओं को बढ़ानें या साधनों में उचित तालमेल जोडे और उसके विपरीत भी सही सिद्ध होगा।

उपर्युक्त कथन को हम इस प्रकार से भी समझा सकते है, माना किसी कारखाने में प्रति दिन 8 घण्टा काम करने से 50 कुर्सियों का निर्माण होतो है, तो यहां उत्पादन फलन से अभिप्राय लकड़ी, वार्निश, श्रम शक्ति, रंग, यंत्र व समय की वह न्यूनतम मात्रा होगी जो 50 कुर्सियों के निर्माण के लिए प्रयुक्त की गयी है । अतः यहॉ 50 कुर्सियों को बनाने में प्रयुक्त की गयी विभिन्न मात्राऍ उत्पादन फलन कही जायेंगी ।

उत्पादन फलन की मान्यताऍ (Assumptions of Production Function) – उत्पादन फलन में निम्न बातों को मान लिया जाता` या उत्पादन फलन की निम्नलिखित मान्यताऍ है :

(अ) किसी दिये हुए समय के अन्तर्गत उत्पादन की तकनीक में किसी प्रकार का परिर्वतन नही होना चाहिए ।

(ब) यह मान लिया गया है कि कोई भी फर्म जब उत्पादन कर रही है तब वह अधिकतम कुशल तकनीक का प्रयोग करती है । जबकि फर्म के सम्बन्ध में उत्पादन व्यय दिया हुआ है ।

(स) विभिन्न उत्पादन के साधनों को छोटी छोटी इकाइयों में विभाजित किया जा सकता है ।

उदाहरण द्वारा उत्पादन फलन भी व्याख्या – उपर्युक्त मान्यताओं को ध्यान में रखते हुए हम तालिका संख्या 2.1 की सहायता से उत्पादन फलन की व्याख्या कर सकते है ।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

तालिका संख्या 2.1

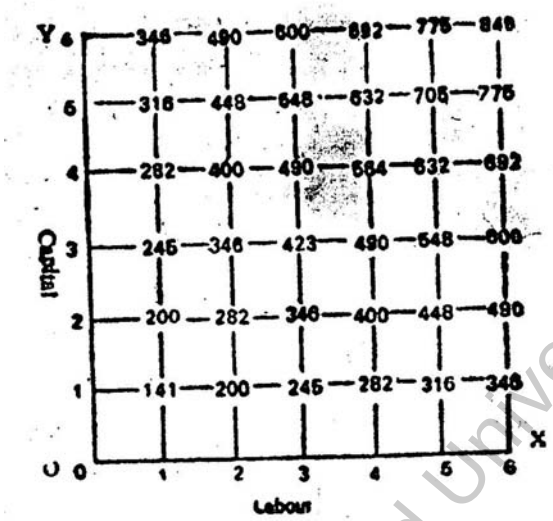

तालिका में X-axis पर श्रम की इकाइयॉ तथा Y-axis पर पूँजी की इकाइयों को दिया गया है । श्रम तथा पूँजी की कुल छःछः इकाइयॉ ली गयी है । तालिका से निम्न बात स्पष्ट होती है : (नीचे की तालिका 2.1 तालिका की सहायता से बनायी गयी है ।)

(अ) एक निष्चित समय में श्रम और पूँजी की कुछ मात्राएँ लगाकर समान उत्पादन प्राप्त किया जा सकता है जो निम्न प्रकार है :

श्रम की इकाइयॉ		पूंजी की इकाइयॉ		उत्पादन की मात्रा
1	+	6	=	346
2	+	3	=	346
3	+	2	=	346
6	+	1	=	346

तलिका को देखने से ज्ञात होता है कि साधनों के विभिन्न संयोगों से समान उत्पादन प्राप्त किया जा सकता है। इसी प्रकार श्रम और पूँजी की विभिन्न इकाइयों के प्रयोग से 490 तथा 548 इकाइयों का उत्पदन भी प्रापत किया जा सकता है ।

(ब) तालिका संख्या 2.1 से स्पष्ट है कि यदि एक साधन को स्थिर और दूसरे साधन को उतरोतर बढ़ा दिया गया हो तो सीमान्त उत्पादन घटते हुए क्रम में प्राप्त होता है । भले ही कुल उत्पादन बढ़ता है । उदाहरण के लिए, पूँजी की मात्रा को उतरोतर बढ़ाते रहने से सीमान्त उत्पादन घटता है । निम्न तालिका से इस बात स्पष्ट किया गया है :

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

श्रम की इकाइयॉ		पूंजी की इकाइयॉ		कुल उत्पादन	सीमान्त उत्पादन
1	+	1	=	141	141
1	+	2	=	200	59 उत्पति
1	+	3	=	245	45 ह्रास
1	+	4	=	282	37 नियम
1	+	5	=	316	34 के कारण
1	+	6	=	346	30

(स) तालिका संख्या 2.1 से यह स्पष्ट होता है कि यदि साधनों को स्थिर नहीं रखा जाता है बल्कि साधनों को समान अनुपात में उतरोतर बढ़ाते रहें, तो कुल उत्पादन भी उसी अनुपात में बढता है। इस स्थिति को 'पैमाने के स्थिर प्रतिफल' (Constant Returns to Scale) कहते है। ऐसी दशा में सीमान्त उत्पादन (Marginal Production) यथास्थिर रहेगा। यह बात निम्न तालिका से स्पष्ट की जा सकती है :–

श्रम की इकाइयॉ		पूंजी की इकाइयॉ		कुल उत्पादन	सीमान्त उत्पादन
1	+	1	=	141	141
2	+	2	=	282	141 उत्पति
3	+	3	=	423	141 समता
4	+	4	=	564	141 नियम के
5	+	5	=	705	141 कारण
6	+	6	=	846	141

(द) यदि उत्पति के साधनों को समान अनुपात में न बढाकर भिन्न भिन्न अनुमातों मे बढाया जाता है तो ऐसी दशा मे जो वृद्धि होती है उसे 'प्रतिस्थापन प्रतिफल' (Returns to Substitution) कहते है । इस बात को निम्न तालिका से स्पष्ट किया गया है :

श्रम की इकाइयॉ		पूंजी की इकाइयॉ		उत्पादन की मात्रा
1	+	1	=	141
2	+	2	=	346 उत्पति वृद्धि
3	+	4	=	490 नियम के
5	+	6	=	775 कारण

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

संक्षेप में , तालिका संख्या 2..1 से निम्न बातें स्पष्ट होती है :–

(अ) उत्पति ह्रास नियम ।

(ब) पैमाने का स्थिर प्रतिफल ।

(स) प्रतिस्थापन का प्रतिफल ।

इस प्रकार यह तालिका उत्पादन फलन के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण्ई बातें बताती है । उत्पादन फलन के अन्तर्गत एक फर्म उत्पादन के लिए प्राप्य अनेक तकनीकी में से सबसे कुशल तकनीक का चुनाव करके अधिकतम उत्पादन प्राप्त करने का प्रयत्न करती है । यह तभी सम्भव होगा, जबकि उत्पादन कम से कम लागत पर प्राप्त किया जा सकता है । कोई भी फर्म, श्रम और पूँजी के किस संयोग को चुनेगी यह बात उन साधनों के मूल्यों के उपर निर्भर करेगी । यदि साधनों के मूल्यों में परिवर्तन आता है तो फर्म अपने पड़त (input) अनुपात में परिवर्तन करने के लिए बाध्य होगी ।

उत्पादन फलन की विशेषताएँ

उत्पादन फलन की विशेषताओं को निम्न प्रकार से रखा जा सकता है :–

(अ) उत्पादन फलन, उत्पाद (output) और पड़त (input) के बीच का सम्बन्ध बताता है । उत्पादन के क्षैत्र में इसका विशेष योगदान है ।

(ब) उत्पादन फलन की कोई मौद्रिक विशेषता नही होती है । अर्थात् उत्पादन फलन उत्पादित वस्तु की कीमत और साधनों की कीमतों से पूर्णतया स्वतन्त्र होता है । परन्तु ये कीमतें ही एक फर्म के इस निर्णय को प्रभावित करती हैं कि वह किस वस्तु का और कितनी मात्रा में उत्पादन करेंगी।

(स) एक उत्पादन फलन किसी एक दिये हुए निष्चित समय अवधि के लिए ही होता है।

(द) एक उत्पादन फलन के अन्तर्गत साधनों को एक दूसरे के स्थान पर कम या अधिक मात्रा में प्रतिस्थपित किया जात है ।

अर्थशास्त्र के अध्ययन में हम उत्पादन फलन में उत्पादन और पड़त के दो प्रकार के सम्बन्धों पर ध्यान देते हैं जो निम्नलिखित है :

(1) यदि कुछ पडतें व साधन स्थिर रखे जाते है, और कुछ में परिवर्तन किया जाता है, तो इसे हम अल्पकालीन उत्पादन फलन भी कहते है । यदि किसी फर्म में ऐसी व्यवस्था को अपनाया जा रहा है, तो इस व्यवस्था का उत्पादन पर क्या प्रभाव पडेगा । इस बात की जानकारी ज्ञात करने के लिए उत्पति के नियमों की सहायता लेनी होगी । अर्थात उत्पति वृद्धि नियम और उत्पति ह्रास नियम हमें इस बात की जानकारी दे सकते है ।

(2) यदि सभी पडते (साधन) परिवर्तनशील हों तो इसे हम दीर्घकालीन उत्पादन फलन भी कहेंगे । इस स्थिति का अध्ययन पैमाने के प्रतिफल के अन्तर्गत किया जायेगा ।

उत्पादन फलन के प्रकार – उत्पादन फलन को दो भागों में बॉटा जा सकता है – (अ) अल्प कालीन उत्पादन फलन, तथा (ब) दीर्घकालीन उत्पादन फलन ।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

(अ) अल्प कालीन उत्पादन फलन (Short term Production Function) – जब उत्पादन के अन्य साधन स्थिर रहते हैं तथा एक साधन में परिवर्तन किया जा सकता है, तो इसे अल्पकालीन उत्पादन फलन कहा जाता है । इस स्थिति को उत्पति ह्रास नियम अथवा परिवर्तनशील अनुपातों का नियम भी कहा जाता है ।

(ब) दीर्घकालीन उत्पादन फलन (Long term Production Function) – जब उत्पादन के सभी साधन परिवर्तनशील हों, तो उस विवेचन को दीर्घकालीन उत्पादन फलन कहा जाता है । इस स्थिति को पैमाने के प्रतिफल के नियम के नाम से भी व्यक्त किया जाता है ।

अल्पकालीन एवं दीर्घकालीन उत्पादन फलन में अन्तर

सामान्यतया, अल्पकालीन एवं दीर्घकालीन उत्पादन फलन मं निम्न अन्तर पाया जाता है :–

(1) अल्पकालीन उत्पादन फलन के अन्तर्गत एक उत्पादक के पास इतना कम समय होता है कि वह एक साथ सभी साधनों में परिवर्तन नही कर सकता है अतः इस क्रिया में कुछ साधनों को स्थिर रखकर एक या एक से अधिक साधनों में ही परिवर्तन किया जाता है ।

दीर्घकालीन उत्पादन फलन के अन्तर्गत उत्पादक के पास पर्याप्त समय रहता है फलतः वह सभी साधनों में परिवर्तन करके उत्पादन को बढा अथवा घटा सकता है ।

(2) अल्पकालीन उत्पादन फलन के अन्तर्गत एक उत्पादक अपनी वस्तु की पूर्ति को केवल एक सीमा तक परिवर्तित कर सकता है, जबकि दीर्घकालीन उत्पादन फलन में पूर्ति को मॉग के अुनकूल बढ़ाया अथवा घटाया सकता है ।

(3) अल्पकालीन उत्पादन फलन में समय की कमी के कारण साधनों का आपसी संयोग अनुपात बदल जाता है, परन्तु दीर्घकालीन उत्पादन फलन में साधनों मे एक साथ समान अनुपात से वृद्धि या कमी की जाती है ।

(4) अल्पकालीन उत्पादन फलन के अन्तर्गत उत्पादन के परिवर्तनशील साधनों की कीमतें स्थिर नही रहती है, मांग एवं पूर्ति के अनुसार कीमते कम या अधिक हो सकती है । दीर्घकालीन उत्पादन फलन में उत्पादित वस्तु की कीमत एवं उत्पादन के विभिन्न साधनों की कीमतों का स्थिर मानकर चला जाता है ।

(5) अल्पकालीन उत्पादन फलन ''परिर्वतनशील अनुपातों का नियम'' है जबकि दीर्घकालीन उत्पादक फलन ''पैमानें के प्रतिफल का नियम'' है ।

(6) अल्पकालीन उत्पादन फलन वास्तविक है । इसे देखा जा सकता है, परन्तु दीर्घकालीन उत्पादन फलन को किसी नियम के रूप में नही देखा जा सकता है ।

कुछ महत्वपूर्ण उत्पादन फलन

कुछ महत्पवूर्ण उत्पादन फलन निम्नलिखित है :–

(1) स्थिर अनुपात उत्पादन फलन (Fixed proportions Production Function),

(2) परिवर्तनशील अनुपात उत्पादन फलन (Variable-proportions Production Function),

(3) रेखीय समरूप उत्पादन फलन (Linear Homogeneous Production Function), तथा

(4) कॉव डगलास उत्पादन फलन (Cobb Douglas Production Function)

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

उपर्युक्त प्रथम दो उत्पादन फलनों का अध्ययन आगे समोत्पाद वक्र विष्लेषण के अन्तर्गत किया गया है । शेष दो की व्याख्या निम्नवत् है :–

रेखीय समरूप उत्पादन फलन (Linear Homogeneous Production Function),

यदि उत्पादन के सभी साधनों में जिस अनुपात से वृद्धि की जाती है, उसी से उत्पादन बढता है, तो उसे रेखीय समरूप उत्पादन फलन कहते है । एक प्रार से उत्पादन का यह फलन पैमाने के समान प्रतिफल (constant returns to scale), के समान है । दूसरे शब्दों मे, रेखीय समरूप उत्पादन फलन को प्रथम श्रेणी का समरूप उत्पादन फलन (Homogeneous Production Function of the first degree) भी कहते है । यदि *x* तथा *y* उत्पादन के दो साधन हों, तो प्रथम श्रेणी के उत्पादन फलन को इस प्रकार लिखा जा सकता है – mP = *f* (mx, mv)

सूत्र में P = कुल उत्पादन

m = वास्तविक संख्या

इस उत्पादन फलन का यह अर्थ हुआ कि यदि *x* तथा *y* साधनों m गुनी वृद्धि की जाय तो कुल उत्पादन (P) मे m गुनी वृद्धि होगी, यही कारण है कि इस उत्पादन फलन से पैमाने के समान प्रतिफल को ज्ञात किया जाता है ।

वर्तमान समय में रेखीय समरूप उत्पादन फलन काफी लोकप्रिय हो रहा है, क्योंकि इसकी गणना आसानी से की जा सकती है तथा इसका प्रयोग विभिन्न अध्ययनों में किया जा सकता है । कम्प्यूटरों के द्वारा इसकी गणना आसानी से की जा सकती है । उत्पादन वितरण तथा आर्थिक विकास से सम्बन्धित मॉडलों में भी इसका प्रयोग किया जाता है ।

कॉब डगलास उत्पादन फलन (Cobb Douglas Production Function) :-

अर्थशास्त्रियों ने भौतिक आगतों व भौतिक उत्पादन में परिवर्तन (Changes in Physical inpus and Physical outputs) के बीच सम्बन्ध का पता लगाने के लिए वास्तविक उतपादन फलनों का अध्ययन किया जाता है । इन फलनों में से एक प्रमुख फलन प्रो. सी. डब्ल्यू. कॉब (C.W. Cobb) तथा पी. एच. डगलस (P.H. Douglas) के द्वारा प्रतिपादित किया गया है जिसे कॉब डगलास उत्पादन फलन कहा गया है । यह उत्पादन फलन अमरीका के सम्पूर्ण निर्माण उद्योग में लागू होता है, पर इस फलन का उपयोग क्षेत्र विशेष की अर्थ व्यवस्था अथवा सम्पूर्ण अर्थ व्यवस्था में किया जा सकता है । परीक्षण के तौर पर कॉब डगलास उत्पादन फलन यह बताता हे कि निर्माण उद्योग अथवा सम्पूर्ण अर्थ व्यवस्था के लिए उत्पादन फलन प्रायः रेखीय तथा समरूप होता है । अन्य शब्दों में, उतपादन फलन के क्षेत्र में पैमानें के समान या स्थिर प्रतिफल के नियम (Law of Constant Returns to Seale) की पुष्टि करता है । इसके अन्तर्गत श्रम और पूंजी दो साधनों को लिया गया है । फलन का प्रारूप निम्न समीकरण से स्पष्ट किया गया है :

Q = KlaC (1 – a)

जिसमें Q = प्रदा (output), निर्माण उत्पादन,

L = श्रम की मात्रा (Qunatity of Labour employed)

C = पूँजी की मात्रा (Qunatity of Capital employed)

K एवं a (a - 1) Positive Constants है । समीकरण में a इकाई से कम है । मान लीजिए कि अब श्रम एवं पूंजी की मात्रा में एक बराबर वृद्धि की जाती है, जिससे L (Labour) बढ़कर gh C (Captial) बढ़कर gh हो जाता है। यदि Q = 1.10 है, तो इन दोनों साधनों में 10 प्रतिशत की वृद्धि की गयी है । सपष्ट है कि उत्पति में समान दर में वृद्धि होती है । पैमाने का प्रतिफल स्थिर (constant) है ।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

उपर्युक्त व्याख्या से स्पष्ट है कि कॉब डगलास उत्पादन फलन का समीकरण रेखीय समरूप उत्पादन फलन (Linear Homogeneous Prduction Function) है अथवा पैमाने के समान प्रतिफल के नियम (Law of Constant Return to Scale) की पुष्टि करता है । कॉब डगलास उत्पादन फलन यह बताता है कि निर्माण उद्योग में 75 प्रतिशत की वृद्धि श्रम आगत (Labour Input) के कारण और शेष 25 प्रतिशत की वृद्धि पूंजी आगत (Capitla Input) के कारण है और उत्पादन में पैमाने के समान प्रतिफल का नियम लागू होता है । प्रो. डगलास (Douglas) ने स्पष्ट किया है कि यदि उत्पादन के सभी (all Input) में तिगुनी वृद्धि का दी जाय, तो उत्पान में भी तिगुनी वृद्धि होगी।

हम प्रारम्भ में यह स्पष्ट कर चुके हैं कि कॉब–डगलास उत्पादन फलन सम्पूर्ण अर्थ व्यवस्था के सम्बन्ध में लागू होता है और यह राष्ट्रीय आय में श्रम के हिस्से की स्थिरता की पुष्टि करता है ।

प्रो. कॉब और डगलास ने ऑकडों की सहायता से यह स्पष्ट किया है कि अमरीका की राष्ट्रीय आय में श्रम का योगदान 75 प्रतिशत और पूँजी का योगदान 25 प्रतिशत है ।

आलोचनाऍ (Criticism) – कॉब डगलास उत्पादन फलन की प्रमुख आलोचनाऍ निम्नलिखित है :

(1) उत्पति के सभी साधनों को नही लिया गया है – इस उत्पादन फलन की प्रमुख आलोचना यह कहकर की गयी है कि इसमें उत्पादन के लिए श्रम व पूँजी को ही लिया गया है। उत्पादन में अन्य साधनों विशेषकर कच्चे माल आदि का महत्वपूर्ण स्थान होता है, जबकि विष्लेषण में इन्हें शामिल नही किया गया है।

(2) श्रम की समरूप इकाइयॉ – कॉब डगलास उत्पादन फलन में श्रम की सभी इकाइयों को समरूप माना गया वास्तव में देखा जाए तो श्रम की सभी इकाइयॉ समरूप (homogeneous) नही होती है इनमें आकार, गुण आदि की भिन्नता होती है ।

(3) यह अध्ययन विभिन्न उद्योगों के परिवर्तन पर आधारित है – कॉब–डगलास उत्पादन फलन की आलोचना करते हूए यह कहा जाता है कि यह विभिन्न उद्योगों के परिवर्तन पर आधारित है। आलोचकों के अनुसार यदि इसमें उद्योग विशेष के विभिन्न प्लाण्टों अथवा विभिन्न फर्मो के परिर्वतन पर ध्यान दिया गया होता तो निष्कर्ष और अधिक सही होते । किसी भी उद्योग विशेष में तकनीकी अस्थिरता के कारण समस्याऍ उत्पन्न हो सकती है ।

अन्त में, यह कहा जाता है कि कॉब–डगलास उत्पादन फलन की जो थोड़ी बहुत आलोचनाऍ की गयी है, उनसे इस अध्ययन की उपयोगिता को कम नही ऑका जा सकता है । आज भी अर्थशास्त्रियों के बीच यह अध्ययन अत्यधिक लोकप्रिय बना हुआ है ।

बोध प्रश्न :–

- उत्पादन फलन की व्याख्या कीजिये। अल्पावधि तथा दिर्घावधि के उत्पादन फलन में क्या अन्तर है।
- कॉब डगलास के उत्पादन फलन को समझायें।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

2.2 उत्पत्ति के नियम

परिवर्तनशील अनुपातों का नियम :–जिस प्रकार एक उपभोक्ता सीमित साधनों से अधिक सन्तुष्टि प्राप्त करना चाहता है, ठीक उसी प्रकार से एक उत्पादक अथवा व्यवसायी अधिक से अधिक लाभ प्राप्त करने के उददेष्य से कम लागत पर अधिक उत्पादन करना चाहता है । अल्पकाल में कुछ साधनों की पूर्ति स्थिर (Fixed) तो कुछ ही परिवर्तनशील (Variable) होती है। अतः उत्पादक को विभिन्न साधनों के बीच ऐसा संयोग (Combination) स्थापित करना होता है, ताकि उसे न्यून उत्पादन लागत पर अधिकतम उत्पादन प्राप्त हो सके । इस सम्बन्ध में उत्पादक को एक दी हुई टेक्नोलोजी (given technology) में उत्पति के विभिन्न साधनों का संयोग बदलने का समय मिल जाता है । एक या एक से अधिक साधनों को स्थिर रखकर अन्य साधनों में परिवर्तन करते रहनें से उत्पादन की जो स्थिति प्राप्त होती है, उसे अर्थशास्त्र में उत्पति के नियमों (Laws of Returns) के रूप में अध्ययन किया जाता है । उत्पति के नियमों को निम्न तीन भागों में रखा जा सकता है :

(1) उत्पति ह्रास नियम (Law of Diminishing Returns)

(2) उत्पति समता नियम (Law of Constant Returns)

(3) उत्पति वृद्धि नियम (Law of Increasing Returns)

उत्पति ह्रास नियम :–

उत्पति ह्रास नियम की व्याख्या दो रूपों में की जा सकती है – (अ) प्रतिष्ठित रूप में, तथा (ब) आधुनिक रूप में।

प्रतिष्ठित रूप में उत्पति ह्रास नियम व्याख्या :–उत्पादन के इस महत्वपूर्ण नियम की व्याख्या सर्वप्रथम प्रकृतिवाद अर्थशास्त्र तुर्गो (Turgot) ने की थी। इसके बाद परम्परावादी अर्थशास्त्री, जैसे, रिकार्डो, माल्थस आदि ने लगान तथा जनसंख्या के सिद्धान्त की मान्यताओं में इस नियम की सहायता ली थी। इसके बाद उत्पति ह्रास नियम की वैज्ञानिक व्याख्या प्रो. मार्शल के द्वारा की गयी। भले ही वर्तमान समय के अर्थशास्त्रियों ने मार्शल की इस व्याख्या को त्रुटिपूर्ण बताते हुए नियम की दूसरी व्याख्या दे दी है, फिर भी मार्शल ने इस नियम की परम्परावादी समुदाय की अपेक्षा अधिक वैज्ञानिक व्याख्या की है।

परिभाषा – प्रो. मार्शल ने नियम की व्याख्या कृषि के सन्दर्भ में की है । उनके अनुसार ''यदि कृषि कला में किसी प्रकार का सुधार न हुआ हो, तो भूमि पर उपयोग की गयी पूँजी और श्रम की मात्रा में वृद्धि होने पर सामान्यतया, कुल उपज में अनुपात से कम वृद्धि होती है।''

प्रो. मार्शल की परिभाषा से स्पष्ट है कि उसने उत्पति ह्रास नियम को कृषि उत्पादन के लिए अधिक महत्वपूर्ण माना है। उसके अनुसार जब किसी भूमि के टुकड़े पर श्रम और पूँजी की इकाइयों में लगातार वृद्धि की जाती है, तो एक बिन्दु के बाद उत्पादन की मात्रा उस अनुपात में नही बढ़ती है जिस अनुपात में कि साधनों को बढ़ाया गया है। संक्षेप में, सीमान्त उत्पादन पहले की अपेक्षा घटता जाता है । इसलिए इस नियम को सीमान्त उपज घटाने का नियम भी कहते है । प्रतिदिन का अनुभव बताता है कि हम जिस अनुपात में अपने साधनों का लगाते हैं हमें उसी अनुपात में उत्पादन प्रायः नही मिल पाता है। यदि ऐसा नही होता, तो कोइ भी उत्पादक अपने साधनों को दुगना, तिगुना और चौगुना बढ़ाकर उत्पादन को भी दुगना, तिगुना या चौगा कर लेता परन्तु ऐसा सम्भव नहीं है। उत्पति ह्रास नियम शाष्वत है जो प्रत्येक दशा में लागू होता है ।

उत्पति ह्रास नियम का उदाहरण (Example) – मार्शल के उपर्युक्त कथन की पुष्टि हम एक काल्पनिक उदाहरण से कर सकते है । माना कि एक किसान के पास 5 हैक्टेयर का एक खेत है। किसान खेत में उत्पदन करने के लिए श्रम तथा पूँजी की मात्रा को उतरोत्र बढ़ाता है। उससे जो उत्पादन प्राप्त होता है उसे तालिका

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

2.1 में दिया गया है । यहॉ यह भी माल लिया गया है कि श्रम और पूँजी की ''एक इकाई'' की लागत 100 रूपये ।

तालिका 2.1

श्रम और पूँजी की इकाइयॉ	कुल लागत खर्च (रू. में)	कुल उत्पादन (कुन्तल में)	सीमान्त उत्पादन	विवरण
1	100	25	25	वृद्धि नियम
2	200	55	30	
3	300	95	40	समता नियम
4	400	135	40	
5	500	165	30	ह्रास नियम
6	600	185	20	

उपर्युक्त तालिका के अनुसार श्रम और पूँजी की ''एक इकाई'' लगाने से प्रारम्भ में कुल उत्पादन 25 कुन्तल होता है । श्रम और पूँजी की मात्रा में वृद्धि कर देने से कुल उत्पादन अन्त में 185 कुन्तल प्रापत होता है । प्रारम्भ में श्रम और पूँजी की तीन इकाईयों तक उत्पादन की सीमान्त दर बढती है । प्रारम्भ में श्रम और पूँजी की तीसरी इकाई के ही बराबर है । चौथी इकाई के बाद सीमान्त उत्पादन और कुल उत्पादन की वृद्धि दर घटने लगती है । तालिका में श्रम तथा पूँजी की प्रथम इकाई 25 कुन्तल का सीमान्त उत्पादन देती है, जबकि दूसरी, तीसरी तथा चौथी इकाइयॉ क्रमशः 30, 40 और 40 कुन्तल का सीमान्त उत्पादन देती है, परन्तु पॉचवी और छठी इकाई की सीमान्त उत्पादन की दर घटकर 30 व 20 कुन्तल हो जाती है । अतः तीसरी इकाई तक उत्पति वृद्धि नियम (Increasing Returns) चौथी इकाई तक उत्पति समता नियम (Constant Returns) और पॉचवी इाकाई से उत्पति ह्रास नियम (Diminishing Return) लागू हो जाता है ।

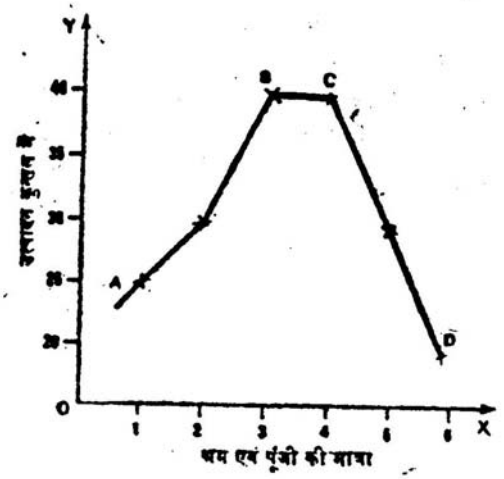

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

रेखाचित्र द्वारा स्पष्टीकरण – तालिका में दिये गये ऑकड़ो की सहायता से हम एक ऐसा रेखाचित्र प्राप्त कर सकते है, जो हमारी उपर्युक्त व्याख्या को स्पष्ट कर सकता है । अतः चित्र संख्या 2.1 की सहायता ली जा सकती है । चित्र में X-axis पर श्रम एवं पूँजी की मात्राएँ तथा Y-axis पर वस्तु का सीमान्त उत्पादन कुन्तल में दिख्याय गया है । A, B, C, D वक्र उत्पादन के विभिन्न स्तर को बताता है । स्पष्ट है कि A से B तक उत्पति वृद्धि नियम और B से C तक उत्पति समता नियम तथा C से D तक उत्पति ह्रास नियम क्रियाशील है ।

उत्पति ह्रास नियम की क्रियाशीलता की शर्ते (Working Conditions of Diminishing Returns) – मार्शल द्वारा प्रदत उत्पति ह्रास नियम की मार्शल द्वारा प्रदत उत्पति ह्रास नियम की परिभाषा में दो महत्वपूर्ण बातें देखने को मिलती है । इन्ही दो बातों को आधार मानकर हम कह सकते है कि यह नियम तभी लागू होगा जब निम्न दो बातों को आधार मानकर हम कह सकते है कि यह नियम तभी लागू होगा जब निम्न दो बातों को मान लिया जाय :

(i) सामान्यतया – मार्शल ने 'सामान्यतया' शब्द का प्रयोग करके, स्पष्ट किया है कि यदि किसी भूमि के टुकड़े पर श्रम तथा पूँजी की इतनी कम मात्राएँ लगायी जाती हों कि उनसे पूरा उत्पादन न हो, तब भूमि के इस टुकड़े पर श्रम और पूँजी की कुछ अधिक इकाइयॉ लगाने पर सीमान्त उत्पादन में वृद्धि होगी । अब साधनों का अनुपात उतरोत्तर उस बिन्दु तक बढ़ाया जाय, जब तक कि साधनों के बीच अनुकुलतम संयोग (optimum combination) स्थापित न हो जाये, साधनों के बीच अनुकूलतक संयोग स्थापित जो जाने से यह नियम क्रियाशील हो जायेगा ।

(ii) कृषि कला में सुधार – प्रो. मार्शल की दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि कृषि कला में किसी प्रकार का सुधार नही होना चाहिए । कृषि कार्य में मनुष्य की अपेक्षा प्रकृति का हाथ जितना ही अधिक होगा, उत्पति ह्रास नियम उतनी ही जल्दी क्रियाशील होगा । यदि कृषि कला में परिवर्तन हों या नये नये यंत्रो व बैज्ञानिक विधियों से उत्पादन किया गया, तो उत्पति ह्रास नियम को कुछ समय के लिए टाला जा सकता है । परन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं है कि उत्पति ह्रास नियम को हमेशा के लिए टाला जा सकता है । यदि कृषि कला में आधुनिकीकरण किया जाता है , तो कुछ समय के लिए नियम की क्रियाशीलता भंग हो सकती है, परन्तु बाद में यह नियम सत्य सिद्ध होगा ।

नियम की आलोचनाएँ (Criticisms) – नियक की प्रमुख आलोचनाएँ निम्नलिखित है :–

(1) नियम का कृषि के क्षेत्र में ही लागू होना – प्रो. मार्शल ने अपनी परिभाषा का प्रारम्भ, कृषि कला शब्द से किया है जिसका अर्थ है कि यह नियम, केवल कृषि उत्पादन में ही लागू होता है । सम्भवतः मार्शल, रिकार्डो के विचारों से प्रभावित था, क्योंकि लगान के सिद्धान्त में रिकार्डो ने उत्पति ह्रास नियम की सहायता ली थी । आलोचकों का कहना है कि मार्शल द्वारा उत्पति ह्रास नियम की जो परिभाषा दी गयी है वह संकुचित है । वर्तमान समय के अर्थशास्त्रियों ने सिद्व कर दिया है कि यह निमय उत्पादन के प्रत्येक क्षेत्र में प्रभावकारी ढंग से लागू हो रहा है ।

(2) नियम का गहरी खेती में लागू होना – मार्शल ने उत्पति ह्रास नियम को यह कह कर और भी संकुचित कर दिया है कि नियम केवल गहरी कृषि में ही लागू होता है न कि विस्तृत खेती में । जबकि रिकार्डो इस बात को सिद्ध कर चुकें है कि विस्तृत खेती के अन्तर्गत भी इस नियम का वही महत्व है, जो कि गहरी खेती में है । अतः मार्शल का यह मानना गलत है कि नियम केवल गहरी खेती में ही लागू होता है ।

(3) परिभाषा में अनिष्चितता का तत्व – अन्त में, यह कहा जा सकता है कि मार्शल ने उत्पति ह्रास निमय की जो परिभाषा दी है उस परिभाषा में अनिष्चितता का गुण है । 'सामान्यतया' शब्द से अनिष्चितता झलकती है । उनकी परिभाषा इस बात को स्पष्ट नही कर पायी है कि उक्त नियम उत्पादन क्रम में किस बिन्दु से लागू होता है अर्थात् यह निमय इस तथ्य पर प्रकाश नही डाल पाया है कि उत्पति ह्रास नियम लागू क्यों होता है ।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

उपर्युक्त आलोचनाओं के कारण वर्तमान समय के अर्थशास्त्रियों ने इस नियम के स्थान पर एक नये नियम की प्रतिस्थापना की है, जिसे आधुनिम सिद्धान्त के रूप में पढ़ा जाता है ।

आधुनिक विचार – उत्पति ह्रास नियम अथवा परिर्वतनशील अनुपातों का नियम

प्रो. मार्शल द्वारा प्रतिपादित उत्पति ह्रास नियम की त्रुटियों के कारण वर्तमान अथशास्त्रिों ने इस नियम को अस्वीकार किया है । इन अर्थशास्त्रियों के अनुसार उत्पति ह्रास नियम केवल कृषि में ही नहीं, बल्कि उत्पादन के प्रत्येक क्षेत्र में लागू होता है । आधुनिक अर्थशास्त्री इस नियम को ' परिवर्तनशी अनुपातों का नियम' (Law of variable proportions or Law of proportionality) की संज्ञा प्रदान करते है । इसके अतिरिक्त, इस नियम को अन्य नामों जैसे 'अनुपात का नियम', प्रतिफल का नियम', असमान–अनुपातीय प्रतिफल का नियम', सीमान्त उत्पादकता ह्रास नियम नियम', ह्रासमान प्रतिफल नियम' आदि नामों से पुकार जाता है ।

नियम की परिभाषा (Defination of this Law) :-

आधुनिक अर्थशास्त्रियों ने उत्पति ह्रास नियम की परिभाषा, मार्शल की परिभाषा से व्यापक व व्यवस्थित रूप मे दी है । इस नये विचार को देने वाले प्रमुख अर्थशास्त्री प्रे. बेन्हम (Benham), प्रो. स्टिगलर (Stigler), श्रीमती जॉन रॉबिन्सन (Joan Robinson), प्रो. सैम्युलसन (Semuelson) तथा बोल्डिंग (Boulding) आदि है । उत्पति ह्रास नियम की कुछ प्रमुख परिभाषाएँ नीचे दी जा रही है :

(i) श्रीमती जॉन रॉबिन्सन (Joan Robinson) के अनुसार, ''उत्पति ह्रास नियम इस बात की जानकारी देता है कि यदि उत्पति के किसी एक साधन को स्थिर रखा जाय तथ अन्य साधनों की मात्रा में उतरोतर वृद्धि की जाय ता, एक बिन्द ऐसा आता है जहॉ से उत्पादन में घटती हुई दर से वृद्धि होती है ।''

(ii) बेन्हम (Benham) के अनुसार, ''उत्पादन साधनों के संयोग में एक साधन का अनुपात ज्यों ज्यों बढाया जाता है त्यों त्यों एक बिन्दु के बाद उस साधन का सीमान्त तथा औसत उत्पादन घटता जाता है ।''

(iii) प्रो. सैम्युलसन (Semuelson) के अनुसार, ''एक या कुछ साधनों को सिथर रख कर अन्य साधनों को परिवर्तित करने पर जो उत्पादन प्राप्त होता है वह क्रमशः घटते हुए क्रम में प्राप्त होता है ।''

(iv) बाल्डिंग (Boulding) के अनुसार '' ज्यों ज्यों हम किसी एक साधन की मात्रा को अन्य साधनों को स्थिर मात्रा के साथ बढ़ाते है, तो परिवर्तित साधन की सीमित उत्पादकता घटती जाती है ।''

उपर्युक्त परिभाषाओं का अध्ययन करने के बाद हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि बोल्डिंग ने अपनी परिभाषा में अन्य साधनों को सिथर मानकर एक साधन में परिवर्तन करने की बात कही है । इनते पर भी नियम की मूल धारणा में किसी प्रकार का अन्तर नही आता है । इस प्राकर, हम कह सकते है कि सभी अर्थशास्त्री इसी बात से सहमत है कि एक बिन्दु के बाद जिस अनुपात में साधनों को बढ़ाया जस रहा है, उसी अनुपात में उत्पादन नही बढ़ता है। बल्कि साधनों के बढ़ने के अनुपात में उत्पादन के बढने की दर घटती हुई होती है । इसके अतिरिक्त यह नियम केवल कृषि में ही लागू नही होता है, बल्कि उत्पादन के प्रत्येक क्षेत्र के लाूग होता है ।

नियम की व्याख्या

आधुनिक अर्थशास्त्रियों ने इस नियम की व्याख्या में कुल उत्पादन (T.P.), औसत उत्पादन (A.P.) तथा सीमान्त उत्पादन (M.P.) की धारणा को विशेष महत्व दिया है । साधारणतया, एक साधन को स्थिर रखने के बाद जब अन्य साधनों को उतरोतर बढ़ाया जाता है, तो उत्पादन की जो मात्रा प्राप्त होती है उसे कुल उत्पादन, तथा इस कुल उत्पादन में उतपादन के साधनों की संख्या का भाग दे दिया जाय तो औसत उत्पादन, और साधनों की

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

अतिरिक्त इकाइयों के बढ़ाने से जो अतिरिक्त उत्पादन प्राप्त किया जाता है उसे सीमान्त उत्पादन कहा जायेगा ।

उत्पति ह्रास नियम की व्याख्या को हम एक काल्पनिक उदाहरण से स्पष्ट कर सकते है । यहॉ यह मान लिया गया है कि किसी वस्तु के उत्पादन में हम किसी एक साधन को स्थिर रखते है (माना भूमि) और अन्य साधनों को उतरोतर बढ़ाते है, तो उत्पादन के रूप में जो प्रतिफल प्राप्त होता है उसे तालिका 2.2 में दिया गया है ।

तालिका संख्या 2.2

श्रम और पूँजी की इकाइयॉ	कुल लागत खर्च (रू. में)	कुल उत्पादन (कुन्तल में)	सीमान्त उत्पादन	विवरण
1	10	10.0	10	प्रथम अवस्था
2	25	12.5	15	
3	45	15.0	20	
4	80	20.0	35	
5	110	22.0	30	द्वितीय अवस्था
6	130	21.7	20	
7	145	20.7	15	
8	155	19.3	10	
9	155	17.2	0	
10	150	15.0	– 5	तृतीय अवस्था
11	140	12.7	– 10	
12	125	10.4	– 15	

तालिका 2.2 को देखने से नियम की तीन अवस्थाएँ स्पष्ट देखी जा सकती है :

(i) प्रथम अवस्था (First Stage) – प्रथम, अवस्था, श्रम व पूंजी की चौथी इकाई तक है । ज्यों ज्यों साधनों की मात्रा में वृद्धि की जाती है, त्यों त्यों उत्पादन के साधनों के अनुपात की तुलना में उत्पादन अधिक बढ़ता है । उत्पादन की मात्रा का सर्वाच्च वृद्धि बिन्दु 35 इकाइयों पर है । यहॉ साधनों का आदर्शतम संयोग प्राप्त कर लिया जाता है । प्रथम अवस्था में, अथवा श्रम तथा पूँजी की चौथी इकाई तक कुल उत्पादन (T.P.), औसत उत्पादन (A.P.) तथा सीमान्त उत्पादन (M.P.) तीनो ही बढ़ते है । तालिका में श्रम तथा पूंजी की चौथी इकाई के बाद सीमान्त उत्पादन में कमी आने लगती है, जबकि, औसत और कुल उत्पादन बढ़ता है । इसलिए प्रथम अवस्था को हम 'बढ़ते हुए उत्पादन की अवस्था' (increasing returns stage) कहते है ।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

(ii) द्वितीय अवस्था (Second Stage) – दूसरी अवस्था श्रम तथा पूँजी की पॉचवी इकाई के बाद प्रारम्भ हो रही है। यहॉ कुछ उत्पादन घटती हुई दर से बढ़ता है तथा औसत उत्पादन में भी कमी आने लगती है इसलिए इस अवस्था को 'घटते हुए उत्पादन की अवस्था' (diminishing returns state) कहते है ।

(iii) तृतीय अवस्था (Third Stage) तीसरी अवस्था श्रम तथा पूँजी की दसवीं इकाई से प्रारम्भ होती है । यहॉ से कुल उत्पादन घटने लगता है, क्योंकि सीमान्त उत्पादन की मात्रा ऋणात्मक हो जाती है । इसलिए इस अवस्था को हम 'ऋणात्मक उत्पादन की अवस्था' (negative returns stage) कह सकते है ।

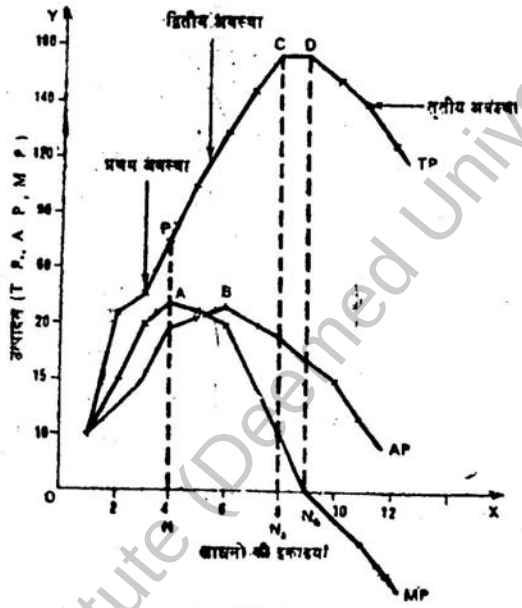

संक्षेप में, उत्पादन के प्रारम्भिक चरण में कुल उत्पादन, औसत उत्पादन तथा सीमान्त उत्पादन बढ़ता है । द्वितीय चरण में उत्पादन गिरने लगता है और अन्तिम (तृतीय चरण में) सीमान्त उत्पादन ऋणत्मक हो जाता है और कुल उत्पादन में कमी आने लगती है । इस व्याख्या को हम चित्र संख्या 2.2 से स्पष्ट कर सकते है । चित्र में X-axis पर साधनों की इकाइयां तथा Y-axis पर उत्पादन की मात्रा दी गयी है । इस प्रकार TP, AP तथा MP रेखाएँ कुल उत्पादन, की स्थिति को प्रदर्शित करती है । रेखाओं की आकृतियों को देखने से पता चलता है कि उत्पति के साधनों के अनुपान में वृद्धि करने से उत्पादन की मात्रा में किस प्रकार का परिवर्तन हो रहा है । कुल उत्पादन की TP रेखा में C बिन्दु तक कुल उत्पादन बढ़ता है। CD में यह समान रहता है । किन्तु D बिन्दु के बाद साधनों के बढ़ाने पर भी कुल उत्पादन नहीं बढ़ पाता है। अतः कुल उत्पादन में D बिन्दु के बाद कमी आ जाती है।

औसत उत्पादन की रेख AP को देखने से ज्ञात होता है कि बिन्दु B के बाद औसत उत्पादन की मात्रा में कमी आने लगती है । सीमान्त उत्पादन की MP रेखा मे A बिन्दु तक उत्पादन बढ़ता है और A बिन्दु के बाद उसमें भी कमी आ जाती है । अतः सीमान्त उत्पादन औसत उत्पादन से पहले ही घटने लगता है । कुल उत्पादन उस बिन्दु पर सबसे अधिक होता है जिस बिन्दु पर सीमान्त उत्पादन शून्य होता है ।

तालिका के अनुसार चित्र को तीन अवस्थाओं में बॉटा गया है, जिसकी विस्तृत व्याख्या निम्न है :

(i) प्रथम अवस्था (First Stage) – चित्र में प्रथम अवस्था ON मात्रा में लगाये गये श्रम व पूँजी की इकाइयों तक है । कुल उत्पादन वक्र (TP) में एक बिन्दु P लिया गया है । यह बिन्दु बताता है कि जब उत्पति के

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

साधनों को N तक बढाया जाता है, तो उत्पादन में वृद्धि की दर बड़ी तीव्र होती है । (तालिका संख्या 2.2 मे सीमान्त उत्पादन प्रारम्भ में बड़ी तेजी से बढ़ता है।) P बिन्दु के बाद ज्यों ज्यों साधनों की मात्रा में वृद्धि की जाती है त्यों त्यों कुल उत्पादन नही बढ़ा, क्योंकि N इकाई अथवा MP रेखा में A बिन्दु के बाद सीमान्त उत्पादन घटनें लगता है । इसलिए कुल उत्पादन वक्र (TP) Y- axis की ओर नतोदार हो जाता है । चित्र में A बिन्दु MP और P बिन्दु TP के उपर स्थित है । कहने का अभिप्राय यह है कि जहॉ से सीमान्त उत्पादन MP घटता है, वहॉ से कुल उत्पादन की वृद्धि की दर में कमी आने लगती है । इस अवस्था को 'बढते हुए प्रतिफल' (Increasing returns) की अवस्था कहा जाता है ।

(ii) द्वितीय अवस्था (Second Stage) – चित्र में द्वितीय अवस्था P से C बिन्दु तक अथवा N से N1 तक साधनों के अनुपात में परिवर्तन करता है, तो कुल उत्पादन (TP) C बिन्दु तक बढ़ता है और यहॉ उत्पादन का सवोच्च स्तर प्राप्त कर लिया जाता है । इस बिन्दु तक सीमान्त तथा औसत उत्पादन में कमी आ जाती है, लेकिन ये फिर भी धनात्मक बने रहते है । अब इस अवस्था की सीमा समाप्त हो जाती है । अर्थात साधनों की N2 इकाई के लगाये जाने पर सीमान्त उत्पादन शून्य हो जाता है । अतः इस बिन्दु पर द्वितीय अवस्था को समाप्त मान लिया जाता है । चित्र में N2 बिन्दु पर MP सीमान्त उत्पादन वक्र X-axis को छूता है, इससे स्पष्ट है कि अब सीमान्त उत्पादन घटकर शून्य हो चुका है । N2 बिन्दु के ठीक उपर TP रेखा में D बिन्दु है, जो अधिकतम उत्पादन की दशा को बताता है । अतः यह सिद्ध है कि जिस बिन्दु पर सीमान्त उत्पादन शून्य होता है, उसी बिन्दु पर कुल उत्पादन सबसे अधिक होगा । इस बात को हम तालिका संख्या 2.2 से स्पष्ट कर चुके है । इस अवस्था को 'घटे हुए प्रतिफल (diminishing returns) की अवस्था कहा गया है । अर्थशास्त्र में इसी अवस्था का महत्वपूर्ण स्थान है ।

(iii) तृतीय अवस्था (Third Stage) – तृतीय अवस्था आरम्भ होती है जब परिवर्तनशील साधनों की मात्रा को N2 से आगे बढ़ाया जाता है । इस अवस्था मे कुल उत्पादन घटने लगता है, क्योंकि सीमान्त उत्पादन ऋणात्मक होजाता है । यहॉ जिस अनुपात में साधनों की बढ़ाया जा रहा है । उस अनुपात में उत्पादन नहीं बढ़ पाता है और औसत उत्पादन की वृद्धि की दर भी घट जाती है। अतः इसे 'ऋणात्मक प्रतिफल (negative returns) की अवस्था कहा जाता है । अर्थशास्त्र में इस अवस्था को कोई स्थान नहीं, क्योंकि कोई भी उत्पादक इस अवस्था में पहुँचने की चेष्टा नहीं करता है । यदि वह ऐसा करता है तो उसको हानि होगी ।

उत्पति ह्रास नियम तथा लागत

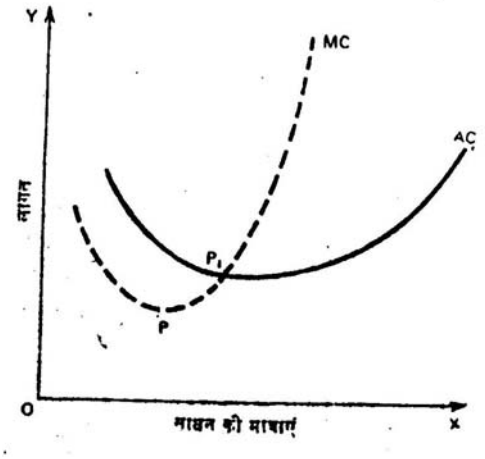

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

उत्पति ह्रास नियम का लागतों के सन्दर्भ में भी परिभाषित किया जा सकता है । इसलिए इस नियम को हम दूसरे शब्दों में लागत वृद्धि का नियम (Law of increasing cost) कह सकते है । उत्पादन की प्रारम्भिक दशा में एक साधन को स्थिर रखकर जब परिवर्तनशील साधनों को उतरोतर बढ़ाया जाता है, तो उत्पादन, साधनों के अनुपात में अधिक प्राप्त होता है । इसका अर्थ यह हुआ कि सीमान्त लागत तथा औसत लगात दोनों ही घट जाते है । यदि इसके बाद भी परिवर्तनशील साधनों की इकाइयों का बढ़ाया गया, तो इससे सीमान्त लागत एक बिन्दु पर निम्नतम होकर बढ़ने लगती है, और इसके बाद औसत लागत वक्र भी एक बिन्दु पर निम्नतम होकर बढ़ने लगता है । अर्थात एक बिन्दु के बाद दोनों लागतें बढ़ने लगती हैं । यहॉ विशेष ध्यान देने योग्य एक बात यह है कि एक बिन्दु तक सीमान्त वक्र (MC) औसत वक्र (AC) के नीचे रहता है और एक बिन्दु पर सीमान्त वक्र (MC) औसत वक्र (AC) को नीचे से उपर को काटते हुए आगे बढ़ता है । अतः कटान बिन्दु के बाद सीमान्त वक्र (MC) औसत वक्र (AC) के उपर आ जाता है । इस स्थिति को हम चित्र संख्या 2.3 से स्पष्ट कर सकते है । चित्र से स्पष्ट है कि प्रारम्भ में सीमान्त लागत (MC) तथा औसत लागत (AC) दोनों घटते है तथा सीमान्त लागत (MC) औसत लागत (AC) – से नीचे रहती है । इसके बाद उत्पादन लागत बढ़नी प्रारम्भ होती है । चित्र में P बिन्दु पर सीमान्त लागत निम्नतम है और P – बिन्दु के बाद इसमें वृद्धि होती है और P_1 बिन्दु पर औसत लागत (AC) को काटकर ऊपर को बढ़ जाता है। औसत लागत वक्र (AC) के घटने का क्रम P_1 बिन्दु तक चलता है। इस बिन्दु पर सीमान्त लागत (MC) औसत लागत (AC) के बराबर हो जाती है । बिन्दु P_1 के बाद परिवर्तनशील साधनों के लागत में इतनी अधिक वृद्धि होती है कि साधनों की मात्रा का अधिक प्रयोग करने से वस्तु की सीमान्त लागत मे वृद्धि होने के साथ साथ औसत लागत में भी वृद्धि हो जाती है । इसलिए हम इस नियम को 'लागत वृद्धि का नियम' भी कहते है ।

उत्पति ह्रास नियम की मान्यताएँ (Assumptions of the Law of Diminishing Returns)

उत्पति ह्रास नियम निम्न मान्यताओं पर आधारित है :–

(1) उत्पति ह्रास नियम में यह मान लिया गया है कि उत्पादन की तकनीक दी हुई है। उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन नही होता है। जैसा कि मार्शल ने भी इस मान्यता को माना था कि कृषि कला में यदि किसी प्रकार का परिवर्तन न हो। यदि उत्पादन के बीच में किसी प्रकार की तकनीक में परिवर्तन आ जाये ता यह नियम लागू नही होगा ।

(2) साधनों के अनुपात में मनमाना परिवर्तन किया जा सकता है।

(3) उत्पति ह्रास नियम तभी लागू होगा, जबकि एक साधन को स्थिर रखकर अन्य साधनों के अनुपात को बढ़ाया जाता है अथवा अन्य साधनों को स्थिर रखकर एक साधन की मात्रा को बढ़ाया जाता है अर्थात दोनों ही दशाओं के अपनाने पर ही यह नियम लागू होगा।

(4) परिवर्तनशील इाकाइयों को समरूप में मान लिया गया है। अर्थात् साधनों की इकाइयों के गुण, रूप, आकार प्रकार आपसे में समान होने चाहिए।

(5) नियम का सम्बन्ध वस्तु के मूल्य से न होकर भौमिक मात्रा से है । वस्तु का मूल्य बाजार की अन्य दशाओं पर निर्भर करता है, जबकि एक निष्चित बिन्दु के बाद वस्तु के उत्पादन में कमी आने लगती है ।

(6) उत्पादन के पैमाने को स्थिर मान लिया गया है, इसलिए उत्पादन में पैमाने की मितव्ययताएँ भी प्राप्त हो जाती है ।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

उत्पति ह्रास नियम के लागू होने के कारण

उत्पति ह्रास नियम क्यों लागू होता है ? इस प्रष्न के उतर में मार्शल का कहना है कि कृषि कला में व्यक्ति की अपेक्षा प्रकृति का हाथ अधिक होता है । परिणामस्वरूप, उत्पति ह्रास नियम लागू होता है । आधुनिक अर्थशास्त्री मार्शल के इस कथन से सन्तुष्ट नही है । उनके अनुसार उत्पति ह्रास नियम के लागू होने के निम्न कारण है :

(1) साधनों की अविभाज्यता (Non-divisibility of Inputs) – उतपति के काम में लाये जाने वाले साधनों में से अधिकांश साधन ऐसे हैए जो सीमित हाने के साथ साथ अविभाज्य भी है। ये अविभाज्य साधन आदर्शतम बिन्दु (optimum point) की प्राप्ति तक उत्पादन को बढ़ाते है। परन्तु आदर्शतम बिन्दु के बाद भी साधनों का और अधिक प्रयोग किया गया, तो ये साधन उत्पादन की दृष्टि से लाभप्रद नहीं होते है । साधनों की अविभाज्यता के कारण उनका उपयोग छोटी छोटी मात्रा में नही किया जा सकता है और पूरी मात्रा में उपयोग करने पर ये साधन लाभप्रद नही होतें है।

(2) एक या एक से अधिक साधनों का स्थिर होना (Fixation of One or More than One Factors of Production) – एक या एक से अधिक साधनों को स्थिर रखते हुए अन्य साधनों को उतरोतर बढ़ाया जाता है, ता प्रारम्भ में औसत व सीमान्त लागत घटती है, यह स्थिति आदर्शतम बिन्दु प्राप्त होने तक चलती है । दूसरे शब्दों में, जब तक परिवर्तनशील साधनों की मात्रा, स्थिर साधनों की दी हुई मात्रा से कम होती है, तब तक औसत लागत में कमी होती रहेगी, लेकिन एक समय के बाद जब परिवर्तनशील साधन की मात्रा सिथर साधन की मात्रा से अधिक हो जाती है, तब प्रति इकाई लागत आधिक हो जाती है, परिणामस्वरूप उत्पति ह्रास नियम लागू हो जाता है ।

(3) साधनों का स्थानापन्न न होना (Absence of Substitutes, or, Imerfact Substitution of Factors of Production) – एक साधन दूसरे साधन का पूर्ण स्थानापन्न नही होता है । एक साधन का प्रयोग दूसरे साधन के रूप में एक सीमा तक ही किया जा सकता है उसके आगे नही । जैसा कि श्रीमती जॉन राबिन्सन (Mrs. Joan Robinson) का कहना है, ''एक साधन को दूसरे साधन की जगह एक सीमा तक ही प्रतिस्थपित किया जा सकता है ।'' जब किसी स्थिर साधन की मात्रा के साथ परिवर्तनशील साधन की मात्रा को बढाया जाता है, तो एक सीमा के पश्चात् उसका अनुपात बिगड़ जाता है । और प्रतिफल घटती हुई दर पर प्राप्त होने लगता है, यदि परिवर्तनशील साधन ऐसा होता है और प्रतिफल घटती हुई दर पर प्राप्त होने लगता है।, यदि परिवर्तनशील साधन ऐसा होता जो दुर्लभ स्थिर साधन का पूर्ण स्थानापन्न होता, तो दुर्लभ स्थिर साधन की कमी को पूर्ण सनिापन्न साधन का प्रयोग करके दूर कर दिया जाता, ऐसा होने पर उनके अनुपात को बिगड़ने से रोक लिया जाता और सीमान्त उत्पादन नही घटता, इससे हम इसी नतीजे पर पहुँचते है कि परिवर्तनशील साधनों में से कोई एक साधन जिसका स्थिर साधन के साथ प्रयोग किया जाता है, उसका पूर्ण स्थानापन्न नही होता है और उत्पति ह्रास नियम लागू हो जाता है ।

(4) प्रकृति की सीमितता (Natural Scarcity) – जिन वस्तुओं पर प्रकृति का अधिकार होता है, उसकी पूर्ति सीमित होती है । अतः दीर्घकाल में भूमि, श्रम, पूँजी व साहस आदि की मात्रा भी प्रकृति के द्वारा सीमित कर दी गयी है । यही कारण है कि दीर्घकाल में उत्पति ह्रास नियम लागू होता है ।

उत्पति ह्रास नियम का महत्व

उत्पति ह्रास नियम अर्थशास्त्र के अन्तर्गत महत्वपूर्ण स्थान रखता है । इसे हम निम्न शिर्षकों में रख सकते है :

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

(1) उत्पादन के प्रत्येक क्षेत्र में लागू होना – उत्पति ह्रास नियम का क्षेत्र बहुत व्यापक है । यह केवल कृषि में लागू नही होता है, बल्कि उत्पादन के प्रत्येक क्षेत्र जैसे उद्योग धन्धे, खान, मकान बनाना, मछली पकड़ने का व्यवसाय, आदि मे भी लागू होता है ।

(2) जनसंख्या के प्रवाह के अध्ययन मे महत्व – एक देश से दूसरे देश को जनसंख्या के प्रवाह में इस नियम का महत्वपूर्ण स्थान है । भूमि पर जनसंख्या का दबाव बढ जाने से उत्पति ह्रास नियम लागू होता है । इस तथ्य को रिकार्डो ने भी स्पष्ट किया था । अतः उत्पति ह्रास नियम के लागू होने के ही कारण एक देश से दूसरे देश की जनसंख्या का निष्क्रमण होता रहता है । संक्षेप में, उत्पति ह्रास नियम आवास प्रवास को बढ़ा देता है ।

(3) अनेक सिद्धान्तो का जनक – माल्थस का जनसंख्या सिद्धान्त और रिकार्डो का लगान सिद्धान्त उत्पति ह्रास नियम के ही कारण क्रियाशील हो सके है ।

(4) रहन सहन के स्तर की माप में महत्व – उत्पति ह्रास नियम का प्रभाव किसी देश के लोगों के रहन सहन के स्तर पर भी पड़ता है । जैसा कि हम देख चुके है उत्पादन में ज्यों ज्यों उत्पति के साधनों की वृद्धि की जाती है, त्यों त्यों उत्पादन की मात्रा एक बिन्दु के बाद तेजी से गिरती जाती है, परिणामस्वरूप लागतें बढ़ती है और वस्तुओं की कीमतों मे वृद्धि होने लगती है । पहले जो वस्तुएँ कम मूल्य पर मिल जाती थीं अब वे ऊंची किमतों पर मिलने लगेगी । परिणाम स्वरूप लोगों के रहन सहन के स्तर में कमी आ जायेगी ।

(5) नये नये आविष्कारों का जन्म – प्रायः यह भी कहा जाता है कि उत्पति ह्रास नियम की क्रियाशीलता के कारण ही नये नये अवष्किार हुए है । जैसा कि हम जानते है उत्पति ह्रास नियम को निष्क्रिय बनाने के लिए उत्पादन के नये नये तरीकों की खोज के नये नये आविष्कार किये जाते है और कला कौशल का विकास होनें लगता है।

(6) दैनिक जीवन में महत्व – उत्पति ह्रास नियम दैनिक जीवन में भी इस बात की जानकारी देता है कि बिना रूके, किसी कार्य को ज्यादा समय तक करते रहने पर अनुपातिक लाभ क्यों नहीं मिल पाता है? उदाहरण के लिए, एक मजूदर, एक लेखक या एक कलाकार एक काम को लगातार करता रहे, तो एक सीमा से आगे उत्पादन इसलिए नही बढ़ सकता है कि उत्पादन में उत्पति ह्रास नियम लागू होता है ।

उपर्युक्त व्याख्या से स्पष्ट है कि उत्पति ह्रास नियम का सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक दोनों ही प्रकार का महत्व है।

उत्पति ह्रास नियम का क्षेत्र

वर्तमान समय में उत्पति ह्रास नियम के महत्व में वृद्धि होने के साथ साथ इस नियम के क्षेत्र में भी व्यापक पैमाने से वृद्धि हो गयी है । संक्षेप में, उत्पति ह्रास नियम की व्यापकता को नीचे दिया गया है :

(1) खान व्यवसाय – कृषि व्यवसाय व खान व्यवसाय में एक मूलभूत अन्तर है । खेत से उत्पादन हमेशा थोडी बहुत मात्रा में प्राप्त किया जा सकता है, परन्तु खान से पूरा खनिज निकाल लेने के बाद फिर से खनिज प्रदार्थ प्राप्त नही किये जा सकते है ।

खान व कृषि व्यवसाय में जहॉ मूलभूत अन्तर है, वहीं इन दोनों व्यवसायें में समानता भी है । समानता इस माने में है कि जिस प्रकार हम भूमि में गहरी व विस्तृत दोनों प्रकार की खेती कर सकते है, उसी प्रकार खान व्यवसाय में भी खनिजों को निकालने के लिए विस्तृत व गहरी दोनों ही प्रणलियों को अपनाया जा सकता है । उत्पति ह्रास नियम खान व्यवसाय में निम्न प्रकार लागू होता है :

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

(i) प्रथम रीति या विस्तृत रीति – खनिज खदान का मालिक सबसे पहले उस स्थान पर खनिजों की खुदाई करेगा जहॉ उसे आसानी से श्रमिक, यातायात व बाजार आदि की सुविधा उपलब्ध हो सके । जब ऐसे स्थानों का खनिज समाप्त होता है, तब वह बाजार व आबादी से दूरी पर स्थित खानों की खुदाई करता है । इस प्रकार दूसरी खानों की उत्पादन लागत पहली खानों की उत्पादन लागत से अधिक होगी, क्योंकि दूरी पर स्थित खानों की उत्पादन लागत पहली खानों की उत्पादन लागत से अधिक होगी, क्यांकि दूरी पर स्थित खानों पर भी श्रम व पूँजी की उतनी ही इकाइयॉ लगायी जाती है जितनी कि पहले लगायी गयी थीं पर उत्पादन की उतनी ही मात्रा को प्राप्त करने के लिए पहले से अधिक व्यय करना पडता है । इससे यह स्पष्ट होता है कि खान व्यवसाय में उत्पति ह्रास नियम लागू होता है ।

(ii) द्वितीय रीति या गहरी रीति – कभी कभी खान का मालिक एक ही खान से अधिकाअधिक खनिज प्राप्त करने का प्रयत्न करता है । जब खान कम गहरी होती है, तब खान के भीतर खनिज निकालने के लिए विशेष प्रकार के प्रयत्न नही करते पडते है । खान में खनिजों का ढुलान भी आसानी से हो जाता है, परन्तु ज्यों ज्यों खान गहरी होती है, त्यों त्यों खान के अन्दर मजदूरों की सुरक्षा पर अधिक व्यय करना होता है। जैसे – आक्सीजन, रोशनी, पानी, आने जाने, सुरक्षा पोशाक, क्रेन तथा आधुनिक यंत्र आदि पर अतिरिक्त व्यय। जब खान के मुहाने से खनिज प्राप्त किया जा रहा था तब इस प्राकर के व्यय नही होते थे, परिणामस्वरूप खनिजों की उत्पादन लागत कम बैठती थी, परन्तु खनिजों को गहराई से निकाला जाने लगता है। तब उनके उत्पादन लागत में वृद्धि होती है । परिणामस्वरूप उत्पति ह्रास नियम क्रियाशील होता है।

(2) मछली पकड़ने के व्यवसाय में :– उत्पत्ति हास नियम मछली पकड़ने के व्यवसाय में भी लागू होता है। नदी, तालाब व झील में ज्यों–ज्यों मछली पकड़ने के लिये जाल डाले जाते हैं त्यों–त्यों मछलियों की मात्रा में कमी आती जाती है, जिससे मछली पकड़ने की दर कम होती है और खर्चा बढता हैं।

मछली पकड़ने के व्यवसाय में गहरी व विस्तृत दानों ही रीतियों को अपनाया जाता हैं। गहरी रीति से मछली पकड़ने का अभिप्राय यह है कि जब नदी, तालाब व समुद्री सतह पर मछलियों की मात्रा कम रह जाती है तब मछुए गहराई की ओर जाने लगते है। गहराई में प्रपवेश पाने के लिये उन्हें आधुनिक यन्त्रों, उपकरणों व साजो–सामान की आवष्यकता होती है जिस पर अत्यधिक खर्च आता हैं। अतः सतह पर जितनी आसानी व कम लागत से वे मछलियां प्राप्त कर सकते है उसकी अपेक्षा गहराई से प्राप्त की जाने वाली मछलियों की लागत कहीं अधिक होती हैं। ऐसा उत्पत्ति हास नियम के ही कारण हैं।

मछलियों को पकड़ने का दूसरा तरीका विस्तृत हैं। जब मछलियों नदी, झील व समुद्र के किनारे पर समाप्त हो जाती है, तब मछुये नावों मे बैठकर आधुनिक जालों के साथ दूर–दूर तक भटकते है, जिससे समय, साधन और जोखिम अधिक झेलना पड़ता हैं, जिसमें उत्पादन लागत बढ जाती है, परिणामस्वरूप उत्पति हास नियम क्रियाशील हो जाता हैं।

(3) मकान व दुकान बनाने में :– भवन निर्माण में भी उत्पति हास नियम क्रियाशील होता हैं। प्रायः यह बात उन क्षेत्रों में विशेषकर देखी जाती है जो क्षैत्र घने बसे होतो हैं। इन क्षैत्रों में भूमि व मकानों की सीमितता के कारण मकान किराये में वृद्धि हो जाती हैं। अतः आवास समस्या से छुटकारा पाने तथा अधिक किराया प्राप्त करने के लिये मकानों के मालिक मकान की दूसरी तथा तीसरी मंजिलों का निर्माण प्रारम्भ कर देते हैं। एक मंजिल की अपेक्षा दूसरी मंजिल में और दूसरी से तीसरी में लागत बढती जाती है, क्योंकि जमीन से ऊपर माल को लाने व ले जाने में अधिक श्रम व पूंजी की आवष्यकता होती हैं। ज्यों–ज्यों मकान की मंजिले बढायी जाती है त्यों त्यों प्रत्येक अगली मंजिल की लागत बढती हैं। यह व्याख्या उत्पति हास नियम के ही मन्तव्य को स्पष्ट करती हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

(4) गौण धन्धों में :– गौण धन्धों में तथा तैयार माल बनाने वालो उद्योगों में भी एक सीमा के बाद उत्पति हास नियम क्रियाशील होता हैं, भले ही वैज्ञानिक आविष्कारों तथा नयी–नयी उत्पादन तकनीकों के कारण इन व्यवसायों में उत्पति हास नियम कृषि की अपेक्षा देरी से लागू होता हैं, लेकिन लागू अवश्य होता हैं। यदि ऐसा नहीं होता तो उद्योगों लगाार श्रम और पूंजी की इकाईयां लगायी जाती है जिससे मनमाना उत्पादन प्राप्त कर लिया जाता, परन्तु ऐसा नहीं होता हैं। स्पष्ट है कि उत्पति हास नियम सर्वव्यापी हैं।

(2) उत्पत्ति समता नियम

(LAW OF CONSTANT RETURNS)

उत्पत्ति वृद्धि नियम और उत्पत्ति हास नियम के बीच की कड़ी को उत्पत्ति समता नियम कहा जाता हें। जब उत्पत्ति वृद्धि नियम समाप्ति पर और उत्पत्ति हास नियम प्रारम्भिक दशा में होता है तब इस नियम का प्रादुर्भाव होता है। यह उत्पादन की एक अति अल्पकालीन अवस्था है।

नियम की व्याख्या – उत्पत्ति समता नियम की व्याख्या करते हुए प्रो. स्टिगलरन ने लिखा है कि "जब कभी उत्पादक साधनों को एक दिये हुये अनुपात में बढाता जाता है, तो उत्पादन उसी अनुपात में बढता जाता है।"

मार्शल अनुसार "जब उत्पादन के समस्त साधनों में एक दिये हुये अनुपात में वृद्धि कर दी जाती है तो उत्पत्ति उसी अनुपात में बढ जाती हैं।"

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि उत्पति समता नियम एक ऐसी व्यवस्था को बताता है जिस पर उपादन न तो बढता है और न ही घटता है अर्थात स्थिर रहता है। उत्पादन में यह स्थिति तब देखी जाती है, जब उत्पति के साधनों के बीच आदर्शतम अनुपात स्थापित होता है। यदि इसे अनुकूल या आदर्शतम बिन्दु से आगे उत्पादन बढाया जाता है, तो यह 'उत्पति समता' या उत्पति स्थिर नियम कहा जायेगा। यदि इस स्थिति के बाद श्रम और पूंजी की इकाइयों में उत्तरोत्तर वृद्धि की गयी तो उत्पादन में कमी होगी और उत्पत्ति ह्रास नियम क्रियाशील हो जायेगा। यदि साधनों को स्थिर रखा जा सका और उसमें किसी प्रकार का रिवर्तन नहीं हुआ तो उत्पादन स्थिर लागत पर प्राप्त होता रहेगा। इस व्याख्या को तालिका संख्या 2.3 से स्पष्ट कर सकते हैं।

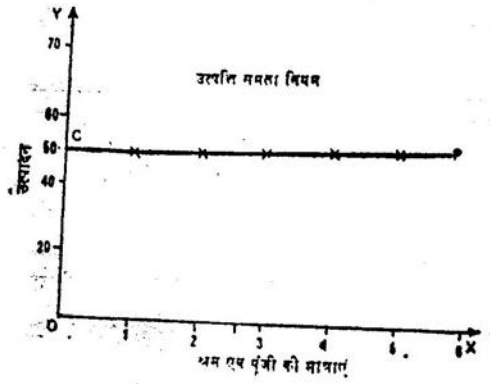

तालिका संख्या 2.3

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

श्रम व पूँजी की मात्राएँ	कुल उत्पादन	औसत उत्पादन	सीमान्त उत्पादन	अवस्था
1	50	50	50	उत्पत्ति समता
2	100	50	50	
3	150	50	50	
4	200	50	50	
5	250	50	50	

तालिका के अनुसार जब श्रम और पूँजी की एक इकाई को उत्पादन में लगाया जाता है, तो उत्पादन 50 इकाइयोसं के बराबर प्राप्त होता है। जिस अनुपात से साधनों की मात्रा में उत्तरोत्तर वृद्धि की जा रही है, उसी अनुपात से उत्पादन भी बढ़ रहा है। श्रम व पूँजी की दूसरी इकाई लगाने पर भी सीमान्त व औसत उत्पादन 50 इकाइयों के बराबर है। श्रम और पूंजी की तीसरी, चौथी और पॉचवी इकाइयो पर भी उत्पादन समान रहता हैं इसलिए यह दशा ''उत्पति समता नियम' (Law of constant returns) या समता लागत नियम की है। इस व्याख्या को चित्र संख्या 2.4 से स्पष्ञ किया जा सकता हैं चित्र में उत्पत्ति समता नियम की आकृति को CP-रेखा से दिखाया गया हैं। CP रेखा X-axis के समानान्तर है। रेखा में किसी प्रकार के उतार–चढ़ाव नहीं है। रेखा से स्पष्ट है कि जिस अनुपात में श्रम और पूंजी की इकाइयों को बढाया जा रहा है, उसी अनुपात में उत्पादन भी बढ़ रहा है। इसलिए CP रेख उत्पत्ति समता नियम को प्रदर्शित करती हैं। व्यावहारिक जीवन में ऐसे उदाहरण बहुत कम मिलते हैं, जिनमें उत्पत्ति समता नियम लागू होता है। इस नियम का केवल सैद्धान्तिक महत्व ही है।

(3) उत्पत्ति वृद्धि नियम

उत्पत्ति वृद्धि नियम उत्पादन की प्रारम्भिक अवस्था है। उत्पादन की प्रारम्भिक अवस्था में ज्यो ज्यो उत्पादन के साधनों को उत्तरोत्र बढाया जाता हैं त्यों त्यों एक बिन्दु तक प्रतिफल साधनों के अनुपात की तुलना में बड़ी तेजी से बढ़ता है।

उत्पत्ति वृद्धि नियम की परिभाषा – उत्पत्ति वृद्धि नियम के अन्तर्गत मार्शल तथ श्रीमती जॉन राबिन्सन की परिभाषाओं का महत्वपूर्ण स्थान है।

मार्शल के अनुसार – ''श्रम तथा पूँजी की वृद्धि करने से उत्पत्ति के साधनों का संगठन सामान्यतया अधिक उत्तम हो जाता है। फलस्वरुप साधनों की कुशलता बढ़ जाती है।

प्रो. मार्शल ने उत्पत्ति हास निमय का सम्बन्ध कृषि के साथ और उत्पत्ति वृद्धि नियम का सम्बन्ध उद्योग–धन्धो के साथ स्थापित किया है, परन्तु आधुनिक अर्थशास्त्रियों ने इस नियम को उत्पादन के प्रत्येक क्षेत्र के लिए लागू माना है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

मार्शल ने नियम का सम्बन्ध उद्योग धन्यों के साथ स्थापित करते हुए स्पष्ट किया है कि ज्यो ज्यो श्रम और पूंजी की मात्राओं को बढ़ाया जाता है, त्यो त्यो साधनों की कुशलता बढ़ती जाती हैं यह क्रम तब तक चलता रहता है जब तक कि उत्पादन के साधनों के बीच आदर्शतम संयोग स्थापित नही हो जाता है।

श्रीमती जॉन रॉबिन्सस ने अनुसार – जब उत्पादन में किसी साधन की मात्रा को बढ़या जाता हैं, तब प्रायः यह होता है कि उत्पादन के साधनों के संगठन में सुधार आ जाते हैं और उत्पति के साधनों की कार्यकुशलता बढ़ जाती है। ऐसी स्थिति में उत्पादन को बढ़ाने के लिए साधनों की भैतिक मात्रा में आनुपातिक वृद्धि करने की आवष्यकता नही होती है।

श्रीमाती जॉन रॉबिन्सन की परिभाषा से दो बातें स्पष्ट होती है।

(1) प्रो. मार्शल ने उत्पत्ति वृद्धि नियम को केवल उद्योग धन्धो तक ही सीमित रखा है, जबकि राबिन्सन ने इस नियम को सर्वव्यापक बताया है।

(2) साधनों को उत्तरोत्तर बढ़ाने से आदर्शत संयोग प्राप्त होता है, परिणामस्वरुप साधनों की कार्यकुशलता में वृद्धि होने लगती है, जिससे उत्पादन बढ़ता है। श्रीमती रॉबिन्सन ने लिखा है कि ''उत्पादन को बढाने के लिए सभी भौतिक साधनों को उसी अनुपात` नहीं बढ़या जाता हैं जिस अनुपात में बढ़ता है। क्योकि उत्पत्ति वृद्धि नियम में कुछ ही साधनों को बढ़ा देने पर उत्पादन के सब साधनों की क्षमता में वृद्धि हो जाती हैं

उत्पत्ति वृद्धि नियम की व्याख्या :– उत्पत्ति वृद्धि नियम इस धारण पर आधारित है कि उत्पादन` साधनों को बढ़ाने से उत्पादन में धीरे धीरे वृद्धि होती है। परिणामस्वरुप सीमान्त उत्पादन बढ़ाता है। और कुल उत्पादन तथा औसतन उत्पादन में भी तेजी से वृद्धि होने लगती हैं उत्पादन वृद्धि का यह क्रम तब तक चलता है जब तक साधनों का अनुपात अनुकूलतम नहीं हो जाता हैं इस अनुकूलतम बिन्दु के बाद यदि साधनों के अनुपात में वृद्धि जारी रखी गयी, तो उसके बाद सीमान्त उत्पादन तथा औसत उत्पादन में कमी आने लगती है इस व्याख्या को हम तालिका संख्या 2.4 से स्पष्ट कर सकते है।

तालिका संख्या 2.4

श्रम एवं पूंजी की इकाइयॉ	कुल उत्पादन (T.P.)	औसत उत्पादन (A.P.)	सीमान्त उत्पादन (M.P.)
1	10	10	10
2	25	12.50	15
3	69	16.33	24
4	84	21.0	35
5	134	26.8	50

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

तालिका 2.4 देखने से स्पष्ट है कि ज्यो–ज्यो उत्पत्ति के साधनों में वृद्धि की जाती है त्यो त्यो सीमान्त उत्पादन, कुल उत्पादन और औसत उत्पादन में वृद्धि होती है। इसके अतिरिक्त साधनों को जिस अनुपात से बढ़ाया जा रहा है, उसकी तुलना में उत्पादन कई गुना अधिक बढ रहा है।

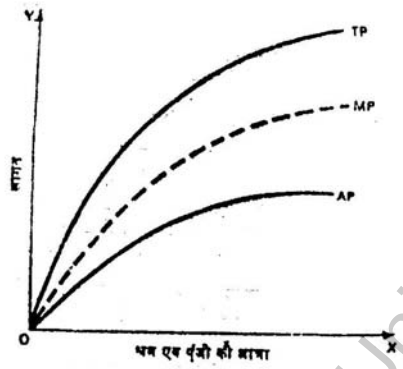

उपर्युक्त व्याख्या को चित्र संख्या 2.5 से स्पष्ट किया जा सकता है । चित्र X-axis पर श्रम व पूंजी जी इकाइयॉ तथा Y-axis पर लागत को दिखाया गया है । चित्र में ज्यों ज्यों उत्पादन के साधनों को बढ़ाया जाता है, त्यों त्यों उत्पादन के साधनों को बढ़ाया जाता है, त्यों त्यों सीमान्त उत्पादन (MP), औसत उत्पादन (AP) तथा कुल उत्पादन (TP) बढ़ता है ।

उत्पति वृद्धि नियम तथा लगात ह्रास नियम (The Law of Increasing Returns and Costs) :-

उत्पति वृद्धि नियम को लागत की दृष्टि से 'लगात ह्रास नियम' कहा जाता है । इस नियम में हम स्पष्ट कर चुके है कि जिस अनुपात में उत्पति के साधनों का बढ़ाया जाता है, उसकी तुलना में उत्पादन अधिक बढ़ता है । इसलिए सीमान्त और औसत लागत में उतरोतर कमी आने लगती है । यह कमी तब तक होती है, जब तक कि साधनों के बीच आदर्शतम संयोग (optimum combination) स्थापित नही हो जाता है । लागतों के घटने के कारण इस नियम को 'लगात ह्रास' नियम कहा गया है । इस व्याख्या को चित्र संख्या 2.6 से स्पष्ट किया जा सकता है । चित्र में AC तथा MC, औसत एवं सीमान्त लागत की रेखाएँ है। ज्यों ज्यों उत्पादन बढ़ता है । त्यों त्यों सीमान्त तथा औसत लागत की रेखाएँ गिरती है। चित्र को देखने से ज्ञात है कि जिस तेजी से सीमान्त लागत गिरती है । उसकी तुलना में औसत लागत कम तेजी से गिरती है अर्थात MC से AC उपर है ।

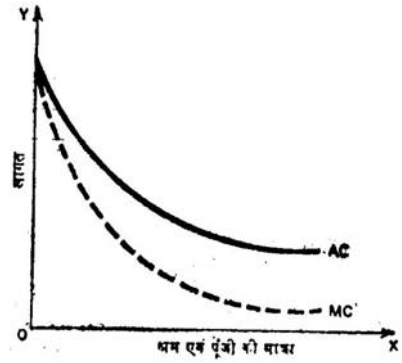

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

उत्पति वृद्धि नियम के लागू होनें के कारण – उतपति वृद्धि नियम के लागू हाने के प्रमुख करण निम्नलिखित हैः–

(1) उत्पति के विभिन्न साधनों को वांछित अनुपात में जुटाने की क्षमता – उत्पादक अपने उत्पादन को बढ़ाने के लिए उत्पति के साधनों में हेरा फेरी करके अकुशल साधन की जगह कुशल साधन को लगाता है । इस क्रिया को प्रतिस्थापन की क्रिया कहा जाता है । अतः प्रतिस्थापन क्रिया के लागू होने से ही उत्पादन बढ़ता है।

(2) साधनों की अविभाज्यता – श्रीमती जॉन रॉबिन्सन के अनुसार उत्पति वृद्धि नियम के लागू होने का प्रमुख कारण साधनों की अविभाज्यता है । अर्थात् साधनों के छोटे छोटे भाग नही किये जा सकते है । उदाहरण के लिए, मशीनें, व्यवस्थापक, पूंजी आदि को मनचाहे रूप में विभाजित नही किया जा सकता है । उत्पादन के प्रारम्भ में जब अविभाज्य साधन के साथ परिवर्तनशील साधनों का लगाया जाता है, तो उत्पादन अनुपात से अधिक मात्रा में बढ़ने लगता है ।

(3) बड़े पैमाने की उत्पति की बचतें – कुछ उधोग धन्धे ऐसे है, जिन्हैं बढ़े पैमाने की आन्तरिक तथा बाह्य बचतें प्राप्त होती है । इन बचतों के कारण उत्पादन लागत घटती है, परिणामस्वरूप उत्पत्ति वृद्धि नियम लागू होने लगता है ।

(4) वैज्ञानिक आविष्कार – उत्पादन को बढ़ाने के लिए उद्योग धन्धे में लगातार नये नये प्रयोग किये जाते है । इन प्रयोगों से उतपादन में वृद्धि होती है । जब उत्पादको को उत्पादन घटने का आभास होने लगता है तब उकें द्वारा उत्पादन को बढ़ानें के लिए नये नये अनुसन्धान या खोज कर लिये जाते है । इन अनुसन्धानों या खोजों के कारण उत्पादन घटनें की अपेक्षा बढनें लगता है ।

(5) प्रकृति का प्रभाव कम – उत्पति वृद्धि नियम में प्रकृति की अपेक्षा व्यक्ति का प्रभाव अधिक रहता है। वर्षा, गर्मी, पाला, बाढ आदि का प्रभाव कृषि उद्योग की अपेक्षा सामान्य उद्योग धन्धों मे कम पड़ता है। अतः उद्योग में कृषि की अपेक्षा उत्पति वृद्धि नियम अधिक प्रभावी होता है।

(6) व्यवसाय का प्रबन्ध – उत्पति वृद्धि नियम के लागू होने का एक प्रमुख कारण यह है कि प्रारम्भिक दशा में, उत्पति के साधनों के बीच उपयुक्त तालमेल बैठा लिया जाता है। व्यवस्थापक की कुशलता के प्रभाव से, उत्पादन की मात्रा साधनों के अनुपात से कई गुना अधिक बढ़ जाती है। परिणामस्वरूप, उत्पादन लागत घटती है और उत्पति वृद्धि नियम लागू हो जाता है।

नियम का क्षेत्र :– प्रो. मार्शल ने उत्पति वृद्धि नियम के क्षेत्र को काफी संकुचित कर दिया है, जबकि आधुनिक अर्थशास्त्रियों ने इस नियम के क्षेत्र को काफी व्यापक बना दिया है । उत्पति वृद्धि नियम केवल कल कारखानों में ही लागू नहीं होता है, बल्कि यान्त्रिकीकरण के प्रभाव से कृषि के क्षेत्र में भी लागू होने लगा है। उत्पादन का चाहे कोई भी क्षेत्र, उस क्षेत्र मे जब तक साधनों को अनुकूलतम अनुपात में बढ़ाया जायेगा तब तक उत्पति वृद्धि नियम लागू होता रहेगा । अतः इस नियम का क्षेत्र सीमित न होकर व्यापक है।

बोध प्रश्न :–

- उत्पत्ति ह्रास नियम तथा उत्पत्ति स्थिर नियम केवल ह्रास नियम के ही अस्थाई रुप हैं इस कथन की व्याख्या कीजिये।
- उत्पत्ति वृद्धि नियम लागू होने के कोई दो कारण दीजिये।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

- परिवर्तनशील अनुपातों के नियम का है।
- उत्पत्ति के नियमों की विभिन्न अवस्थाओं के चित्र बनाइये।

2.3 समोत्पाद वक्र :–

उपभोक्ता के व्यवहार के अन्तर्गत उदासीनता वक्र विश्लेषण की सहायता से इस बात की जानकारी ज्ञात की थी कि एक उपभोक्ता अपने समिति साधनों से किस प्रकार अधिकतम सन्तोष प्राप्त करता है । उत्पादन के अन्तर्गत समोत्पादक वक्र (Isoquants) विश्लेषण की सहायता से इस बात की जानकारी ज्ञात की जाती है कि कब और कैसे कोई उत्पादक अपने सीमित साधनों से अधिकतम उत्पादन प्राप्त कर सकता है या सन्तुलन में हो सकता है। इस बात को वैज्ञानिक ढंग से समझाने का प्रयास फ्रिस (Frish) हिक्स (Hicks) तथा बोल्डिंग (Boulding) आदि अर्थशास्त्रियों ने किया है । प्रत्येक उत्पादन अपने समिति साधनों के ऐसे संयोगों की खोज मे रहता है, जिससे उसकी लागत कम–से–कम और उत्पादन अधिक–से–अधिक हो ।

समोत्पाद वक्र की परिभाषा :–

एक समोत्पाद वक्र दो साधनों (श्रम एवं पूंजी) के उन विभिन्न संयोगों की प्रदर्शित करता है जिनसे समान मात्रा मे उत्पादन होता है । जिस प्रकार से उदासीनता वक्र को प्रत्येक बिन्दु उपभोक्ता को समान सन्तोष प्रदान करता है, ठीक उसी प्रकार से हम समोत्पाद वक्र के बारे मे भी कह सकते है कि उत्पादक इस वक्र मे चाहे किसी भी बिन्दु पर रहे उसे एक समान उत्पादन प्राप्त होगा । समोत्पाद वक्र विश्लेषण की परिभाषा देते हुए कीरस्टेड (Keirstead) ले लिखा है कि ''समोत्पाद वक्र दो साधनों के उन सभी सम्भावित संयोगों को बताती है जो समान उत्पादन प्राप्त करती है ।''

समोत्पाद वक्र रेखा को उत्पादन अनधिमान वक्र तथा स्थिर उत्पादन वक्र के नाम से भी पुकारा जाता है । स्थिर उत्पादन वक्र रेखा की परिभाषा देते हुए कोहन (Cohen) ने लिखा है कि ''एक सम उत्पादक वक्र वह वक्र होता है जिस पर उत्पादन की अधिकतम प्राप्ति दर स्थिर होती है ।''

उदाहरण द्वारा स्पष्टीकरण–हम यहॉ एक काल्पनिक उदाहरण के द्वारा समोत्पाद वक्र के विचार को स्पष्ट करते है। व्याख्या के लिए तालिका संख्या 2.3 की सहायकता ली जा सकती है।

तालिका संख्या 23.1

संयोग	श्रम की इकाई (x)	पूंजी की इकाई (y)	अनाज का उत्पादन (कुन्तल मे)	प्रतिस्थापन की दर
A	1	30	100	––
B	3	20	100	1:10
C	3	15	100	1:5
D	4	12	100	1:3

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

E	5	10	100	1:2

तालिका संख्या 2.3 को देखने से ज्ञात है कि एक इकाई श्रम व 30 इकाई पूंजी के लगाने से 100 कुन्तल अनाज उत्पादन होता है । इतने ही अनाज के उत्पादन के लिए दो इकाई श्रम व 20 इकाई पूंजी लगाने की आवश्यकता होगी । पांच इकाई श्रम व 10 इकाई पूंजी लगाने पर भी 100 कुन्तल अनाज का उत्पादन होता है । तालिका में एक विशेष बात यह देखने को मिलती है कि प्रतिस्थापन की सीमान्तर दर घटते हुए क्रम में है । उत्पादक के द्वारा ज्यो ज्यों श्रम (x) की इकाईयों को बढ़ाया जा रहा है त्यो–त्यों पूंजी (y) की इकाईयों में कमी की जाती है। उत्पादन स्तर को पूर्ववत् बनाये रखने के लिए श्रम की मात्रा में जिस अनुपात से वृद्धि की जाती है, उसी अनुपात से पूंजी की मात्रा में कमी कर दी जाती है ताकि उत्पादन समान हो ।

तालिका मे उत्पादक x श्रम का प्रतिस्थान y पूंजी के साथ कर रहा है । प्रतिस्थापन की दर का यह विचार 'उपभोक्ता के मांग सिद्धान्त में उदासीनता वक्र विश्लेषण के प्रतिस्थापन की सीमान्त दर' के विचार की भांति है । तालिका से स्पष्ट है कि एक उत्पादक एक x श्रम और 30 y पूजी के संयोग से 100 कुन्तल अनाज का उत्पादन करता है (संयोग।) । उत्पादक x श्रम की एक इकाई बढ़ता है, तो उसे y पूंजी की 10 इकाईयों में कमी करनी होगी, ताकि उसका उत्पादन पूर्ववत रहे। दूसरे शब्दों मे दो इकाई श्रम व 20 इकाई पूंजी (B संयोग) से भी उपादन को 100 कुन्तल अनाज प्राप्त होता है । संक्षेप मे x श्रम साधन की y पूंजी साधन के लिए प्रतिस्थापन की सीमान्तर दर दर 10 इकाईयों है, जो कि साधन x श्रम की एक इकाई बढ़ाने की प्रक्रिया मे घटायी जाती है। अतः यहा पर प्रतिस्थापन की सीमान्त पद 1:10 (संयोग B) है । ज्यो–ज्यों उत्पादक x श्रम की इकाईयों को y की इकाईयों के स्थान पर प्रतिस्थापित करता जाता है, त्यों–त्यों प्रतिस्थापन की सीमान्त दर घटती है ।

रेखाचित्र द्वारा स्पष्टीकरण – तालिका संख्या 2.3 की सहायता से समोत्पाद वक्र की रचना की जा सकती है । तालिका मे दिये गये A, B, C, D तथा E संयोग को एक रेखा मे अंकित कर दे तो इस प्रकार जो वक्र प्राप्त होगी उसे हम समोत्पाद वक्र कहेगें । इस स्थिति को वित्र 2.3 से स्पष्ट कर सकते है । चि मे X-axis पर श्रम तथा Y-axis पर पूंजी की मात्रा दी गयी है । जब एक उत्पादक 30 पूंजी तथा 1 श्रम अर्थात (30+1) की इकाईयों को उत्पादन मे लगाता है, तो A सयोग अर्थात 100 कुन्तल अनाज का उत्पादन होता है । B संयोग पर 20 पूंजी व 2 श्रम को लगाकर पुर्ववत उत्पादन 100 कुन्तल ही है । इसी प्रकार C, D तथा E संयोग से भी 100 कुन्तल उत्पादन होता है । A से E तक के सभी संयोगों को Iq वक्र द्वारा मिलाया गया है, जिसे हम समोत्पाक वक्र कहते है–जिसका प्रत्येक संयोग समान उत्पादन प्रदर्शित करता है । संक्षेप मे, समोत्पाद वक्र उत्पति के दो साधनों के विभिन्न संयोग निश्चित मात्रा मे उत्पादन प्रदान करते है ।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

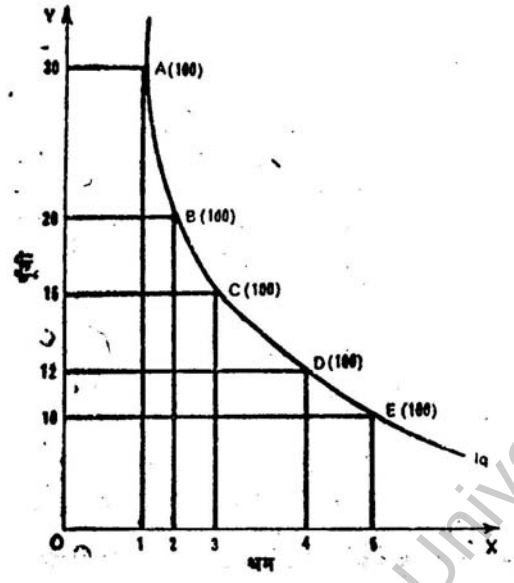

उत्पादन साधानों के मध्य तकनीकी प्रतिस्थान की सीमान्त दर :–

दो साधनों के मध्य तकनीकी प्रतिस्थापन की सीमान्त दर वह है जिसके अनुसार, उत्पति मात्रा को स्थिर रखते हुए एक साधन को दूसरे साधन मे स्थान पर प्रतिस्थापित किया जा सकता है। दूसरे शब्दो मे x साधन की y साधन के लिए तकनीकी प्रतिस्थापन की सीमान्त दर का अर्थ है कि x साधन की एक इकाई y साधन की कितनी इकाईयों के स्थान पर प्रयोग हो सकती है जिससे उत्पादन की मात्रा पूर्ववत रहे । तकनीकी प्रतिस्थान की सीमान्त पद (MRTS) को निम्न प्रकार से लिखा जा सकता है।

$$MRTS = \frac{\delta y}{\delta x}$$

यहां δy = पूंजी के उपयोग मे परिवर्तन

δx = श्रम के उपयोग मे परिवर्तन

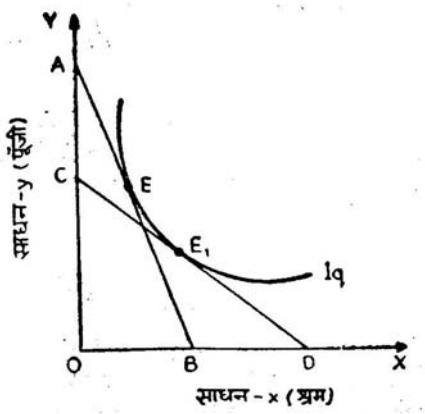

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

तकनीकी प्रतिस्थापन की सीमान्त पद तब ज्ञात की जा सकती है जब पूंजी की परिवर्तित मात्रा में श्रम की परिवर्तित मात्रा का भाग दे दिया जाय, हम समोत्पाद वक्र के किसी बिन्दु पर तकनीकी प्रतिस्थापन की सीमान्त पद वहॉ पर खींची गयी स्पर्श रेखा (tangent) की ढाल (slope) से मालूम कर सकते है । इस तथ्य को चित्र संख्या 2.3 (अ)से स्पष्ट किया जा सकता है ।

वित्र मे Iq समोत्पाद वक्र खींचा गया है जिस पर E व E दो बिन्दु लिये गये है । E बिन्दु को स्पर्श करती हुए AB तथा E_1 बिन्दु को स्पर्श करती हुई CD रेखाएं खीची गयी है । स्पर्श रेखा AB की ढाल AO/OB के बराबर है । अतः Iq समोत्पाद वक्र पर E बिन्दु की तकनीकी प्रतिस्थापन की सीमान्त दर (MRTS)= AO/OB के बराबर है । इसी प्रकार CD स्पर्श रेखा की ढाल OC/OD है । इसलिए समोत्पादक वक के E_1 बिन्दु पर तकनीकी प्रतिस्थापन की सीमान्त दर OC/OD होगी ।

समोत्पाद वक्र मानचित्र :–

जिस प्रकार हम उदासीनता वक्र विश्लेषण के अन्तर्गत उदासीनता वक्र मानचित्र की व्याख्या कर चुके है ठीक उसी प्रकार से उत्पादन के अन्तर्गत एक उत्पादक के सन्दर्भ मे एक से अनेक समोत्पाद वक्र हो सकते है, जिन्हें समोत्पाद वक्र मानचित्र कहा जाता है । एक उत्पादक हमेशा समिति साधनों से अधिकतम उत्पादन प्राप्त करना चाहता है यह वह अपने साधनों के ऐसे संयोगों की खोज मे रहता है, जो उसके उत्पादन को अधिकतम कर सकें। उत्पादक जब किसी एक साधन को स्थिर रखकर दूसरे साधन को या दोनों साधनों को उत्तरोत्तर बढ़ाता है, तो उत्पादक का उत्पादन पहले की अपेक्षा अधिक बढ़ जाता है । ज्यों–ज्यों साधनों में वुद्धि की जाती है, त्यों–त्यों उत्पादन का स्तर बढ़ता ही जाता है । इस प्रकार एक फर्म के समबन्ध में भी उत्पादन के विभिन्न स्तर हो सकते है । इन विभिन्न स्तरों को व्यक्त करने वाली वक्रों को समोत्पाद वक्र मानचित्र कहा जाता है । समोत्पाद वक्र मानचित्र की व्याख्या को चित्र 2.3 से स्पष्ट किया जा सकता है ।

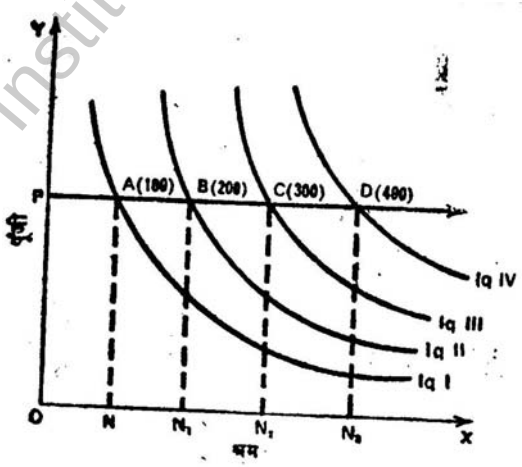

चित्र मे X-axis पर श्रम और Y-axis पर पूंजी की इकाइयॉ दी गयी है । Iq I, Iq II, Iq III तथा Iq IV क्रमशः अनेक समोत्पाद वक्र है । प्रत्येक वक पर A, B, C तथा D संयोग दिखाये गये है । A संयोग पर उत्पादक OP मात्रा में पूंजी तथा ON मात्रा मे श्रम लगाकर 100 कुन्तल अनाज का उत्पादन कर सकता है जो Iq I की स्थिति है ।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

B संयोग पर पूंजी की मात्रा OP पूर्ववत रहती है, जबकि श्रम की मात्रा बढ़कर ON_1 हो जाती है। अब अनाज का उत्पादन 100 कुन्तल से बढ़कर 200 कुन्तल हो जाता है, जो Iq II पर स्थित है। अतः Iq I की अपेक्षा Iq II पर उत्पादन का स्तर ऊँचा है।

C संयोग पर उत्पादक के द्वारा OP मात्रा में पूंजी तथा ON_2 मात्रा में श्रम की इकाई लगायी जाती है । जिससे उत्पादन बढ़कर 300 कुन्तल हो जाता है । अतः Iq II की अपेक्षा Iq III उत्पादन के उच्च स्तर को दिखाती है। यही स्थिति अन्तिम Iq IV की भी है। इस व्याख्या से स्पष्ट है कि प्रत्येक अगली समोत्पाद पहली समोत्पाद वक्र से अधिक उत्पादन के स्तर को व्यक्त करती है। अर्थात जो समोत्पाद वक्र मूल बिन्दु से जितनी दूरी पर होगी उसके उत्पादन का स्तर उतना ही ऊँचा होगा ।

समोत्पाद मानचित्र की मान्यताएं (Assumpitions of Iso-Product Corve Map) :-

समोत्पाद मानचित्र के सन्दर्भ में निम्न मान्यताओं को मान लिया गया है :–

(i) यह व्याख्या उत्पति के केवल दो ही साधनों के सन्दर्भ में की जाती है, क्योंकि शेष साधनों को रेखाचित्र में प्रदर्शित करना सम्भव नहीं है ।

(ii) उत्पादन की तकनीक में किसी प्रकार का परिवर्तन नही होता है ।

(iii) उत्पादन की मात्राओं को छोटी–छोटी राशि में विभाजित किया जा सकता है ।

(iv) उत्पादन तकनीक के स्थिर रहते हुए प्रयुक्त किये जाने वाले उत्पादन के साधनों को प्रयोग उनकी पूरी कुशलता से किया जाता है ।

समोत्पाद वक्रों की विशेषताएं :–

समोत्पाद वक्र की प्रमुख विशेषताएं निम्नलिखित है :–

(1) समोत्पाद वक्र बाये से दाये नीचे की ओर झुकी रहती है :– समोत्पाद वक्र का सुझाव ऋणात्मक होता है, क्योकि इसका समबन्ध प्रतिस्थापन की दर पर निर्भर कता है । समान उत्पादन के स्तर को प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि एक साधनों में कमी करके दूसरे साधन में वुद्धि की जाय। फलतः समोत्पाद वक्र का आकार मांग की रेखा से मिलता है । यदि एक साधन को स्थिर रखकर दूसरे साधन को उतरोतर बढाते रहें, तो उत्पादन की मात्रा वुद्धि होगी और यह क्रिया समान उत्पादन की क्रिया से भिन्न होगी । इस व्याख्या को हम चित्र संख्या 2.4 से स्पष्ट कर सकते है ।

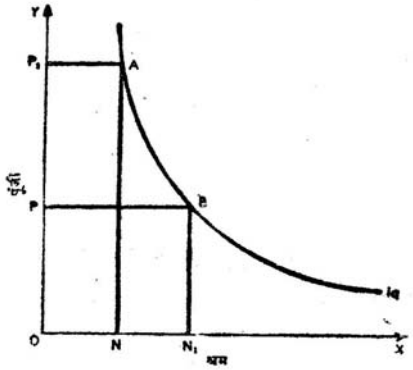

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

चित्र में X-axis पर श्रम व Y-axis पर पूंजी की मात्रा दिखायी गयी है । जि में Iq समोत्पाद वक्र है जब उत्पादक के द्वारा OP_1 पूंजी व ON श्रम लगाया गया, तब उत्पादन का संयोग ए बिन्द पर है । अब इसी संयोग के बराबर उत्पादन प्राप्त करने के लिए उत्पादक वाई पूंजी की मात्रा में कमी तथा ऐक्स श्रम की मात्रा में वृद्धि कर देता है । अर्थात ओ.पी. मात्रा मे पूंजी और ON_1 मात्रा में श्रम लगाने पर B संयोग को प्राप्त किया जाता है। इस प्रकार चित्र मे PP_1 के बराबर Y मे कमी की गयी है जबकि NN_1 के बराबर एक्स मे वृद्धि है । इस प्रकार Iq रेखा का A संयोग खिसककर B संयोग पर आ गया है और Iq रेखा दाये से बायें ओर झुकती हुई आगे बढ़ती है ।

(2) समोत्पाद वक लम्बवत् नही होता :– समोत्पाद वक्र की दूसरी विशेषता यह है कि वह X-axis पर लम्बवत् नही होगा । यदि थोड़ी देर के लिए उसकी आकृति को लम्बवत् मान लिया जाय, तो वह समोत्पाद वक्र के अनुकूल अचारण नही करेगी, क्योकि ऐसा तभी होगा जब एक साधन को स्थिर रखते हुए दूसरे साधन को उतरोतर बढाया जायेगा । अतः समोत्पाद वक्र की स्थित प्रत्येक अगला संयोग पहले संयोग से अधिक उत्पादन देने वाला होगा, जबकि हम जानते है कि एक समोत्पाद वक्र का प्रत्येक बिन्दु समान उत्पादन देता है ।

अतः समोत्पाद वक्र लम्बवत् नही होगा । इस व्याख्या को हम वित्र संख्या 2.4 मे स्पष्ट कर सकते है ।

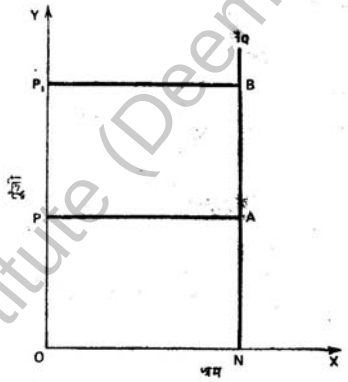

चित्र मे Iq एक खड़ी समोत्पाद वक्र है जो X-axis पर लम्ब बना रही है । ON मात्रा में श्रम तथा ओ.पी. मात्रा में पूंजी लगाने से यहां ए संयोग प्राप्त किया जाता है, जो एक निश्चित उत्पादन के स्तर को बताता है । इसी रेखा पर एक बी संयोग भी है । इस संयोग पर ओ एन मात्रा मे श्रम तथा ओ पी वन मा.त्रा में पूंजी लगायी गयी है । स्पष्ट है कि बी संयोग पर पूंजी कीमात्रा को बढ़ा दिया गया है । अतः बी संयोग पर ए संयोग की अपेक्षा अधिक उत्पादन प्राप्त होगा । हम जानते है कि समोत्पाद रेखा का प्रत्येक संयोग समान उत्पादन देता है, लेकिन चित्र मेब बी संयोग ए संयोग से अधिक उत्पादन बताता है । जो समोत्पाद वक्र की प्रकृति से विपरीत है । अतः समोत्पाद वक्र की आकृति लम्बवत् नही होगी।

(3) समोत्पाद वक्र का क्षैतिजीय न होना :– समोत्पाद वक्र की आकृति X-axis के समामान्तर नही होगी। यदि थोड़ी देर के लिए समोत्पाद वक्र की आकृषित को ऐसा मान लिया जाय, तो यह दशा भी समोत्पाद वक्र के अनुकूल आचरण नही करेगी, क्योकि यहां साधन की एक मात्रा को स्थिर रखा गया है, जबकि दूसरे साधन की मात्रा को उतरोतर बढाया जा रहा है । इस प्रकार वक्र का प्रत्येक अलग संयोग पहले संयोग से अधिक उत्पादन बताता है । अतः समोत्पाद वक्र का आकार क्षेतिजीय नही हो सकता है । इस व्याख्या को हम चित्र 2.5 से स्पष्ट कर सकते है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

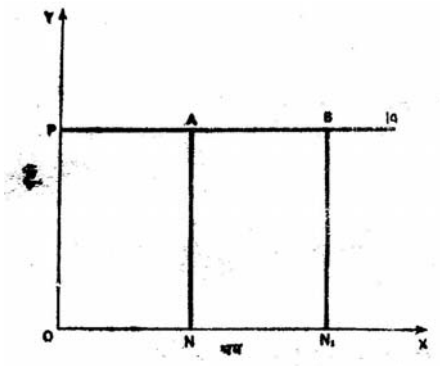

चित्र मे Iq एक समोत्पाद वक्र है जिस पर ए सयांग बताता है कि पूंजी की ओ.पी. तथा श्रम को ओ.एन मात्रा के लगाने से एक निश्चित मात्रा मे उत्पादन प्राप्त होता है, जबकि बी संयोग पर पूर्ववत् पूंजी और ON_1 अधिक श्रम के लगाने से उत्पादन बढ़ता है । अतः एक ही समोत्पाद वक्र पर ए तथा बी संयोग उत्पादन के अलग अलग स्तर बता रहे है जो सही नही है ।

(4) समोत्पाद वक्र की आकृति का धनात्मक न होना :– समोत्पाद वक्र की आकृति घनात्मक नही होगी । यदि हम ऐसे समोत्पाद वक्र की कल्पना कर ले, तो यह भी समोत्पाद वक का अचारण नही करती हैं, क्योकि ऐसी रेखा यह बताती है कि साधनों की दोनों मात्राओं को उपतरोतर बढाया जा रहा है । अतः ज्यो–ज्यों साधनों की मात्राओं को बढ़ाया जायेगा, त्यो–त्यों अगला संयोग पहले संयोग की अपेक्षा अधिक उत्पादन देगा, जो गलत है । अतः समोत्पाद वक्र का आकार घनात्मक नही हो सकता है । इस व्याख्या को चित्र संख्या 2.6 से स्पष्ट किया जा सकता है ।

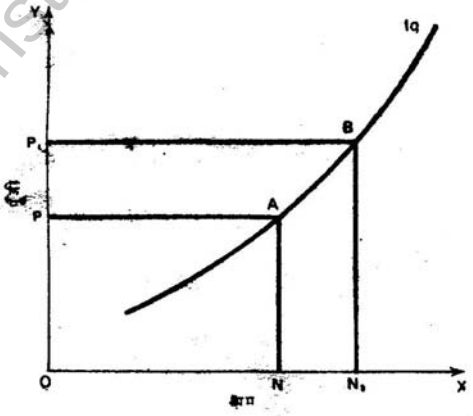

चित्र मे Iq वक्र धनात्मक उत्पादन की स्थिति को बताता है। वक्र के ए संयोग ओ.एन श्रम तथा ओ.पी. पूंजी लगाने के एक निश्चित मात्रा मे उत्पादन प्राप्त कर लिया जाता है। उसी वक्र के B संयोग पर ON_1 श्रम तथा OP_1 पूंजी लाकर जो उत्पादन प्राप्त किया जा रहा है वह पहले उत्पादन से अधिक है, क्योकि B संयोग पर श्रम व पूंजी दोनों की ही मात्राओं को बढ़ा दिया गया है। अतः एक ही समोत्पाद वक्र पर A संयोग की अपेक्षा B संयोग अधिक उत्पादन देता है जो समोत्पादक वक्र की शर्त के अनुकूल नहीं है। अतः समोत्पाद वक्र की आकृति धनात्मक नहीं होगी।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

(5) समोत्पाद वक्र अनेक हो सकती है :– समोत्पाद वक्र एक नहीं अनके हो सकती है। और प्रत्येक अलग–अलग उत्पादन के स्तर को बनायेगी। इस तथ्य को हम चित्र संख्या 2.7 से स्पष्ट कर सकते है। चित्र में Iq I, Iq II तथा Iq III समोत्पाद वक्रो को दिया गया हैं। Iq I के A संयोग पर OP पूंजी तथा ON श्रम को लगाया गया हैं, इस प्रकार A संयोग के उत्पादन की अपेक्षा B संयोग का उत्पादन और B से C संयोग का उत्पादन अधिक है, क्योकि B तथा C संयोग पर पूंजी की मात्रा तो पूर्ववत् है, परन्तु श्रम की मात्रा को उतरोतर बढ़ाया जा रहा हैं परिणामस्वरुप, Iq I की अपेक्षा Iq III अधिकाधिक उत्पादन के स्तर को बतायेगी। संक्षेप में हम कह सकते है कि मूल बिन्दू से जो भी समोत्पाद वक्र जितनी दूरी पर होगी वह उत्पादन के उतने ही ऊँचे स्तर को बतायेगी।

(6) समोत्पाद वक्र रेखा मूल बिन्दु की ओर उन्नतोदर होती है :– समोत्पाद वक्र की इस आकृति का मूल कारण यह है कि जब एक साधन की एक मात्रा में कमी की जाती है तो दूसरे साधन की मात्रा को बढ़ा दिया जाता है। प्रारम्भ में प्रतिस्थापन की यह दर न्यून होती है परन्तु ज्यों ज्यों समय बीतता जाता है, त्यों त्यो इस दर में वृद्धि की जाती है। परिणामस्वरुप समोत्पाद वक्र रेखाऐं मूल बिन्दु की ओर उन्नतोदर होती हैं

(7) समोत्पाद वक्र एक दूसरे को नही काटती है :– समोत्पाद वक्र एक दूसरे को नही काटेगी। यदि ऐसी स्थिति है तो इसे समोत्पादक वक्र नही कहा जायेगा। इस व्याख्या को चित्र संया 2.8 की सहायकता से स्पष्ट किया जा सकता हैं चित्र में Iq I तथा Iq II दो समोत्पाद वक्र एक दूसरे को A बिन्दु पर काटती हैं इस बिन्दु पर उत्पादन की एक निष्चित मात्रा प्राप्त होती हैं A बिन्दु से दायी ओर Iq I, II से कम उत्पादन का जबकि A बिन्दु के बायीं ओर Iq I बदलकर Iq II और Iq I, II Iq I बन जाती है जो उत्पादन के अलग अलग स्तर को बताती है। अतः एक ही समोत्पाद वक्र उत्पादन के अलग अलग स्तर को नही बता सकती है। इसलिए ये रेखाऍं आपस में एक दूसरे को नहीं काट सकती है।

(8) समोत्पाद की सीमा रेखा या ''रिज रेखा'' :– समोत्पाद वक्र का केवल वह भाग जो परिधि रेखाओं के बीच में है, उत्पादन के लिए उपयुक्त है, इस बात को समने के लिऐ आइए हम सम उत्पाद की सीमा रेखाओं का ज्ञान प्राप्त कर ले।

सामान्यतया, सम–उत्पाद वक्र बायीं ओर से दाहिनी ओर नीचे को ढालू होते है, लेकिन एक सीमा के बाद ये पीछे की ओर मोड़ लिये हुए अर्थात् धनात्मक ढाल के होते है। दूसरे शब्दो में एक सीमा के बाद सम–उत्पाद वक्र के सिर (Corner) का ढाल धनात्मक होता है, यह स्थिति तब उत्पन्न होती है, जब एक उत्पादक आवष्यकता से अधिक श्रम अथवा पूंजी या दोनो साधनों का प्रयोग करता है। अतः एक उत्पादक सम–उत्पाद वक्रो के उन्ही भागों में उत्पादन निष्चित करेगा। जो मूल बिन्दू के प्रति उन्नतोदर या रिज रेखाओं के बीच स्थित है, इस कथन को चित्र संख्या 2.9 से स्पष्ट किया जा सकता है।

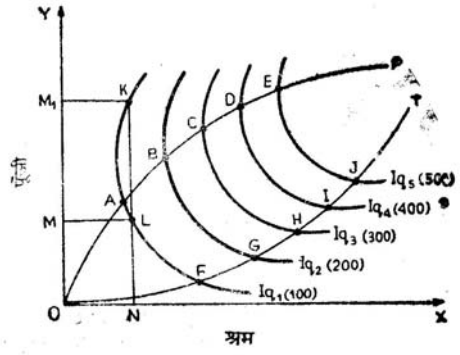

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

चित्र में क्रमशः Iq_1, Iq_2, Iq_3, Iq_4, तथा Iq_5 सम–उत्पाद वक्र है। इन पर A, B, C,D, E,F, G, H, I तथा J बिन्दु है। इन बिन्दुओं के ठीक बाद सम–उत्पाद वक्र पीछे की ओर मोड़ लिये हुए हैं सम उत्पाद वक्र Iq_1 के A बिन्दु पर पूंजी की अधिकतम मात्रा तथा श्रम की न्यूनतम मात्रा का प्रयोग करके वस्तु की 100 इकाइयों का उत्पादन किया जाता हैं यदि इस A बिन्दु के ऊपर पूंजी का अधिक प्रयोग किया जाय, तो उत्पादकता ऋणात्मक हो जायेगी। उदाहरण के लिए, यदि हम Iq_1 के K बिन्दु पर पूंजी की OM_1 व श्रम की ON इकाइयों का प्रयोग करें, तो वस्तु की 100 इकाइयों का ही उत्पादन होगा। अब Iq_1 के L बिन्दू पर आइये यहां पर श्रम की ON पूर्व इकाइयों के साथ पूंजी की केवल OM इकाइयों को प्रयोग करें, तो वस्तु की 100 इकाइयॉ उत्पादित होती है। इससे स्पष्ट है कि पूर्व बिन्दु K पर पूंजी की कुछ अतिरिक्त इकाइहयों की सीमान्त उत्पादकता ऋणात्मक है, अतः कोई भी समझदार उत्पादक K बिन्दु पर उत्पादन करना पसन्द नहीं करेगा।

इसी प्रकार यदि उत्पादक Iq_1 के F बिन्दु के आगे किसी अन्य बिन्दु पर उत्पादन करता है तो श्रम का सीमान्त उत्पादक ऋणात्मक होगा, अतः Iq_1 का केवल AF भाग जो मूल बिन्दु के प्रति उन्नतोदर है, के बीच ही उत्पादन करेगा। इसी प्रकार शेष सम–उत्पाद वक्रो की भी व्याख्या की जा सकती है।

चित्र में विभिन्न सम–उत्पाद वक्रों के A,B,C,D तथा E बिन्दुओं को मिलाने पर OP और F,G,H,I तथा J बिन्दुओं को मिलाने पर OT रेखा प्राप्त होती है। ये परिधि रेखाऐं है, इन परिधि रेखाओं के बीच का भाग उत्पादन के लिए उपयुक्त है।

चित्र संख्या 2.9 में OP तथा OT परिधि रेखाओं पर स्थित पॅूजी और श्रम के विभिन्न संयोगो की यह विशेषता है कि OP परिधि रेखा पर पूंजी की सीमान्त उत्पत्ति तथा OT परिधि रेखा पर श्रम की सीमान्त उत्पत्ति शून्य हैं। OT परिधि रेखा के दायी ओर पूंजी की स्थिति मात्रा के साथ प्रयुक्त श्रम की मात्रा के लिए श्रम की सीमान्त उत्पत्ति ऋणात्मक होगी। इसी प्रकार श्रम की स्थिर मात्रा के साथ OP परिधि रेखा से ऊपर पूजी की किसी भी मात्रा के लिए पूंजी की सीमान्त उत्पादकता ऋणात्मक होगी। स्पष्टतः OT व OP परिधि रेखाओं के मध्य स्थित सम–उत्पाद वक्रो के भाग आर्थिक दृष्टि से महत्वपूर्ण है, जबकि परिधि रेखाओं के बाहर के क्षेत्र उत्पादन के अनार्थिक क्षैत्र है जिनका एक उत्पादक के लिए कोई महत्व नही होता है।

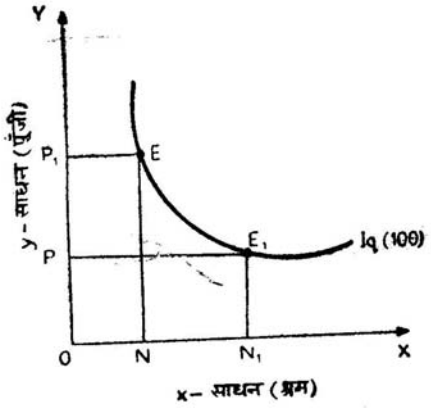

अब हम चित्र संख्या 2.10 को सहायकता से पूजी और श्रम की न्यूनतम तथा अधिकतम मात्राओं की ओर भी अधिक स्पष्ट व्याख्या कर सकते है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

चित्र में E बिन्दु पर उत्पादन करने के लिए पूंजी की अधिकतम मात्रा OP_1 तथा श्रम की न्यूनतम मात्रा ON है, E_1 बिन्दु पर पूंजी की न्यूनतम मात्रा OP तथा श्रम की अधिकतम मात्रा ON_1 है, ध्यान रहे कि $E = E_1$ है।

संक्षेप में, (1) पूंजी की अधिकतम मात्रा OP_1

(2) श्रम की अधिकतम मात्रा ON_1

(3) पूंजी की न्यूनतम मात्रा OP_1

(4) श्रम की न्यूनतम मात्रा ON_1

समोत्पाद वक्र एवं उदासीनता वक्र में अन्तर

समोत्पाद तथा उदासीनता वक्र विश्लेषण की व्याख्या का मूल आधार लगभग समान है। एक उपयोग उत्पादन में किया जाता है, जबकि दूसरे का उपयोग उपभोग में। मूल आधार के समान होते हुए भी इन दोनों के बीच मूलभूत अन्तर भी हैं। इस अन्तर को निम्न प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है :–

(1) समोत्पाद रेखाऐं वस्तु की भौतिक मात्रा को बताती है। जबकि उदासीनता की रेखाऐं उपभोक्ता के सन्तोष को प्रकट करती है, जो मापनीय नहीं है। समोत्पाद रेखाओं की सहायता से भौतिक वस्तु की उत्पादित मात्रा को मापा जा सकता है।

(2) एक उदासीनता वक्र में दो वस्तुओ के उन विभिन्न संयोगो को दिखाया जाता है। जिससे उपभोक्ता को समान सन्तुष्टि प्राप्त होती है, जबकि समोत्पाद वक्र में दो वस्तुओं के स्थान पर दो उत्पादन के साधनों को लिया जाता है जो ऐसे संयोगो को व्यक्त करता है जिनसे समान उत्पादन प्राप्त किया जा सकता है।

बोध प्रश्न :–

- समोत्पाद वक्रो का अर्थ स्पष्ट कीजिये। इनकी मुख्य विशेषताओं का वर्णन कीजियें।
- समोत्पाद वक्र एवं उदासीनता वक्र में अन्तर बताइये।
- समोत्पाद वक्रो को वैज्ञानिक ढंग से समझने का प्रयास किन अर्थशास्त्रियो ने किया?

2.4 साधनों का अनुकूलतम (न्यूनतम लागत) संयोग :–

सम उत्पाद वक्र में श्रम व पूँजी के संयोग को दिखाया जाता है । इन संयोगो के कारण उत्पादक को समान उत्पादन प्राप्त होता है । एक उत्पादक के सामने हमेशा यह समस्या रहती है कि वह विभिन्न संयोगों में से किस संयोग का चुनाव करेगा कि उसे अपनी सीमाओं के बीच रहते हुए अधिकतम उतपादन प्राप्त हो सके । इस समस्या के समाधान हेतु उत्पादक को निम्न दो उपकरणों की सहायता लेनी होती है ।

(i) सम उत्पाद मानचित्र (Iso-product Map), तथा

(ii) सम लागत वक्र (Iso Cost Curve)

सम उत्पाद मानचित्र की व्याख्या हम प्रारम्भ में कर चुके है, अतः अब हम सम लागत वक्र का विवेचन करेंगें ।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

उपर्युक्त दो बातों की जानकारी करने के बाद हम उत्पादक के साम्य को ज्ञात कर सकते है ।

सम लागत वक्र अथवा साधन कीमत वक्र (Iso cost Curve or Factor Price Curve) – सम लागत वक्र की धारणा लगभग वही है, जो उदासील वक्र में कीमत रेखा की है। अतः सम लागत वक्र को दो साधनों के उन विभिन्न संयोगों को व्यक्त करती है, जिन्हें एक उत्पादक, साधनों की दी हुई कीमतों तथा दिये हुए लागत व्यय पर क्रय करता है । सम लागत वक्र को अनेक नामों से पुकारा जाता है । जैसे – 'साधन कीमत रेखा', 'व्यय रेखा', 'व्यय परिधि रेखा', तथा फर्म की 'बजट नियन्त्रण रेखा' आदि । सम लागत रेखा को चित्र संख्या 2.4.1 से स्पष्ट किया जा सकता है ।

माना उत्पादक के पास 50 रूपये है, वह इसे श्रम और पूँजी (मशीन) पर व्यय करके उत्पादन करना चाहता है, यहाँ यह भी माल लीजिए की श्रम की लागत 2 रूपये और पूँजी (मशीन) की लागत 5 रूपये है, ऐसी दशा में उत्पादक के सामने निम्न वैकल्पिक सम्भावनाएँ होगी :–

(i) वह केवल 25 श्रमिक व शून्य मशीनें प्राप्त कर सकता है,

(ii) वह केवल 10 मशीनें व शून्य श्रमिक प्राप्त कर सकता है,

(iii) इन दोनों सीमाओं के मध्य साधनों के किसी भी संयोग को प्राप्त कर सकता है ।

50 रूपये की धनराशि से श्रम व पूँजी (मशीन) के अनेक संयोग हो सकते है । कुछ कल्पित संयोग नीचे दिये गये है ।

श्रमिक	पूँजी (मशीन)	श्रम + पूँजी कुल व्यय (लागत)
25	0	50 + 0 = 50
15	4	30 + 20 = 50
10	6	20 + 30 = 50
5	8	10 + 40 = 50
0	10	0 + 50 = 50

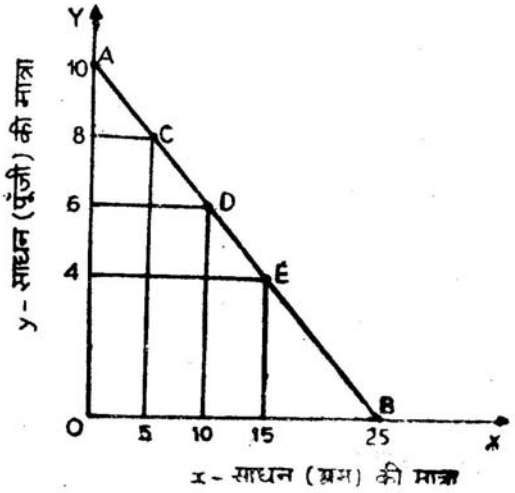

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

उपर्युक्त वैकल्पिक सम्भावनाओं का चित्र संख्या 2.4.1 से स्पष्ट किया गया है । चित्र में A B रेखा समान लागत की रेखा है, जो 50 रूपये की लागत द्वारा खरीदी जाने वाली श्रम और पूँजी (मशीन) के विभिन्न संयोगो को प्रदर्शित करती है, इस रेखा पर A बिन्दु यह बताता है कि दी हुई बाजार दर पर उतपादक केवल Y साधन (पूँजी) की 10 इकाईयॉ खरीदता है, C बिन्दु पर Y (पूँजी) की 8 व X (श्रम) की 5 इकाइयॉ खरीदता है । D बिन्दु पर Y (पूँजी) की 6 व X (श्रम) की 10 इकाइयॉ तथा E बिन्दु पर Y (पूँजी) की 4 व X (श्रम) की 15 इकाइयॉ खरीदता है । बिन्दु B पर Y (पूँजी) की शून्य व X (श्रम) की 25 इकाइयॉ खरीदता है । इस रेखा पर यदि हम कोई भी बिन्दु लें तो वह श्रम व पूँजी (मशीन) के उस संयोग को प्रदर्शित करेगा जो कि दी हुई धनराशि और श्रम व पूँजी की दी हुई कीमतों पर प्राप्त कर सकता है ।

सम लागत वक्र एक उत्पादक की दी हुई धनराशि को दो साधनों पर व्यय करने की सभी सम्भावनाओं को व्यक्त करती है । AB रेखा का ढाल दानों साधनों की कीमत अनुपात को व्यक्त करता है, दूसरे शब्दो में इस रेखा का ढाल श्रम और पूँजी के बीच मूल्यों का ऐसा अनुपात दर्शाता है, जिससे मशीनों की 10 इकाईयॉ श्रमिकों की 25 इकाइयों के बराबर होंगी ।

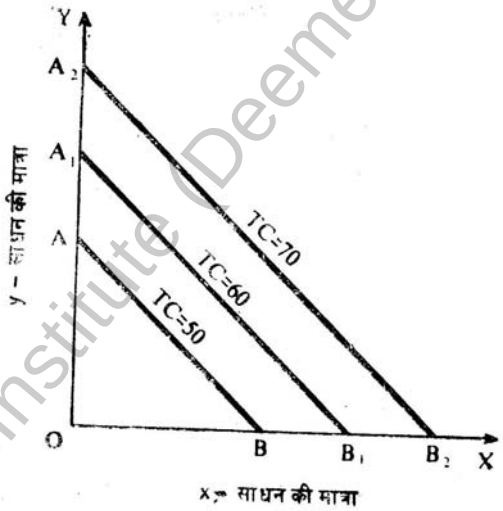

माना उत्पादक के पास व्यय करने की राशि बढ़कर 60 रूपया हो जाती है, परन्तु X तथा Y साधन की कीमतें यथास्थिर रहती है, तो ऐसी दशा में एक फर्म इस राशि पर पहले की अपेक्षा अधिक X व Y क्रय करेगा । चित्र संख्या 2.4.2 में इसे स्पष्ट किया गया है । चित्र के अनुसार नयी साधन लागत रेखा A1B1 है । यदि उतपादक अपने फर्म में केवल X श्रम साधन को लगाता है, तो 2 रूपया प्रति साधन की दर से वह X की 30 इकाइयों को क्रय कर सकता है, जिसे चित्र में B1 बिन्दु से दिखाया गया है, तो पहले से अधिक है । यदि उत्पादक अपनी फर्म में Y पूँजी (मशीन) साधन को लगाना चाहता है, तो वह 5 रूपया प्रति साधन की दर से Y पूँजी (मशीन) की 12 इकाइयों को क्रय कर सकता है, जिसे चित्र में A1 से दिखाया गया है । उत्पादक चाहे तो इस नयी साधन लागत रेखा से X तथा Y के और भी अनेक संयोग को प्राप्त कर सकता है, जैसा कि चित्र संख्या 2.4.1 में स्पष्ट कर दिया गया है । अब मान लीजिए उत्पादक के पास 70 रूपया है, इस धनराशि से वह X तथा Y साधन की और अधिक राशि क्रय करेगा। चित्र के अनुसार इस धनराशि से वह X (श्रम) साधन की OB_2 और Y (पूँजी) साधन की OA_2 मात्रा क्रय करेगा । इसके अतिरिक्त उसके और सभी संयोग हो सकते है । ध्यान रहे

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

कि कोई भी उत्पादक अपनी दी हुई साधन लागत वक्र से अधिक किसी भी संयोग को क्रय नही कर सकता है, क्योंकि उसके लिए अधिक साधनों की आवष्यकता होगी, इसके विपरीत उत्पादक अपनी साधन लागत वक्र के नीचे किसी भी साधन संयोग को नही चुनेगा, क्योंकि ऐसा करने से उत्पादक को कम उत्पादन प्राप्त होगा । अतः प्रत्येक उत्पादक अपनी दी हुई सम लगात रेखा पर ही किसी संयोग को चुनेगा।

चित्र 2.4.2 में AB, A_1B_1, A_2B_2 क्रमशः तीन सम–लागत रेखाएँ दी गयी है जो X तथा Y साधनों को क्रय करने की शक्ति को प्रदर्शित करती है । चित्र में AB सम लागत रेखा की अपेक्षा A1B1 तथा A_1B_1 की अपेक्षा A_2B_2 सम–लागत रेखा साधनों को क्रय करने का उच्च स्तर बताती है ।

चित्र में दी गयी सम लागत रेखओं का ढाल समान है । क्योंकि X तथा Y साधनों की कीमतें समान रहती है, इसलिए ये रेखाएँ एक दूसरे के समानान्तर होती है ।

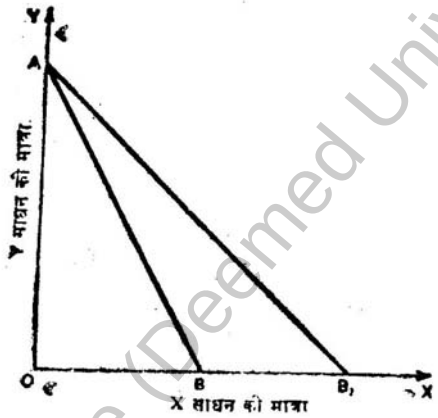

उपर्युक्त व्याख्या के अन्तर्गत हमने X तथा Y साधन की कीमतों को समान मान लिया था, लेकिन कभी एक साधन की लागत पूर्ववत्, परन्तु दूसरे साधन की लागत में परिवर्तन हो सकता है, तो सम–लागत रेखा का रूप बदल जाता है । ऐसी दशा में सम लागत रेखाएँ एक दूसरे के समानान्तर नही रहती है । इसे चित्र संख्या 2.4.3 से स्पष्ट किया जा रहा है । माना एक उत्पादक अथवा फर्म कुल 50 रूपये व्यय करके उत्पादन करना चाहती है। X साधन की कीमत 2 रूपया तथा Y साधन की कीमत 5 रूपया तथा सम लागत रेखा AB है । अब माना X साधन की कीमत 2 रूपये से घटकर । रूपया होती है तो फर्म दिये हुए लागत व्यय अर्थात 50 रूपये से X साधन की अधिक इकाईयॉ खरीद सकेगा । ऐसी दशा में सम लागत रेखा AB से बदल कर AB1 होगी । जहॉ पहले AB सम लागत रेखा X साधन की OB मात्रा क्रय करती थी अब लागत घठने पर वह X साधन की OB1 मात्रा क्रय करेगी, जबकि Y साधन की कीमत पूर्ववत् रहती है । यदि X साधन की कीमत में लगातार कमी आती रहे, तो AB सम लागत रेखा का A बिन्दु तो सिथर रहेगा । परन्तु B बिन्दु लगातार खिसकता रहेगा । ज्यों ज्यों X साधन की कीमत में कमी आती जायेगी त्यों त्यों AB रेखा तिरछी होती जायेगी । इसके विपरीत, यदि X साधन की कीमत स्थिर रहे और Y साधन की कीमत लगातार गिरती जाती है, तो B बिन्दु स्थिर होगा और A बिन्दु आगे की ओर खिसकता जायेगा ।

साधनों का अनुकूलतम संयोग :–

फर्म या उत्पादक की दृष्टि से अनुकूलतम संयोग उस बिन्दु पर होगा जहॉ एक फर्म को अधिकतम लाभ प्राप्त होता है । यह लाभ तभी अधिकतम होता है, जबकि वह साधनों का चुनाव कुशलता से करे या वह साधनों के न्यूनतम लागत संयोग को चुने । इस उद्देष्य की प्राप्ति के लिए यह ध्यान रखना होगा कि साधनों की भौतिक उत्पादकता तथा साधनों की कीमत कितनी है । अतः साधनों की भौतिक उत्पादकता को समात्पाद मानचित्र की

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

सहायता से और साधनों की कीमत को समान लागत रेखा की सहायता से ज्ञात किया जा सकता है । जैसा कि हम प्रारम्भ में ही स्पष्ट कर चुके है कि किसी उत्पादक की साम्य की स्थिति ज्ञात करने के लिए समोत्पाद मानचित्र व समान कीमत रेखा की जानकारी होनी आवष्यक है। इन दो बातों को ज्ञात कर लेने के बाद हम एक ही रेखाचित्र की सहायता से उत्पादक से साम्य की स्थिति की जानकारी ज्ञात कर सकते है ।

साधनों के अनुकलतम संयोग की व्याख्या दो तरीकों से की जा सकती है। अतः यह व्याख्या निम्न है :–

(1) लागत को न्यूनतम रखना जबकि उत्पादन की मात्रा दी हुई है – एक फर्म के सम्बन्ध में यह मान लिया गया है कि उसे 100 इकाइयों का उत्पादन करना है और उसका उत्पादन न्यूनतम लागत पर होए तभी फर्म को अधिकतम लाभ प्राप्त हो सकेगा । इस स्थिति को स्पष्ट करने के लिए चित्र संख्या 2.4.4 की सहायता ली जा सकती है ।

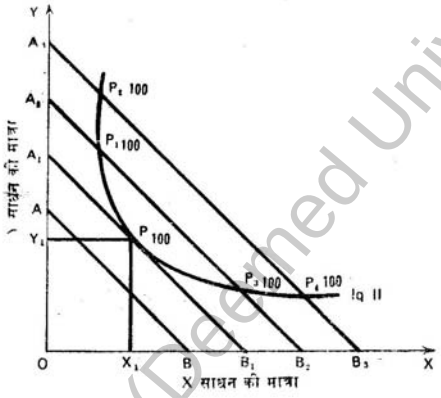

चित्र में उत्पादन की मात्रा को Iq से दिखाया गया है, यह किसी भी साधन संयोग जैसे P_2, P_1, P, P_3 तथा P_4 आदि द्वारा उत्पादित की जा सकती है । पर हमें विभिन्न संयोगो में से केवल एक ऐसे संयोग का चुनाव करना है, जिस पर अन्य संयोगों की अपेक्षा लागता न्यूनतम आये । स्पष्ट है कि Iq रेखा के शेष संयोगों की अपेक्षा P संयोग ही एक ऐसा संयोग है जिस पर शेष संयोगो की अपेक्षा न्यूनतम लागत आती है । यदि फर्म या उत्पादनकर्ता Iq रेखा के किसी अन्य संयोग जैसे P_1 P_2 या P_3 P_4 का चुनाव करता है तो उसे उस संयोग पर अधिक धनराशि व्यय करनी पड़ेगी, क्यांकि ये सभी संयोग A_3 B_3 तथा A_2 B_2 उच्च सम लागत रेखा पर स्थित है। चूँकि इन संयोगों पर भी वस्तु की 100 इकाइयों का उत्पादन किया जाता है । जो P साम्य बिन्दु के ही बराबर है। अतः कोई भी विचारशील उत्पादक P साम्य बिन्दु के ही बराबर है । अतः कोई भी विचारशील उत्पादक P साम्य के अतिरिक्त अन्य शेष संयोगो का चुनाव नही करेगा । अतः P बिन्दु ही साम्य बिन्दु होगा जिस पर उत्पादक पूंजी की OY_1 तथा श्रम की OX, मात्राओं का प्रयोग करके 100 इकाइयों के उत्पादन अर्थात P संयोग को प्राप्त करेगा । यही साधनों का न्यूनतम संयोग होगा ।

(2) उत्पादन को अधिकतम करना जबकि लागत व्यय दिया हुआ है – यह स्थिति पहली स्थिति से कुछ भिन्न है। पहली स्थिति में उत्पादन की मात्रा दी गयी थी जबकियहॉ लगात व्यय दिया हुआ है । और उस लागत व्यय पर अधिकतम उत्पादन करना है । इस व्याख्या को चित्र संख्या 2.4.5 की सहायता से स्पष्ट किया जा सकता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

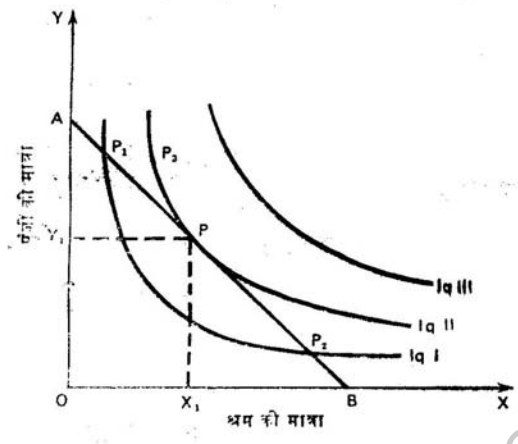

चित्र में Iq I, Iq II तथा Iq III फर्म के विभिन्न सम–उत्पादक वक्र है जो उत्पादन की विभिन्न मात्राओं का बताते है । फर्म की दी हुई सम लागत रेखा AB है, जो Iq II को P बिन्दु पर स्पर्श करती है । संक्षेप में P बिन्दु पर उत्पादक का साम्य होगा । यहॉ पर उत्पादक OY, मात्रा में पूँजी तथा OX1 मात्रा में श्रम की इकाइयों को लगाकर P संयोग को प्राप्त करता है, इस संयोग के द्वारा प्राप्त होने वाला उत्पादन P_1 तथा P_2 संयोग से अधिक है, क्योंकि ये दोनों संयोग Iq I पर स्थित है। जैसा कि हम जानते है नीची समोत्पाद वक्र रेखा की अपेक्षा उॅची समोत्पाद वक्र अधिक उत्पादन बताती है इसलिए कोई भी विचारवान उत्पादक Iq I के P_1 तथा P_2 बिन्दुओं का चुनाव नही करेगा । यदि कोइ उत्पादक Iq II पर स्थित P बिन्दु की अपेक्षा P_3 बिन्दु का चुनाव करना चाहता है, तो इसके लिये उसे P संयोग की अपेक्षा अधिक साधन व्यय करने पडेगें, जबकि P_3 में भी उतना ही उत्पादन प्राप्त होता है, जितना कि P बिन्दु से प्राप्त होता है, क्योंकि ये दोनों बिन्दु एक ही समोत्पाद रेखा Iq II पर स्थित है, इसलिए उत्पादक का हित इसी बात में है कि वह P बिन्दु पर बना रहे और कम साधनों से अधिक उत्पादन प्राप्त करें । जहॉ तक Iq III वक्र पर पहुॅचने का प्रष्न है उत्पादक को उस रेखा के किसी भी संयोग को प्राप्त करने की कल्पना नही करनी चाहिए क्योंकि ऐसा करने के लिए उसके पास साधनों का अभाव है ।

अतः उपर्युक्त व्याख्या के आधार पर हम कह सकते है कि उत्पादक या फर्म के सन्तुलन के लिए यह आवष्यक है कि सम उत्पाद मानचित्र के किसी एक सम उत्पादक रेखा पर सम लागत रेखा को स्पर्श करना चाहिए । स्पर्शता का अर्थ है न्यूनतम लागत ।

बोध प्रश्न :–

- समोत्पाद वक्र रेखा की सहायता से साधनो का अनुकूलतम संयोग कैसे प्राप्त किया जा सकता है।
- सम लागन वक्र या साधन कीमत वक्र का साधन कीमत वक्र की चित्र बनाइये।
- साधनो की अनुकूलतम संयोग, एक फर्म को किस बिन्दू पर प्राप्त होता है।

2.5 विस्तार पथ :–

समोत्पादक वक्र (पैमाने का प्रतिफल)

पैमाने का प्रतिफल का अर्थ :–

पैमाने का प्रतिफल या उत्पादन फलन (Production function) दीर्घकालीन धारणा का द्योतक है। इसमें उत्पादक को इतना अधिक अधिक समय मिल जाता है कि वह अपने पड़तो (Input) या साधनों को पूर्णरूप से परिवर्तित

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

कर सकता है । अल्पकाल में समय कम मिलता है जिसके कारण सभी पड़तो का बढ़ाया या घटाया नही जा सकता है, अतः अल्पकाल में फर्म का पैमाना, अपरिवर्तित रहता है । पैमाने के प्रतिफल के अन्तर्गत हम सभी साधनों में एक साथ समान अनुपात से परिवर्तन करके कुल उत्पादन पर पड़ने वाले प्रभावों का देख सकते है । यहॉ पर पैमाने के प्रतिफल की धारणा को समझने से पूर्व अनुपात (Proportion) तथा पैमाना (Scale) की धारणा को समझ लेना आवष्यक होगा ।

(1) अनुपात (Proportion) – साधारण शब्दों में हम इनुपात को एक साधन का दूसरे साधन के साथ सम्बन्ध कह सकते है । उदाहरण के लिए, किसी फर्म में एक मशीन लगायी गयी है । यह मशीन इस फर्म के लिए स्थिर साधन हो सकती है , जबकि उस फर्म के अन्तर्गत कच्चा माल, छोटे मोटे यंत्र, श्रम आदि अनेक परिवर्तनशील साधन होंगे जिनको साथ में मिलाकर फर्म के द्वारा उत्पादन किया जाता है । फर्म के अन्तर्गत स्थिर साधन सहायक परिर्वतनशील साधनों के साथ मिलकर उत्पादन का कार्य कर सकता है । फर्म के अन्दर जो स्थिर साधन होता है वह कभी कभी स्वयं एक परिवर्तनशील साधन हो सकता है, जबकि वह किसी दूसरे स्थिर साधन के साथ मिलकर कार्य करता है । इस प्रकार एक स्थिर साधन का सहायक परिवर्तनशील साधनों के साथ पाये जाने वाल संयोग को एक अनुपात कहा जाता है ।

(2) पैमाना (Scale) – साधारण शब्दो में पैमाने का अभिप्राय मात्रा से लगाया जाता है । जितनी मात्रा में, जिस अनुपात को लगाया जाता है वह मात्रा उस अनुपात में पैमाने को बताती है ।

अनुपात तथा पैमाने के अन्तर को और अधिक स्पष्ट करने के लिए चित्र संख्या 2.5.1 की सहायता ली जा सकती है ।

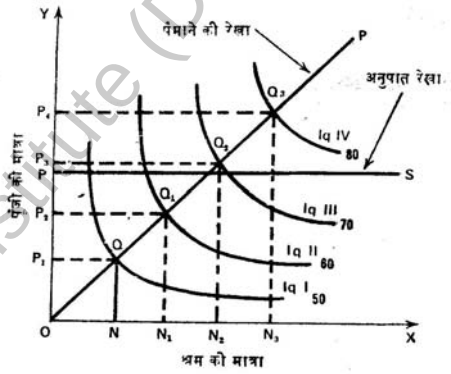

चित्र में X-axis पर श्रम तथा Y-axis पर पूँजी की मात्रा को दिखाया गया है। यहॉ चित्र की कठिनाई को ध्यान मे रखते हुए यह मान लिया गया है कि उत्पादन में श्रम तथा पूँजी की इकाइयों को ही काम में लिया जा रहा है। चित्र Iq I से लेकर Iq IV तक एक समोत्पाद मानचित्र दिया गया है जो बढ़ते हुए उत्पादन की मात्रा को बताता है । यहॉ OP मात्रा में ूपजी को लगाया गया है जो स्थिर है अर्थात चित्र PS रेखा पूँजी की स्थिर मात्रा को दिखाती है । इस प्रकार PS रेखा OX रेखा के समानान्तर है, परन्तु उत्पादन में श्रम की मात्रा को उतरोत्तर बढ़ाया जा रहा है । यहॉ यह कहा जा सकता है कि OP पूँजी की मात्रा को श्रम की परिवर्तनीय मात्राओं के साथ सम्मिलित करके फर्म या उत्पादक अधिक उत्पादन प्राप्त कर रहा है । इस प्रकार ज्यों ज्यो हम PS रेखा पर दाहिनी ओर बढ़ते है परिवर्तनशील साधन श्रम का अनुपात स्थिर साधन (पूँजी) के साथ बढ़ता जाता है । अतः PS रेखा पर परिवर्तित साधन अनुपातों के परिवर्तन को दिखाया गया है ।

चित्र में OP रेखा जो मूल बिन्दु से खींची गयी है, पैमाने की स्थिति को स्पष्ट करती है जिसका प्रत्येक बिन्दु इस बात को बताता है कि X तथा Y साधन की मात्राओं में उतरोंत्तर वृद्धि हो रही है, परिणामस्वरूप उत्पादन क्रमशः

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

50,60,70 तथा 80 की मात्रा में बढ रहा है । PS रेखा पर श्रम का अनुपात बढ़ता हुआ दिखाया गया है, जबकि OP रेखा पर X तथा Y साधन का अनुपात समान है, क्योंकि OX तथा OY रेखा से OP रेखा पर मिलाये गये लम्ब आपस में बारबर है । इसका एक कारण यह है कि, रेखा का ढ़ाल दोनों साधनो X तथा Y के अनुपात को बताता है । चित्र में Q, Q1, Q2 तथा Q3 पर दोनों साधनों की निरिपेक्ष मात्राओं की वृद्धि होती है, परिणामस्वरूप इन बिन्दुओं का उत्पादन बढ़ता है जिसे हम उपर बता चुके है । उत्पादन के विभिन्न स्तरों पर X तथा Y का अनुपात समान रहता है । अतः OP रेखा 'पैमाने' (Scale) को बतातीा है, जबकि PS रेखा 'अनुपात' (Proportion) को । OP रेखा को पैमाने की रेखा इसलिए कहा जाता है कि, यह साधनों के उन संयोगों को जोड़ती है जो साधनों की निरपेक्ष मात्राओं में परिवर्तन बताते है, परन्तु वे साधनों में एक स्थिर या समान अनुपात बनाये रखता है।

साधारणतया यह कहा जाता है कि उत्पादन के साधनों में जिस अनुपात मे परिर्वतन किया जाता है, उसी अनुपात से उत्पादन में भी परिवर्तन आते है । परन्तु व्यवहार में ऐसा नही होता है। यदि किसी खेत या कारखानें में उत्पति के कुछ निष्चित साधनों के लगाये जाने से 25 इकाइयों का उत्पादन होता है, और यदि साधनों की मात्रा को तिगुना कर दिय जाय, तो उत्पादन बढ़कर 75 इकाइयों का नही होगा । हॉ, उत्पादन के प्रारम्भिक चरण में ऐसा हो सकता है, अन्त तक नही । व्यावहारिक बात तो यह है कि उत्पादन के प्रानम्भिक काल मे जिस अनुपात से साधनों को बढ़ाया जाता है उसकी तुलना में उत्पादन कई गुना अधिक बढ़ जाता है । इस स्थिति को प्रारम्भिक स्थिति कहा जायेगा । इसे हम अर्थशास्त्र में पैमाने के बढ़ते हुए प्रतिफल (Increaseing return to scale) भी कहते है । इसके बाद उत्पादन में ज्यों ज्यों साधनां को अनुपात बढ़ाया जाता है, त्यों त्यों उत्पादन की वृद्धि का अनुपात समान रहता है । यह उत्पादन का द्वितिय चरण है इसे हम स्थिर पैमाना प्रतिफल (Constant return to scalse) कहते है । उत्पादन का अन्तिम (तृतीय चरण) तब आता है, जब साधनों के अनुपात में उतरोत्तर वृद्धि करने पर भी उत्पादन बढ़ने की अपेक्षा घटता है । तब इसे पैमानें का घटता हुए प्रतिफल (Diminishing Return to Scale) कहते है ।

उपर्युक्त तीनों अवस्थाओं का वर्णन विस्तार से नीचे दिया जा रहा है :–

पैमाने के बढते हुए प्रतिफल (Increasing Return to Scale)

पैमानें के बढ़ते हुए प्रतिफल के विशेष उल्लेखनीय बात यह है कि जिस प्रतिशत की दर से पड़तो (साधनों) के अनुपात में वृद्धि की जाती है उसकी तुलना में उत्पादन वृद्धि का प्रतिशत अधिक होता है। यदि उत्पादन के साधनों में 20 प्रतिशत की वृद्धि की जाती है, तो उत्पादन में 20 प्रतिशत से अधिक की वृद्धि होगी । इस वृद्धि के प्रमुख कारण निम्नलिखित है :

(1) पूँजी सम्पति के आकार में वृद्धि – उत्पादन के प्रारम्भिक चरण में जिस अनुपात में साधनों को लगाया जाता है उसकी तुलना में उत्पादन कई गुना बढ़ जाता है इसका मुख्य कारण यह है कि उत्पादन में पूँजीगत वस्तुओं के आकार में वृद्धि की जाती है, जिसके परिणामस्वरूप प्रति इकाई उत्पादन लागत घट जाती है।

(2) पूँजीगत वस्तुओं की अविभाज्यता – उत्पादन में जिन मशीनों को लगाया जाता है उनकी विभाजनीयता सम्भव नही है । उत्पादन कस अकार प्रकार जितना बढ़ाया जाता है साधनों की विभाजनीयता उतनी ही कम होती है । अर्थात उतपादन लागत उतनी ही कम हो जाता है, क्यांकि साधनों की इकाइयों का उपयोग एक पूर्ण इकाई के रूप में किया जाता है । उदाहरण के लिए, एक ताला बनानें का कारखाना है, उसमें एक लेथ मशीन लगी है, मशीन की क्षमता प्रति दिन 500 ताले बानने की है । यदि लेथ मशीन से प्रतिदिन दो घण्टा काम लिया जाता है तब यह मशीन केवल 100 ताले बनाती है । कम ताले बनाने के लिए मशीन के एक छोटे से भाग का उपयोग नही किया जाता है, बल्कि सम्पूर्ण मशीन ही उपयोग में लायी जाती है । यदि मशीन से पूरे

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

दिन काम लिया जाता है, तो 500 ताले बनेंगें जिनकी लागत 100 तालों से निष्चित कम होगी । अतः पूँजीगत वस्तुओं की अविभाज्यता के कारण भी वस्तु के मुल्य मे कमी आती है ।

(3) उत्पादन मितव्ययताएँ – उत्पादन मितव्ययताओं को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है :

(I) आन्तरिक मितव्ययताएँ (Internal Economies)

(II) बाह्य मितव्ययताएँ (External Economies)

(I) अन्तरिक मितव्ययताएँ (Internal Economies) – बड़े पैमानें के उत्पादन में आन्तरिक बचतों का बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है, जिसके परिणामस्वरूप प्रति इकाई उत्पादन लागत घटती है । बड़े पैमानें के व्यवसाय में तकनीकी कुशलता, वित, प्रबन्ध, बाजार, यातायात, जोखिम सम्बन्धी अनेकानेक बचतें प्राप्त होती है । कुल मिलाकर इन सब व्यवस्थाओं के द्वारा प्रति इकाई उत्पादन लागत में कमी आ जाती है ।

(II) बाह्य बचतें (External Economies) – बडे पैमानें के उद्योगां में आन्तरिक बचतों का जो महत्व है वही महत्व बाह्य बचतों का भी है । बाह्य बचतों के अन्तर्गत केन्द्रीयकरण के लाभ, सूचना एवं सन्देश के लाभ तथा सहायक उद्योगों के लाभ प्राप्त होते है ।

अतः पूँजीगत सम्पतियों के आकार में वृद्धि, उनकी अविभाज्यता, आन्तरिक एव बाह्य बचतों के परिणामस्वरूप, जब किसी उद्योग का फर्म में साधनों की मात्रा उतरोतर बढ़ायी जाती है, तो कुल उत्पादन, साधनों के अनुपात की तुलना में अधिक बढ़ता है । इस व्याख्या का हम समोत्पाद वक्रों की सहायता से भी स्पष्ट कर सकते है :

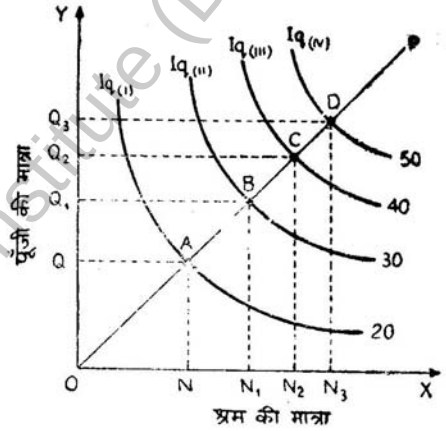

1. समोत्पादक वक्र एवं उत्पादन पैमाने का वर्द्धमान प्रतिफल (Increasing Returns) :- जैसा कि हमें ज्ञात है, उत्पादन के प्रथम चनण में ज्यों ज्यों उत्पति के साधनों में वृद्धि की जाती है त्यों त्यों साधनों के अनुपात की तुलना में उत्पादन अधिक बढ़ता है । इस स्थिति को हम चित्र संख्या 2.5.2 से स्पष्ट कर सकते है । चित्र में X-axis पर श्रम तथा Y-axis पर पूँजी की मात्रा को दिया गया है । Iq I, Iq II, Iq III तथा Iq IV क्रमशः समोत्पाद वक्र है जिनके उत्पदन का क्रम क्रमश 20, 30, 40 तथा 50 में दिया गया है । OP रेखा पैमानें की रेखा है, जिसे समोत्पाद रेखाएँ छोटे छोटे AB, BC तथा CD टुकड़ो मे बॉटती है । उत्पादन की मात्रा में वृद्धि श्रम व पूँजी के अनुपात से अधिक है । श्रम और पूँजी की बढ़ायी जाने वाल इकाइयों का अनुपात घटते हुए क्रम में है जैसे OA>AB>BC>CD । दूसरे शब्दों में जिस अनुपात में श्रम और पूँजी की इकाइयों का अनुपात बढ़ाया जा रहा है, उसकी तुलना में उत्पादन की मात्रा अधिक प्राप्त हो रही है । अतः इस सिति को हम 'पैमानें के बढते हुए प्रतिफल' की अवस्था कहेंगे । यह Iq I की अपेक्षा Iq II, Iq II की अपेक्षा Iq III, तथा Iq III की

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

अपेक्षा Iq IV से बढ़ा हुआ उत्पादन प्राप्त हो रहा है जबकि साधनों का अनुपात घटता हुआ है । जैसे श्रम की इकाई में NN1 की अपेक्षा N1N2 की मात्रा कम और N1N2 की अपेक्षा N2N3 की वृद्धि का अनुपात कम है और यही स्थिति पूँजी जी इकाई में भी देखी जस सकती है, अर्थात QQ1 की अपेक्षा Q1Q2 का अनुपात कम और Q1Q2 की अपेक्षा Q2Q3 का अनुपात और भी कम है ।

उपर्युक्त व्याख्या के आधार पर हम पैमाने के बढ़ते हुए प्रतिफल की लागत वको को भी प्राप्त कर सकते है । जब उत्पादन, साधनों के अनुपात की तुलना मे बढ़ता है, तो प्रति इकाई उत्पादन लागत घटती जाती है । इसे तालिका संख्या 2.5.1 से स्पष्ट किया जा सकता है ।

तालिका संख्या 2.5.1

श्रम व पूँजी की इकाईयॉ	प्रतिफल (इकाइयों में)	कुल लागत (रू. में)	औसत लागत (रू. में)	सीमान्त लागत (रू. में)
1	**X**	9	9	9
2	X3	16	8	7
3	X6	21	7	5
4	X12	24	6	3

तालिका को देखनें से ज्ञात है कि यदि उत्पादन के साधनों की कीमत को स्थिर मान लि जाय, तो जिस अनुपात में साधनां को बढ़ाया जा रहा है , उसकी तुलना में उत्पादन की मात्रा कई गुना अधिक बढ़ जाती है । तालिका के अनुसार साधनों की मात्रा दुगनी कर देने पर X वस्तु का उत्पादन तिगुना होता है इसी प्रकार जब साधनों की मात्रा को तिगुना कर दिया गया, तो X का उत्पादन बढकर X6 हो जाता है और अन्त में साधनों की मात्रा में चार गुनी वृद्धि कर दी गयी, तो X का उत्पादन बढ़कर बारह गुना हो जाता है ।

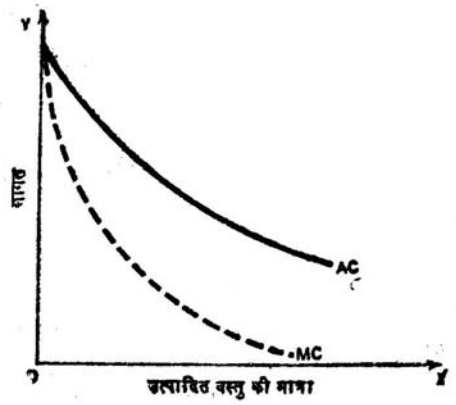

दूसरे शब्दों में हम कह सकते है कि ज्यों ज्यों उत्पादन के साधनों को अनुपातिक दर से बढ़ाया जा रहा है, त्यों त्यों लागत घटती है । परिणामस्वरूप औसत व सीमान्त लागतें गिरनें लगती है । तालिका संख्या 25.1 में दिये

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

गये औसत तथा सीमान्त लागतो को चित्र संख्या 2.5.3 से स्पष्ट किया जा सकता है । चित्र में AC तथा MC वक्र औसत तथा सीमान्त उत्पादन लागत की स्थिति को स्पष्ट करती है। इन वक्रो के अनुसार ज्यों ज्यों उत्पादन में साधनों की मात्रा को बढ़ाया जाता है त्यों त्यों औसत AC तथा सीमान्त MC लागतें एक बिन्दु तक गिरती जाती है। इसके अतिरिक्त, चित्र को देखनें से यह भी ज्ञात होता है कि औसत लागत वक्र सीमान्त लागत वक्र से उपर रहता है इसका अभिप्राय यह हुआ कि उत्पादन बढ़ने के साथ साथ औसत लागत धीरे धीरे गिरती है, जबकि सीमान्त लागत बड़ी तेजी से गिरती है ।

2. पैमाने का समान या स्थिर प्रतिफल (Constant Return to Scale)

यदि किसी उद्योग या फर्म में जिस अनुपात से साधनों की वृद्धि की जाती है ठीक उसी अनुपात में उत्पादन मे वृद्धि होने लगती है, तो इस स्थिति को हम ''पैमाने के समान या स्थिर प्रतिफल'' कहेगें। उदाहरण के लिए, उत्पादन के साधनों में 10 प्रतिशत की वृद्धि की जाती है, तो उत्पादन भी ठीक 10 प्रतिशत की दर से बढ़ेगा, इस स्थिति को चित्र संख्या 2.5.4 से स्पष्ट किया गया है।

चित्र में X-axis पर श्रम तथा Y-axis पर पूँजी को दिया गया है । Iq I, Iq II, Iq III, तथा Iq IV, समोत्पाद वक्र रेखाएँ है जो क्रमशः 10, 20, 30 तथा 40 इकाइयों के उत्पादन को बताती है । OP पैमाने की रेखा को समोत्पाद रेखाएँ A, B, C तथा D भागों में विभाजित करती है, OP रेखा पर अंकित ये बिन्दु श्रम तथा पूँजी के एक निष्चित अनुपात को बताते है । OP पैमाने की रेखा पर अंकित A, B,C तथा D बिन्दुओं की दूरी आपस में लगभग बराबर है । अर्थात AB=BC, BC=CD, दूसरें शब्दों में श्रम की मात्रा NN1 = N1N2, N1N2=N2N3 । इसी प्रकार पूजी की मात्रा QQ1=Q1Q2, Q1Q2=Q2Q3 । अतः जिस अनुपात में साधनों को बढ़ाया जा रहा है ठीक उसी अनुपात मे उत्पादन भी बढ़ रहा है। अर्थात उत्पादन की वृद्धि की दर 10 है जो प्रत्येक दशा में समान है। इस व्याख्या को दूसरे शब्दों में इस प्रकार से व्यक्त किया जा सकता है। कि, साधनों के अनुपात में समान दर से वृद्धि होने पर उत्पादन वृद्धि की दर भी समान रहती है और वस्तु की कुल उत्पादन लागत में भी वृद्धि समान दर से होती है अर्थात वस्तु का सीमान्त और औसत उत्पादन व्यय यथा स्थिर रहता है। इस स्थिति को तालिका संख्या 25.2 से स्पष्ट किया जा सकता है।

तालिका संख्या 2.5.2

श्रम व पूँजी की इकाईयॉ	प्रतिफल (इकाइयों में)	कुल लागत (रू. में)	औसत लागत (रू. में)	सीमान्त लागत (रू. में)
1	X	8	8	8
2	X	16	8	8
3	X	24	8	8
4	X	32	8	8
5	X	40	8	8

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

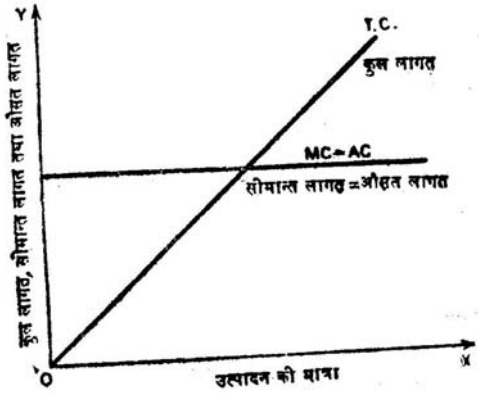

तालिका को देखनें से ज्ञात है कि ज्यों ज्यों श्रम व पूँजी की इकाइयों को समान दर से बढ़ाया जा रहा है, त्यों त्यों उत्पादन की वृद्धि दर समान है और प्रत्येक बिन्दु पर उत्पादन लागत समान तथा कुल उत्पादन लागत की वृद्धि की दर भी समान है । उत्पादन लागत की इस स्थिति को चित्र संख्या 2.5.5 से स्पष्ट किया जा सकता है। चित्र से स्पष्ट है कि ज्यों ज्यों उत्पादन में वृद्धि की जाती है त्यों त्यों उसी अनुपात में कुल लागत मे वृद्धि होती है । चूँकि कुल लागत में वृद्धि की दर समान है अतः सीमान्त व औसत लागत दोनो समान होंगे

3. पैमाने के घटते हुए प्रतिफल का नियम (Law of Diminishing Return to Scale)

उत्पादन में जब कभी साधनों के पॅमाने से अनुकूल उत्पादन ही हो पाता है, तो इसे हम पॅमाने के घटते हुए प्रतिफल का नियम कहते है । उदाहरण के लिए, साधनों के पॅमाने में 10 प्रतिशत की वृद्धि की जाती है और उसकी तुलना में उत्पादन 10 प्रतिशत से कम की दर से बढ़ता है, तो इसे पैमाने का घटता हुआ प्रतिफल कहेगें। ऐसी दशा में उत्पादन को पूर्ववत बनाये रखने के लिए साधनों की मात्रा में क्रमशः अधिकतम वृद्धि की आवष्यकता होती है । इस स्थिति को स्पष्ट करने के लए चित्र संख्या 2.5.6 की सहायता ली जा सकती है ।

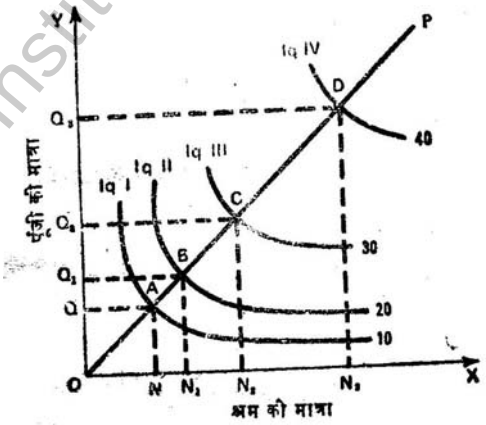

चित्र में X-axis पर श्रम तथा Y-axis पर पूँजी की मात्रा को दिखाया गया है । Iq I, Iq II, Iq III, तथा Iq IV, क्रमशः समोत्पाद वक्र है जो उत्पादन के विभिन्न स्तर को प्रदर्शित करती है । OP रेखा पैमाने की रेखा है, जिसको समोत्पाद रेखाएँ A, B, C तथा D भागों में विभाजित करती है। OP रेखा का प्रत्येक भाग श्रम तथा पूँजी की एक निष्चित मात्राा को बताता है । चित्र को देखने से ज्ञात है कि AB से BC तथा BC से CD भाग बड़ा है अर्थात साधनों का अनुपात उतरोतर वृद्धि की दर से बढाया जा रहा है। अर्थात AB<BC<CD। इसका तात्पर्य यह हुआ कि उत्पादन की प्रत्येक अतिरिक्त 10 इकाइयों का उत्पादन करने के लिए श्रम एवं पूँजी की

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

अधिकाधिक मात्राओं का प्रयोग किया जाता है, अतः इस अवस्था को पैमाने के घटते प्रतिफल की अवस्था कहा जाता है।

उपर्युक्त व्याख्या को लागत तालिका व लागत वक्रों की सहायता से भी स्पष्ट किया जा सकता है। कहने का अभिप्राय यह है कि उत्पादन के बढ़ने के साथ साथ दिर्घकाल में प्रबन्धकों के उपर अधिक भार पड़ जाता है । और उनकी कुशलता में कमी आ जाती है, परिणामस्वरूप जिस अनुपात में साधनों की वृद्वि की जाती है उस अनुपात में में उत्पादन नही बढ पाता है और प्रति इकाई उत्पादन लागत पहले की अपेक्षा बढ जाती है। परिणामस्वरूप सीमान्त लागत और औसत लागत दोनों ही में वृद्धि होने लगती है । इस व्याख्या को तालिका संख्या 25.3 से स्पष्ट किया जा सकता है ।

तालिका संख्या 2.5.3

श्रम व पूँजी की इकाईयॉ	डत्पादन (इकाइयों में)	कुल लागत (रू. में)	औसत लागत (रू. में)AC	सीमान्त लागत (रू. में)MC
1	X	6	6	6
2	X	14	7	8
3	X	24	8	10
4	X	36	9	12

उपर्युक्त तालिका के अनुसार, ज्यों ज्यों साधनों के अनुपात को बढ़ाया जा रहा है त्यों त्यों प्रतिइकाई लागत व्यय पहले की अपेक्षा अधिक बढ़ रहा है। यह कम अन्त तक चलता है । सीमान्त तथा औसत लागतों की बढ़त को चित्र संख्या 2.5.7 से स्पष्ट किया गया है ।

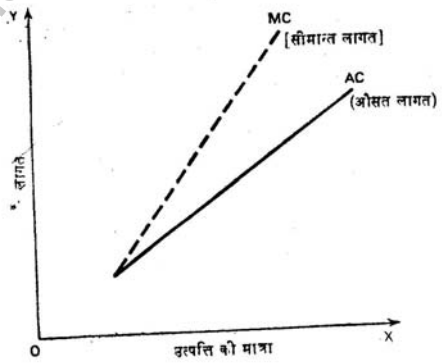

रेखा चित्र से स्पष्ट है कि एक सीमा के बाद जब उत्पादन में वृद्धि की जाती है तो औसत तथा सीमान्त लागतों में वृद्धि होने लगती है। यह वृद्धि औसत लागत की अपेक्षा सीमान्त लागत में अधिक होती है । अतः इस पैमानें का ह्रासमान प्रतिफल नियम कह सकते है ।

पैमाने का बदलते प्रतिफल

पैमाने के प्रतिफल की जो व्याख्या हमने अलग अलग रूपों में प्रस्तुत की है उस व्याख्या को एक साथ भी दिया जा सकता है और ऐसा करना अधिक महत्वपूर्ण, क्योंकि देखा गया है कि जब कोई व्यक्ति अथव फर्म अपने

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

उत्पादन का पैमाना बढ़ाती है, तो शुरू में वृद्धिमान प्रतिफल प्राप्त होतो है और बाद में स्थिर प्रतिफल और अन्ततः पैमाने का ह्रासमान प्रतिफल प्राप्त होता है ।

यहॉ एक ही उत्पादन फलन पर मैमाने के प्रतिफल की विभिन्न दशाओं को देखा जा सकता है । इसे चित्र संख्या 25.8 से स्पष्ट किया जा सकता है ।

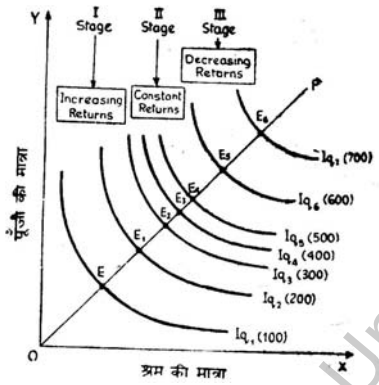

चित्र संख्या Iq1, Iq2, Iq3, Iq4, Iq5, Iq6 तथा Iq क्रमशः उत्पादन के बढते हुए स्तरों को व्यक्त करती है, प्रत्येक उॅची सम उत्पाद वक्र पर उत्पादन की 100 इकाईयॉ बढ जाती है । OP पैमाने की रेखा को विभिन्न सम उत्पाद रेखाऍ अनेक छोटे छोटे भागों मे बॉटती है, OP पैमाने की रेखा के ये भाग प्रारम्भ में एक दूसरे से छोटे, बाद में समान तथा अन्त में बढते है । इनके क्रम की तुलना एक दुसरे के साथ निम्न प्रकार की जा सकती है ।

$$OE > EE_1 > E_1E_2 > E_2E_3 = E_3E_4 < E_4E_5 < E_5E_6$$

उक्त कथन का यह तात्पर्य है कि प्रारम्भ में उत्पादन की एक निष्चित माख का उत्पादन करने के लिए साधन की कम माख का प्रयोग किया जाता है, एक सीमा के बाद उत्पादन में उतनी ही मात्रा का उत्पादन करने के लिए साधन की समान मात्राऍ लगायी जाती है और अन्त में उत्पादन की प्रत्ये निष्चित समान वृद्धिके लिए साधनों की अधिकाधिक मात्राओं का प्रयोग करना होता है । अतः एक ही उत्पादन फलन पर प्रथम अवस्था में पैमाने के बढते हुए प्रतिफल, द्वितीय अवस्था में पॅमाने के स्थिर प्रतिफल तथा तृतीय अवस्था में पैमाने के घटते हुए प्रतिफल की अवस्था लागू होती है ।

बोध प्रश्न :–

- पैमाने के प्रतिफलों को समझाइये।
- पैमाने के बदलते प्रतिफल की सचित्र व्याख्या कीजिये।
- उभार रेखाएं (रिज लाइन्स) क्या है?

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

लागत विश्लेषण – लागत संकल्पना एवं वर्गीकरण, लागत उत्पादन सम्बन्ध : लागत का निर्धारण तथा निर्णय करने में महत्व

2.6 लागत–विश्लेषण :–

आधुनिक युग में लागत–विश्लेषण आर्थिक विश्लेषण का एक महत्वपुर्ण एवं अविभाज्य अंग माना जाता है । लागत विश्लेषण के द्वारा उत्पादकों एवं प्रबन्धकों को अपने विभिन्न निर्णयों में मार्गदर्शन मिलता है । लागत विश्लेषण के अभाव में उत्पादक या विक्रेता न तो अपनी वस्तु का लाभप्रद मूल्य ही निर्धारित कर सकता है और न लाभ का पता लगा सकता है । यही नहीं, उद्योग में लागतों के विश्लेषण के बिना आन्तरिक नियन्त्रण लागू करना भी सम्भव नही होता । सरकारी नियन्त्रणों का पालन भी कठिन रहता है । यही कारण है कि प्रबन्धक प्रत्येक प्रकार के निर्णयों में लागतों को ध्यान में रखते हुए उसमें सम्भावित लाभ की तुलना करते हैं अगर संभावित आगम संभावित लागत से अधिक होता है तो वह व्यय विवेकपूर्ण माना जाता है अन्यथा नहीं । आज उत्पादक विज्ञापन करने, नयी मशीनें या नये यन्त्र लगाने में उसकी संभावित लागतों की तुलना उनसे संभावित आगम या लाभ से करता हैं । अपनी लागतों का विश्लेषण प्रतिस्पर्द्धी की लागतों से करना भी जरूरी होता है जब दोनां में कट्टर प्रतिस्पर्द्धा की प्रवृति हों । एक ही उत्पादक द्वारा अनेक वस्तुओं के संयुक्त उत्पादन की अवस्था में प्रत्येंक वस्तु की लागत निर्धारित करने की आवश्यकता उन वस्तुओं के मूल्य निर्धारण के लिए जरूरी है ।

लागत विश्लेषण का महत्व एवं प्रबन्धकीय निर्णयों में उपयोग

लागत विश्लेषण की प्रबन्धकीय निर्णयों में महत्वपूर्ण भूमिका रहती हैं । कोलबर्ग, बराफोर्ड एवं आल्ट ने भी अपनी पुस्तक ''व्यावसायिक अर्थशास्त्र'' में लागत विश्लेषण के मुख्य चार उपयोग बतायेंह जो प्रबन्धकों एव उत्पादकों का भावी निर्णयों में मार्गदर्शन करते हैं

(1) आय का निर्धारण (Income Determination)- फर्म की आय एवं लाभ बहुत कुछ लागत पर निर्भर करते है । कुल आगम कुल लागतों से जितना ही अधिक होगा, फर्म को लाभ भी उतना ही अधिक होगा । जिन फर्मो में लागते अधिक बैठती हैं उन फर्मों का लाभ अन्य बातों के समान रहने पर कम होता हैं । अत : उस अवधि के कर भुगतान, लाभांश वितरण तथा बोनस आदि से सम्बन्धित प्रबन्धकीय निर्णय प्रभावित होना स्वाभाविक है । इसी प्रकार बडे पूंजीगत व्ययों का विश्लेषण कर चालू उतपादन लागतों में उसके कितने भाग को जोडा जाय यह भी आय को प्रभावित करेगा । प्रबन्धक कर योग्य आय को कम दर्शाने के लिए अधिक घिसावट काट सकते हैं तो दूसरी ओर सुदृढ वितीय स्थिति बताने के लिए घिसावट की दर कम काटने की नीति अपना सकते हैं । अत : लागतों का सही–सही विश्लेषण करा वास्तविक लाभ एवं आय का निर्धारण किया जा सकता हैं ।

(2) आन्तरिक निर्धारण (Internal Control)- चूंकी लागतें लाभ का निर्धारण करने में सहायता देती है अतः प्रत्येक प्रबन्धक कम से कम लागत पर अधिक से अधिक उत्पादन के लक्ष्य से प्ररित होता है । आजकल लोगों पर नियन्त्रण के लिए फर्म के संचालन में प्रत्येक क्रिया की प्रमापित लागत (Standard Costs) निर्धारित की जाती है और फिर वास्तविक लागतों से तुलना करके देखा जाता हैं । प्रमापित लगातों की तुलना मे वास्तविक लागतें ऊंची होने पर या उनमें विचलनों का विश्लेषण कर ज्ञात किया जा सकता है कि किस प्रक्रिया में अकुशलता है और क्यों ? जब कारण का पता लग जाता है जो उसकी लागत कम करने के प्रयास व उनकी लागतों का भी विश्लेषण किया जाता है । लागत लेखांकन (Cost Accounting) पद्धति इसमें उपयोगी रहती है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

(3) मुल्य निर्धारण (Price Determination) लागतों का विश्लेषण मूल्य निर्धारण की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है क्योंकि फर्म अपनी वस्तुओं एवं सेवाओं का मूल्य निर्धारण करते समय इस बात पर विशेष ध्यान देती है कि उसको समस्त लगातों की पूर्ति के बाद कुछ न कुछ लाभ तो मिले ही । लागतें ऊँची होने पर वस्तु का मूल्य भी ऊंचा ही रखा जा सकता है और लागतें कम होने पर कीमतें भी नीचें निर्धारित करने की गुंजाइश रहती है । वैसे अल्पकाल मे उत्पादक फर्म की कीमत उसकी औसत लागत (AC) से भी नीचे हो सकती है तथा फर्म घाटा उठायेगी । किन्तु यह कीमत उत्पादक की औसत परिवर्तनशील लागत से नीचे जाने पर फर्म उत्पादन बन्द करके केवल स्थिर लागत के बराबर घाटा उठा सकती है । सीमान्त लागत विश्लेषण मूल्य निर्धारण का मुख्य आधार है। सामान्य अवस्था में फर्म का लाभ उस बिन्दु पर अधिकतम होता है जहां उसकी सीमान्त लागत उसके सीमान्त आगम के बराबर (अर्थात् MC=MR) होती है । अतः फर्म के उत्पादन के इस स्तर पर ही औसत आगम के बराबर कीमत निर्धारित करती है । पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति में MR=AR होती है ।

(4) सरकारी नियन्त्रण (Regulation of Govt.) आजकल सरकार का हस्तक्षेप निरन्तर बढ़ रहा है। सरकार उपभोक्त को उचित मूल्यों पर उपभोक्त वस्तुएं उपलब्ध करने तथा उद्योगपतियें को न्यायोचित लाभ अर्जित करने की सुविधा देने के लिए नियन्त्रण लागू करती है। ऐसी अवस्था में लगातों का विश्लेषण ही यह बताता है कि फर्म की उत्पादन लगातें कितनी है तथा कितना लाभ मिल रहा है । अब मूल्य कितने रखे जायें कि उपभोक्ता को उचित मूल्य पर वस्तु मिल जाये तथा उत्पादक को उचित लाभ मिल जाये । दोनों के हितों की रक्षा आवश्यक है। नियत्रिंत क्षेत्रों में उत्पादन लगातें बढ़ने–घटने के साथ–साथ मूल्यों में भी आवश्यक समायोजन की अनुमति दी जा सकती है । जनोपयोगी उपक्रमों की सेवाओं के मूल्य नियन्त्रण में भी लागतों का विश्लेषण उपयोगी रहता है।

(5) साधनों को अनुकूलतम संयोग एवं उद्योग का अनुकूलतम आकार–प्रत्येक उपादक का उद्‌श्ये कम से कम लागत पर अधिकतम उत्पादन द्वारा अपने लाभ को अधिकतम करना होता है । इस उद्‌श्ये की पूर्ति तभी होती है जबकि उत्पादन के विभिन्न साधनों का अनुकूलतम संयोग हो जाय और फर्म का आकार भी अनुकूलतम हो जाये। यह भी लागत विश्लेषण द्वारा ही सम्भव होता है, क्योकि उत्पादक महंगे साधनों के स्थान पर सस्ते साधनों का प्रतिस्थापन तब तक करता है जब तक कि प्रत्येक साधन को सीमान्त उत्पति एवं उसकी कीमत का अनुपात दूसरे साधन की सीमान्त उत्पति एवं उसकी कीमत के अनुपात के बराबर न हो जाये अर्थात् समीकरण की पूर्ति होना आवश्यक है।

लागत की विभिन्न धारणायें

आर्थिक विश्लेषण में ''लागत'' शब्द की अनेक धारणाऐं प्रचलित है। अर्थशास्त्रियों, लेखापालों तथा प्रन्बधकीय अर्थशास्त्रियों द्वारा अपने–अपने विश्लेंषण में 'लागत'' शब्द का अलग अलग अर्थ लगाया जाता है । अतः लागत की विभिन्न धारणाओं का प्रादुर्भाव हुआ है । मुख्य धारणाएं इस प्रकार है –

(1) द्रव्य लागत (Money Cost) - उत्पादक फर्म को किसी वस्तू के उत्पादन में जो मौद्रिक व्यय करना पडता है वही उसकी द्रव्य लागत है इसके अन्तर्गत वे सभी मौद्रिक खर्च सम्मिलित होते हैं जो उत्पादन कच्चे माल, व्याज, मजदूरी, वेतन, लगान आदि के रूप में चूकाता हैं। यह उत्पादन प्रकिया में प्रयुक्त की जाने वाली सभी वस्तुओं एवं सेवाओं का मौद्रिक मापदण्ड है। अतः इसके अन्तर्गत फर्म की स्पष्ट लागतों (Explicit costs) तथा सन्निहित लागतों (Implicit Costs) का समावेश होता है और इस प्रकार द्रव्य लागत=स्पष्ट लागतें + सन्निहित लागतें+सामान्य लाभ

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

(i½ स्पष्ट लागतें अथवा व्यक्त लागतें (Explicit Costs)- ये वे समस्त लागतें है जो उत्पादक फर्म द्वारा उत्पादन साधनों के स्वामियों को द्रव्य में भुगतान की जाती है जैसे भूस्वामी को लगान, श्रम को मजदूरी, पूंजीपति को ब्याज, प्रबन्धकों को वेतन तथा अन्य वस्तुओं एवं सेवाओं के लिए चुकाया जाने वाला द्रव्य । ये लागतें लेखा लागतें भी कही जाती हैं क्योंकि इनका हिसाब में लेखा–जोखा होता हैं।

(ii) सन्निहित लागतें या अस्पष्ट लागतें (Implicit Costs)- इसके अन्तर्गत वे सब लागतें आती हैं जिन्हें उत्पादक किसी अन्य को भुगतान नहीं करता पर अपने स्वयं के साधनों एवं सेवाओं के बदले में फर्म से वसूल करना चाहता हैं । जैसे उत्पादक की स्वयं की पूंजी पर ब्याज, स्वयं के श्रम व प्रबन्ध का वेतन, उद्योग में लगी स्वयं की सम्पति, भवन एवं फर्नीचर अथवा अन्य साज–सामान का किराया एवं मूल्य ह्रास आदि।

(iii) सामान्य लाभ (Normal Profit)- चूंकि साहसी जोखिम उठाता है और अनिश्चितताओं को झेलता है अतः उसे उसका प्रतिफल इतना तो अवश्य मिले कि वह उसमें बना रह सकें । यह लाभ की वह सीमा है जो साहसी को उत्पादन क्षेत्र में बनाये रखने के लिए आवश्यक हैं । लाभ के इस स्तर पर नयी फर्मो का प्रवेश अथवा पुरानी फर्मो के बहिर्गमन की प्रवृति नहीं होती।

स्पष्ट हैं कि अर्थशास्त्र मे मौद्रिक लागत में उपर्युकत तीनों प्रकार की लागतों (i) स्पष्ट लागतें, (ii) अस्पष्ट लागतें तथा (iii) सामान्य लाभ का समावेश होता है जबकि लेखापाल मौद्रिक लागतों में केवल स्पष्ट लागतों को ही लेते हैं । परिणामस्वरूप अर्थशास्त्री की मौद्रिक लागत और एकाउन्टेन्ट की मौद्रिक लागत में अन्तर होता हैं । प्रबन्धकीय निर्णयों में उपर्युकत तीनों प्रकार की लागतों पर विचार किया जाता हैं ।

(2) वास्तविक लागतें अथवा सामाजिक लागतें (Real Costs or Social Costs)- वास्तविक लागत का अभिप्राय उन सब कष्टों, प्रयासों व त्याग की मात्रा से है जो किसी वस्तु विशेष के उत्पादन के फलस्वरूप होते है । उत्पति के साधनों को उत्पति कार्य मे प्रत्यख रूप से या अप्रत्यक्ष रूप से भाग लेने के कारण जो त्याग, परिश्रम या प्रतीक्षा करनी पडती है उन सबका योग ही वस्तू की वास्तविक लागत हैं । इसे सामाजिक लागत भी कहा जाता है क्योंकि उत्पादन में समाज को जो त्याग या कष्ट उठाना पडता है वहीं उस उत्पादन की वास्तविक लागत हैं । जैसे कभी–कभी किसी उद्योग में द्रव्य लागत तो होती ही है पर धूंआ फैलने से जनस्वास्थ्य पर पडने वाला बुरा प्रभाव, परिवहन से होने वाली असुविधा होना आदि सामाजिक लागतें हैं संक्षेप में वास्तविक लागत = कष्ट+त्याग+प्रतीक्षा+श्रम+अन्य बुरा प्रभाव ।

वास्तविक लागत विचार की आलोचना – कमजोरियां– (i) यह एक अव्यवहारिक धारणा हैं क्योंकि किसी वस्तु की वास्तविक लागत उसके मूल्य निर्धारण मे अव्यावहारिक होती हैं, जैसें कुली या श्रमिक को कार्य में अपेक्षाकृत अधिक कष्ट और त्याग होने पर भी फिल्म स्टार से जिसकों कि अपेक्षाकृत कम त्याग और कष्ट होता हैं – अपेक्षाकृत बहुत कम मजदूरी मिलती हैं (ii) मापदण्ड कठिन है क्योंकि त्याग और कष्ट व्यक्ति की मनोवैज्ञानिक धारणा हैं । इसलिए हैण्डरसन ने कहा है कि ''वास्तविक लागत का सिद्धान्त हमें संदेहात्मक विचार और अवास्तविकता के दल–दल में डाल देता हैं ।''

(3) अवसर लागत (Opportunity cost)- आधुनिक अर्थशास्त्र में वास्तविक लागत को अवसर लागत (Opportunity cost), वैकल्पिक लागत (Alternative Costs) या हस्तान्तरण आय (Transfer Earning) के शब्दों में व्यक्त किया हैं । इसे विस्थापित आय (Displaced Cost) भी कहा जाता हैं ।

अवसर लागत का अर्थ–अवसर लागत का उस लागत को कहते हैं जो एक उत्पादन के साधन के किसी वैकल्पिक प्रयोग से प्राप्त हो सकती हैं । श्रीमती जॉन रॉबिन्सन के अनुसार वह कीमतें जो किसी साधन की

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इकाई को किसी उद्योंग विशेष में बनाये रखने के लिए आवश्यक हैं, हस्तान्तरण आय कहलाती हैं । प्रो. बेनहम के शब्दों में ''मुद्रा की वह मात्रा जो कि कोई इकाई सर्वश्रेष्ठ वैकल्पिक प्रयोग में प्राप्त कर सकती हैं उसे हम हस्तान्तरण आय (Transfer Earning) कहते हैं।'' चूंकि एक उत्पादन के साधन के अनेक वैकल्पिक प्रयोग होते हैं अतः अवसर वह अधिकतम राशि है जिसे कोइ उत्पादन का साधन अन्य किसी उत्पादन क्षेत्र से प्राप्त कर सकता हैं, जैसे एक श्रमिक को सूती मिल में 100 रू. मिलते हैं पर डालडा मिल में उसे 150 रू. मिलते हैं तो 150 रू. उस श्रमिक की अवसर लागत हैं । इसी प्रकार अगर एक प्रयोग में पूंजी पर 50 रू. आय होती है पर दूसरे प्रयोग में 80 रू. आय होती हें तो 80 रू. पूंजी की अवसर आय हैं ।

अवसर लागत की विशेषताएं – (i) अवसर लागत या अवसर आय मौद्रिक लागत या आय होती हैं। (ii) यह सभी प्रकार के उद्योंगों में उत्पादन के साधनों के मूल्य निर्धारण में सहायक होती हैं। (iii) अवसर लागत में स्पष्ट लागतें (Explicit Costs) तथा अस्पष्ट लागते (Implicit Costs) सभी सम्मिलित होती हैं ।

अवसर लागत धारणा का महत्व– अवसर लागत की धारणा का अर्थशास्त्र में विशेष महत्व है क्योकि (i) यह सभी प्रकोर के उद्योंगों के उत्पादन के साधनों के मूल्य निर्धारण में सहायक होती हैं कि वे अपनी अधिकतम आय प्राप्त कर सकें । (ii) बेनहम के अनुसार हस्तान्तरण आय का विचार यह बताने मे लाभदायक है कि किसी उद्योग में उत्पादन की मात्राओं में परिवर्तन होने पर लागत में किसी सीमा तक था क्यों परिवर्तन होता हैं । (iii) यह लगान मालूम करने में भी सहायक हैं । लगान वह बचत या आधिक्य है जो उत्पति के साधन को अपने वर्तमान से वैकल्पिक उपयोग में मिलता है अर्थात लगान=(वास्तविक आय–अवसर आय)˙।

अवसर लागत की धारणा की आलोचनाएं – (i) अवसर लागत की धारणा उन साधनों के सम्बन्ध मे लागू नहीं होती हे जो विशिष्ट साधन (Specific Factors) है जिनका केवल एक ही उपयोग हो सकता है दूसरा कोई वैकल्पिक प्रयोग है ही नहीं । उनकी अवसर लागत शून्य होती है, अतः ऐसे साधन की उत्पादन लागत ज्ञात करना कठिन है । (ii) अवसर लागत की धारणा पूर्ण प्रतियोगिता की मान्यता पर आधारित है जबकि व्यावहारिक जगत में पूर्ण प्रतियोगिता तो एक कल्पना एवं मिथ्या स्वप्न है जबकि अपूर्ण प्रतियोगिता ही वास्तविक है । (iii) उत्पति के सभी साधनों में एकरूपता तथा पूर्ण गतिशीलता भी नहीं पाई जाती है । अतः अवसर लागत ज्ञात करना उतना सरल नही । (iv) साधनों की अपनी विशिष्ट रूचि होती है अतः अवसर लागत को मापने में कठिनाई आती है ।

(4) प्रत्यक्ष लागतें एवं अप्रत्यक्ष लगाते (Direct Costs and Indirect Costs) प्रत्यक्ष लगातें उन लागतों को कहा जाता है जो वस्तु एवं सेवा के उत्पादन मे प्रत्यक्ष रूप से व्यय करनी पड़ती है उनको सरलापूर्वक जाना जा सकता है तथा उनमें विभाजन की समस्या उत्पन्न नही होती है । उदारण के लिए x वस्तु का उत्पादन करने में उसमें लगने वाले कच्चे माल की कीमत, उसमें लगे श्रम की मजदूरी तथा उसमें प्रयुक्त ईधन की लागत का योग प्रत्यक्ष लागत है ।

जबकि अप्रत्यक्ष लागतों का अभिप्रयाय उन लागतों से है जो कि प्रक्रिया या उत्पाद विशेष के लिए खर्च न की जाकर सामान्य रूप से खर्च होती है । उसके अन्तर्गत कार्यालय खर्च, सामूहिक विज्ञापन खर्च, रोशनी का व्यय, भवन, मशीन आदि का ह्रास आदि आते है । इन लागतों का भार सभी प्रक्रियाओं, विभागों अथवा उत्पादों पर उचित ढंग से बॉटने का प्रयास किया जाता है।

(5) ऐतिहासिक लागतें एवं प्रतिस्थापन लागतें :– एतिहासिक लागतें (Hostorical Costs) का अभिप्राय किसी पुरानी सम्पति या मशीन यन्त्र आदि की मूल क्रय लागत से है जो फर्म द्वारा उसके क्रय के लिए भूतकाल में चुकाई गई थी। लेखापाल इन सम्पतियों को अपनी लेखा पुस्तकों व वार्षिक चिट्टो (Aunual Balace

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

Sheet) में उनकी ऐतिहासिक लागत पर ही दिखाते है तथा उन पर मूल्य हास अथवा घिसावट की कटौती भी प्रायः ऐतिहासिक लागते पर ही की जाती है। आजकल के बढ़ते मूल्यों में पुरानी सम्पतियों को उनकी ऐतिहासिक लागत पर दिखाना उद्योग की वास्तविक वित्तीय स्थिति का कम मूल्याकंन करने के बराबर है ।

प्रतिस्थापन लागते (Replacement Costs) किसी फर्म द्वारा अपनी पुरानी मशीन, यन्त्रों या सम्पतियों को वर्तमान में प्रतिस्थापित करने में जो लागते लग सकती है वही उसकी प्रतिस्थापन लागते है । प्रतिस्थापन लागतों का महत्व आधुनिक बढ़ते मूल्यों के कारण काफी बढ गया है और प्रबन्धकीय निर्णय पर इसका काफी प्रभाव पड़ता है ।

(6) भूतकालीन लागते एवं भावी अथवा भविष्यकालीन लागतें :–भूतकालीन लगतों (Past Cost) ये वे लागते है – जो फर्म के द्वारा पिछले वर्षो में व्यय की जा चुकी है और जिनका लेखा–जोखा फर्म की लोखा पुस्तकों में हो चुका है। ये वास्तविक लागतें होती है । इनकी तुलना प्रमाणित लागतों से करके उनकी कुशलता जांची जा सकती है । तथा इनके विश्लेषण द्वारा भावी लागतों का अनुमान लगाया जा सकता है ।

भावी या भविष्य लागतें (Future Costs) ये भावी अवधि में खर्च की जाने वाले लागतें का अनुमान है । प्रबन्धक एवं उत्पादक भविष्य की मांग का पूर्वानुमान लगाकर उसके अनुरूप उत्पादन करने के लिए साधन जुटायेगें । अतः भावी लागतों का उपयोग विस्तार कार्यक्रम बनाने, नई वस्तुओं का निर्माण करने, मशीन, पुंजीगत व्यय आदि की व्यवस्था करने व भावी लगातों के लिए साधन जुटाने में करते है ।

(7) अति–आवश्यक लागतें एवं स्थगन योग्य लागतें :– अत्यावश्यक लागते (Urgent Costs) के अन्तर्गत वे लागते आती है जो फर्म को अपना कार्य सुचारू रूप से चलाने के लिए अत्यावश्यक है, उन पर व्यय करना ही पड़ता है उन लागतों को स्थगित नही किया जा सकता है जैसे कच्च माल, मजदूरी, ईधन, पानी, लाईट, मशीन की मरम्मत आदि ।

स्थागन योग्य लागते (Postponable Costs) के अन्तर्गत उन लागतों का समावेश होता है जिनको अगर फर्म कुछ समय तक स्थागित कर दे तो भी फर्म के उत्पादन एवं व्यवसाय पर कोई विशेष बुरा प्रभाव नहीं पडता जैसे कार्यालय में रंग–रोगन, साईकिल स्टेण्ड, कैन्टीन निर्माण, मजदूरों की बस की अतिरिक्त सुविधा आदि। यह परिस्थितियों पर निर्भर करता है कि कौनसी लागत स्थगन योग्य है और कौनसी आवश्यक।

प्रबन्धकीय निर्णयों में इन दोनों प्रकार की लागतों का अन्तर काफी उपयोगी रहता है क्योंकि मन्दी के समय पर प्रबन्धक स्थगन योग्य लागतों को आगे के लिए टाल कर राहत की सांस ले सकते है तथा उद्योग को संकट के समय अनावश्यक भार से मुक्त रख सकते है ।

स्थिर लागत एवं परिवर्ततनशील लागत विश्लेषण :–

किसी भी उत्पादक को उत्पादन कार्य चलाने के लिए जो कुछ व्यय करना पड़ता है उसके योग को कुल लागत (Total Cost) कहते है। इन कुल लागत मे दो प्रकार की लागतें शामिल होती है – (i) स्थिर लागते (Fixed Cost) तथा (ii) परिवर्ततनशील लागते (Variable Cost) इस प्रकार कुल लागत = स्थिर लागते + परिवर्तनशील लागते अथवा YC=TFC+TVC होती है ।

(1) स्थित या स्थायी लागते (Fixed Cost) :- स्थिर या चिरस्थायी लागते से अभिप्राय उन लागतों से है जो अल्पकाल में उत्पादन मात्रा के घटने–बढने के बावजूद स्थिर रहती है तथा उनमें कोई परिवर्तमन नहीं होता । इन लागतों का सम्बन्ध प्रत्यक्ष रूप से उत्पादन मात्रा से नही होता वरन् औद्योगिक फर्म को अपना अस्तित्व बनाये रखने से होता है। दूसरे शब्दों मे अल्पकाल मे उत्पादन चाहे बढ़ चाहे घटे अथवा उत्पादन बिल्कुल बन्द

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

ही क्यों न हो जाये पर ये लागतें तो लगती ही हैं इनमें कोई परिवर्तन नहीं होता । इसी कारण इन्हें स्थिर या स्थायी लागतें कहतें हैं । इसके अन्तर्गत व्यापार या उ़ोग में लगी पूंजी का ब्याज, मशीन, यन्त्रों और फैक्ट्री इमारत का किराया, प्रन्धिकों तथा कार्यालय कर्मचारियों का वेतन, भूमि एवं भवन कर, बीमा शुलक, लाइसेन्स फीस आदि आते हैं । इन लागतो का भार उत्पादक को, चाहे उत्पादन कुछ दिन बन्द कर दिया जाये तो भी उठाना पडता है । स्थिर या स्थाई लागतों को सामान्य लागतें (General Costs) पूरक लागतें (Supplementary Costs) उपरी लागतें (Overhead Costs) तथा अप्रत्यक्ष लागतें (Indirect Costs) भी कहते हैं क्यों कि फर्म की उत्पादन मात्रा प्रतयक्ष रूप से इन लागतों पर निर्भर नहीं होती।

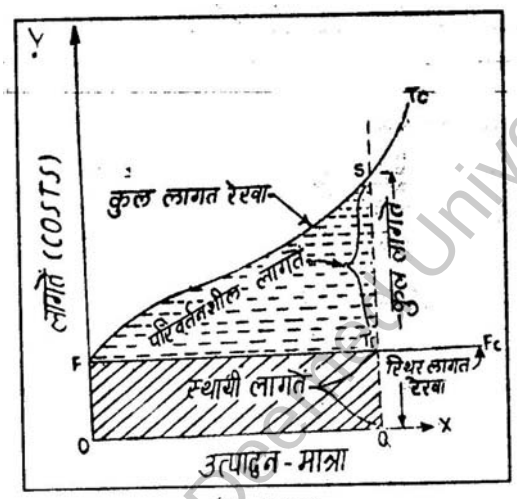

चित्र 1 (A)

आगे तालिका –1 में स्पष्ट है कि अल्पकाल में उत्पादन मात्रा में परिवर्तन के बावजुद भी स्थिर लागतों में परिवर्तन नहीं होता। उतपादन नहीं करने पर भी स्थायी लागतें 100 रू. हैं और उत्पादन बढाकर 50 कर देने पर भी स्थायी लागतें 100 रू. ही हैं। रेखाचित्र –1 में स्थायी लागत रेखा (FC) एक पडी रेखा के रूप में है जो उत्पादन क प्रत्येक स्तर पर स्थिर हैं । उत्पादन घटने–बढने पर भी उसमें कोई परिवर्तन नहीं होता है।

(ii) परिवर्तनशील लागतें (Variable Costs)– परिवर्तनशील लागतें वे लागतें होती है जो उत्पादन की मात्रा में घटत–बढत के साथ–साथ घटती–बढती हैं । इनका उत्पादन मात्रा से प्रत्यक्ष सम्बन्ध होता कहै दूसरे शब्दों में परिवर्तन होती है और उनका योग उत्पादन के स्तर के साथ घटता–बढता हैं । इसके अन्तर्गत कच्चे माल, उत्पादन में संलग्न मजदूरों की मजदूरी, ईंधन या शक्ति और उत्पादन कर आदि लागतों का समावेश होता है।

परिवर्तनशील लागतें उत्पादन की मात्रा के साथ–साथ परिवर्तित होती है किन्तु यह आवश्यक नही कि वे पूर्णतः आनुपातिक रूप परिवर्तित हों । जब वस्तु का उत्पादन उत्पति समता नियतम के अन्तर्गत होता है तो परिवर्तनशील लागतें प्रत्यक्ष रूप से उत्पादन में घटत–बढत के अनुपात में धटती–बढती हैं किन्तु वस्तु का उत्पादन उत्पति वृद्धि नियम के अनुसार होने पर परिवर्तनशील लागतें घटती हुई दर से बढती है जबकि उत्पति ह्रास नियम लागू होने पर परिवर्तनशील लागतें बढती दर (Increasing Rate) से बढती हैं । जैसे नीचे तालिका–1 में परिवर्तनशील लागतें उतपादन में धटत–बढत के साथ–साथ घटती–बढती हैं किन्तु उनमें बढने की दर समान नहीं है जब उत्पादन दुगुना अर्थात् 10 से 20 होता हैं तो भी परिवर्तनशील लागत दुगुनी न होकर दुगूनी से कम बढती है उत्पादन तिगुना करने पर परिवर्तनशील लागत तिगुनी नहीं होती । प्रत्येक अतिरिक्त 10 इकाइयों से परिवर्तनशील लागत में क्रमशः 10 रू., 8रू., 7रू,.9रू., और 12रू., की वृद्धि होती हैं ।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

तालिका–1 लागतें रूपयों मे

उत्पादन मात्रा (Production Units)	कुल स्थायी लागते (Total Fixed Costs)	कुल परिवर्तनशील लागतें (Total Variable Costs)	कुल लागतें (Total Costs)
0	100	0	100
10	100	10	110
20	100	18	118
30	100	25	125
40	100	34	134
50	100	56	156

रेखाचित्र द्वारा निरूपण – स्थिर लागत एवं परिवर्तनशील लागतों को हम रेखाचित्र द्वारा भी स्पष्ञ कर सकते हैं जैसा कि चित्र – 1 में दर्शाया गया हैं ।

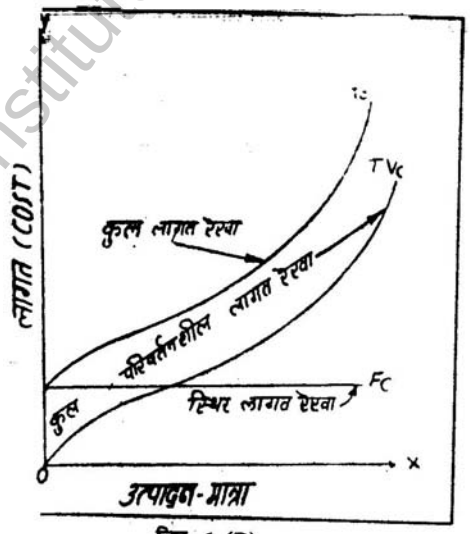

चित्र 1 (B)

दोनों चित्रों में FC स्थायी लागत रेखा हैं जो उत्पादन में घटत–बढत के बावजूद भी स्थिर हैं अतः एक सीधी पडी रेखा है जबकि कुल परिवर्तनशील लागत रेखा (TVC) । जो उत्पादन मात्रा के साथ–साथ परिवर्तनशील हैं । उत्पादन शून्य होने पर (TVC) भी शून्य हैं और उत्पादन वृद्धि के साथ–साथ उसमें वृद्धि होती जाती हैं । कुल लागत रेखा (TVC) परिवर्तनशील तथा स्थिर लागतों का योग हैं अतः कुल लागत रेखा बिन्दु F से प्रारम्भ होती है जहां स्थिर लागत रेखा एक सीधी पडी रेखा के रूप में कुल लागत रेखा (TC) को FC तथा

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

VC रेखाओं के योग द्वारा जैसा उपर बताया गया हैं । शून्य पर उत्पादन VC तो शून्य है किन्तु स्थिर लागत OF है अतः कुल लागत रेखा OF के F बिन्दु से प्रारम्भ होती हैं ।

यहां यह उल्लेखनीय है कि परिवर्तनशील लागतों में वृद्धि उत्पादन मात्रा के अनुपात में ही नहीं होती वरन् कभी आनुपातिक होती है तो कभी घटती दर से और उत्पादन के अनुकूलतम संयोग के बाद परिवर्तनशील लागतें बढती दर से बढती है जैसा रेखाचित्रो 2(A)] 2(B) एवं 2(C) स्पष्ट हैं।

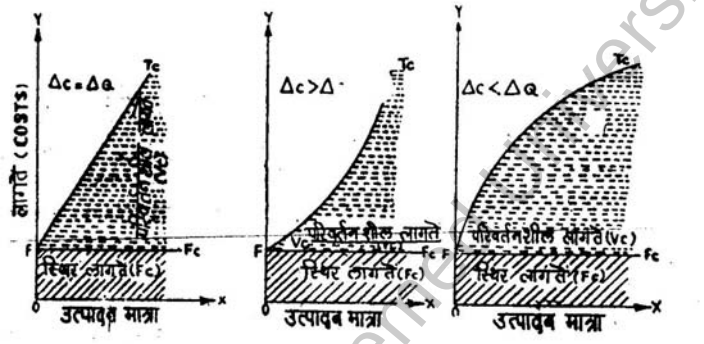

चित्र 2 (A) चित्र 2 (B) चित्र 2 (C)

इन तीनों स्थितियों में कुल स्थायी लागतें अथवा स्थिर लागतें तो OF स्थिर है किन्तु चित्र–2 A में परिवर्तनशील लागत में समानुपातिक दर से वृद्धि होती हे जबकि चित्र 2-B में परिवर्तनशील लागत मे वृद्धि बढती दर से है जबकि चित्र–2 C में परिवर्तनशील लागत में वृद्धि घटती दर से हो रही है।

स्थिर एवं परिवर्तनशील लागतों में महत्वपूर्ण अन्तर एवं विशेषताएं

(1) उत्पादन में दोनों लागतें एक साथ विद्यमान रहती हैं :– अल्पकाल में स्थिर लागतो में उत्पादन मात्रा में घटत–बढत करने पर भी परिवर्तन नहीं होता किन्तुं परिवर्तनशील लागतें उत्पादन में धटत–बढत के साथ–साथ घटती–बढती हैं ।

(2) स्थायी लागतें यथास्थिर रहती हैं किन्तु परिवर्तनशील लागतों में परिवर्तन की दर घटती–बढती हैं :– उत्पादन में घटत–बढत पर भी अल्पकाल में कुल स्थिर लागतों में तो कोई परिवर्तन नहीं होता किन्तु परिवर्तन होता रहता है । प्रारम्भ में परिवर्तनशील लागतों में बढती दर से वृद्धि होती है फिर उत्पादन में समानुपातिक दर से वृद्धि होती है और जब उद्योग का आकार बहुत बडा पहुंच जाता है तो आन्तरिक एवं बाह्य बचतें प्राप्त होने के कारण परिवर्तनशील लागतों में वृद्धि की दर घटती जाती हैं ।

(3) दोनों के अन्तर केवल अल्पकाल से सम्बन्धित हैं :– दीर्घकाल मे तो सभी लागतें परिवर्तनशील होती हैं क्योंकि व्यवसाय एवं उद्योंग का आकार बढाने पर मशीनों, यन्त्रो, बिल्डिंग वं कर्मचारियों पर खर्च होने वाली स्थिर लागत भी परिवर्तित हो जाती हैं ।

(4) मूल्य निर्धारण में दोनो लागतों का अन्तर महत्वपूर्ण हैं :– चूंकी अल्पकाल में स्थिर लगातें तो यथावत रहती हैं उनमें कोई परिवर्तन नहीं होता किन्तु परिवतर्नशील लागतों में उत्पादन के साथ–साथ परिवर्तन होता हैं अतः अगर अल्पकाल में फर्म को परिवर्तनशील लागत के बराबर भी मूल्य मिल जाता हैं तो भी वह घाटा उठाकर भी

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

उत्पादन चालू रख सकती है क्यांकि स्थिर लागत का भार तो उत्पादन न करने पर भी पडेगा। किन्तु दीर्घकाल में उत्पादक को स्थिर लागत एवं परिवर्तनशील लागते दोनों के बराबर मूल्य मिलना चाहिए अन्यथा फर्म को बन्द करना पडेगा ।

(5) दोनों लागतो के बीच कोई स्पष्ट रेखा खींचना कठिन हैं :– प्रो. मार्शल के अनुसार इन दोनों में केवल कुछ अंश का अंन्तर हैं जैसे कार्यालय कर्मचारियों का वेतन स्थिर लागत होते हुए भी अगर उद्योग बन्द कर दिया जाय तो उनकी नोकरियां समाप्त हो जाने से वह लागत प्रमुख लागत होगी और फिर भी नौकरी बनी रहे तो वह पूरक लागत कही जायेगी ।

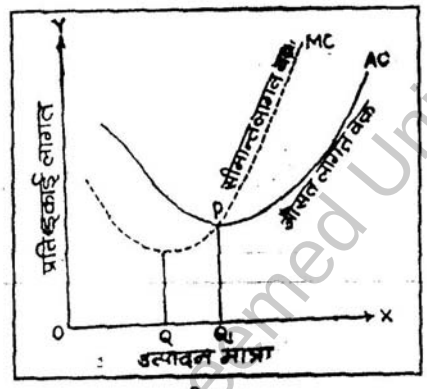

चित्र 4

(6) उत्पादन वृद्धि से प्रति इकाई स्थिर लागत घटती है जबकि उत्पादन में कमी से प्रति इकाई स्थिर लागत उंची रहती हैं :– कयोंकि कुल लागतों में उत्पादन की मात्रा में घटत–बढत के बावजुद भी परिवर्तन नहीं होता । वे स्थिर रहती हैं जबकि परिवर्तनशील औसत लागतों में सामान्यतः वृद्धि की प्रवृति होती हैं जैसे आगे चित्र–4 में दर्शाया गया हैं ।

प्रबन्धकीय निर्णयों में स्थिर लागत एवं परिवर्तनशील लागत का उपयोग एवं महत्व

(Importance and Uses of Fixed and Variable costs in Managerical Decision)

प्रबनधकीय निर्णयों में इन दोनां लागतों का भेंद निम्न दृष्टि से उपयोगी एवं महत्वपूर्ण माना जाता हैं :–

(1) सम–विच्छेद बिन्दु (Break-Even-Point) का निर्धारण – प्रबन्धक स्थिर लागत और परिवर्तनशील लागतो की सहायता से सम–विच्छेद बिन्दु को ज्ञात कर सकते हैं । यह उत्पादन का वह स्तर है जहां फर्म की कुल लागत उसकी कुल आगम के बराबर होती है और उस उत्पादन स्तर कपर फर्म को न लाभ होता है और न हानि ही–केवल सामान्य लाभ का स्तर हैं ।

(2) दोनों लागतों में भेद केवल अल्पकांलीन विश्लेषण मे उपयोगी रहता है – कयोंकि दीर्घकाल में तो स्थिर लागत और परिवर्तनशील लागतों का अन्तर समाप्त हो जाता हैं । दीर्घकाल में तो दोनों ही लागतें परिवर्तनशील होती हैं अतः प्रबन्धकों को भावी नियोजन मं फर्म की औसत लागत और सीमान्त लागत का विश्लेषण ही उपयोगी रहता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

(3) अल्पकाल में मूल्य की न्यूनतम सीमा– वैसे तो फर्म वस्तुओं का मूल्य निर्धारण इस प्रकार करती हैं कि उनको प्राप्त कुल आगाम उनकी कुल लागत से अधिक हो और उन्हें लाभ मिले। किन्तु अल्पकाल में फर्म को मूल्य कम से कम इतना तो मिलना ही चाहिए कि उसकी परिवर्तनशील लागतों के बराबर हो जाये । अगर मूल्य औसत परिवर्तनशील लागत से भी नीचा रहा अर्थात् P<AVC हैं तो फर्म उत्पादन बन्द कर देगी । फर्म अल्पकाल में स्थिर लागत के बराबर घाटा उठाकर भी उत्पादन चालू रख सकती हैं किन्तु दीर्घकाल में तो दोनों लागतों के योग के बराबर कुल आगम प्राप्त होना ही चाहिएं ।

(4) पूंजी बजट का निर्माण– इन दोनो लागतों के आधार पर प्रबन्धकों के लिए पूंजी बजट बनाना सुविधाजनक हो जाता है। क्योंकि उन्हें यह ज्ञात हो जाता है कि स्थिर लागतें तो लगेंगी ही परिवर्तनशील लागतें उत्पादन में घटत–बढत के साथ–साथ परिवर्तित होंगी । अतः कुल मांग पूर्वानुमान एवं उत्पादन योजना के अनुसार साधन जुटा लिये जायेंगे ।

(5) लोचदार बजट व्यवस्था में भी यह उपयोगी रहता हैं ।

अल्पकालीन लागतें अथवा अल्पकाल में लागत–उत्पादन का सम्बन्ध

अल्पकालीन लागतों का विश्लेषण तथा उत्पादन लागत का सम्बन्ध महत्पूर्ण माना जाता है अल्पकाल का अभिप्राय उस समयावधि से है जिसमें फर्म अपनी स्थायी सम्पतियों और उत्पादन–पड़तों में वांछित परिवर्तन करने में असमर्थ होती है । उत्पादन मात्रा में परिवर्तमन फर्म के पास उपलब्ध पड़तों एवं साधनों की अप्रयुक्त क्षमता तक ही समिति रहता है । सैवेज एवं स्माल के शब्दों में अल्पकाल वह अवधि है जिसमे उत्पादन के कम से कम एक साधन की पूर्ति स्थिर होती है अतः फर्म की उस साधन की उपलब्ध पूर्ति में परिवर्तमन सम्भव नही हो पाता ।

अतः अल्पकालीन लागतों तथा उत्पादन–लागत सम्बन्धों का विश्लेषण करने के लिए हम इसके अन्तर्गत औसत स्थिर लागतों, औसत परिवर्तनशील लागतों तथा औसत कुल लागतों के साथ–साथ सीमान्त लागत का अध्ययन करते है इसके अन्तर्गत इन सबका पारस्परिक सम्बन्ध भी बताया जाता है ।

तालिका–2 अल्पकाल में औसत लागतें

(Average Cost in short Period)

उत्पादन की मात्रा	कुल लागते (Total Costs)			औसत लागतें (AC)			सीमान्त लागत (Marginal Cost =MC)
	कुल स्थिर लागत	कुल परितर्वतनशील लागत	कुल लागत (2+1)	औसत स्थिर लागत 2÷1 AFC	औसत परिवर्तनशील लागत 3÷1 AVC	औसत लागत 4÷1 AC	
1	2	3	4	5	6	7	8
1	100	10	110	110	10	110	–
2	100	18	118	50	9	59	8
3	100	24	124	33.3	8	41.3	6

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

4	100	28	128	25	7	32	4
5	100	30	130	20	6	26	2

1. औसत स्थायी लागत (Average Fixed Costs or AFC) यह कुल स्थिर लागत में कुल उत्पति इकाईयों की संख्या में भाग देने पर प्राप्त होती है, चूंकि स्थायी लागत उत्पादन की मात्रा मे वृद्धि होने पर भी अल्पकाल में स्थिर रहती है । अतः उत्पादन की मात्रा में वृद्धि होने पर औसत स्थायी लागत क्रमशः घटती जाती है, जैसे ऊपर तालिका में कॉलम–3 मे बताया गया है । जब उत्पादन 1 इकाई था तो औसत 10 रू. था पर जब उत्पादन 3 ईकाई है तो औसत स्थिर लागत 33.3 रू. है और जब उत्पादन मात्रा 5 इकाई है तो औसत स्थिर लागत केवल 20 रू. ही रह जाती है। आरम्भ मे औसत स्थिर लागत तीव्र गीत से घटती है पर बाद मे धीरे–धीरे घटती है, जैसा कि रेखाचित्र –2 मे भी AFC वक्र देखने से स्पष्ट होता है । औसत स्थिर लागत को संक्षेप मे –

$$\text{औसत स्थिर लागत (AFC)} = \frac{\text{कुल स्थिर लागत (TFC)}}{\text{कुल उत्पादन (Output)}} \quad \frac{TFC}{Q}$$

2. औसत परिवर्तनशील लागत (Average Variable Cost of AVC) - यह लागत कुल परिवर्तनशील लागत में उत्पादित मात्रा का भाग देने से प्राप्त होती है। ज्यो–ज्यों उत्पादन में वृद्धि की जाती है त्यों–त्यों – उद्योग में बड़े पैमाने पर क्रय–विक्रय में किफायत मिलने से एक निश्चित बिन्दु तक औसत परितर्वनशील लागत धीर–धीरे घटती है। फर्म के उत्पादन एक बिन्दु पर यह लागत न्यूनतम होती है। इन बिन्दु के पश्चात् यह लागत उत्पादन वृद्धि के साथ–साथ धीरे–धीरे बढ़ने लगती है और इस प्रकार औसत परिवर्तनशील लागत का वक्र अंग्रेजी के यू की शक्ल का होता है। जैसाकि रेखाचित्र–2 में औसत परिवर्तनशील रेखा (AVC) को देखने से स्पष्ट है।

$$\text{संक्षेप में औसत परिवर्तनशील लागत (AVC)} \quad \frac{\text{कुल परिवर्तन लागत (TVC)}}{\text{कुल उत्पादन (Total Output)}} \quad \frac{TVC}{Q}$$

3. औसत लागत या कुल औसत लागत (Average Cost -AC or Average Total Cost) जैसा कि पहले बताया जा चुका है कुल लागत = कुल स्थिर लागत + कुल परिवर्तनशील लागत। अतः कुल लागत में अगर उत्पादित लगातों का भाग दिया जाये तो औसर लागत (AC) निकल आती है। चूंकि औसत लागत स्थिर और लागत तथा परिवर्तनशील औसत लागत का सम्मिलित योग है अतः ज्यो–ज्यो उत्पादन में वृद्धि होती है त्यों–त्यों औसत निश्चित लागत तो निरन्तर घटती जाती है पर औसत परिवर्तनशील लागत आरम्भ में धीरे–धीरे घटती है और उद्योग में उत्पादन की मात्रा एक बिन्दु पर पहुंचने पर औसत परिवर्तनशील लागत न्यूनतम होती है। इस बिन्दु के बाद औसत परिवर्तनशील लागत उत्पादित मात्रा में वृद्धि के साथ साथ धीरे धीरे बढ़ती है अतः इन दोनों प्रकार की लागतों का सम्मिलित प्रभाव कुल औसत लागत पर यह होता है कि जब परिवर्तनशील लागत बढ़ने लगती है जब भी कुछ सीमा तक औसत लागत में कमी आती है । यह उत्पादन का एक आदर्शतम बिन्दु होता है जैसाकि रेखाचित्र–3 मे स्पष्ट है। इससे ACT अथवा AC भी एक प्रकार से अंग्रेजी के अक्षर यू की शक्ल के समान होती है तथा AVC के ऊपर है ।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

संक्षेप में कुल औसत लागत AC $\frac{\text{कुल लागत (TC)}}{\text{कुल उत्पादन (Output)}}$ $\frac{TC}{Q}$

इकाई लागतों का रेखाचित्रीय निरूपण (Diagramatic Regresentation of Unit Cost) चित्र में OX अक्ष पर उत्पादन मात्रा और OY पर प्रति इकाई लागत दर्शायी गई है । इसमें वक्र AFC औसत स्थिर लागत वक्र है जो उत्पादन की मात्रा में वृद्धि के साथ–साथ कम होता जा रहा है। औसत परिवर्तनशील लागत वक्र AVC बिन्दु P तक गिरता है पर उसके बाद बढ़ते लगता है जबकि औसत लाग वक्र AC भी R बिन्दु तक गिरता है और उस बिन्दु के बाद ऊपर उठता है अर्थात OQ उत्पादन पर औसर परिवर्तनशील लागत न्यूनतम है जबकि उसके बाद ऊपर उठती है और औसत लागत बिन्दु R पर OQ1 मात्रा पर न्यूनतम है उसके बाद उठती है । सीमान्त उत्पादन रेखा MC भी प्रारम्भ में गिरती हुई रेखा है पर बाद में उपर की और उठती है और यह औसत परिवर्तनशील लागत रेखा AVC तथा औसत लागत रेखा AC को उनके निम्नतम बिन्दु क्रमशः P और R पर काटती है ।

(4) सीमान्त लागत (Marginal Cost)- सीमान्त लागत वह लागत है जो एक ओर अतिरिक्त इकाई को उत्पादन करने में कुल लागत में वृद्धि से ज्ञात की जाती हैं । दूसरे शब्दों में सीमान्त लागत वहअतिरिक्त लागत कहै जिसके द्वारा एक अतिरिक्त इकाई उत्पादित करने में कुल व्यय में वृद्धि होती हैं । उदारहण के लिए 10 इकाइयों की उत्पादन लागत 100 रू. है और 11 इकाइयों उत्पादित करने पर कुल लागत 109 रू. है तो सीमान्त लागत 9 रू. हुई क्यकि (109–100) = 9 रू. हैं । इस प्रकार से यह अतिरिक्त इकाई के उत्पादन व्यय को प्रकट करती हैं । पिछली तालिका–2 के 8वें कालम में विभिन्न उत्पादित इकाइयों की सीमान्त लागत दिखाई गई हैं । प्रारम्भ में सीमान्त लागत घटती है पर एक बिन्दु के बाद सिीमान्त लागत कभी बटने लगती हैं। यह उल्लेखनीय है कि सीमान्त लागत औसत लागत की अपेक्षा तीव्र गति से ही गिरती है और तीव्र गति से ही बढती है जैसा कि चित्र–2 तथा 3 में बताया गया हैं। सीमान्त लागत रेखा भी U आकार की होती हैं ।

सीमान्त लागत का मूल्य निर्धारिण में विशेष महत्व होता है– उत्पादक बाजार में मूल्य के अनुरूप ही अपना उत्पादन तब तक बढ़ता है जब तक कि वस्तु का मूल्य वस्तु की सीमान्त लागत (MC) से अधिक है । जिस उत्पादन बिन्दु पर वस्तु का बाजार मूल्य उसकी सीमान्त लागत के बराबर हो जायेगा उत्पादक उत्पादन बन्द कर देगा । इससे अधिक वृद्धि करने पर उसको हानि होगी । अतः सीमान्त लागत उत्पादन मात्रा का निर्धारण करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है।

सीमान्त लागत वक्र के सम्बन्ध में दो बाते उल्लेखनीय है कि (i) MC रेखा AC तथा AVC की उपेक्षा निम्न उत्पादन स्तर पर ही अपने निम्नतम बिन्दुओं पर पहूंच जाती है तथा (ii) MC रेखा AC तथा AVC को उनके निम्नतम बिन्दुओं पर काटती है, जैसा कि चित्र 3 में बिन्दु R व P द्वारा बताया जा चुका है ।

सीमान्त लागत और औसत लागत में सम्बन्ध (Relation Between MC and AC) ये दोनों घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित होती है (i) आरम्भ मे औसत लागत और सीमान्त लागत दोनो गिरती है पर सीमान्त लागत और औसत लागत की अपेक्षा तीव्र गति से गिरती है । (ii) उत्पादन के एक बिन्दु पर ये दोनो बराबर होती है जैसे बिन्दु 4 में बिन्दु p के Q1 उत्पादन पर ये दोनो बराबर है । (iii) जब औसत लागत वक्र के निम्न बिन्दु पर सीमान्त लागत रेखा काटती है उसके बाद दोनों ऊपर की ओर बढ़ती है पर सीमान्त लागत औसत लागत की

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

अपेक्षा तीव्र गति से बढ़ती है । (iv) MC का निम्नतम बिन्दु कम उत्पादन पर ही हो जाता है । जबकि AC का निम्नतम बिन्दु अपेक्षाकृत ऊंचे उत्पादन स्तर पर होता है । इन दोनों के सम्बन्ध को हम रेखाचित्र द्वारा भी स्पष्ट कर सकते है। जैसाकि चित्र–4 में दर्शाया गया है ।

चित्र–3 में सीमान्त लागत (MC) और औसत परिवर्तमनशील लागत (AVC) में भी उपुर्यक्त सम्बन्ध दृष्टिगोचर होता है । अर्थात (i) प्रारम्भ मे AVC और MC दोनों गिरती है पर AVC की अपेक्षा MC तीव्र गति से गिरती है । (ii) एक बिन्दु पर ये दोनों बराबर होती है जैसे बिन्दु P के OQ उत्पादन पर MC=AVC यह बिन्दु AVC का निम्नतम स्तर होता है । (iii) जब AVC को MC निम्न बिन्दु पर काटता है उसके बाद AVC और MC में AVC की अपेक्षा तीव्र गति से वृद्धि होती है । (iv) MC का निम्नतम बिन्दु AVC के पहले ही कम उत्पादन पर आ जाता है।

इस चित्र में AC औसत लागत वक्र है तथा MC सीमान्त लागत वक्र है। ये दोनो रेखाऐं P बिन्दु पर एक दूसरे को काटती है। P औसत लागत वक्र का निम्नतम बिन्दु है पर MC का निम्नतम बिन्दु OQ उत्पादन पर ही हो जाता है जबकि AC का निम्नतम बिन्दु P पर OQ1 उत्पादन पर होता हैं जो कि अपेक्षाकृत उच्च उत्पादन स्तर है।

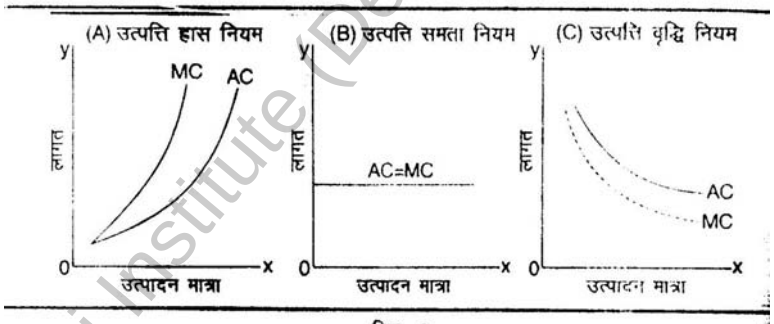

चित्र 5

उत्पादन के नियम एवं लागत वक्र :– जैसाकि पहले उत्पति के नियमो में बताया गया है कि उत्पति के नियमों – उत्पति ह्रास नियम, उत्पति समता नियम तथा उत्पति वृद्धि नियम का उत्पादन लागत से सीधा सम्बन्ध है। (1) उत्पत्ति ह्रास नियम में कुल उत्पति में वृद्धि घटती दर में होती हैं अतः औसत लागत बढ़ती हैं और सीमान्ता उत्पादन अपेक्षाकृत तेज गति से घटने के कारण सीमान्त लागत भी तीव्र गति से बढ़ती हैं। जैसे – चित्र 5 (ए) में स्पष्ट हैं (1) उत्पत्ति समता नियम में प्रति इकाई औसत ओर सीमान्त लागत समान रहती है यह एक क्षैतिय पड़ी रेखा के अनुरुप होती है। (चित्र 5–बी) उत्पादन की मात्रा में परिवर्तन AC तथा MC दोनों को प्रभावित नहीं करता। (3) जब वस्तु के उत्पादन में क्रमागत उत्पत्ति वृद्धि नियम लागू हो रहा हो तो लागत की दृष्टि से यह लागत ह्रास नियम है अतः औसत और सीमान्त उत्पति दोनों उत्पादन मात्रा में वृद्धि के साथ साथ एक सीमा तक गिरती है। पर सीमान्त लागत MC औसत लागत AC की अपेक्षा तेज गति से गिरती है। जैसे चित्र–2 QO उत्पादन के पूर्व दोनो गिर रही हैं

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

उपर्युक्त रेखाचित्रों में स्पष्ट है कि उत्पति ह्रास नियम लागत की दृष्टि से लागत वृद्धि नियम क्योंकि AC और MC दोनो बढ़ती हैं समता नियम में AC MC रहती है। उत्पति वृद्धि नियम में लागते घटती है अतः MC और AC दोनों घटती हैं पर MC वक्र AC से भी तेज गति से गिरती हैं

अल्पकालीन लागत विश्लेषण का प्रबन्धकीय महत्व एवं उपयोग

अल्पकालीन लागत विष्लेषण प्रबन्धकीय निर्णयो के लिए एक उपयोगी एवं महत्वपूर्ण उपकरण इसके प्रबन्धकीय उपयोग निम्न है ।

(1) मूल्य निर्धारण – यह अल्पकालीन मूल्य निर्धारण में आवष्यक मार्गदर्शन प्रदान करता है। फर्म को मूल्य कम से कम उसकी औसत लागत के बराबर तो मिलना ही चाहिये।

(2) उत्पादन क्षमता के प्रयोग सम्बन्धी निर्णय – फर्म को अल्पकालीन लागत के विष्लेषण के द्वारा यह निर्णय लेने में सहायता मिलती है कि संयंत्र या भवन की अप्रयुक्त क्षमता का प्रयोग करने के लिए उत्पादन बढ़ाया जाय अथवा उन्हे किराये पर उठा दिया जाये।

(3) नये आदेश या प्रस्ताव को स्वीकार करना या न करना भी लागत विष्लेषण पर निर्भर रहता है। अगर फर्म की लागत उसकी कीमत से कम बैठती हो तो नये प्रस्तावों को स्वीकार किया जायेगा अन्यथा उनको परिवर्तनशील लागत के सन्दर्भ में देखकर निर्णय लिया जायेगा।

(4) फर्म के पुराने उत्पादों के स्थान पर नये उत्पादों का प्रतिस्थापन अथवा अन्य कोई नवीन उत्पाद जोड़े जाने का निर्णय लागत विष्लेषण पर निर्भर हैं

(5) उत्पादन में पुरानी मशीन को चालू रखा जाये अथवा उसके स्थान पर नयी मशीने लगायी जाये इसका निर्णय भी अल्पकालीन लागत विष्लेषण पर निर्भर करता हैं।

दीर्घकालीन लागते अथवा दीर्घकाल में लागत उत्पादन सम्बन्ध

आर्थिक विष्लेषण में दीर्घकाल का अभिप्राय उस समयावधि से है जिसमें फर्म अपने उत्पादन में मांग के अनुसार वांछित परिवर्तन कर सकती हैं। दीर्घकाल में उत्पादन का पैमाना बढ़ाने पर स्थिर लागतें और परिवर्तनशील लागते दोनो बदल जाती है। अर्थात् दीर्घकाल में सभी लागतें परिवर्तनशील होती है कोई लागत स्थिर नहीं होती। लेफ्टविच के शब्दों में दीर्घकाल को वैकल्पिक अल्पकाल स्थितियों की श्रृंखला के रुप में देखना ज्यादा उपयोगी होगा जिसमें से किसी में भी फर्म प्रवेश कर सकती है। ''दीर्घकाल इस प्रकार अल्पकाल की स्थितियो की एक लम्बी कड़ी हैं यह एक प्रकार से नियोजन काल होता हैं जिसमें सभी लागते परिवर्तनशील होने के कारण औसत कुल लागत तथा सीमान्त लागत ही भावी उत्पादन नियोजन एवं निर्णयो मे मार्ग दर्शक माने जाते हैं

यद्यपि प्रत्येक उत्पादक अपनी अल्पकालीन लागतों पर ही अधिक ध्यान देते है क्योकि उनके प्रायः सभी कार्य अल्पकाल से सम्बन्धित होते है परन्तु फिर भी उत्पादक अपने उद्योग के आकार के सम्बन्ध में निर्णय आर्थिक कार्यो से है जबकि दीर्घकाल का सम्बन्ध आर्थिक निर्णयों से है। इसलिये दीर्घकालीन लागतों का अध्ययन भी महत्वपूर्ण है।

दीर्घकालीन औसत लागत रेखा :– दीर्घकाल अल्पकाल से ही बनता है। दीर्घकाल में उत्पादक अपने साधनों में परिवर्तन कर सकता हैं अतः दीर्घकाल में सभी साधन तथा लागते परिवर्तनशील हैं। दीर्घकाल में उत्पादक अपने उत्पादन साधनों का वांछित सीमा तक परिवर्तन कर उत्पादन का पैमाना बदल सकता है। अतः जब जब भी उत्पादन का आकार बदल जाता है उतनी ही बार फर्म के लिए नये अल्पकालीन लागत वक्र होगे। इस प्रकार स्पष्ट है कि प्रत्येक प्लान्ट से सम्बन्धित उत्पादन के लिए भिन्न भिन्न अल्पकालीन औसत लागत रेखाओं को

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

स्पर्श करती हुई रेखा खींची जाये तो जो रेखा बनती है वही दीर्घकालीन औसत लागत वक्र है । दीर्घकालीन औसत रेखा यह बताती है कि उत्पादन के पैमाने में परिवर्तन से औसत लागत किस प्रकार परिवर्तित होती है । यह रेखा चित्र – 6 में बाताया गया है ।

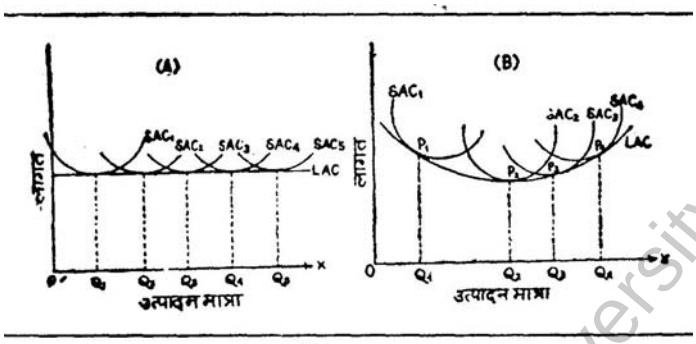

चित्र 6

निम्न चित्रों मे उत्पादन की मात्रा Q1 होने पर अल्पकालीन औसल लागत SAC1 है, Q2 पर SAC2 है, Q3 पर SAC3 है । जब इन अल्पकालीन औसत वक्रों को स्पर्श करती हुई जो रेखा खींची गई है वही दीर्घकालीन औसत लागत वक्र है जिसे LAC के नाम से दर्शाया गया है । **चित्र–6** (A) में स्पर्श रेखा LAC दीर्घकाल में औसत लागत को समान बतलाती है अर्थात दीर्घकालीन में उत्पदन मात्रा में परिवर्तन के लिए प्लान्ट के आकार में परिवर्तन से औसल लागत LAC समान रहती है । इसमें दीर्घकाल में उत्प्दन समता नियम लागू होता है । जबकि चित्र – 6 (B) में दीर्घकालीन औसत लागत वक्र LAC उत्पादन के OQ1 स्तर पर उत्पादन स्तर OQ2 की अपेक्षा उंची है अर्थात् P1Q1 > P2Q2 पर दीर्घकालीन औसत रेखा LAC उत्पादन स्तर OQ3 पर अपने निम्नतम बिन्दु P3 पर है अतः इस बिन्दु पर फर्म के साधनों का संयोग सर्वोतम है क्योंकि इस फर्म की औसत लागत निम्नतम P3Q3 है । इस बिन्दु के पश्चात फिर दीर्घकालीन औसत लागत बढ़ती है अतः दीर्घकालीन औसत लागत वक्र का आधार या तो सीधी रेखा–6 (A) के समान या अन्य औसल लागत वक्रों के '' U'' की भांति होता है पर इसका फैलाव अल्पकालीन औसत लागत वक्रो की अपेक्षा अधिक होता है । दीर्घकालीन औसत लागत वक्र को आवरण वक्र या लिफाफा वक्र (Envelope Curve) भी कहते है, क्योंकि यह सभी अल्पकालीन औसत वक्रों को अपने आवरण में छिपा लेती है ।

उत्पति के नियमों का दीर्घकालीन औसत लागत LAC पर प्रभाव – उत्पति के नियमों का दीर्घकालीन औसत लागत पर प्रभाव निम्न रेखाचित्रों में स्पष्ट होता है ।

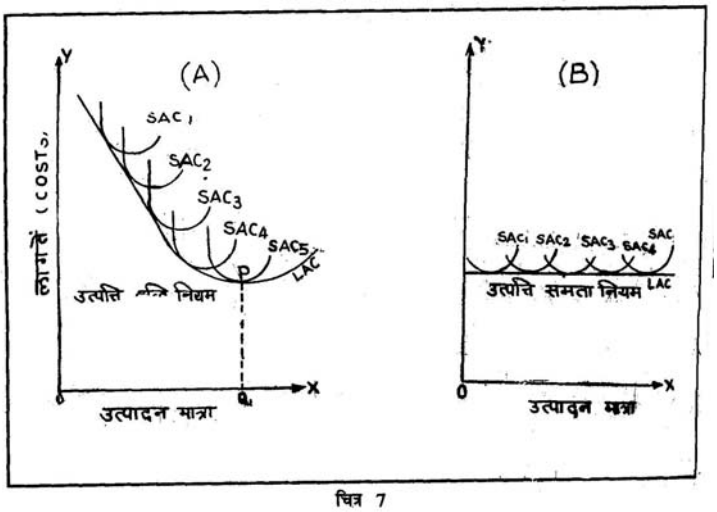

चित्र 7

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

चित्र–7 (A) में उत्पादन की OQ मात्रा तक उत्पति वृद्धि नियम (Law of Increasing Returns) लागू हो रहा है । ज्यों ज्यों उत्पदन बढाया जा रहा है । त्यों त्यों OQ उत्पादन तक LAC वक्र गिरता हुआ है जबकि OQ पर न्यूनतम लागत PQ है । उसके बाद चित्र 7– B में उत्पति समता नियम क्रियाशील होने से उत्पादन के प्रत्येक स्तर पर LAC समान रहती है । किन्तु चित्र 7-C मे उत्पादन के OQ बिन्दु के बाद ज्यों ज्यों उत्पादन बढ़ाया जाता है । त्यों त्यों उत्पति ह्रास नियम (Law of Diminishing Returns) लागू होने के कारण LAC वक्र उपर की ओर चढता जाता है । और LAC बढती चली जाती है । यह अनुकूलतम आकार से अधिक उत्पादन का द्योतक है ।

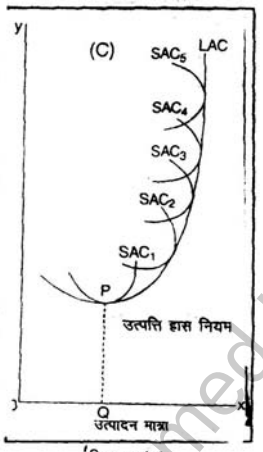

चित्र 7 (C)

(3) दीर्घकालीन सीमान्त लागत वक्र (Long Run Marginal Cost Curve) :– अल्पकालीन सीमान्त लागत वक्र (SMC) तथा दीर्घकालीन सीमान्त लागत वक्र (LMC) में कोई विशेष अन्तर नही है । चूंकि दीर्घकाल में स्थायी लागत और परिवर्तनशील लागत का अन्तर समाप्त हो जाता है । दीर्धकाल में सभी लागते परिवर्तनशील रहती है। अतः दीर्घकाल में सीमान्त लागत उत्पादन में अतिरिक्त इकाई के कारण कुल लागत में होने वाली वृद्धि के बराबर होती है । दीर्घकाल में सीमान्त लागत भी अपेक्षाकृत चपटा (Flat) होता है।

दीर्घकालीन औसत और दीर्घकालीन सीमान्त लागत में सम्बन्ध :– दोनों में वही सम्बन्ध रहता है जो अल्पकाल में रहता है। अल्पकालीन और दीर्घकालीन सीमान्त वक्र दोनों U शक्ल के होते है, जिस प्रकार अल्पकाल में सीमान्त लागत वक्र (SMC) अल्पकालीन औसत लागत वक्र (SMC) अल्पकालीन औसत लागत (SAC) को उसके निम्नतम बिन्दु पर काटती है । उसी प्रकार दीर्घकाल में दीर्घकालीन सीमान्त लागत वक्र (LMC) दीर्धकाल औसत वक्र (LAC) को उसके निम्नतम बिन्दु पर काटती है इस बिन्दु पर LAC = LMC = SMC = SAC, होता है जैसा चित्र–8 में स्पष्ट है ।

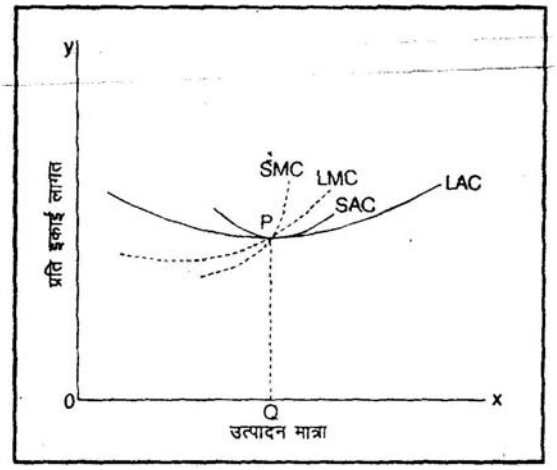

चित्र 8

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

चित्र – 8 में देखनें से प्रतीत होता है कि LAC और LMC अपेक्षाकृत चपटी रेखाएँ है जबकि SMC और SAC तीव्र गति से घटती बढ़ती वक्र रेखा है । उत्पादन की FOQ मात्रा पर LAC=LMC=SAC=SMC और यही फर्म की उत्पादन की आदर्शतम सीमा है क्योंकि इसके P बिन्दु पर ही LAC ओर SAC दोनों अपेन निम्नतम बिन्दु पर है अर्थात दोनों लागते न्यूनतम है ।

दीर्घकालीन औसत लागत वक्र की विशेषताएँ

(Characteristics of Long run Average Cost Curve or LAC)

(1) दीर्घकालीन औसत लागत (LAC) – सदैव ही अल्पकालीन औसत (SAC) से कम होती है अतः LAC रेखा सदा SAC के नीचे रहती है ।

(2) LAC रेखा सभी SAC रेखाओं की आवरण वक्र या लिफाफा वक्र (Envelope Curve) होती है क्योंकि यह सभी अल्पकालीन औसत लागतों की रेखाओं को अपने आवरण मे छिपा लेती है । इसी कारण इसे आवरण रेखा भी कहते है । यह उल्लेखनीय है कि लिफाफा पत्र से अलग होता है । किन्तु LAC रेखा का निर्माण तो SAC रेखाओं के द्वारा ही होता है अतः पृथक नही होती है वतन् अन्तर्देशीय पत्र (Inland) की भांति होती है जो पत्र को अपने आवरण में छिपाते हुए भी अलग अस्तित्व नही रखती ।

(3) LAC हमेशा SAC के स्पर्शरेखा (Tangent) होती है कभी भी एक दूसरे को काटती नही क्योंकि काटने का अभिप्राय तो यह हुआ कि LAC रेखा SAC से अधिक हो सकती है जो प्रायः असम्भव है । LAC हमेशा SAC से कम होने के कारण उससे नीचे ही रहता है ।

(4) LAC रेखा प्रत्येक SAC रेखा को स्पर्श तो करती है किन्तु सभी रेखाओं को उनके न्यूनतम बिन्दुओं पर स्पर्श करना आवष्यक नही है । अनुकूलतम उत्पादन आकार से पूर्व और पश्चात् वह SAC रेखाओं के क्रमशः गिरने और उपर उठते हुए भाग पर स्पर्श करती है जैसा रेखाचित्र – 7 में दर्शाया गया है जबकि अनुकूलतम आकार की अवस्था में ही SAC को LAC रेखा निम्नतम बिन्दु पर स्पर्श करती है ।

(5) दीर्घकालीन औसत लागत (LAC) रेखा भविष्य में उत्पादन तथा लागत की सर्वश्रेष्ठ सम्भावनाओं की प्रतीक होने के कारण नियोजन रेखा (Planning Curve) भी कही जाती है ।

(6) दीर्घकालीन औसत आगम (LAC) वक्र का आकार भी SAC वक्र तक भांति U – आकार का होता है किन्तु LAC वक्र फेलाव SAC रेखा की अपेक्षा अधिक होता है । अर्थात् LAC वक्र SAC वक्र की अपेक्षाकृत अधिक चपटा (Flat) होता है । अवधि जितनी अधिक होगी LAC वक्र उतना ही अधिक चपटा व फैला हुआ होगा । उत्पति समता नियम लागू होने पर LAC वक्र का आकार एक बड़ी रेखा के समान भी हो सकता है जैसे – 6 A में दर्शाया गया है ।

(7) LAC वक्र का निम्नतम बिन्दु उत्पादन की न्यूनतम लागत एवं फर्म के आदर्श अथवा अनुकूलतम आकार का प्रतीक है ।

(8) LAC वक्र उत्पादन के प्रत्येक स्तर सम्भावित न्यूनतम लागत का संकेत देता है ।

(9) LAC वक्र का स्वरूप तथा आकार उद्योग में क्रियाशील उत्पति नियमों (Law of Returns) की प्रकृति पर निर्भर करता है । जैसा पहले चित्र – 7 में बताया है ।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

विभिन्न औसत लागत रेखाओं का सम्बन्ध

(Relationship among various Average Cost Curve)

उपर्युक्त विभिन्न औसत लागतों में निम्न सम्बन्ध दृष्टिगोचर होता है –

(1) उत्पादन के प्रत्येक स्तर पर औसत कुल लागत (ATC) औसत परिवर्तनतशील लागत (AVC) तथा औसत स्थिर लागत (AFC) के योग के बारबर होती है अर्थात ATC=AFC+AVC होता है ।

(2) प्रारम्भ मे बड़े पैमाने की मितव्ययिताओं के कारण ATC, MC तथा AVC तीनों वक्र गिरते हुए होते है किन्तु उत्पादन के अलग अलग बिन्दुओं पर वे निम्नतम होकर पुनः उपर की ओर उठते हुए होते है ।

(3) AVC वक्र का निम्न बिन्दु ATC के पहले आता है अतः AVC वक्र को उपर उठाने का बिन्दु ATC के उपर उठने के बिन्दु से पहले आता है क्योंकि AVC रेखा के निम्नतम होने के बाद ही औसत लागत घट सकती है ।

(4) उत्पादन वृद्धि के साथ साथ औसत स्थिर लागत वक्र (AFC) निरन्तर नीचे की ओर गिरती रेखा होती है अतः AFC रेखा (Rectangular Hyperbola) आकार की होती है जबकि ATC, MC तथा AVC रेखाओं का आकार अंग्रेजी के ''U'' की शक्ल का होता है ।

(5) ज्यों ज्यों ATC तथा AVC उपर की ओर उठती है तो उनमें एक दूसरे के निकट आने की प्रवृति होती है पर दोनों एक दूसरे को स्पर्श नही कर सकती क्योंकि उत्पादन के किसी भी स्तर पर AFC शून्य नही हो सकती ।

(6) उत्पादन के प्रत्येक स्तर पर ATC तथा AVC के नीचे की दूरी AFC के बराबर होती है ।

(7) MC रेखा ATC तथा AVC दोनों रेखाओं को उनके निम्नतम बिन्दुओं पर काटती है अतः MC का न्यूनतम बिन्दु ATC तथा AVC के निम्न बिन्दुओं से पहले होता है क्योंकि MC के निम्न होने के बाद ही AVC तथा ATC न्यूनतम हो सकती है ।

(8) MC तथा AFC वक्रो में कोई सम्बन्ध नही होता है ।

दीर्घकालीन औसत लागत का प्रबन्धको के लिये महत्व एवं उपयोग

(Importance and Uses of Long term various Average Cost Curve for Managment)

दीर्घकालीन औसत लागत किसी फर्म के लिए प्रत्येक सम्भावित उत्पादन मात्रा के लिए सम्भावित न्यूनतम लागत का प्रतीक होती है अतः इसे फर्म के लिए नियोजन रेखा (Planning Curve) भी माना जाता है । अतः भावी नियोजन के लिए यह प्रबन्धकों के लिये विशेष उपयोगी है –

(1) उत्पादन के अनुकूलतम या सर्वोतम आकार के निर्धारण में दीर्घकालीन औसत लागत आवष्यक मार्गदर्शन देती है । उत्पादन का अनुकूलतम आकार LAC के उस बिन्दु पर होगा जो निम्नतम है। जैसा कि चित्र–8 में OQ उत्पादन पर स्पष्ट है ।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

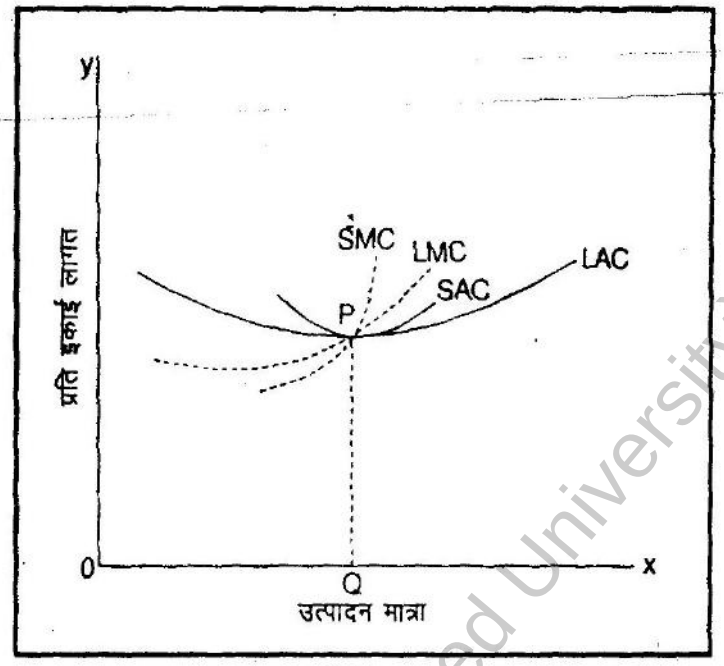

चित्र 8

(2) संयत्र निर्माण व विस्तार सम्बन्धी निर्णय – दीर्घकालीन औसत लागत वक्र प्रबन्धकों को संयत्र का आकार निर्धारण करने में भी सहायता देता है कि पुराने संयत्र को छोटे नये संयत्र में बदला जाये या पुराने संयत्र का ही विस्तार किया जाये या नया बड़ा संयंत्र लगाया जो । इस सम्बन्ध में दो दशाएँ होती है :–

(i) अनुकूलतम स्तर से कम उत्पादन की दशा में फर्म के लिए यह अधिक मितव्ययितापूर्ण होगा कि वह किसी छोटे आकार के संयंत्र का अधिक उपयोग (Over use) करने के स्थान पर बडे संयंत्र के कम उपयोग (Under use) को प्राथमिकता दे क्योंकि अनुकूलतम आकार से पूर्व उत्पादन स्तर पर उत्पति वृद्धि नियम लागू होता है जबकि उसके बाद वाले स्तर पर उत्पति ह्रास नियम लागू होने से लागत बढ़ती है अतः स्पष्ट है कि बड़े संयंत्र पर पैमाने की बचतें एवं मितव्ययिताएं छोटे संयंत्र की तुलना में अधिक होती है और अन पर अनुकूलतम से कम उत्पादन करने पर भी औसत लागत अपेक्षाकृत कम बैठती है ।

(ii) अनुकूलतम आकार से अधिक उत्पादन की दशा में फर्म के लिए छोटे संयंत्र का अधिक उपयोग (Over use) करना बड़े संयंत्र के कम उपयोग (Under use) की तुलना में अधिक मितव्ययतापूर्ण एवं सस्ता रहेगा क्योंकि अनुकूलतम आकार के बाद उत्पति ह्रास नियम लागू होने से बड़े पैमाने के उद्योग में अपव्यय बढ़ते है । अतः छोटे आकार के संयंत्र पर अपव्यय एवं मितव्ययिता बड़े आकार के संयंत्र के मुकाबले कम बैठने से छोटे संयंत्र की औसत लागत बड़े संयंत्र की तुलना में नीची रहती है । अतः अनुकूलतम आकार से अधिक उत्पादन के लिए छोटे संयंत्र का अधिक उपयोग (Over use) मितव्ययितापूर्ण तथा कम औसत लागत का प्रतीक है ।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

रेखाचित्र द्वारा निरूपण (Diagramatic Representation)

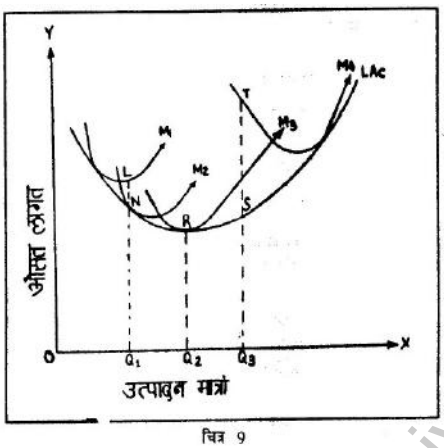

चित्र 9

माना कि फर्म के प्रबन्धकों के चार संयन्त्रो – M1, M2, M3 तथा M4 में से किसी एक सर्वश्रेष्ठ संयंत्र का चुनाव करना हो जिनमें M1 संयत्र से M2 संयत्र बडा है और M2 से M3 बडा है और इसी प्रकार M3 से M4 बडा है । दूसरे शब्दो में M4>M3>M2<M1 अथवा M1<M2<M3>M4 है चित्र–9 में इन अलग अलग संयंत्रों की अल्पकालीन औसत लागते SAC क्रमशः M1, M2, M3 तथा M4 से दर्शायी गयी है । इन अल्पकालीन औसत लागतों को स्पर्श करती हुई दीर्घकालीन औसत लागत वक्र (LAC) खींची गयी है ।

इसमें फर्म का न्यूनतम औसल लागत का अनुकूलतम आकार OQ2 उत्पादन स्तर है जहां दीर्घकालीन औसत लागत RO2 है । अनुकूलतम आकार के स्तर पर उत्पादन करने कि लिए जो फर्म के लिए संयंत्र M3 सर्वश्रेष्ठ है क्योंकि OQ2, RO2 औसत लागत पर होता है जो न्यूनतम औसल लागत को प्रदर्शित करता है ।

अगर फर्म अनुकूलतम आकार से उत्पादन को घ्टाकार केवल OQ1 करना चाहती है तो प्रबन्धकों को दो वैकल्पिक संयंत्र M1 तथा M2 उपलब्ध है इनमें फर्म के लिए M1 संयंत्र के अति प्रयोग (Over use) के स्थान पर M2 संयंत्र का कम उपयोग (Under Use) अधिक मितव्ययितापूर्ण रहता है क्योंकि M1 संयंत्र के प्रयोग में औसत लागत LQ1 है जबकि M2 संयंत्र के प्रयोग में औसत लागत NQ1 ही है जो कि LO1 से कम है अर्थात NQ1<LQ1 इसके विपरीत अगर फर्म अनुकूलतम आकार से अधिक उत्पादन OQ3 करना चाहती है । तो उसके लिए M4 संयंत्र के कम उपयोग के स्थान पर M3 संयंत्र के अति प्रयोग (Over use) में लागत नीची रहेगी जैसे OQ3 उत्पादन स्तर पर M3 संयंत्र की लागत SQ3 है जो M4 की औसत लागत TQ3 से कम है अर्थात SQ3<TQ3 है अतः संयंत्र M3 अधिक मितव्ययितापूर्ण है ।

लेखा लागतें एवं आर्थिक लागतें

(Accounting Costs and Economic Costs)

लेखा लागतें (Accounting Costs) –लेखा लागतों से अभिप्राय उन लागतों से है जो फर्म को किसी वस्तु या सेवा के उत्पादन में मौद्रिक मूल्य के रूप में चुकानी पड़ती है या वास्तव में बाह्य साधनों पर खर्च करनी पड़ती है तथा जिनका फर्म की लेखा एवं वितीय पुस्तकों में लेखा जोखा होता है । इन लागतों को ऐतिहासिक लागतें (Historical Cost) भी कहते हैं क्योंकि फर्म के लेखापाल (Accountants) इन सब लागतों को फर्म की लेखा पुस्तकों में उन्हे उस मौद्रिक मूल्य पर दर्शाते हैं जो वस्तु या सेवा के क्रय पर अथवा उनके निर्माण पर कच्चे माल, मजदूरी, बाह्य पूंजी पर ब्याज, वेतन अथवा किराये पर लिए गए साधनों को किराये के रूप मे बाह्यस्वामियों को मुद्रा में चुकाये गए है । इसके अन्तर्गत मशीनों एवं उपकरणों पर होने वाल वार्षिक घिसावट को भी निष्चित

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

लेखा विधि के आधार पर दर्शाया जाता है । यहॉ यह उल्लेखनीय है कि लेखा पुस्तकों में लिखे गए खर्चो का ही लेखा लागतों में समावेश होता है । इसमें उन काल्पनिक लागतों का समावेश नही होता जो बाह्य साधन को चुकाई न जाकर फर्म के स्वामी को उसकी स्वयं की पूंजी, सम्पति या श्रम के बदले में चुकाई जानी चाहिए थी।

उदाहरण के लिए अगर फर्म के स्वामी को पूंजी पर ब्याज, भवन का किराया तथा स्वयं के श्रम का पारिश्रमिक के क्रमश 1000 रू. 3000 रू. तथा 12000 रू. हो सकते थे किन्तु चूंकि ये बाह्य साधनों को नही चुकाये गये है अतः लेखा लागतों में इन वैकल्पिक मौदिक मूल्यों का समावेश नही होता । इसी प्रकार जैसे एक फर्म ने एक मशीन 1971 में 10 लाख रू. खरीदी और उस पर प्रति वर्ष 1 लाख रू. घिसावट (Depreciation) काटने से अब 1981 के अन्त में वह मशीन लेखा पुस्तकों में शून्य मूल्य (10 लाख रू. लागत – 10 लाख रू. घिसावट @ एक लाख रू. प्रति वर्ष) पर दर्शायी जायेगी चाहे वह मशीन अभी भी 3 लाख रू. में बाजार में बेची जा सकती हो । फिर भी फर्म की मशीन को लेखा लागत अब केवल शून्य है ।

अर्थिक लागतें (Economic Costs) – लेखा लागतों की अपेक्षा आर्थिक लागतों का अभिप्राय व्यापक अर्थ में लगाया जाता है। जहां लेखा लागतों में केवल उन्ही मौद्रिक मूल्यों का समावेश होता है जो वास्तव में बाह्य साधनों को चुकाये जो है तथा जिनका लेखा जोखा वितीय पुस्तकों में होता है जबकि आर्थिक लागतों के अन्तर्गत वस्तु के उत्पादन व विक्रय से सम्बन्धित सभी अवसर लागतों एवं वैकल्पिक लागतों (Opportunity Costs) का समावेश होता है चो वे वास्तव में मुद्रा में चुकाई ही नही जाती। अतः आर्थिक लागत में लेखा लागतों के अतिरिक्त फर्म के स्वामी को उसकी पूंजी पर ब्याज, भवन का किराया, अन्य साधनों का मूल्य जो उसको स्वयं के साधनों से अन्यत्र वैकल्पिक प्रयोगों से मिल सकता था तथा स्वयं के श्रम के पारिश्रमिक का भी समावेश होता है । इसी प्रकार जहॉ लेखा लागतों में मशीनों आदि को ऐतिहासिक मूल्य पर दर्शाया जाता है वहां आर्थिक लागतों के अन्तर्गत मशीनों का मूल्य उनके प्रतिस्थापन लागत पर दर्शाया जाता है जैसे उपर लेखा लागतों में मशीन की लेखा लागत शून्य है वहॉ आर्थिक लागत के रूप में उसे उसके वास्तविक बाजार मूल्य 3 लाख रूपये पर दर्शाया जाएगा ।

आर्थिक लागतों एवं लेखा लागतों में अन्तर का स्पष्टीकरण

(Economic Costs V/S Accounting Costs)

आर्थिक लागतों एवं लेखा लागतों में अन्तर मुख्यतः चार क्षेत्रो में दृष्टिगोचर होता है –

(i) सीमान्त लागत एवं औसत परिवर्तनशील लागत,

(ii) लाभ,

(iii) सम्पति का मूल्यांकन एवं मूल्य ह्रास,

(iv) स्टॉक मूल्यांकन (Stock Valuation)

इनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है :–

(1) सीमान्त लागत एवं औसत परिवर्तनशील लागत (Marginal Cost and Average Variable Costs) :– आर्थिक सिद्धान्त के दृष्टिकोण से सीमान्त लागत (MC) तथा औसत परिवर्तनशील लागते (AVC) उत्पादन में प्रारम्भिक वृद्धि पर गिरती है और उत्पादन के एक स्तर पर न्यूनतम बिन्दु पर पहुंच जाती है किन्तु उसके बाद उत्पादन वृद्धि के साथ उनमें वृद्धि की प्रवृति होती है जबकि लेखा लागत दृष्टिकोण के अन्तर्गत उत्पादन के प्रत्येंक स्तर पर वस्तु की सभी इकाइयों की सीमान्त लागत एवं औसत परिवर्तनशील लागत एकसी मानी जाती है इनमें उत्पादन एवं लागत का रेखीय सम्बन्ध (Linear Relationship) माना जाता है । प्रत्येक अतिरिक्त इकाई की उत्पादन में समान अतिरिक्त लागत लगती है । इन दोनों दृष्टिकोणों को रेखा चित्र – 10 व तालिका से दर्शाया जा सकता है ।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

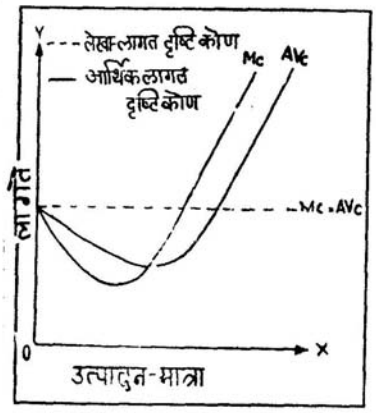

चित्र 10

रेखा चित्र में कटी रेखा MC=AVC लेखा लागत दृष्टिकोण बताती है जो उत्पादन के प्रत्येक स्तर पर एकसी रहती है जबकि रेखा MC तथा AVC जो प्रारम्भ में गिरती है फिर एक न्यूनतम स्तर पर पहुंचकर उपर उठती हुई है । ये आर्थिक लागत दृष्टिकोण की परिचायक है ।

तालिका –3 आर्थिक लागत एवं लेखा लागत का अन्तर

(A) लेखा लागते (Accounting Cost View)

परिवर्तन शील साधन की इकाइयां	कुल उत्पादन मात्रा O	सीमान्त उत्पादन MP	लागतें			औसत स्थित लागत (AFC) (TFC) Q	टौसत परिवर्तनशील लागत TVC Q	औसल कुल लागत TC Q	सीमान्त लागत (MC) अथवा TC AQ कुल लागत में परिवर्तन ..... कुल उत्पादन में परिवर्तन
			स्थिर लागतें TFC	परिवर्तन शील लागत TVC	कुल लागत (3+4) TC				
1	2	3	4	5	6	7	8	9	10
1	1	1	100	10	110	100	10	110	10
2	2	1	100	20	120	50	10	60	10
3	3	1	100	30	130	33.3	10	43.3	10
4	4	1	100	40	140	25	10	35	10
5	5	1	100	50	150	20	10	26.7	10

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

(B) आर्थिक लागतों का दृष्टिकोण (Accounting Cost View)

1	1	1	100	10	110	100	10	110	10 (10/1)
2	3	2	100	20	120	33.3	6.7	40	5 (10/2)
3	6	3	100	30	130	16.7	5.0	21.6	3.3 (10/3)
4	9	3	100	40	140	11.0	4.4	15.5	3.3 (10/3)
5	11	2	100	50	150	9.0	4.5	14.5	5 (10/2)
6	12	1	100	60	160	8.3	5.0	13	10 (10/1)

तालिका के दोनों भागों की तुलना से स्पष्ट है कि लेखा लागत दृष्टिकोण के अन्तर्गत उत्पादन साधन इकाइयें के घटत बढ़त के बावजूद सीमान्त उत्पादन (MPP) स्थिर अथवा एकसा रहता है जबकि आर्थिक लागत दृष्टिकोण के अन्तर्गत सीमान्त उत्पादन प्रारम्भ में बढ़ता है और फिर उसमें घटनें की प्रवृति होने सीमान्त उत्पादन की दर एकसी नही रहती है । अतः औसत परिवर्तनशील लागत और सीमान्त लागत दोनों प्रारम्भ में गिरते हुए होते है और फिर उत्पादन के एक स्तर पर न्यूनतम होकर पुनः बढ़ते है जैसे कॉलम 8 और 10 में दर्शाया हुआ है जबकि लेखा लागत दृष्टिकोण में सीमान्त लागत और औसत परिवर्तनशील लागत एकसी 10 रूपये रहती है ।

(2) लाभ के क्षेत्र में अन्तर – आर्थिक लागत और लेखा लागत में अन्तर लाभ के क्षेत्र में भी दृष्टिगोचर होता है । जहां लेखा लागतों के अनुसार लेखा पाल फर्म के कुल आगम (TR) में से समस्त मौद्रिक लागतों – जो कच्चे माल, मजदूरी, वेतन, लगान, ईंधन तथा बाह्य साधनों को किए गए विभिन्न भुगतान के योग के अतिरिक्त पुस्तकीय लागते (Book Costs), मूल्य ह्रास (Depreciation) एंव स्टॉक कीमतों को घटाकर फर्म के लाभ को ज्ञात करते है जबकि आर्थिक लागत दृष्टिकोण के अन्तर्गत फर्म का लाभ ज्ञात करने के लिए लेखा लागतों की समस्त कटौतियों के अतिरिक्त फर्म के स्वामी की पूंजी का ब्याज, उसके स्वयं के भवन व सम्पति का किराया जो फर्म के व्यवसाय में काम आ रहा है तथा स्वामी के स्वयं के परिश्रम का प्रतिफल जो उसे अन्य वैकल्पिक प्रयोगों में प्राप्त हो सकता था, कुल आराम में से घटाया जाता है । उदाहरण के लिए फर्म की कुल आगम (RT) 20,000 रू हो तथा फर्म की लेखा लागतें 10,000 रू. हो तो लेखा लागत दृष्टिकोण के अनुसार –

फर्म का लेखा लाभ = (कुल आगम – कुल लेखा लागतें मूल्य ह्रास सहित)

(Accounting Profit) (Total Revenue – Total Accounting Costs)

लाभ रू 10,000 (20,000–10,000)

जबकि आर्थिक लागत दृष्टिकोण के अनुसार फर्म के लाभ को ज्ञात करने में स्वामी की पूंजी का ब्याज माना 1000 रू. व्यवसाय में प्रयुक्त स्वयं के भवन का किराया 2000 रू. तथा स्वयं के श्रम का पारिश्रमिक 6000 रू. है जो उसको इन साधनों के लिये उनके वैकल्पिक प्रयोगों में मिल जाता है इन्है भी घटाना पडेगा । अतः

फर्म का आर्थिक लाभ (Economic Profit) = (कुल आगम – कुल लेखा लागतें + कुल वैज्ञानिक लागते कटोतियां)

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

$= (20,000 - (10,000+1000+2000+6000)$

$= (20,000 - 19,000)$

$= 1,000$

स्पष्ट है कि वास्तविक आर्थिक लाभ 1000 रू ही है जबकि लेखा लागत दृष्टिकोण के अनुसार लाभ (Profit) 10 हजार रू होना भ्रमात्मक है ।

(3) सम्पति मूल्यांकन एवं मूल्य ह्रास (Assets Valuation and Depreciation) – लेखा लागतों के अन्तर्गत फर्मे सम्पति को उनके ऐतिहासिक लागत में से मूल्य ह्रास घटाकर दर्शाती है चो उनकी वर्तमान अवसर या प्रतिस्थापन लागत कितनी ही क्यों न हो जबकि आर्थिक लागत दृष्टिकोण के अन्तर्गत फर्मों की सम्पति को उनके वर्तमान प्रतिस्थापन मूल्य अथवा वैकल्पिक लागत (Opportunity Cost) पर मूल्यांकित किया जाता है । इसका वर्तमान मुद्रा स्फीति की अवस्था में विशेष महत्व है ।

सम्पति का मूल्य ह्रास (Depreciation) – लेखा लागत दृष्टिकोण के अन्तर्गत लेखापाल सम्पति पर मूल्य ह्रास या घिसावट के लिये अनेक लेखा विधियों का प्रयोग करते है, जैसे सीधी रेखा पद्धति (Straight Line Method), सिंकिंग फण्ड पद्विति, वार्षिक वृति पद्वतितथा घटते शेष की पद्धति (The Reducing Blance Method) आदि। इसमें सम्पति के मूल्य ह्रास की गणना उसकी ऐतिहासिक लागत जारे उसके क्रय के समय मूल रूप से चुकाई गई थी उस पर की जाती है । इसका यह दोष है कि इसके अन्तर्गत मुद्रा स्फीति के समय लाभ को अधिक बताया जाता है । तथा मन्दी काल मे लाभ को कम दर्शाया जाता है जबकि आर्थिक लागत दृष्टिकोण कें अनुसार मूल्य ह्रास इतना घटाया जाना चाहिये कि सम्पति की भावी आगम–अर्जन क्षमता यथावत बनी रहे तथा संयंत्र को व्यवसाय में न रखा जाने पर उसमें लगी पूंजी का लाभ अन्यत्र अर्जित किया जा सके । जहॉ लेखा लागतों के अन्तर्गत मूल्य ह्रास के द्वारा सम्पति की मौद्रिक पूंजी को यथावत अथवा साबुत (Intact) रखते जबकि आर्थिक लागत दृष्टिकोण के अन्तर्गत सम्पति की भविष्य में आगम प्राप्त करने की शक्ति को साबुत (Intact) रखने की व्यवस्था है ।

(4) स्टाक मूल्यांकन (Stock Valuation) - जहां लेखा लगता दृष्टिकोण के अन्तर्गत स्टॉक का मूल्यांकन बाजार मूल्य या लागत मूल्य दोनों में से जो भी कम होता है उसके आधार पर किया जाता है जबकि आर्थिक लागत दृष्टिकोण के अन्तर्गत स्टाक का मूल्यांकन उसके प्रतिस्थापन मूल्य या वैकल्पिक लागत अथवा अवसर लागत पर किया जाता है ।

प्रबन्धकीय निर्णयों में लेखा लागतों एवं आर्थिक लागतों का महत्व – प्रबन्धको के लिए इन दोनों प्रकार की लागतों का विष्लेषण उनके नियोजन एवं भावी निर्णयों कें काफी उपयोगी रहता है ।

लेखा लागतों के विष्लेषण से तो फर्म के वास्तविक मौद्रिक व्ययों की जानकारी होती है तथा पिछले वर्षो की लेखा लागतों के आधार पर विभिन्न लागतों में प्रतिवर्ष अन्तर का विष्लेषण किया जा सकता है । लागतों का पूर्वानुमान लगाया जा सकता है । प्रमाणित लागतों व वास्तविक लागतों में अन्तर के कारणों का पता लगानें में सुविधा रहती है । उद्योग की लागतों में नियन्त्रण सम्भव होता है । फर्म की सम्पतियों इत्यादि का मूल्यांकन करने में सहायता मिलती है । लाभ की गणना करना भी सम्भव नही होता वरन् विभिन्न वर्षों की तुलना कर भावी नियोजन किया जा सकता है ।

जबकि आर्थिक लागतों का दृष्टिकोण प्रबन्धको को निर्णय लेने में लेखा लागतों में आवष्यक समायोजन (Adustments) करने का बाध्य करता है । आर्थिक लागतों के द्वारा फर्म की सही सही वास्तविक लाभ अर्जन

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

क्षता का पता लगाया जा सकता है । यह भी निर्णय लिया जा सकता है कि उद्योग में बने रहना लाभप्रद है या व्यवसाय का लेखा लाभ भ्रमात्मक तो नही" ।

अतः दोनों दृष्टिकोण में समायोजन करके प्रबन्धकों को विवेकपूर्ण निर्णय लेने में सहायता मिलती है। एक दूसरे के ज्ञान के अभाव में भ्रमात्मक निर्णय लिये जा सकते है जो घातक सिद्ध हो सकते है। आर्थिक लागतों प्रबन्धको व्यावहारिकता के निकट लाती है ।

लागत फलन तथा लागत के निर्धारक घटक / तत्व

(Cost Function and Determinants of Costs)

किसी भी व्यावसायिक संस्थान में वस्तु अथवा सेवा की लागत निर्धारण में कई तत्वों का योगदान होता है । वस्तु की लागत में उत्पादन लागतों, प्रशासनिक लागता, परिवहन लागतों तथा विप्पणन लागतों के साथ साथ उत्पादन की तकनीक, उतपति के नियमों, वितीय लागतों तथा उत्पति के पैमाने का भी प्रभाव पड़ता है अतः किसी वस्तु या सेवा की लागत के मुख्य निर्धारक तत्व संक्षेप में इस प्रकार है । अतः लागत निम्न घटको का फलन कहा जा सकता है –

(1) स्थिर लागतों का भार (Burden of Fixed Costs) –जिस व्यवसाय में स्थिर लागतों का भार जितन अधिक होगा उतनी ही लागत अधिक होने की प्रवृति रहेगी क्योंकि यह एक स्थायी प्रकृति की लागतें है जिन्हे उत्पादन होने अथवा न होने पर भी व्यय करना पड़ता है ।

(2) कच्चे माल की कीमतें (Costs of Raw Material) – अन्य बातों के समान रहते हुए किसी भी वस्तु के कच्चे माल की कीमतें जितनी उॅची होंगी उतनी ही उसकी लागत भी अधिक होने की प्रवृति होगी ।

(3) उत्पादन साधनों की कीमतें (Prices of Factors of Production) – किसी भी वस्तु के उत्पादन में उत्पादन के पांच साधनों – भूमि, श्रम, पूंजी, प्रबन्ध एवं साहस की आवष्यकता होती है । अतः इन साधनों के उपयोग के लिये भूमि को लगान, श्रम को मजदूरी, पूंजी को ब्याज, प्रबन्ध को वेतन तथा साहसी को लाभ के रूप में पारिश्रमिक चुकाना होता है । इन साधनों की कीमतें जितनी उंची होगी उतनी ही लागतें अधिक तथा साधनों की कीमतें नीची होने पर लागतें नीची होने की प्रवृति रहेगी ।

(4) उत्पति का पैमाना (Scale of Production) – जिन वस्तुओं का उतपादन बड़े पैमाने पर किया जाता है उनमें आन्तरिक एवं बाह्य बचतें प्राप्त होती है । इससे वस्तु की प्रति इकाई लागत कम बैठती है जबकि छोटे पैमाने पर उत्पादन में आन्तरिक एवं बाह्य बचतों के अभाव में वस्तु की लागत अधिक बैठती है ।

(5) उत्पति के नियमों की प्रकृति (Laws of Returns) – निर्माणकारी उद्योग में प्रायः उत्पति का वृद्धि नियम, उत्पति का समता नियम अथवा उत्पति का ह्रास नियम लागू होता है । जिन उद्योगों में उत्पादन बढ़ानें पर सीमान्त उत्पति वृद्धि नियम लागू होता है । उनमें लागत नीची होती है जबकि सीमान्त उत्पति ह्रास नियम लागू होने वाले उद्योगों में उत्पादन वृद्धि पर लागत उंची तथा उत्पादन कम होने पर लागत नीची रहती है जिन उद्योमें सीमान्त उत्पति समता नियम लागू होता है उनमें लागत पर उत्पादन को घटत बढ़त को कोई प्रभाव नही पड़ता ।

(6) उत्पादन में कुशलता (Efficiency in Production) – जिन उद्योगों उत्पादन में कुशलता रहती है उनमें उत्पादन लागत कम बैठती है जबकि उत्पादन में कुशलता होने पर लागत अधिक बैठती है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

(7) उत्पादन की तकनीक (Technique of Production) – जिन उद्योगों मे उत्पादन कार्य हेतु परम्परागत पुरानी पद्धतियों का प्रयोग किया जाता है उनमे उन उद्योगों के मुकाबले लागतें अधिक बैठती है जिनमें आधुनिक तकनीक का प्रयोग किया जाता है । यही कारण है कि विकसित देशों में आधुनिक मशीनों एवं तकनीक के उपयोग से उत्पादन लागतें नीचे रहती है ।

(8) परिवहन लागतें (Transportation Costs) – अन्य बातों के समान रहते हुए जिन वस्तुओं की परिवहन लागतें अधिक होती है उनकी लागते भी उन वस्तुओ के मुकावले अधिक होती है जिनकी परिवहन लागते नीची होती है ।

(9) विप्पणन लागतें (Marketing Costs) – जिन वस्तुओं की विप्पणन की प्रति इकाई लागत अधिक बैठती है । उनकी लागत उन वस्तुओं के मुकाबले अधिक होती है जिनकी विप्पणन लागतें बहुत कम होती है ।

(10) करारोपण (Taxation) – जिन वस्तुओं के उत्पादन एवं विक्रय पर भारी करारोपण होता है उनकी लागत अधिक होती है जबकि उन वस्तुओं की लागत कम बैठती है जिन पर अप्रत्येक्ष करों का भार होता है ।

(11) मूल्य स्तर (Price Level) – जिन देशों में मुद्रा स्फीति तथा उंचा मूल्य स्तर होता है उनमें वस्तुओं की मौदिक लागतें उंची रहती है जबकि मन्दी काल में कीमतों का स्तर नीचा होने के कारण मौदिक लागतें नीची रहती है ।

(12) भ्रष्टाचार एवं रिसाव (Corruption and Leakages) – जिन उद्योग में जितना अधिक भ्रष्टाचार तथा रिसाव होगा उतनी ही लागतें उंची होगी । जबकि भ्रष्टाचार से मुक्त और रिसाव मुक्त वस्तु उत्पादन में लागतें अपेक्षाकृत नीची होने की प्रवृति पाई जाती है ।

बोध प्रश्न :–

- स्थित लागत, परिवर्तनशील लागत, सीमान्त लागत तथा कुल लागत में सम्बन्ध की व्याख्या कीजिये।
- दीर्धकालीन औसत लागत की विशेषताऐं बताइये तथा उसका प्रबन्धकीय उपयोग समझाइये।
- लागत की विभिन्न अवधारणा समझाइये।

2.7 पूर्ति, पूर्ति का नियम तथा पूर्ति की लोच :–

पूर्ति का अर्थ :–

किसी वस्तु की पूर्ति का अभिप्रायः वस्तु की उस मात्रा से है, जिसे विक्रेता एवं निर्धारित समय में निश्चित कीमत पर बेचने को उद्यत है। इस प्रकार मांग की भॉति पूर्ति भी समय और कीमत से सम्बन्धित विक्रय के लिए उपलब्ध की जाने वाली मात्रा है। इस प्रकार से पूर्ति मूल्य का फलन है। उदाहरण के लिए 5 रू. प्रति इकाई पर एक निश्चित समय में पूर्ति 100 हैट है।

पूर्ति और स्टॉक में सामान्य बोलचाल में अन्तर नहीं किया जाता, पर अर्थशास्त्र की दृष्टि से दोनों में बहुत अन्तर है। स्टॉक का अभिप्राय वस्तु की उस कुल मात्रा से है जो एक समय विशेष में बाजार में मौजूद है, जबकि पूर्ति स्टॉक का वह भाग है जो विक्रेता या उत्पादक एक निश्चित समय में निश्चित कीमत पर बेचने को उद्यत है, जैसे – एक फर्म गोदाम में 1000 टन गेहूँ है पर 80 रू प्रति क्विन्टल पर वह केवल 100 टन की बेचने को तत्पर है, तो स्टॉक तो 1000 टन है जबकि पूर्ति के केवल 100 टन ही है। अतः दोनों में बहुत अन्तर है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

पूर्ति अनुसूची या तालिका (सारणी) :–

एक निश्चित समय में किसी बाजार मं विभिन्न मूल्यों पर बेची जाने वाली वस्तुओं की मात्रा को एक तालिका के रूप में व्यक्त किया जाये तो उसे हम पूर्ति अनुसूची कहते है। पूर्ति अनुसूची दो प्रकार की होती है –

(1) व्यक्तिगत पूर्ति अनुसूची या तालिका एक उत्पादक, एक फर्म या एक व्यक्ति द्वारा एक निश्चित समय में विभिन्न मूल्यों पर बेची जाने वाली विभिन्न मात्राओं की सूची है जबकि (2) बाजार की पूर्ति अनुसूची का अभिप्राय विभिन्न मूल्यों पर बाजार के सभी विक्रेताओं द्वारा बेची जाने वाली विभिन्न मात्राओं की कुल पूर्ति की सूची है। यह निम्नलिखित तालिका से स्पष्ट है–

कीमत प्रति इकाई रु.	व्यक्तिगत पूर्ति सूची			बाजार पूर्ति सूची (फर्म X+Y+Z+...n)
	X फर्म	X फर्म	X फर्म	
1	2	3	4	5
1	500	600	700	1800
2	1200	1800	2400	5400
3	2000	3000	4000	9000
4	2500	3500	5000	11000

उपर्युक्त तालिका में विभिन्न कीमतों पर कॉलम 2, 3 और 5 में क्रमशः व्यक्तिगत पूर्ति की विभिन्न मात्राएं हैं, जबकि कुल बाजार पूर्ति अनुसूची सभी पूर्तिकर्त्ता फर्मों (X+Y+Z) का योग कॉलम 5 में दिया गया है। बाजार में हमने सुविधा की दृष्टि से केवल 3 फर्में ही मानी हैं जबकि फर्मों की संख्या अनेक हो सकती है।

पूर्ति अनुसूची के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण तथ्य (1) पूर्ति तालिका बनाते समय उत्पत्ति के साधनों की कीमतें, तकनीकी ज्ञान, उत्पादकों की रूचि तथा अन्य दशाओं को स्थिर मान लेते हैं जो कि वास्तविकता के परे है। (2) विभिन्न परिवर्तनों के कारण वास्तविक पूर्ति अनुसूची बनाना कठिन है। (3) कुल बाजार पूर्ति अनुसूची व्यक्तिगत पूर्ति अनुसूची से अधिक स्थिर और निरन्तरतापूर्ण होती है। (4) अल्पकाल की अपेक्षा दीर्घकाल में पूर्ति अनुसूची को मांग के अनुकूल बनाना सम्भव होता है। (5) पूर्ति अनुसूची विभिन्न मूल्यों पर विक्रय की जाने वाली मात्राओं का मोटे रूप से अनुमान है।

पूर्ति वक्र :–

अगर एक पूर्ति तालिका को रेखाचित्र के रूप में प्रदर्शित किया जाये तो जो वक्र बनता है, वही पूर्ति अनुसार पूर्ति वक्र भी व्यक्तिगत पूर्ति वक्र और बाजार पूर्ति वक्र हो सकते है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

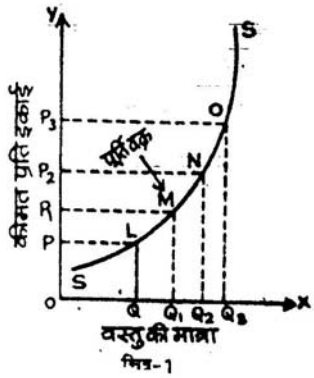

चित्र-1

चित्र–1 में पूर्ति वक्र SS खींचा गया है। पूर्ति वक्र नीचे बायें से ऊपर दायीं और चढ़ता हुआ होता है जो यह बताता है कि कीमत में वृद्धि होने पर पूर्ति में वृद्धि तथा कीमत में कमी होने पर पूर्ति में कमी हो जाती है। इस तरह पूर्ति वक्र पूर्ति मात्रा और कीमत में प्रत्यक्ष धनात्मक सम्बन्ध बताता है पर यह आनुपातिक होना आवश्यक नहीं। चित्र में जब कीमत OP_1 है तो पूर्ति भी OQ_1 है। जब कीमत बढ़कर OP_2 हो जाती है तो पूर्ति भी बढ़कर OQ_2 हो जाती है। इस तरह कीमत में वृद्धि के साथ साथ पूर्ति में वृद्धि का क्रम चलता रहता है।

पूर्ति वक्र की कुछ मान्यताएँ – (1) पूर्ति वक्र या रेखा खींचते समय अनेक मान्यताओं को आधार माना जाता है, जैसे कि – विक्रेताओं की रूचि एवं पसन्द अपरिवर्तनीय है। (2) क्रेताओं और विक्रेताओं की आय स्थिर है। (3) उत्पत्ति के साधनों की पूर्ति तथा उनकी कीमतें स्थिर है। (4) उत्पादकों के तकनीकी ज्ञान में अन्तर नहीं आता । (5) वस्तु की छोटी छोटी मात्राएँ विक्रय के लिए उपलब्ध है। अगर वस्तुएँ अविभाज्य हों तो पूर्ति वक्र अभंग व समतल नहीं होगा । (6) कीमत और पूर्ति में प्रत्यक्ष धनात्मक सम्बन्ध है पर यह सम्बन्ध आनुपातिक होना आवश्यक नहीं है।

पूर्ति का नियम :–

पूर्ति का नियम भी मांग के नियम की भाँति एक गुणात्मक कथन है न कि परिमाणात्मक कथन है पूर्ति का नियम किसी निश्चित समय में कीमत और वस्तु की बेची जाने वाली मात्रा के पारस्परिक सम्बन्ध को बताता है। यह बताता है कि ''अन्य बातों के समान रहने पर, किसी वस्तु या सेवा की कीमत में घटत–बढ़त वस्तु की पूर्ति में प्रत्यक्ष घटत–बढ़त को जन्म देती है'' अर्थात् पूर्ति का नियम कीमत और पूर्ति में प्रत्यक्ष धनात्मक सम्बन्ध की अभिव्यक्ति करता है। पूर्ति का सामान्य नियम यह बताता है कि पूर्ति और कीमत एक ही दिशा में परिवर्तित होते हैं पर यह आवश्यक नहीं कि यह परिवर्तन आवश्यक रूप से आनुपातिक ही हो । यह बताता है कि अन्य बातों के समान रहने पर वस्तु की कीमत में वृद्धि होने पर उसकी पूर्ति बढ़ेगी जबकि कीमत में कमी होने पर पूर्ति घटेगी ।

पूर्ति का नियम वस्तु या सेवा की मात्रा और कीमत में फलनीय धनात्मक सम्बन्ध को प्रकट करता है। $S=1(P)$

पूर्ति के नियम में अन्य बातों के समान रहने की कल्पना यद्यपि अवास्तविक है फिर भी इस मान्यता को इस नियम का आधार माना जाता है। इसकी मान्यताएँ भी पूर्ति वक्र की मान्यताओं के समान है।

पूर्ति के नियम की क्रियाशीलता के पीछे अनेक कारण हैं – (1) कीमतों में वृद्धि होने से उत्पादकों का लाभ बढ़ता है और वे अधिक मात्रा में बेचने को उद्यत होते हैं। (2) जो उत्पादक पहले कीमतें कम होने पर वस्तु का उत्पादन ही नहीं करते थे, कीमत वृद्धि पर बाजार में उत्पादन करके, पूर्ति में वृद्धि करने में समर्थ हो जाते हैं। (3) अल्पकाल में तो पूर्ति में अधिक परिवर्तन सम्भव नहीं होता, पर दीर्घकाल में पूर्ति में यथासम्भव मांग के अनुकूल परिवर्तन किया जा सकता है। (4) कीमत में कमी होने पर या तो विक्रेताओं का लाभ कम हो जाता है

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

या बहुत से विक्रेताओं को, जिनकी उत्पादन लागत अपेक्षाकृत ऊँची है नुकसान होने से वे वस्तु की उत्पत्ति या विक्रय मात्रा घटा देते हैं अतः पूर्ति में कमी हो जाती है। इस तरह कीमत में वृद्धि या कमी से विक्रेताओं को होने वाले लाभ की मात्रा में परिवर्तन ही इस नियम के क्रियाशील होने का प्रमुख कारण है।

पूर्ति के नियम के अपवाद :–

यद्यपि सामान्यतः कीमत और पूर्ति में प्रत्यक्ष धनात्मक सम्बन्ध है, परन्तु फिर भी पूर्ति के नियम के कुछ अपवाद इस प्रकार है :–

(1) भविष्य में कीमत में कमी या वृद्धि की सम्भावना – अगर विक्रेताओं को वस्तु या सेवा की कीमत में भविष्य में और अधिक वृद्धि की संभावना हो तो किमतों के बढने पर भी पुर्ति न घटना सम्भव है और इसी प्रकार अगर विक्रेताओं को भविष्य मे वस्तु की कीमत गिरने का भय व्याप्त हो तो कीमत में कमी न होने पर भी वर्तमान कीमत पर भी अधिक पूर्ति करने को तत्पर हो सकते है ।

(2) कलात्मक वस्तुओं के सम्बन्ध में इस नियम को लागू नहीं किया जा सकता – जैसे एक विख्यात चित्रकार की कलात्मक कृतिकों कि पूर्ति कीमतो की कमी वृद्वि से कभी प्रभावित नहीं होती है। ऐसी वस्तुओं की पूर्ति प्रायः होती है ।

(3) नीलाम की वस्तुओं की पुर्ति एक निष्चित अवधि में पुर्व निर्धारित होती है वह एक दी हुई मात्रा होती है । किमतो मे वृद्वि होने पर भी पूर्ति को सातान्यतः बढाया नहीं जा सकता । हॉ कीमते कम होने तर नीलामी की तारीख बढाई जा सकती और पूर्ति को रोका सकता है ।

(4) अर्द्व विकसित एवं पिछड़े राष्ट्रों में श्रम की पूर्ति भी इस नियम का एक अपवाद बन जाती है। मजदूरी में वृद्धि होने पर भी श्रमिकों की पूर्ति नहीं बढ़ती क्योंकि पहले की अपेक्षा अधिक मजदूरी मिलने से उनकी आय में वृद्वि उनमें आरामपसन्दगी को बढ़ती है । इसमें अनुपस्थिति बढ़ती है इसी प्रकार श्रम की अज्ञानता के कारण तथा गतिशीलता का अभाव होने से पूर्ति नही बढ़ती है।

(5) कुछ कृषिजन्य पदार्थों के सम्बन्ध में भी पूर्ति का नियम लागू नहीं होता क्योंकि उन वस्तुओं की पूर्ति अपेक्षाकृत प्राकृतिक कारणों से अधिक प्रभावित होती है, जैसे मानसून फेल हो जाने या प्राकृतिक प्रकोप के कारण फसल नष्ट हो जाय तो कीमतों में वृद्धि होने पर भी पूर्ति को नहीं बढ़ाया जा सकता ।

''पूर्ति की मात्रा में परिवर्तन'' तथा पूर्ति में परिवर्तन में भेद

साधारण बोलचाल में दोनों में कोई अन्तर नहीं किया जाता पर अर्थशास्त्र में पूर्ति की मात्रा में परिवर्तन का सम्बन्ध केवल कीमतों में होने वाली घटत–बढ़त से पूर्ति की मात्रा में घटत–बढ़त से है जबकि पूर्ति में परिवर्तन का सम्बन्ध उन सब घटकों से है जो पूर्ति को निर्धारित करते हैं। इस प्रकार पूर्ति की मात्रा में परिवर्तन केवल कीमत से सम्बन्धित पूर्ति में होने वाला परिवर्तन है, जबकि पूर्ति में उसके निर्धारक तत्वों से जो परिवर्तन होता है, उसे पूर्ति में परिवर्तन की संज्ञा दी जाती है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

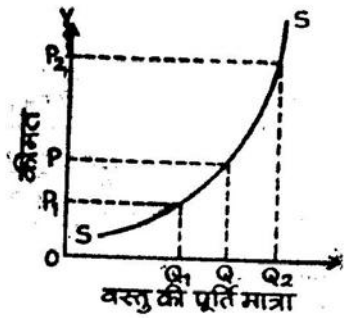

चित्र-2

पूर्ति में विस्तार तथा संकुचन अथवा पूर्ति की मात्रा में परिवर्तन – (1) पूर्ति का विस्तार तब कहा जाता है, जब कीमत में वृद्धि होने से पूर्ति की मात्रा में वृद्धि होती है। (2) पूर्ति का संकुचन तब कहा जाता है, जब कीमत में कमी होने से वस्तु की पूर्ति–मात्रा में कमी आ जाती है जैसे चित्र–2 में SS पूर्ति रेखा है। जब कीमत OP है तो पूर्ति OQ है। जब कीमत घटकर OP_1 रह जाती है तो पूर्ति भी घटकर OQ1 रह जाती है। यह पूर्ति के संकुचन की स्थिति है किन्तु जब कीमत बढ़कर OP2 होती है । यह स्थिति पूर्ति में विस्तार कहलाती है।

इस प्रकार पूर्ति की मात्रा में परिवर्तन में पूर्ति की एक रेखा होती है। कीमत में परिवर्तन से पूर्ति में घटत–बढ़त होती है। उत्पादक या विक्रेता के पूर्ति के अन्य घटक स्थिर रहते हैं। इनका सम्बन्ध अल्पकाल से होता है।

पूर्ति में परिवर्तन, पूर्ति में वृद्धि या पूर्ति में कमी

''पूर्ति में परिवर्तन'' पूर्ति के निर्धारक घटकों से सम्बन्धित परिवर्तन का द्योतक है। पूर्ति केवल कीमत से ही प्रभावित नहीं होती, वह अन्य घटकों, उत्पादन विधि, प्राकृतिक साधनों, नई तकनीक आदि से भी प्रभावित होती है। अतः जब पूर्ति वक्र और पूर्ति–अनुसूची ही परिवर्तित होकर अपनी स्थिति में परिवर्तन कर ले तो इसे पूर्ति में परिवर्तन कहा जाता है। यह दो प्रकार का होता है–

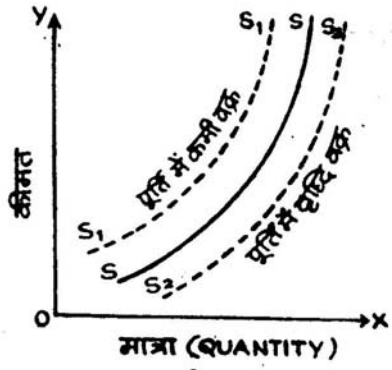

चित्र-3

(1) पूर्ति में वृद्धि का अर्थ है, उसी कीमत पर अधिक पूर्ति होना या कीमत में कमी होने पर भी वस्तु की उतनी ही मात्रा बेचा जाना जैसा कि चित्र–3 में S_2S_2 वक्र से स्पष्ट है।

(2) पूर्ति में कमी का अर्थ है, उसी कीमत पर वस्तु पहले की अपेक्षा कम मात्रा में बेची जाना अथवा ऊँची कीमतों पर भी वस्तु की पूर्ववत् मात्रा बेची जाना जैसा कि चित्र–3 में पूर्ति वक्र S_1S_1 से स्पष्ट होता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

चित्र–3 में SS प्रारम्भिक पुर्ति वक्र है, जबकि S_1S_1 पूर्ति की कमी वक्र है । इसमें स्वयं पुर्ति रेखाएँ क्रमशः बाये को या दायें को हट गयी है । पूर्ति तालिका परिवतिंत हो जाती है क्योंकि पूर्तिकार्ता निष्क्रिय नहीं रह कर सक्रिय भूमिका अदा करता है । वह केवल कीमतों से प्रभावित नहीं बल्कि अन्य घटकों से भी प्रभावित रहता है।

पूर्ति में परिवर्तन – पूर्ति में कमी या वुद्वि का महत्व दीर्घकाल में सम्बन्धित है । क्योंकि अल्पकाल में तो पूर्ति के निर्धारक तत्व प्रायः स्थिर रहते है, जबकि दीघकाल में उनमें परिवर्तन सम्भव होता है

पूर्ति को प्रभावित करने वाले तत्व या पूर्ति के निर्धारक घटक

व्यावहारिक जीवन में पूर्ति को प्रभावित करने वाला तत्व केवल कीमत ही नहीं अपितु अनेक प्रभावी घटक है । प्रोः लिप्से के अनुसार किसी वस्तु की पुर्ति अग्रलिखित तत्वों पर निर्भर करती है –

(1) कीमत – अन्य बातों के समान रहने पर अगर वस्तु की कीमत बढ़ती है तो उसकी पूर्ति भी बढ़ती है जबकि कीमत में कमी होने पर पूर्ति भी घट जाती है।

(2) अन्य वस्तुओं की कीमते – अगर अन्य वस्तुओं की कीमतों में परिवर्तन होता है पर वस्तु विशेष की कीमत स्थिर रहे तो उत्पादन स्थिर कीमत वाली वस्तु के उत्पादन के स्थान पर उन वस्तुओं की पूर्ति में आकर्षित होगें जिनकी कीमते बढ रहीं है। अतः विशेष की पूर्ति घटेगी जबकि अन्य वस्तुओंकी कीमतों में कमी होने पर वस्तु विशेष की पूर्ति में वृद्वि की सम्भावना होगी ।

(3) उत्पादन साघनों की कीमते – अगर उत्पादन साधनों की कीमतें घटती है तो उत्पादन लागत घटने से पूर्ति में वृद्वि होगी जबकि इसके विपरीत पूर्ति के साधनों की कीमतों में वृद्वि से उत्पादन लागत में वृद्वि वस्तु विशेष की पूर्ति में कमी को जन्म देगी ।

(4) उत्पादन विधि तथा तकनीकि ज्ञान में सुधार–सुधार होने से पूर्ति में वृद्वि होगी और अगर उत्पादन विधि या तकनीकी ज्ञान स्थिर हे तो अन्य बातों के समान रहने पर उत्पादन या पूर्ति भी स्थिर रहेगी।

(5) उत्पादकों या विक्रेताओं या विक्रेताओं की रूचि – जिन वस्तुओं के उत्पादन या विक्रय में उत्पादन अधिक रूचि लेते है, उनकी पूर्ति बढ़ती है और जिन वस्तुओं या विक्रय में उत्पादन अनिच्छुक होता है उनकी पूर्ति कम होगी ।

(6) प्राकृतिक तत्व एवं साधन –अन्य बातों के समान रहने पर जिस राष्ट्रों में प्राकृतिक साधनों का बाहुल्य तथा प्राकृतिक तत्वों की जितनी ही अधिक अनुकुलता होगी, उतनी ही पूर्ति बढ़ने की प्रवृति होगी और इसके वितरीत स्थिति में पूर्ति कम होगी ।

(7) यातायात एवं संचार साधनों की सुविधा, सस्तापन एवं शीग्रता भी पूर्ति को प्रभावित करती है । जिन देशों में परिवहन एवं संचार व्यवस्था उन्नत है उनमें पूर्ति अधिक होती है, जबकि जिन देशों में इनका अभाव होता है, पूर्ति भी कम होती है।

(8) युद्व या राजनैतिक स्थिति – जब देश में पूर्ण शान्ति एवं सुरक्षा होती है तो प्रायः पूर्ति बढ़ती है, पर जब देश में युद्व, राजनैतिक उथल–पुथल या उपद्रव होते है तो उस देश विशेष में पूर्ति भी घट जाती है ।

(9) सरकारी नीति – अगर सरकार किसी वस्तु विशेष के उत्पादन को प्रोत्साहन देती है, उसे करों के भार से मुक्त करती है, आर्थिक अनुदान देती है और संरक्षण प्रदान करती है तो उसकी पूर्ति बढ़ती है, जबकि सरकार द्वारा किसी वस्तु की पूर्ति पर कठोर नियंत्रण, कर भार में वृद्वि आदि की नीति अपनाई जाय तो उसकी पूर्ति कम हो जाती है। सरकार की व्यापारिक नीति भी पूर्ति को प्रभावित करती है – जैसे निर्याप्त

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

बढ़ाने से वस्तु की पूर्ति देश में कम हो जाती है जबकि आयात बढ़ाने से वस्तु विशेष की पूर्ति देश में बढ़ जाती है ।

(10) उत्पादकों या विक्रेताओं में गठबन्धन होने पर भी पूर्ति को घटाना सम्भव होता है, क्योंकि वे वस्तु विशेष की पूर्ति घटाकर ही वस्तुओं की ऊँची कीमतो से अधिक लाभ कमा सकेंगे ।

(11) वस्तु की मांग बढ़ने पर उत्पादन उसकी पुर्ति भी बढ़ाने को उत्सुक होगें ।

पूर्ति की लोच

मांग की लोच की भॉति पूर्ति की लोच का भी वस्तु के मुल्य निर्धारण पर गहरा प्रभाव पड़ता हैं। पूर्ति नियम के अनुसार कीमत में कमी, पूर्ति में कमी तथा कीमत में वृद्वि पूर्ति में वृद्धि करती है। अतः कीमत में कमी – वृद्वि से पूर्ति में जो घटत–बढ़त की प्रवृति होती है, उसे ही पूर्ति की लोच कहते है। दूसरे शब्दों में '' कीमत में थोड़े परिवर्तन के उतर में वस्तु की पूर्ति की मात्रा में जों परिवर्तन की दर या गति है, वही पूर्ति की लोच है ।'' गणितात्मक सूत्र के रूप में पूर्ति की लोच इस प्रकार व्यक्त की जा सकाती है –

$$\text{पूर्ति की लोच } es = \frac{\text{पूर्ति में आनुपातिक परिवर्तन}}{\text{कीमत में आनुपातिक परिवर्तन}}$$

$$\text{अथवा} \quad es = \frac{\text{पूर्ति में प्रतिषत परिवर्तन}}{\text{कीमत में प्रतिषत परिवर्तन}}$$

पूर्ति की लोच की श्रेणियॉ

जिस प्रकार मॉग की लोच की पॉच श्रेणियॉ होती है ठीक उसी प्रकार पूर्ति की लोच भी पॉच प्रकार की हो सकती है :–

(1) पूर्णतथा लोचदार पूर्ति – जब कीमत में अत्पन्त सूक्ष्म परिवर्तन होने या परिवर्तन न होने पर भी पूर्ति में अत्यधिक परिवर्तन हो जाता है तब वस्तु की पूर्ति पुर्णतः लोचदार कही जाती है । ऐसी वस्तु की पूर्ति वक्र आधार रेखा (मात्रा) के समानान्तर क्षैतिज रेखा होती है । इसे अपरिमित लोच भी कहते है। यह काल्पनिक है क्योंकि व्यावहारिक जीवन में पूर्णतया लोचदार पूर्ति का उदाहरण नही मिलता। रेखाचित्र –4 (A) में पुर्णतः लोचदार पूर्ति वक्र SS है ।

(2) अत्यधिक लोचकार पूर्ति –जब कीमत में अत्यन्त सूक्ष्म परिवर्तन होने या परिवर्तन न होने पर भी वस्तु की पूर्ति में अत्यधिक आनुपातिक परिवर्तन हो तो उसे अत्यधिक लोचदार पूर्ति कहते है – जैसे कीमत में 20% परिवर्तन होने पर भी वस्तु की पुर्ति में 30 से 40% परिवर्तन हो जाय तो पूर्ति की लोच es इकाई से अधिक es> है – रेखाचित्र –4 (B) से दर्शाया गया है ।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

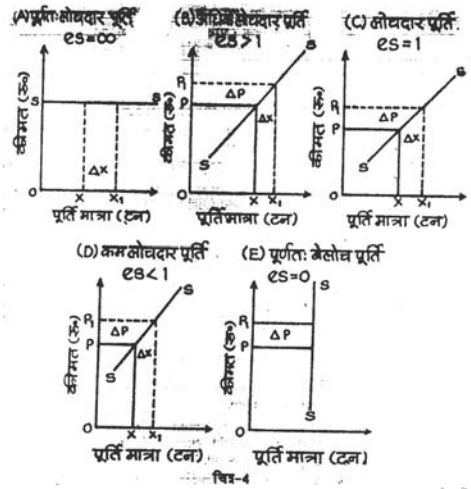

चित्र-4

(3) लोचदार या इकाई के बराबर लोचदार पूर्ति – जब किसी वस्तु की पूर्ति में कीमत के समानुपातिक परिवर्तन हो तो वस्तु की पूर्ति लोचदार (es=1) कही जाती है, जैसे कीमत में 20% परिवर्तन से वस्तु की पूर्ति में भी 20% परिवर्तन हो जाय तो पूर्ति इकाई के बराबर लोचदार (ES=1) हो जाती है । रेखाचित्र के रूप में चित्र –4 (c) में दर्शाया गया है ।

(4) बेलोचदार या कम लोचदार पूर्ति – जब कीमत में आनुपातिक परिवर्तन बहुत अधिक होने पर भी पूर्ति में आनुपातिक परिवर्तन बहुत कम मात्रा में हो तो वस्तु की पूर्ति कम लोचदार या बेलोचदार कही जाती है । गणितात्मक रूप में es<1 व्यक्त की जाती है, जैसा रेखाचित्र –4 (D) में स्पष्ट है।

(5) पुर्णतः बेलोचदार पूर्ति अथवा पूर्ति की शून्य लोच – जब किसी वस्तु की कीमत में बहुत अधिक या अपरिमित परिवर्तन हो जाने पर भी वस्तु की पूर्ति में अत्यन्त ही सूक्ष्म या कोई परिवर्तन नहीं हो तो उसे पुर्णतया बेलोचदार पूर्ति कहते है । यह भी केवल मात्रा काल्पनिक है इसे पूर्ति की शून्य लोच es=0 भी कहते है । रेखाचित्र–4 (E) में इसे बताया गया है।

पूर्ति को लोच को मापने की विधियाँ

पूर्ति की लोच को मापने की मुख्यतः दो विधियॉ –

(i) आनुपातिक या प्रतिशत रीति तथा (ii) बिन्दु विधि। इनका सेक्षिप्त विवरण निम्न है –

(i) आनुपातिक या प्रतिशत रीति – इस रीति में पूर्ति में होने वाले आनुपातिक या प्रतिशत परिवर्तन में कीमत में आनुपातिक या प्रतिशत परिवर्तन का भाग दिया जाता है । समीकरण के रूप में –

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

$$\text{पूर्ति की लोच } es = \frac{\text{पूर्ति में आनुपातिक (प्रतिशत) परिवर्तन}}{\text{कीमत में आनुपातिक (प्रतिशत) परिवर्तन}}$$

$$es = \frac{\dfrac{\text{पूर्ति में अन्तर}}{\text{मूल पूर्ति मात्रा}}}{\dfrac{\text{कीमत में अन्तर}}{\text{मूल कीमत}}}$$

$$es = \frac{\dfrac{\Delta Q}{Q}}{\dfrac{\Delta P}{P}}$$

जिसमें Δ (डेल्टा) सूक्ष्म परिवर्तन का चिह्न है ।

ΔQ = पूर्ति में परिवर्तन

Q = प्रारम्भिक पूर्ति (मूल मात्रा)

ΔP = कीमत में परिवर्तन

P = प्रारम्भिक कीमत (मूल कीमत)

$$es = \frac{\Delta Q}{Q} \times \frac{P}{\Delta P} \text{ अथवा, } \frac{\Delta Q}{\Delta P} \times \frac{P}{Q}$$

कुछ अर्थशास्त्रियों ने इस सूत्र में कुछ संशोधन किया है । अत: वे निम्न सूत्र प्रस्तुत करते हैं-

$$\text{पूर्ति की लोच } es = \frac{\dfrac{Q-Q_1}{Q+Q_1}}{\dfrac{P-P_1}{P+P_1}} = \frac{Q-Q_1}{Q+Q_1} \times \frac{P+P_1}{P-P_1}$$

जिनमें Q = पूर्ति की प्रारम्भिक मात्रा

Q_1 = पूर्ति की नई मात्रा

P = पूर्व या प्रारम्भिक कीमत

P_1 = नई कीमत

(II) बिन्दु रीति या रेखागणितीय रीति – इसके अनुसार पूर्ति रेखा या पूर्ति वक्र के किसी बिन्दु पर पूर्ति की लोच ज्ञान करने के लिए पूर्ति रेखा को आधार रेखा तक नीचे बढ़ाया जाता है और जिस बिन्दु पर पूर्ति की लोच ज्ञात करनी होती है, उस बिन्दु के आधार रेखा OX- अक्ष पर एक लम्ब डाला जाता है जैसे चित्र –5 में SS पूर्ति रेखा है,। उसके R बिन्दु पर पूर्ति की लोच ज्ञात करनी है तो पुर्ति रेखा SS को OX- अक्ष तर नीचे की और बढ़ाने पर वह T बिन्दु पर मिलती है और बिन्दु R से डाला गया लम्ब भी OX- अक्ष पर Q बिन्दु से मिलता है तो R बिन्दु पर पुर्ति की लोच अग्र सूत्र द्वारा दी जाती है –

$$\text{पूर्ति की लोच अथवा } es = \frac{TQ}{OQ}$$

अगर TQ > OQ हो तो पूर्ति की लोच उस बिन्दु पर इकाई से अधिक (es>1) कहीं जाती है क्योंकि उस बिन्दु पर पूर्ति में आनुपातिक परिवर्तन मूल्यों में आनुपातिक परिवर्तन की अपेक्षा अधिक होता है जैसा चित्र -5 (A) से स्पष्ट है ।

इस प्रकार अगर TO<OQ हो तो R बिन्दु पर पूर्ति की लोच इकाई से कम (es<1) कहीं जाती है क्योंकि इस बिन्दु पर पुर्ति में आनुपातिक परिवर्तन मूल्यों में आनुपातिक परिवर्तन की अपेक्षा कम है जैसा चित्र 5(B) में दर्शाया गया है ।

अगर TQ = OQ हो तो ऐसी स्थिति में इस बिन्दु (R) पर पूर्ति और मुल्यों में आनुपातिक परिवर्तन समान है, अतः पूर्ति की लोच इकाई के बराबर (es-1) कहीं जाती है जैसा चित्र –5 (C) से ज्ञात होता है कि O और T दोनों एक ही बिन्दु है ।

यहॉ आपके मन में यह प्रष्न उठना स्वाभाविक है कि पुर्ति रेखायें प्रायः सीधी रेखायें न होकर वक्राकार होती है तो ऐसी स्थिति में भी पुर्ति वक्र के किसी बिन्दु पर पुर्ति की लोच ज्ञात का ढंग भी ऊपर जैसा ही है चित्र –5 (D) में पुर्ति वक्र के उस बिन्दु (जिसकी पूर्ति की लोच ज्ञात करना है।) से होती हुई एक स्पर्श रेखा TT खींची

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

गई और वह OX- अक्ष के T बिन्दु पर लगी हुई है। फिर R बिन्दु से OX- अक्ष पर RQ लम्ब डाला गया है जो OX- अक्ष के Q बिन्दु पर पड़ता है। चित्र में TQ<OQ अर्थात् TQ रेखा OQ रेखा से छोटी है अतः R बिन्दु पर पूर्ति की लोच इकाई से कम (es<1) है।

यहॉ यह उल्लेखनीय है कि वक्राकार पूर्ति वक्र के अलग–अलग बिन्दुओं पर पूर्ति की लोच भी भिन्न भिन्न होती है। यह पूर्ति वक्र के ढाल पर निर्भर करती है जिस बिन्दु पर पूर्ति वक्र का ढाल OX- अक्ष के जितना क्षितिजीय या समतल होगा उतनी ही पूर्ति की लोच इकाई से अधिक (es>1) होगी और इसके विपरीत जिस बिन्दु पर पूर्ति वक्र का ढाल OX- अक्ष के जितना अधिक लम्बवत् होगा, उतनी ही पूर्ति की लोच भी इकाई से कम (es<1) होगी जैसे उपर्युक्त चित्र–5 (D) में पूर्ति वक्र SS के L बिन्दु पर पूर्ति की लोच अधिक है जबकि M बिन्दु पर पूर्ति की लोच कम है।

पूर्ति की लोच को प्रभावित करने वाले तत्त्व

जिस प्रकार वस्तु की मांग की लोच अनेक तत्त्वों से प्रभावित होती है ठीक उसी प्रकार वस्तु की पूर्ति की लोच पर भी अनेक घटक प्रभाव डालते हैं जिनमें मुख्य इस प्रकार हैं–

(1) वस्तु की प्रकृति– जो वस्तुएँ टिकाऊ या शीघ्र नाशवान नहीं होतीं उनकी पूर्ति अधिक लोचदार होती है, जबकि शीघ्र नाशवान वस्तुओं की पूर्ति कम लोचदार होती है क्योंकि टिकाऊ वस्तुओं को संग्रह करके रखा जा सकता है, जबकि नाशवान वस्तुओं को अधिक समय तक नहीं रखा जा सकता है।

(2) उत्पादन साधनों में गतिशीलता – उत्त्पत्ति के साधनों की गतिशीलता वैकल्पिक प्रयोगों में जितनी अधिक होगी उतनी ही पूर्ति अधिक लोचदार होगी और वैकल्पिक प्रयोगों में साधनों की गतिशीलता कम होने पर पूर्ति की लोच भी अपेक्षाकृत कम होती है।

(3) उत्पादन के नियम – जिन वस्तुओं का उत्पादन उत्पति ह्रास नियम के अन्तर्गत होता है तो उन वस्तुओं की पूर्ति अपेक्षाकृत कम लोचदार होती है पर जिन वस्तुओं का उत्पादन उत्पति वृद्धि नियम के अन्तर्गत होता है तो उन वस्तुओं की पूर्ति अधिक लोचदार होती है।

(4) समय तत्त्व – जिन अन्य बातों के समान रहते हुए समय जितना लम्बा होगा उतनी ही पूर्ति लोचदार होगी । अल्पकाल में पूर्ति कम लोचदार होती है।

(5) उत्पादन प्रणाली – जिन वस्तुओं की उत्पादन विधि सरल है, साधनों एवं पूँजी की आवश्यकता कम होती है। ऐसी वस्तुओं की पूर्ति लोचदार होती है पर जिन वस्तुओं की उत्पादन प्रणाली जटिल है या जिनके उत्पादन में अधिक साधनों एवं पूँजी की आवश्यकता पड़ती है तो उनकी पूर्ति कम लोचदार होती है।

बोध प्रश्न :–

- पूर्ति से आप क्या समझते है? पूर्ति के नियम की पूर्ण व्याख्या कीजिये। इसके क्या अपवाद हो सकते है।
- पूर्ति में कमी या वृद्धि को समझाईये।
- पूर्ति का विस्तार एवं संकुचन समझाइये।
- पूर्ति कसी लोच से आप क्या समझते है पूर्ति की लोच की विभिन्न श्रेणियां समझाइये।
- पूर्ति की लोच को मापने की विधियां समझाइये तथा इसको प्रभावित करते वाले तत्वो का उल्लेख कीजिए।
- पूर्ति की लोच का सूत्र दीजिये।
- पूर्ति अनुसूची या तालिका को समझाइये।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

2.8 पूँजी तथा पूँजी निर्माण :–

पूँजी :–

आज के बड़े पैमाने की उत्पति तथा विशिष्टीकरण के युग में पूँजी उत्पादन व्यवस्था का मुख्य आधार है । सभी प्रकार की अर्थव्यवस्थाओं में, चाहे वह पूँजीवादी अर्थव्यवस्था हो चाहे समाजवादी, पूँजी उत्पादन का महत्वपूर्ण एवं अनिवार्य साधन बन गई है । पूँजी आर्थिक के लिए आवष्यक तत्व है, पर यही प्रगति पर्याप्त शर्त नहीं है।

पूँजी का अर्थ एवं परिभाषाएँ :–

साधारण बोलचाल में पूँजी शब्द का अर्थ द्रव्य या धन सम्पति से लगाया जाता है, पर अर्थशास्त्र में पूँजी का अर्थ मनुष्य द्वारा उत्पादित धन के उस भाग से लगाया जाता है जो अधिक धनोपार्जन के लिए प्रयुक्त किया जाता है । प्रो. चेपमैन के अनुसार '' पूँजी वह धन है जिससे आय प्राप्त होती है या जो आय उत्पादन में सहायक होता है या जिसका इरादा ऐसा होता है। ''मार्शल के मतानुसार,'' प्रकृति के निःशुल्क उपहारों को छोड़कर, सब प्रकार की सम्पति जिनसे आय प्राप्त होती है, पूँजी कहलाती है । बोम बेबार्क ने पूँजी को उत्पादन का उत्पादित साधन माना है । प्रो. टॉमस के शब्दों में, ''भूमि को छोडकर, पूँजी व्यक्तिगत एवं सामाजिक सम्पति का वह भाग है जिसका प्रयोग और अधिक धन उत्पादन के लिए किया जाता है ।'' इसी प्रकार प्रो. फिशर के अनुसार भी, ''पूँजी वह सम्पति है जो मनुष्य द्वारा किये गये पहले के श्रम का परिणाम है परन्तु जिसका उपयोग साधन के रूप में अधिक धन उत्पादन के लिए किया जाता है।''

इन सब परिभाषाओ के विषलेषण से पूँजी में निम्न गुणों का होना आवश्यक है –

(1) केवल धन ही पूँजी हो सकता है– जो धन नहीं पूँजी नहीं कहला सकता, जैसे हवा, राशेनी, पानी, पूँजी नहीं कहलाते ।

(2) पूँजी प्रकृति का निःशुल्क उपहार नहीं होकर मनुष्य द्वारा उत्पादन साधन है । यह मनुष्य द्वारा उत्पादित उत्पादन का साधन है ।

(3) पूँजी में व्यक्तिगत या सामाजिक धन का वही भाग आता है जो अधिक धनोपार्जन के लिये प्रयुक्त किया जाता है ।

(4) पूँजी बचतों से ही सम्भव होती है बिना बचतों के पूँजी निर्माण नहीं हो सकता ।

(5) सभी पूँजी धन है पर सभी धन पूँजी नहीं होता, क्योंकि सम्पति का केवल वही भाग पूँजी है जो अधिक उत्पादन में काम आता है।

कुछ अन्तर :–

साधरण बोलचाल में लोग पूँजी शब्द का गलत अर्थ में प्रयोग कर जाते है और पूँजी तथा द्रव्य, पूँजी तथा धन–सम्पति, पूँजी व आय, पूँजी तथा भुमि में अन्तर न करके कभी को पूँजी ही मान लेते है। पर इनमें कुछ अन्तर है जो संक्षेप में निम्न प्रकार है ।

1. पूँजी तथा द्रव्य क्या द्रव्य पूँजी है ? इस प्रश्न का उतर देने में यह स्पष्ट हो जाता है कि सभी द्रव्य पूँजी नहीं है और न सब पूँजी द्रव्य होती है । द्रव्य का केवल वह भाग तो अधिक उत्पादन के लिए काम में लिया जाता है, पूँजी कहलाता है और इसी प्रकार सभी पूँजी द्रव्य में नहीं होती । वह फैक्ट्री, मशीन कच्चे माल, फर्नीचर आदि के रूप में भी होती है । इसके अतिरिक्त कुछ लोग कहते है कि द्रव्य

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

तो केवल विनिमय का साधन और मूल्य का मापक है उसका स्वयं का महत्व केवल उसमें क्रय शक्ति के कारण है । इसलिए द्रव्य का जो भाग उत्पादन के लिए काम में आता है, पूँजी है, बाकी नहीं ।

2. पूँजी और सम्पति या धन सब पूँजी धन या सम्पति होती है पर सब सम्पति पूँजी नहीं होती। पूँजी के अन्तर्गत हम सम्पति के केवल उसी भाग को सम्मिलित करते है

(i) जो मनुष्य द्वारा उत्पादित हो तथा (ii) अधिक उत्पादनके लिए प्रयुक्त की जाती हो । अगर सम्पति पूँजी का प्रयोग दान देने, उपभोग करने या अपने पास संग्रह करने में होता है तो पूँजी नहीं कहला सकती। प्रो. फिशर तथा बेहनम आदि अर्थशास्त्रियों के मतानुसार सम्पति के उपभोग तथा उत्पादन कार्य में केवल आंशिक अन्तर है। दृढतापूर्वक पूँजी और सम्पति में अन्तर करना सम्भव नहीं । अतः सभी सम्पति को मोटे रूप में पूँजी मान लिया जाता है । इसके पक्ष मे वे ये तर्क देते है (i)उपभोग का प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में उत्पादन क्रिया पर प्रभाव पड़ता है। अगर मनुष्य उपभोग न करे उपभोग न करे तो उत्पादन क्रिया में बाधा ही पड़ जाय । (ii) सम्पति वर्षो तक निरन्तर सेवा या या तृप्ति प्रदान करती है । (iii) सम्पति व पूँजी का भेद मनुष्य की मनोवैज्ञानिक दशा, प्रयोग की प्रकृति व उदेष्य पर निर्भर है। अगर सम्पति का प्रयोग प्रत्यक्ष आनन्द के लिए किया जाय तो वह पूँजी नहीं, पर अगर उसी का प्रयोग उत्पादन कार्य में किया जाय तो वह पूँजी हो जाती है । जैसे जीप का प्रयोग सैर सपाटे के लिए करने पर वह पूँजी नहीं पर अगर अद्योग के काम में प्रयुक्त की जाय तो पूँजी है।

3. पूँजी तथा आय पूँजी तथा आय में अन्तर होता है । (i) पूँजी एक आय प्राप्त करने का साधन है जबकि आय मनुष्य को मिलने वाली समस्त प्राप्तियॉ है। (ii) पूँजी एक संचित कोश करने का साधन है जबकि आय एक प्रवाह है । पूँजी के अभाव में भी व्यक्ति को आय प्राप्त हो सकती है, जैसे नौकरी पेशे वाले आय प्राप्त करते है ।जिस प्रकार पूँजी से आय प्राप्त होती है उसी प्रकार आय को बचाकर अगर उत्पादन कार्य में प्रयुक्त किया जाय तो वह पूँजी हो जाती है सभी आय पूँजी नही होती, केवल आय का ही भाग पूँजी होता है तो उत्पादन में प्रयोग किया जाता है। आय किसी समय में लाभ का प्रवाह है जबकि पूँजी उत्पति का एक संचित कोष है।

क्या भूमि पूँजी है ?

इस प्रष्न के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद हैं । कुछ अर्थशास्त्री भुमि को पूँजी से पृथक् साधन मानते हैं जबकि कुछ विद्वान भुमि को पूँजी का ही रूप बताते है । दोनों पक्षों का तार्किक विष्लेशण संक्षेप में निम्नलिखित है –

भुमि पूँजी नहीं है ?

इस मत के अनुयायी भूमि और पूँजी को उत्पति के पृथक् – पृथक् साधन मानते हैं और दोनों में मौलिक अन्तर करते है उनके अनुसार भूमि पूँजी नहीं है क्योंकि –

(1) भूमि प्रकृति का निःशुल्क उपहार है– जबकि पूँजी मनुष्यकृत धन का वह भाग है जो अधिक उत्पादन कि लिए प्रयुक्त होता है ।

(2) भूमि कि कोई वास्तविक लागत नहीं लगती जबकि पूँजी निमार्ण में व्यक्तिगत एवं सामाजिक लागतें लगती हैं।

(3) भूमि की पुर्ति सदैव स्थिर है उसमें कोई घटत बढत सम्भव नहीं जबकि दीर्घकाल में पूँजी की पूर्ति में काफी सीमा तक घटत बढ़त सम्भव होती हैं।

(4) भूमि अनाशवान है – जबकि पूँजी नाशवान होती है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

(5) भूमि में स्थिरता की प्रवृति होती है – जबकि पूँजी में पर्याप्त गतिशीलता होती है ।

(6) भूमि का लगान उसकी स्थिति, उपयोग एवं जनसंख्या आदि तत्वों से काफी बदलता है जबकि पूँजी के ब्याज में समानता की प्रवृति होती है ।

भूमि पूँजी है :–

आधुनिक अर्थशास्त्रियों में क्लार्कए बेहनम तथा सेलिगमेन आदि भूमि को भी पूँजी का ही रूप मानते है और अपने समर्थन में निम्न तर्क देते है –

(1) भुमि भी प्रायः पूँजी के समान मनुष्यकृत धन है – मानव अपने श्रम से बंजर एवं रेगिस्तान भूमि को खेती योग्य बनाता है अतः मानवीय श्रम के प्रतिफल के रूप में भूमि को प्राकृतिक पूँजी कहा जा सकता है ।

(2) व्यक्ति के लिए भूमि की भी पूँजी के समान लागत लगती है – यद्यपि समाज की दृष्टि से भूमि प्रकृति का निःशुल्क उपहार है किन्तु व्यक्ति को उसकी प्राप्ति के लिए लागत चुकानी पड़ती है।

(3) भूमि भी पूँजी के समान नाशवान है – क्योकि समय के साथ साथ निरन्तर प्रयोग से भूमि की उर्वरा शक्ति एवं मौलिक शक्तियों का ह्रास होता है ।

(4) भुमि में पूँजी के समान प्रर्याप्त गतिशीलता होती है – क्योंकि भूमि के क्रय–विक्रय से उसके स्वामित्व एवं फसल परिवर्तन से उसके उपयोग में काफी गतिशीलता सम्भव है, चाहे उसमें भैगोलिक गतिशीलता न हो ।

(5) किसी व्यक्ति विषेश के लिए भुमि पूँजी है – क्योंकि वह अधिक उत्पादन में देती है स्पष्ट है कि ये भूमि और पूँजी में केवल डिग्री का अन्तर मानते है दोनों में कोई मोलिक अन्तर नहीं ।

स्पष्ट है कि ये भूति और पूँजी में केवल डिग्री का अन्तर मानते है दोनों में कोई मौलिक अन्तर नहीं।

निष्कर्श :– दोनो दृष्टि के विशलेषण से अधिकांश अर्थशास्त्री इस धारणा के पक्षपाती है कि भुमि पूँजी नहीं है भूमि और पूँजी दोनों उत्पादन के पृथक्–पृथक साधन है। उसमे मौलिक अन्तर है। जिस सीमा तक भूमि प्रकृतिदत है वह भूमि है किन्तु जिस सीमा तक भूमि मनुष्यकृत धन है, उसे पूँजी का रूप माना जा सकता है । स्वयं बेहनम ने स्वीकार में भूमि को भी कुछ सीमा तक पूँजी के अन्तर्गत रख सकते हैं किन्तु व्यवहार में भुमि को पूँजी से पृथक् रखना ही अधिक उपयुक्त होग। भूमि और पूँजी दोनों पृथक – पृथक् साधन है ।

पूँजी का वर्गीकरण :–

अर्थशास्त्रियों ने पूँजी के प्रयोग, प्रकृति, स्वामित्व आदि के आधार पर उसका अलग अलग वर्गीकरण करने का प्रयास किया है । मुख्य भेद इस प्रकार है –

1. अचल एवं चल पूँजी अचल स्थायी पूँजी का सम्पति या धन को कहते हैं जो उघोग में स्थायी प्रयोग या धन के उत्पादन में बार बार प्रयुक्त की जाती है । प्रोः मिल के अनुसार अचल या स्थायी पूँजी वह है जो टिकाऊ होती है तथा जिसमें कुछ समय तक आय प्राप्त होती रहती है जैसे बिल्डिंग, मशीन, उपकरण आदि जबकि चल पूँजी या अस्थाई पूँजी वह है तो उत्पादन में एक ही बार के प्रयोग से उत्पादन में अपना सारा कार्य समाप्त कर देती है। जैसे कच्चा माल, ईंधन, अर्द्धनिर्मित वस्तुए आदि ।

2. एक – अर्थी पूँजी एवं बहु–अर्थी पूँजी – एक अर्थी वह विशिष्ठ सम्पति है जो उत्पादन के केवल एक ही कार्य में प्रयुक्त की जा सकती है। इसलिए इसे विशिष्ठ पूँजी भी कहते है । इस पूँजी दूसरे प्रकार का उत्पादन कार्य नहीं किया जा सकता जैसे चीनी बनाने की मशीनें केवल चीनी बनाने में ही काम आ सकती है, कपड़ा बनाने में नही, जबकि बहु–अर्थी पूँजी व पूँजी है जो उत्पादन में किसी भी क्षेत्र में प्रयुक्त की जा सकती है। उसे अविशिष्ठ पूँजी भी कहा जाता है जैसे द्रव्य बहु–अर्थी पूँजी का सर्वोत्तम

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

उदाहरण है क्योंकि द्रव्य का प्रयोग उत्पादन के लिए किसी भी कार्य में आसानी से किया जाना सम्भव है। प्रो. टॉमस के अनुसार वह पूँजी जिसे आसानी से एक काम से हटाकर दूसरे काम में लगाया जा सकता है उसे अविशिष्ठ अथवा बहु–अर्थी पूँजी कहते हैं।

3. उत्पादन पूँजी एवं उपभोग पूँजी – प्रो. मार्शल के अनुसार उत्पादन पूँजी में वह समस्त वस्तुएँ आती है जो उत्पादन में श्रम की प्रत्यक्ष सहायता करती है जैसे मशीन, औजार, कच्चा माल, भवन कार्यालय, फर्नीचर आदि इसके विपरित वह पूँजी जो प्रत्यक्ष रूप से उत्पादन में सहायक न होकर श्रमिकों की आवश्यकता ही पूर्ति द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से उत्पादन में सहायक होती है उससे उपभोग पूँजी कहते है जैसे मकान, मोटर कार, टेलीविजन, फर्नीचर कपड़े, संग्रहित खाद्यान जो उपभोक्ता द्वारा रखे जाते है उन्हें उपभोग पूँजी कहा जाता है। व्यापारिक दृष्टिकोण से इनको पूँजी कहना उपर्युक्त नही है।

4. भौतिक पूँजी एवं वैयक्तिक पूँजी – भौतिक पूँजी व पूँजी है जो भौतिक एवं मूर्त रूप में विद्यमान होती है तथा जो हस्तान्तरित की जा सकती है जैसे मशीन, औजार, यंत्र, द्रव्य आदि सभी वस्तुगत पूँजी इसके अन्तर्गत आती है जबकि वैयक्तिक पूँजी के अन्तर्गत मनुष्य के पूर्ण व्यक्तिगत गुणों का समावेश होता है जो कार्यकुशलता बुद्धि विवेक योग्यता शक्ति तथा आदत के रूप में उत्पादन कार्य में सहयोगी होते है ये अमूर्त एवं अहस्तान्तरणीय होते है जैसे शिक्षक के पढ़ाने का चातुर्य, गायक का स्वय, विक्रयकर्ता की कला, इंजिनियर की योग्यता, प्रबन्धक का विवेक तथा पहलवान की शक्ति आदि इसके कतिपय उदाहरण है।

5. व्यक्तिगत सामाजिक एवं राष्ट्रीय पूँजी – अधिकार के आधार पर (1) वह पूँजी जिस पर निजी व्यक्ति का अधिकार एवं स्वामित्व हो उसे व्यक्तिगत पूँजी कहते है। (2) वह पूँजी जिस पर सारे समाज का अधिकार हो, जैसे सड़क, पार्क, विद्यालय आदि सामाजिक पूँजी है। (3) वह पूँजी जो देश की सीमाओं में व्यक्तिगत एवं सामाजिक पूँजी है वह समूची राष्ट्रीय पूँजी है जिसमें देश में सम्पूर्ण पूँजी का योग आता है। (4) सभी राष्ट्रों की राष्ट्रीय पूँजी के कुल योग ये अन्तर्राष्ट्रीय पूँजी का निर्माण होता है।

6. वेतन पूँजी तथा सहायक पूँजी – वेतन पूँजी वह पूँजी है जो श्रमिकों को वेतन चुकाने में प्रयुक्त की जाती है व पृथक रखा जाने वाला भाग है। जबकि श्रमिकों को अधिक उत्पादन में सहायता करने वाली पूँजी को सहायक पूँजी कहते है जैसे मशीन कच्चा माल यंत्र आदि।

पूँजी की विशेषताएँ :–

1. पूँजी उत्पति का मनुष्यकृत साधन है प्रो. बोम बेबार्क के अनुसार पूँजी मनुष्य द्वारा उत्पादित धन का वह भाग है जो अधिक उत्पादन के लिए काम में लिया जाता है इस प्रकार पूँजी उत्पति का उत्पादित साधन है । यह मानव के पूर्व श्रम की भविष्य में उत्पादन के लिए प्रयुक्त बचत है।

2. पूँजी में उत्पादकता होती है यह कारण है कि उत्पादक पूँजी की उत्पादन कार्य में मांग करते है तथा प्रतिफल के रूप से ब्याज देते है।

3. पूँजी उत्पति का निष्क्रिय साधन है । भूमि के समान ही पूँजी भी अपने आप से कुछ उत्पादन नहीं करती पूँजी श्रम के सहयोग से ही उत्पादन कर सकती है।

4. पूँजी की पूर्ति परिवर्तनशील है – भूमि की पूर्ति सदा के लिए स्थिर है, श्रम की पूर्ति को भी धीरे धीरे बढ़ाया जा सकता है पर पूँजी की मात्रा में कमी वृद्धि अपेक्षाकृत कम समय में संभव होती है। देश की बचत की मात्रा में कमी वृद्धि से पूँजी की पूर्ति भी प्रभावित होती है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

5. पूंजी आधुनिक युग में उत्पति का अनिवार्य साधन है – पर यहीं पर्याप्त नहीं होता है पूँजी के अभाव में भी उत्पादन कार्य सम्भव है पर पूँजी के प्रयोग से उत्पादन में वृद्धि की गति बढ़ जाती है । यहॉ यह भी उल्लेखनीय है कि केवल पूँजी की पूर्ति ही उत्पादन के लिए पर्याप्त नहीं है उत्पति के दूसरे साधनों का होना भी आवश्यक हैं। अन्यथा पूँजी का कोई प्रयोग नहीं हो सकता ।
6. पूँजी क्षयशील है– भूमि की तरह पूँजी उत्पति का स्थायी साधन नहीं । निरन्तर प्रयोग से पूँजी का क्षय होता जाता है और उसे नई पूँजी से प्रतिस्थापित करना पड़ता है।
7. पूँजी उत्पादन का सबसे गतिशील साधन है क्योंकि पूँजी को एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में एक प्रयोग से दूसरे प्रयोग में आसानी से स्थानान्तरित किया जाना सम्भव होता है। जबकि दूसरे साधनों में गतिशीलता अपेक्षाकृत कम होती है।
8. पूँजी बचत से बनती है – बचतों के अभाव पूँजी निर्माण संभव नहीं होता ।

पूँजी के कार्य

आधुनिक युग की सामूहिक उत्पादन प्रणाली में पूँजी मुख्यतः निम्नांकित कार्यो का सम्पादन करती है :–

1. उत्पादकता में वृद्धि – पूँजी के प्रयोग से उत्पति के सक्रिय साधन श्रम की उत्पादकता तो बढ़ती ही है, दूसरे साधनों की भी उत्पादकता बढ़ जाती है। इससे देश का कुल उत्पादन या राष्ट्रीय आय बढ़ती है।
2. उत्पादन की निरन्तरता – पूँजी के कारण उत्पादन प्रक्रिया में निरन्तरता बनी रहती है क्योंकि उत्पादन की पहली खेप बिककर जब तक आय प्रदान करे उस समय तक उत्पादन कार्य को पूँजी से ही चालू रखा जा सकता है।
3. उत्पादक औजारों की व्यवस्था – यद्यपि उत्पादन में पूँजी अनिवार्य नहीं परन्तु फिर भी तीव्र उत्पादकता के लिए पूँजी औजार, मशीनों, यन्त्रों आदि के रूप में उत्पादन में कुशलता प्रदान करती है।
4. उत्पादन में कच्चे माल व शक्ति की पूर्ति – उत्पादन कार्य को सम्पन्न करने में कच्चे माल, ईंधन आदि वस्तुओं की पूर्ति पूँजी से सम्भव होती है।
5. विपणन व्यवस्था – आज उद्योगों में समस्या उत्पादन की ही नहीं बल्कि उत्पादित माल को लाभपूर्ण कीमतों पर विक्रय की समस्या भी उतनी ही महत्वपूर्ण है। इसके लिए विक्रय व्यवस्था परिवहन व्यय, विज्ञापन आदि पर खर्च करने के लिए पूँजी की व्यवस्था आवश्यक होती है। पूँजी इन कार्यो को सम्पन्न करती है।
6. जीवन निर्वाह व्यवस्था – पूँजी निष्क्रिय साधन है। इसे सक्रिय साधन श्रम की आवश्यकता पड़ती है। उत्पादन की पेचीदा एवं चक्करदार पद्धति में वस्तु के उत्पादन तथा उपयोग के बीच काफी समयान्तर होता है। इस दौरान श्रमिकों को निरन्तर मजदूरी भुगतान कर उनके जीवन निर्वाह की व्यवस्था करना भी पूँजी का ही कार्य है।

पूँजी की उत्पादन क्षमता या कार्यकुशलता

पूँजी की कार्य–कुशलता का अभिप्राय पूँजी की उस शक्ति या क्षमता से है जिसके कारण अधिक मात्रा में उत्तम वस्तुओं की उत्पति होती है। कार्य कुशलता सापेक्षिक है। समान मात्रा में पूँजी का प्रयोग किये जाने पर भी एक उद्योग से दूसरे उद्योग की अपेक्षा अधिक उत्पादन या अच्छी किस्म का उत्पादन पहले उद्योग की पूँजी की कार्यकुशलता का द्योतक है। पूँजी की उत्पादकता या कार्यकुशलता को प्रभावित करने वाले घटक निम्न हैं –

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

1. पूँजी की उपयुक्तता – पूँजी की कार्यक्षमता बहुत कुछ इस बात पर निर्भर करती है कि जिस कार्य के लिए पूँजी का प्रयोग किया जा रहा है। उस प्रयोग में वह पूँजी कहॉ तक उपुयक्त है, जैसे एक बड़े फार्म के लिए ट्रेक्टर खरीदे जाने पर पूँजी की उत्पादकता अधिक होगी वनिस्पत एक छोटे खेत के लिए खरीदे जाने पर। इसी प्रकार अगर पूँजी का प्रयोग अधिक मात्रा में छोटे कार्यों के लिए किया गया तो पूँजी की कार्यकुशलता कम होगी। जैसे 3 क्विन्टल माल ले जाने में ट्रक का उपयोग करना।
2. पूँजी प्रयोग की विधि – जितना ही पूँजी का प्रयोग कुशलता से किया जायगा उतनी ही पूँजी की उत्पादकता अधिक होगी । जैसे एक अनाड़ी के हाथ में टाइपराइटर की कार्यकुशलता कम होगी जबकि एक अच्छे टाईपिस्ट के हाथ में टाइप की मशीन की कार्यकुशलता अधिक होगी अर्थात् पूँजी का प्रयोग दक्षता से होने पर उसकी कार्यकुशलता बढ़ती है अन्यथा घटती है।
3. प्रबन्ध की कुशलता – आजकल उत्पादन कार्य चक्करदार एवं पेचीदा बनता जा रहा है। उसके लिए कुशल प्रबन्ध महत्वपूर्ण बनते जा रहे हैं। जिस उद्योग या व्यवसाय का प्रबन्ध जितने ही अधिक कुशल हाथों में होगा उतनी ही पूँजी की कुशलता भी बढ़ेगी क्योंकि उत्पति के विभिन्न साधनों में उचित समन्वय बैठाने का कार्य कुशल प्रबन्ध पर ही निर्भर रहता है। उत्पति के साधनों की कार्यकुशलता अधिकतम होगी। जितना प्रबन्ध कुशल होगा उतना ही साधनों का संयोग अनुकूलतम हो सकेगा ।
4. उत्पति के सह–साधनों की कुशलता – पूँजी उत्पति में एक सहायक साधन है। अतः पूँजी की कार्यकुशलता पर उसके सह–साधनों की कुशलता का प्रभाव भी पड़ता है।
5. राजनैतिक परिस्थितियॉ – देश में शान्ति, सुरक्षा एवं आर्थिक विकास की परिस्थितियों में पूँजी की कार्यकुशलता बढ़ती है जबकि शान्ति एवं व्यवस्था के अभाव में पूँजी का पूर्ण यथोचित प्रयोग न होने से उनकी कार्यकुशलता घटती है। जैसे हड़ताल व घेराव, लूटपाट या अग्निकांडों से पूँजी की कार्यकुशलता घट जाती है।

पूँजी का महत्व

आर्थिक विकास की प्रत्येक अवस्था में पूँजी किसी न किसी रूप में उत्पादन में सहायक रही है। सभ्यता के विकास के प्रारम्भिक चरणों में पूँजी की यद्यपि कम महत्वपूर्ण भूमिका रही है पर वर्तमान बड़े पैमाने की सामूहिक, चक्करदार एवं पेचीदा उत्पादन प्रणाली में पूँजी उत्पादन का एक अनिवार्य सा साधन बन गया है। अगर यह कहा जाय कि ''वर्तमान युग पुंजी का युग है'' तो भी कोई अतिश्योक्ति नहीं होगी । आज किसी भी देश की आर्थिक, राजनैतिक तथा सैनिक शक्ति बहुत–कुछ पूँजी की मात्रा एवं प्रकृति पर निर्भर करती है। पूँजी उत्पादन प्रणाली को संचालित करती है, आर्थिक नियोजन एवं विकास का आधार है तथा राजनैतिक स्थायित्व व सैनिक शक्ति का महत्वपूर्ण साधन है। इसे संक्षेप में निम्न प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है–

1. पूँजी आधुनिक आर्थिक प्रणाली का संचालन करती है – जैसा कि ऊपर पूंजी के कार्यो में बताया गया है कि पूंजी उत्पादन का निष्क्रिय साधन होते हुए भी श्रम और भूमि के सहयोग से उत्पादक है। श्रम की उत्पादकता में वृद्धि करती है। वर्तमान में बड़े पैमाने की उत्पादन पद्धति तथा विशिष्टीकरण में मशीनों, यन्त्रों, फैक्टरियों, कच्चा माल, परिवहन के समान आदि के रूप में पूँजी अनिवार्य साधन है। उद्योग और कृषि, परिवहन एवं संचार, सामाजिक सेवाओं आदि में पूँजी के अभाव में उत्पादन प्रक्रिया मंद पड़ जाती है। पूँजी उत्पादन कार्य को निरन्तरता प्रदान करती है। श्रमिकों को जीवन निर्वाह के साधन उपलब्ध

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

करती है। नकद रूप में पूँजी कच्चे माल की व्यवस्था करने में सहायक है तो निर्मित माल के विक्रय की भी व्यवस्था करती है। इस प्रकार अर्थव्यवस्था का संचालन पूँजी के कारण कुशल, उत्पादक तथा सुगम हो गया है।

2. पूँजी प्रत्येक प्रकार की आर्थिक प्रणाली का आधार है – अर्थव्यवस्था का स्वरूप चाहे कुछ भी हो, प्रत्येक प्रकार की अर्थव्यवस्था में पूँजी का महत्वपूर्ण स्थान है। पूँजीवाद में तो पूँजी निजी लाभ का महत्वपूर्ण स्त्रोत है ही पर समाजवाद एवं साम्यवाद में भी सम्पूर्ण समाज की आर्थिक समृद्धि व सुदृढ़ता के लिए पूँजी अनिवार्य मानी जाती है।

3. पूँजी देश में उपलब्ध मानव शक्ति के उपयोग तथा विकास के साथ – साथ उन्नत सामाजिक जीवन प्रदान करने का आवश्यक साधन है।

4. पूँजी आर्थिक नियोजन व विकास की आधारशिला है – आज किसी भी देश के आर्थिक विकास की योजनाओं में पूँजी के अभाव में प्राकृतिक एवं मानवीय साधनों के तेजी से विकास की कल्पना करना असम्भव सा है। जिन देशों में पूँजी का अभाव होता है उनमें औद्योगिकीकरण करना, यातायात के साधनों व कृषि का विकास करना कठिन होता है, परिणामस्वरूप देश में साधनों की उत्पादकता कम, आय न्यून तथा जीवन स्तर नीचा होता है, इसके विपरीत जिन उन्नत देशों में पूँजी का बाहुल्य होता है, उत्पादन में तेजी से वृद्धि होती है, लोगों की आय एवं रोजगार बढ़ाने और जीवन स्तर ऊँचा होने से उत्पादन को प्रेरणा मिलती है। अविकसित एवं पिछड़े राष्ट्रों के आर्थिक विकास के लिए आर्थिक नियोजन को क्रियान्वन करने के लिए पूँजी का महत्व बढ़ रहा है। पूर्ण रोजगार की स्थिति के लिए नये नये उद्योगों की स्थापना पूँजी से ही सम्भव होती है।

5. राजनैतिक स्थायित्व, मान्यता व सैन्य शक्ति – आर्थिक समृद्धि के अभाव में राजनैतिक स्थायित्व नहीं रह पाता और पूँजी के अभाव में आर्थिक समृद्धि की कल्पना थोथी है। आजकल अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी पर्याप्त पूँजी वाले राष्ट्र की मान्यता और सम्मान अधिक होता है। कमजोर राष्ट्र को कौन पूछे ? आजकल सैनिक शक्ति में भी मानव शक्ति के साथ साथ पूँजी अधिक महत्वपूर्ण है। भारी सामुद्रिक बेड़ा, हवाई सेना की सुदृढ़ता और स्थल सेना की शक्ति बहुत कुछ पूँजी की मात्रा पर निर्भर करती है।

   इस प्रकार प्रत्येक आर्थिक प्रणाली के संचालन, विकास स्थायित्व तथा राजनैतिक एवं सैनिक शक्ति की दृष्टि से पूँजी का महत्वपूर्ण स्थान है।

6. यद्यपि पूँजी आर्थिक विकास के लिए अनिवार्य है पर पूँजी ही विकास की पर्याप्त शर्त नहीं है। यद्यपि पूँजी देश के तीव्र आर्थिक विकास में अनिवार्य है पर केवल पूँजी की मात्रा, उपलब्ध करने मात्र से ही पिछड़े राष्ट्रों का आर्थिक विकास हो जाय, आवश्यक नहीं है। प्रो. लेविस के अनुसार ''आर्थिक विकास पूँजी के अतिरिक्त अन्य तत्वों से भी सम्बन्धित है। आर्थिक विकास उन संस्थाओं से सम्बन्धित है जो प्रयत्नों को प्रेरणा देते हैं, उन दृष्टिकोणों से सम्बन्धित है जो आर्थिक कुशलता को मूल्य प्रदान करते हैं, बढ़ते हुए तकनीकी ज्ञान से सम्बन्धित है'' आदि । केवल पूँजी ही विकास का आवश्यक तत्व नहीं है। पूंजी प्राप्त कर लेने पर भी उसके प्रयोग की उपयुक्त योजना के अभाव में वह व्यर्थ हो जायेगी । यह कहना उपयुक्त होगा कि विकास प्रक्रिया में पूँजी का निर्माण होता है और पूँजी ही विकास का आवष्यक तत्व नहीं है। पूंजी प्राप्त कर लेने पर भी उसके प्रयोग की उपयुक्त निर्माण होता है और पूँजी विकास प्रक्रिया को गति प्रदान करती है। अगर पूँजी के प्रयोग की उपयुक्त व्यवस्था की प्रेरणा हो, पूँजी का प्रयोग विकास के लिए अन्तः संरचना का निर्माण करे तो आर्थिक विकास तेजी से होगा।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

पूँजी निर्माण एवं पूँजी संचय

पूँजी निर्माण किसी देश में वह सामाजिक प्रक्रिया है जिसमें समाज या व्यक्ति अपने वर्तमान उपभोग में कमी से धन बचाकर उसे और अधिक उत्पादन करने के कार्यों में प्रयुक्त करते हैं। दूसरे शब्दों में, देश में अतिरिक्त उत्पादन के लिए उत्पादित साधनों या उत्पादक वस्तुओं की मात्रा में वृद्धि करना ही पूँजी–निर्माण कहा जाता है। प्रो. नर्कसे के अनुसार, ''पूँजी निर्माण का अर्थ यह है कि अपनी समस्त उत्पादन क्रियाओं का प्रयोग तात्कालिक उपभोग एवं आवश्यकताओं की पूर्ति में न कर उसका एक अंश पूंजीगत सम्पत्तियों – औजार, उपकरण, यन्त्र, मशीनें, परिवहन सामान आदि के निर्माण में प्रयुक्त करता है। वास्तविक पूँजी के ये विभिन्न रूप उत्पादक प्रयत्नों की कार्यकुशलता में अधिक वृद्धि कर सकते हैं।'' सेम्यूलसन का मत है कि ''जिस सीमा तक लोग बचत करने के लिए इच्छुक होते हैं– वर्तमान उपभोग का परित्याग करने एवं भविष्य के उपभोग की प्रतीक्षा करने के इच्छुक होते हैं उस सीमा तक समाज पूँजी निर्माण में अपने साधन लगा पाता है।'' इस प्रकार पूँजी निर्माण वर्तमान उपभोग में कमी कर बचत करने में निहित है।

किसी भी देश में पूँजी निर्माण एक निश्चित अवधि में विशुद्ध विनियोग की मात्रा पर निर्भर है और विशुद्ध विनियोग का सम्बन्ध वास्तविक पूँजी निर्माण से होता है जिसमें नये संयंत्र, नये उपकरण, भवन तथा उत्पादक वस्तुओं की मात्रा की अभिवृद्धि सम्मिलित है। एक व्यक्ति की दृष्टि से अपनी बचत से किसी व्यक्ति से शेयर खरीदना या हस्तान्तरण करना पूँजी निर्माण नहीं बल्कि उस बचत से किसी नई भौतिक पूँजी का निर्माण करना ही वास्तव में पूँजी निर्माण है। केवल बचत का संचय ही पर्याप्त नहीं है उस बचत का उचित वास्तविक विनियोग भी आवश्यक है।

देश में पूँजी निर्माण देश की आन्तरिक बचत एवं विनियोग पर निर्भर करता ही है पर विदेशी पूँजी के आयात से भी देश में पूँजी निर्माण होता है। विदेशों से पूँजी के आयात में पूँजी की पूर्ति (मात्रा) में वृद्धि होती है जबकि विदेशों में पूँजी निर्यात से देश ही पूँजी की पूर्ति कम हो जाती है। विदेशों से पूँजी का आयात उचित परिस्थितियों में पूँजी निर्माण प्रक्रिया को उत्तेजित कर देश के पूँजी –निर्माण के लिए एक शक्तिशाली प्रेरक एजेन्ट का काम कर सकता है। जैसे विकासशील राष्ट्रों में विदेशी पूँजी का आयात वहाँ के पूँजी निर्माण में अत्यधिक सहायक सिद्ध हुआ है। अतः संयुक्त राष्ट्र संघ के सांख्यिकीय आयोग के अनुसार पूँजी–निर्माण किसी भी देश की वर्तमान उत्पति व आयात का वह भाग है जो गणना की अवधि में न तो उपभोग में प्रयुक्त किया जाता है और व निर्यात किया जाता है, बल्कि पूँजीगत वस्तुओं के स्टॉक में वृद्धि हेतु अलग रख दिया जाता है।

पूँजी निर्माण का अनुमान – किसी भी देश में किसी समयावधि में कुल पुँजी निर्माण का अनुमान देश में उत्पादित की गई नई पूँजीगत सम्पतियों तथा आयातित सम्पतियों के योग में से निर्यात सम्पतियों को घटाने से लगाया जाता है। पर चूँकि निर्यातित सम्पतियॉ भी वर्तमान उपभोग से बचत है अतः कुल पूँजी निर्माण – उत्पादित पूँजीगत सम्पत्तियॉ + आयातित पूँजीगत सम्पत्तियॉ । परन्तु वास्तविक पूँजी निर्माण ज्ञात करने के लिए कुल पूँजी निर्माण में से स्थिर पूँजी का मूल्य ह्रास, पुरानापन एवं आकस्मिक क्षति को घटा दिया जाता है। संक्षेप में, कुल पूँजी निर्माण व वास्तविक पूँजी निर्माण का अन्तर निम्न सूत्र से स्पष्ट है–

कुल पूँजी निर्माण	(समस्त उत्पादित पूँजीगत सम्पत्तियॉ + आयातित पूँजीगत सम्पत्तियॉ)
वास्तविक पूँजी निर्माण	[(समस्त उत्पादित पूँजीगत सम्पत्तियॉ + आयातित पूँजीगत सम्पत्तियॉ) – वर्तमान पूँजीगत सम्पत्तियॉ ह्रास]

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

पूँजी निर्माण प्रक्रिया की तीन अवस्थायें – पूँजी निर्माण प्रक्रिया में तीन प्रमुख अवस्थायें आती है। सर्वप्रथम वर्तमान उपभोग में कमी करने से वास्तविक बचतों का निर्माण करना होता है। वास्तविक बचतें बचत करने की इच्छा, बचत करने की शक्ति तथा बचत को उत्पादक कार्यो में प्रयुक्त करने की प्रवृत्ति पर निर्भर करती है। दूसरी अवस्था में विशिष्ट संस्थाओं द्वारा बचतों को एकत्रित कर उत्पादक कार्यो की ओर गतिशील करना है अर्थात् यह अवस्था बैंको, बीमा कम्पनियों, वित्तीय संस्थाओं द्वारा बचतों को गतिशील करने की अवस्था है। तीसरी अवस्था इन बचतों को वास्तविक, पूँजीगत सम्पत्तियों में परिवर्तन करने की अवस्था है। ये तीन अवस्थायें एक दूसरे से स्वतन्त्र होते हुए भी पूँजी निर्माण करने के लिए आवश्यक है। जब तक बचतों को गतिशील कर उत्पादक कार्यो में नही लगाया जाता तब तक पूँजी निर्माण सम्भव नहीं होता, अतः पूँजी निर्माण के लिए लोगों को बचत करना होता है। इन बचतों को एकत्रित कर गतिशील करना होता है और अन्त में साहसी या उत्पादक उन बचतों को पूँजीगत सम्पत्तियों में बदलते हैं।

पूँजी–निर्माण तथा पूँजी – संचय को प्रभावित करने वाले तत्व

किसी भी देश में पूँजी निर्माण धन संचय और उसके उत्पादन कार्यो में विनियोग पर निर्भर करता है। पूँजी संचय बचत की मात्रा पर निर्भर करता है। प्रो. कीन्स के शब्दों में, ''पूँजी निर्माण, ''बचत की प्रवृत्ति'' पर निर्भर करता है, जो स्वयं बचत करने की इच्छा और बचत करने की शक्ति पर निर्भर है। देश में बचत की मात्रा आय स्तर तथा उपभोग स्तर पर भी आश्रित है। इसके अतिरिक्त भी अन्य घटक हैं जो पूँजी निर्माण को प्रभावित करते हैं। पूँजी निर्माण के लिए बचतें ''घरेलू बचतें'' हो सकती हैं या ''विदेशी बचतें'' जिन्हैं देश में आयात किया जाता है। घरेलू बचतों के तीन स्त्रोत है (1) पारिवारिक बचतें जो परिवारों द्वारा अपने उपभोग में कमी में बचाई जाती है। (2) निजी व्यवसाय संस्थागत बचतें – जो कम्पनियों या संस्थाओं द्वारा अपनी आय में से बचाकर उद्योग व्यवसाय के विस्तारों या विकास पर व्यय करती है। (3) सरकारी बचतें जो सरकार द्वारा मौद्रिक नीति या राजकोषीय नीति से आय मे से बचाकर पूँजीगत सम्पत्तियों के निर्माण में प्रयुक्त की जाती है । वह दिन हवा हुये जब राज्य आर्थिक क्षेत्र में हस्तक्षेप नीति से दूर था । अब तो राज्य में सामाजिक आर्थिक तथा राजनैतिक क्षेत्र में भारी उत्तरदायित्व उठा लिया है। अतः पूँजी निर्माण में सरकारी बचतें सरकारी भूमिका का भी विशेश महत्व है। विदेशी बचतें जो देश में पूँजीगत सम्पत्तियों के विशुद्ध निवेशों को बढ़ाती है वे भी पूँजी निर्माण में महत्वपूर्ण है। किसी भी देश में पूँजी निर्माण तथा पूँजी संचय को प्रभावित करने वाले तत्वों को निम्न तालिका के रूप में शीघ्र बोधगम्य बनाया गया है–

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

पूँजी निर्माण या पूँजी संचय को प्रभावित करने वाले तत्त्व

बचत करने की शक्ति	ब्चत करने की इच्छा	बचत की सुविधायें	सरकार का सहयोग–भूमिका
1. प्राकृतिक साधनों की पूर्ति	1. दूरदर्शिता	1. शान्ति एवं सुरक्षा	1. मौद्रिक नीति
2. आर्थिक विकास की अवस्था	2. पारिवारिक स्नेह	2. विनियोग सुविधायें	2. राजकोषीय नीति
3. आय की मात्रा	3. स्वभाव, आदत	3. मुद्रा प्रणाली में स्थायित्व	3. आद्यौगिक नीति
4. धन का वितरण	4. व्यावसायिक सफलता की इच्छा	4. योग्य एवं ईमानदार उद्योगपति	4. वित्तीय एवं बैंकिंग संस्थाओं का विस्तार
5. उत्पादन साधनों की कुशलता	5. सामाजिक सम्मान, शक्ति एवं प्रभाव की इच्छा	5. बैंकिग एवं वित्तीय संस्थाऍं	5. घाटे की अर्थव्यवस्था
6. व्यय का चातुर्य	6. ब्याज की दर	6. प्राकृतिक स्थिति	6. छिपी हुई बेकारी का पूँजी निर्माण में प्रयोग
7. आर्थिक दशाऍं	7. कार्य का स्वभाव		7. व्यापार नीति
8. करों का भार	8. परोपकार की भावना		8. विदेशी पूँजी नीति
			9. आर्थिक विकास के लिए अतः संरचना का निर्माण
			10. मानव पूँजी निर्माण में योग

बचत करने की शक्ति

किसी भी देश में पूँजी–संचय अथवा पूँजी निर्माण की क्षमता बहुत कुछ देश के लोगों में बचत करने की शक्ति पर निर्भर करती है। बचत करने की शक्ति पर अनेक तत्वों का प्रभाव पड़ता है। जिनमें निम्नलिखित प्रमुख है –

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

1. प्राकृतिक साधन – जो देश प्राकृतिक साधानों में जितना अधिक सम्पन्न होता है । अन्य बातों के समान रहने पर उस देश की पूँजी निर्माण क्षमता अधिक होगी ।

2. अधिक विकास की भावना – प्राकृतिक साधनों की प्रचुरता ही प्राप्त नहीं, उस देश का आर्थिक विकास जितना होगा, साधनों का शोषण जितना ही अधिक किया जाता होगा, लोगों की बचत करने की शक्ति भी उतनी ही अधिक होगी, क्योंकि विकसित अर्थ व्यवस्था में बचत की शक्ति अधिक होती है। और विकासशील अर्थ व्यवस्थाओं में बचत की शक्ति कम होती है।

3. आय का स्तर ज्यों ज्यों व्यक्ति की आय बढ़ती है उसकी एक निश्चित सीमा के बाद उपभोग की सीमान्त क्षमता अपेक्षाकृत घटती है। अतः जितना आय स्तर अधिक होगा उतना ही बचत करने की शक्ति भी अन्य बातों के समान रहने पर अधिक होगी ।

4. धन का वितरण यह भी बचत की शक्ति को प्रभावित करता है। पिछड़े राष्ट्रों में धन का वितरण असमान होने पर बचत करने की शक्ति बढ़ती है। तथा समान वितरण होने पर उनकी बचत शक्ति कम होती । पर डिबेन्सरी शोध ने यह स्पष्ट किया है विकासशील राष्ट्रों में धन का असमान विवरण समृद्ध वर्ग में प्रदर्शन प्रभाव की अभिवृद्धि कर पूँजी निर्माण को हतोत्साहित करता है। असमान विवरण सामाजिक दृष्टि से भी अवांछनीय है। अतः आजकल विकसित राष्ट्रों में यह भावना प्रबल हो रही है कि असामान वितरण पूँजी निर्माण को बढ़ावा नहीं देता बल्कि समान वितरण बचत करने की शक्ति को बढ़ाता है। किन्तु विकासशील देशों में असमान वितरण ही पूँजी निर्माण में उपयोगी रहा है।

5. उत्पादन साधनों की कुशलता देश में उत्पादन के साधनों की कुशलता ऊँची होने पर उत्पादकता अधिक होगी और पूँजी संचय की शक्ति बढ़ेगी जबकि निजी कुशलता होने पर पूँजी संचय कम होगी ।

6. व्यय का ढंग – अगर देश के लोग अपनी आय को विवेकपूर्ण ढंग से व्यय करते है तो पूँजी बचत करने की शक्ति बढ़ती है। जबकि आय का दुरूपयोग करने पर बचत करने की शक्ति कम हो जाती है।

7. आर्थिक दशाएँ – जब देश में आर्थिक परिस्थितियॉ विकास एवं समृद्धि के अनुकूल हों, व्यापार में समृद्धि हो तो पूँजी संचय की शक्ति बढ़ेगी अन्यथा विपरित दशाओं में पूँजी संचय शक्ति घटेगी । जैसे युद्ध अशांति के समय पूँजी निमार्ण हतोत्साहित होता है।

8. करों का भार – अगर देश में करों का भाग कम होगा तो लोगों की आय कम होने पर भी उनकी बचत करने की शक्ति अधिक होगी और वह अधिक आय उपार्जन को प्रेरित होंगे । इसके विपरित अगर लोगों को अपनी आय का बढ़ा भाग देने में व्यय हो जाता है तो उनकी बचत की शक्ति भी घट जायेगी । वे अधिक उत्पादन में हतोत्साहित होंगे ।

बचत करने की इच्छा

देश में पूँजी संचय के लिए केवल यही पर्याप्त नहीं कि लोगों में बचाने की शक्ति है पर साथ ही यह भी आवश्यक है कि वे बचाने के लिए इच्छुक हो । जितनी ही लोगों में स्वयं धन संचय की भावना अधिक होगी उतनी ही बचत करने की इच्छा में वृद्धि होने से पूँजी संचय अधिक होगा । बचाने की इच्छा पर निम्न बातों का प्रभाव पड़ता है :–

1. दूरदर्शिता – जो व्यक्ति अपने भविष्य के बारें में जितना अधिक दूरदर्शी होगा । उतनी ही उसकी धन संचय की इच्छा अधिक होगी । शिक्षित व्यक्ति अशिक्षितों की अपेक्षा अधिक दूरदर्शी होते है। अतः शिक्षितों में संचय इच्छा अधिक होती है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

2. पारिवारिक स्नेह – पारिवारिक प्रेम भी संचय इच्छा को प्रभावित करता है जिनको अपने परिवार से अत्यधिक स्नेह होता है वे अपने आश्रितों के उज्जवल भविष्य के लिए बचत करते है। ताकि उनकी मृत्यु के बात वे कष्ट न उठावें । इसके विपरित जिन्हें अपने परिवार से कोई स्नेह नहीं होता वे बचत की इच्छा ही क्यों करने लगे ।

3. स्वभाव – कुछ लोग प्रकृति से ही कंजूस होते है । अपनी आय को व्यय न कर अधिकाधिक बचाते है तो उनकी बचाने की इच्छा स्वतः जाग्रत होती है।

4. व्यवसायिक सफलता की इच्छा से भी लोग अपने समस्त लाभों का वितरण न कर या उपयोग न कर उसे व्यवसाय में विनियोग करते है। जितनी ही व्यवसाय की सफलता की इच्छा प्रबल होगी उतनी ही इच्छा अधिक होगी ।

5. समाजिक सम्मान, शक्ति एवं प्रभाव की इच्छा – बहुत से लोग समाज में प्रतिष्ठ प्राप्त करने राजनैतिक शक्ति स्थापित करने या आर्थिक क्षेत्र में अपना प्रभुत्व जमाने के लिए संचय करते है। और जिन्हैं उनकी इच्छा नहीं होती वे संचय की इच्छा कम ही करते है।

6. ब्याज की दर – जो लोग ब्याज से आय अर्जित करने के लिए बचत करते है अगर ब्याज दर की दरें उॅची हो तो बचत की इच्छा भी उतनी ही तीव्र होगी और अगर ब्याज की दरें नीची होगी तो बचत की इच्छा भी कम हो जाती है। सामान्यतः ब्याज की दर और बचत में सम्बन्ध इतना प्रत्यक्ष एवं सरल नहीं है क्योंकि कीन्स के अनुसार बचत आय पर निर्भर करती है। आय न होने पर ब्याज दरें ऊॅची होने पर भी बचतें संभव नहीं होगी ।

7. कार्य का स्वभाव – जिन लोंगों के व्यवसाय या कार्य में जोखिम अधिक होता है वे अपने जीवन में संचित रकम के उपभोग के बारे में निश्चित नहीं होते । अतः वे अपनी आय का अधिकाधिक भाग उपभोग कर जाते है, उनमें संग्रह की प्रवृत्ति कम होती है। इसके विपरीत जिन उद्योगों या पेशों में व्यक्ति को अपनी बचतों के भावी उपभोग के बारें में पूर्ण निश्चित होती है वह अपनी बचत करते है जैसे सैनिकों में, अध्यापकों या व्यवसायों की अपेक्षा बचत की इच्छा कम होती है।

8. परोपकार की भावना से भी बहुत से लोगों में बचत की इच्छा उत्पन्न होती है। जितनी ही लोंगो में परोपकार की भावना अधिक होगी । उतनी ही बचत की इच्छा भी प्रबल होगी ।

बचत की सुविधायें या अवसर

देश में पूॅजी निर्माण केवल बचत की शक्ति और बचत की इच्छा पर ही निर्भर नहीं होता । बचत की शक्ति और इच्छा होते हुए भी अगर बचत करने की सुविधा नहीं है तो भी पूॅजी निर्माण पर दुष्प्रभाव पड़ेगा । अतः पूॅजी निर्माण के लिए बचत की सुविधाओं की पर्याप्तता भी उतनी ही महत्वपूर्ण है। संचय की सुविधा निम्न तथ्यों से सम्बन्धित है–

1. शान्ति एवं सुरक्षा – जिस देश में लोगों को अपने धन एवं सम्पति की सुरक्षा होती है, समाज को बाह्य आक्रमण व भीतरी उपद्रवों, लूटपाट, चोरी, डकैती आदि का डर नहीं होता तो संचय की सुविधा होती है परन्तु बाह्य आक्रमण तथा आन्तरिक उपद्रवों से सुरक्षा न होने तथा अशान्ति के वातारण में बचतकर्ता धन को उत्पादन कार्यों में लगाने को प्रेरित नहीं होते है। अतः पूॅजी निर्माण हतोत्साहित होता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

2. विनियोग सुविधाएँ – जिन देशों में लोगों को अपनी बचतों को उत्पादन कार्यो में विनियोग करने की अधिक सुविधाएँ होती है, देश में व्यापार, उद्योग तथा व्यवसायों में पूँजी विनियोग के द्वार खुले होते हैं तो पूँजी निर्माण तेजी से होता है और विनियोग सुविधाओं के अभाव में बचतें हतोत्साहित होती है।

3. मुद्रा प्रणाली में स्थायित्व – देश की मुद्रा प्रणाली में स्थायित्व मौद्रिक नीति में जनता की आस्था के लिए आवश्यक है। मौद्रिक प्रणाली में जनता का विश्वास बनाये रखने के लिए यह आवश्यक है कि मुद्रा प्रणाली में स्थायित्व रहे। मुद्रा के मूल्य में अत्यधिक उतार–चढ़ाव न हों। अगर मुद्रा व्यवस्था में स्थिरता रहेगी तो धन संचय में सुविधा होती है और उतार चढ़ाव एवं अस्थायित्व में जन विश्वास समाप्त हो जाने से पूँजी के संचय में बाधा उत्पन्न होती है।

4. योग्य एवं ईमानदार व्यवसायी एवं उद्योगपति – जिन देशों में योग्य व्यवसायी एवं ईमानदार उद्योगपति होते हैं उन देशों के बचतकर्ताओं को अपना धन उत्पादक कार्यो में लगाने का सुअवसर मिल जाता है। व्यवसायी और साहसी इन बचतों को पूँजीगत सम्पत्तियों में बदल कर देश में पूँजी निर्माण को गति प्रदान करते हैं। पर अगर देश में योग्य एवं ईमानदार व्यवसायियों एवं उद्योगपतियों का अभाव हो तो बचतें होने पर भी उनसे पूँजी निर्माण संभव नहीं होगा, क्योंकि उद्योगपति ही बचतों को पूँजीगत सम्पतियों में बदलते है।

5. बैंकिंग एवं वित्तीय संस्थाओं की सुविधाएँ – जो बचतकर्ता व्यावसायिक या औद्योगिक जोखिम नहीं उठाना चाहते या जिनकी बचतें कम होती है ऐसे बचतकर्ताओं की छोटी छोटी बचतों की गतिशील कर पूँजी निर्माण करने में बैंकिंग व वित्तीय संस्थाओं का विशेष महत्व है। जिन देशों में इन संस्थाओं की सुविधा जितनी अधिक होती है अन्य बातों के समान रहते हुए उन्हें पूँजी निर्माण हो प्रोत्साहन मिलता है। इसके विपरित जिन देशों में इन संस्थाओं का अभाव होता है वहॉ पूँजी संचय में बाधा आती है।

6. प्राकृतिक स्थिति संचय की सुविधाओं पर देश की प्राकृतिक स्थिति का भी प्रभाव पड़ता है। जिन देशों की स्थिति ऐसी है जहॉ भूकम्प बाढ़, तुफान, महामारियों तथा प्राकृतिक प्रकोपों से सर्वनाश का भय सदा बना रहता है। वहॉ के निवासी संचय के लिए अपेक्षाकृत कम प्रेरित होते है जबकि प्राकृतिक प्रकोपों से मुक्त देशों के निवासी अधिक संचय करते है।

सरकार का पूँजी निर्माण में योग या भूमिका

पूँजीवादी विकसित राष्ट्रों में पूँजी निर्माण निजी व्यक्तियों, संस्थाओं या निगमों द्वारा किया जाता है। देश में बैंकों वित्तीय संस्थाओं उद्योगपतियों व साहसियों की पर्याप्ता से पूँजी निर्माण द्रुत गति से होता रहता है। सरकार केवल व्यापार चक्रों के समय या अर्थव्यवस्थाओं में बेरोजगारी के समय सार्वजनिक निर्माण कार्य हाथ में लेती है। समाजवादी अर्थव्यवस्थाओं में सरकार का उत्पादन तथा वितरण के साधनों पर पूर्ण नियन्त्रण के कारण पूँजी निर्माण का पूर्ण उत्तरदायित्व भी सरकार का ही है। सरकार अपनी मोद्रिक राजकोषीय व आर्थिक नीतियों से पूँजी निर्माण करती है। मिश्रित अर्थव्यवस्थाओं में सरकार तथा निजी व्यक्ति पूँजी निर्माण में सहयोगी होते है। जहॉ अर्थव्यवस्था विकसित होती है। पूँजी निर्माण की प्रक्रिया स्वतः संचालित होती रहती है। पर अर्द्धविकसित एवं पिछड़े राष्ट्रों में पूँजी निर्माण का बहुत कुछ उत्तरदायित्व सरकार पर ही होता हैं क्योंकि अर्द्धविकसित राष्ट्रों में संचय की शक्ति, संचय की इच्छा तथा संचय की सुविधाओं का नितान्त अभाव होता है। देश में ओद्योगिक एवं आर्थिक विकास के लिए आवश्यक अन्तसंरचना का अभाव होता है। अतः ऐसे राष्ट्र गरीबी के एक ऐसे कुचक्र में फंसे होते है कि सरकार वहॉ पूँजी निर्माण के लिए निम्न तरीकों का सहारा लेती है–

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

1. मौद्रिक नीति – मौद्रिक नीति के अन्तर्गत मुद्रा या साख की मात्रा में घटत बढ़त की नीति आती है। अगर सरकार सस्ती साख नीति के अन्तर्गत कम ब्याज पर ऋणों की व्यवस्था करें तो पूँजी निर्माण में वृद्धि होती है। मंदीकाल में मुद्रा एवं साख का प्रसार पूँजी निर्माण को योगदान करता है।

2. राजस्व नीति – राजकोषीय नीति में सरकार की आय–व्यय की नीतियों का समावेश होता है। सरकार उपभोग पर कर लगाकर प्राप्त धन को पूँजीगत वस्तुओं के निर्माण में लगा सकती है। नये पूँजीगत उद्योगों को करों में रियायत देकर या सहायता देकर पूँजी निर्माण में सहायता प्रदान करती है। सरकार द्वारा अल्प बचत योजनाओं या अनिवार्य बचत योजनाओं से प्राप्त राशि को सम्पतियों के निर्माण में व्यय किया जा सकता है।

   प्रो. सेम्यूलसन के अनुसार, ''कड़ी राजस्व नीति एवं उदार मौद्रिक नीति के मिश्रण से पूँजी निर्माण अपेक्षाकृत ऊँचा होता है जबकि राजस्व नीति एवं कडी मौद्रिक नीति से पूँजी–निर्माण स्तर नीचा होता है।'' यहाँ राजस्व नीति का अर्थ ऊँची कर की दरें तथा उदार मौद्रिक नीति का अर्थ नीची ब्याज दरें है जबकि उदार राजस्व नीति नीची कर की दरों तथा कड़ी मौद्रिक नीति ऊँची ब्याज दरों से सम्बन्धित है।

3. औद्योगिक नीति – देश में सरकार की औद्योगिक नीति का भी पूँजी–निर्माण पर भारी प्रभाव पड़ता है। अगर सरकार अपनी औद्योगिक नीति में पूँजीगत उद्योगों को प्राथमिकता दे तो पूँजी–निर्माण बढ़ेगा, जैसे भारत की 1956 की नीति में किया गया था और अगर उपभोग उद्योगों को प्रधानता दी गई तो पूँजी निर्माण की गति धीमी होगी ।

4. वित्तीय एवं बैंकिंग संस्थाओं का विस्तार – ये संस्थाएं देश की छोटी छोटी बचतों को गतिशील कर उत्पादक कार्यों में लगाती है। जितना ही इन संस्थाओं का विस्तार एवं प्रसार होगा उतना ही पूँजी निर्माण सुविधा जनक होगा । विकासशील राष्ट्रों में छोटे बड़े सभी शहरों, कस्बों तथा गॉवों में बैंकिंग, बीमा या वित्तीय संस्थाओं का विस्तार उद्योगों, कृषि व व्यवसायों में उत्पादक ऋण प्रदान कर पूँजी निर्माण को प्रोत्साहन देते है। अतः सरकार इन संस्थाओं का तेजी से विस्तार कर पूँजी निर्माण में योगदान कर सकती है।

5. घाटे की अर्थव्यवस्था – अर्द्धविकसित राष्ट्रों में जिनमें कि असीमित मात्रा में अविदोहित प्राकृतिक साधन उपलब्ध है उन साधनों के विदोहन व विकास के लिए सरकार नोट छापकर वित्तीय व्यवस्था कर सकती है। इस प्रकार पूँजी निर्माण किया जा सकता है, जैसे भारत में पंचवर्शीय योजनाओं में घाटे की वित्त व्यवस्था पूँजी निर्माण में सहयोगी रही है। इस पद्धति का प्रयोग बड़े विवेकपूर्ण ढंग से सीमित मात्रा में ही होना चाहिए अन्यथा अत्यधिक मुद्रा–प्रसार से बचतों को धक्का लगता है।

6. छिपी हुई बेरोजगारी का पूँजी निर्माण में प्रयोग – प्रो. नर्कसे ने विकासशील राष्ट्रों में बेकार तथा अर्द्ध बेकार विशाल श्रम शक्ति के प्रयोग से पूँजी निर्माण की विधि बताई है। सरकार इन बेरोजगारों को सामाजिक पूँजी निर्माण में कार्य प्रदान करे और उनके परिवारों के उपभोग स्तर को यथास्थिर रखें । बेरोजगार श्रमिक पहले भी उपभोग करते थे। अब अगर वे उत्पादक कार्यो में लगकर उपभोग करते हैं तो समाज को उनके उत्पादन का लाभ ही होगा ।

   पूँजी–निर्माण की यह प्रक्रिया व्यवहार में इतनी सरल नहीं है क्योंकि बेकारों को रोजगार मिलने पर अधिक उपभोग करेंगे, उनके परिवारों का भी उपभोग बढ़ेगा तथा खाद्यान्न को भेजने की लागत भी लगेगी। फिर भी नर्कसे ने अल्पविकसित राष्ट्रों के लिए इस पूँजी निर्माण विधि को अधिक महत्वपूर्ण मात्रा है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

7. व्यापारिक नीति – एक देश की सरकार अपनी व्यापारिक नीति से विदेशी विलासिता की उपभोग वस्तुओं के आयात पर प्रतिबन्ध लगाकर पूँजीगत सम्पत्तियों के आयात को बढ़ावा दे सकती है। इससे देश में पूँजी निर्माण तेजी से होगा । जैसे 1956 के बाद से भारत के योजनाबद्ध विकास में इसी नीति का अनुसरण किया जा रहा है।

8. विदेशी पूँजी सम्बन्धी नीति – सरकार अपनी विदेशी पूँजी नीति में उदारता बरतकर विदेशी पूँजीपतियों को पूँजीगत सम्पतियों के आयात की सुविधा प्रदान कर देश में पूँजी निर्माण की गति तेज कर सकती है। इसी प्रकार विदेशी पूँजी का प्रयोग इस प्रकार किया जावे कि भविष्य में अर्थ व्यवस्था को स्वचालित एवं स्वयं स्फूर्त बनाया जा सके। देश अपनी भावी पूँजी की दृष्टि से आत्मनिर्भर हो सके। विदेशी पूँजी विनियोग को रियायतें देकर बढ़ावा दिया जा सकता है।

9. आर्थिक विकास के लिए अन्तः संरचना का निर्माण – विकासशील राष्ट्रों में सरकार आवश्यक सामाजिक पूँजी निर्माण से भावी आर्थिक विकास की अन्तःसरंचना तैयार कर निजी विनियोगों को प्रोत्साहित कर सकती है। जैसे विद्युत शक्ति, सड़कों, पुलों, नहरों, रेलों, चिकित्सा सुविधा, संचार साधनों, शिक्षा व्यवस्था आदि से आवश्यक आधार तैयार हो जाता है और अधिक पूँजी विनियोग को बढ़ावा मिलता है। इसी प्रकार सरकार स्वयं ऐसे उद्योगों की स्थापना करती है जिनके लिए निजी साहसी आगे नहीं आ रहे हों। जैसे भारत में आधारभूत उद्योगों, लोहा इस्पात, भारी बिजली का सामान, मशीन–टूल्स, जहाज निर्माण कारखानों आदि में सरकार ने स्वयं पहल की है। इससे देश में पूँजी निर्माण को निश्चिय ही बढ़ावा मिला है।

10. मानव पूँजी निर्माण – भौतिक पूँजी निर्माण का महत्व तो है ही, पर आजकल मानव–पूँजी–निर्माण का महत्व भी बढ़ता जा रहा है। अगर मानव में तकनीकी शिक्षा, प्रशिक्षण आदि से उसकी योग्यता, कुशलता तथा उत्पादन क्षमता में अभिवृद्धि की जाती है तो वह भी एक प्रकार से पूँजी निर्माण ही है। आज सरकार शिक्षा से लोगों के दृष्टिकोण में परिवर्तन ला देती है। उनको अपनी बचतों को अनुत्पादक कार्यो से उत्पादक कार्यो में विनियोग के लिए प्रेरित किया जाता है। भारत में सरकार द्वारा पूँजी निर्माण के लिए इन सभी विधियों का यथासम्भव सहारा लिया जा रहा है और पहले की अपेक्षा भारत में पूंजी निर्माण में वृद्धि हुई है।

भारत या अन्य अल्पविकसित राष्ट्रों में पूँजी निर्माण की धीमी गति के कारण

जहॉ विकसित राष्ट्रों में पूँजी निर्माण की दर राष्ट्रीय आय के 25% से 35% है वहॉ योजनाबद्ध विकास के 50 वर्शो के बाद भी भारत में पूँजी निमार्ण की दर लगभग 24% से 25% रही है 1950–51 में भारत में पूँजी निर्माण की दर लगभग 7% से 8% थी वह 1960–61 में बढ़कर 11% हो गई । पुनः 1966–67 में घट गई । 2009–10 में पूँजी निर्माण की दर 24% होने का अनुमान है । इन तथ्यों से स्पष्ट है कि भारत तथा अन्य अल्पविकसित राष्ट्रों में श्रम का तो बाहुल्य है पर पूँजी निर्माण की गति बहुत धीमी है। इस धीमी गति के अनेक कारण है ।

(1) संचय की शक्ति का अभाव यद्यपि देश में पर्याप्त प्राकृतिक साधन है परन्तु उन साधनों का पर्याप्त विदोहन नहीं हो पाया है । (i) आर्थिक विकास की दृष्टि से देश पिछड़ा है अतः लोगो का आय स्तर बहुत नीचा है अतः उनकी बचत की क्षमता ही कम है । (ii) धन का वितरण भी असमान भी है और जिन लोगों द्वारा बचत की जा सकती है वे ''प्रदर्शन प्रभाव'' के कारण उत्कृष्ट उपभोग को बढ़ावा देते हैं तथा अपनी आय का बहुत बड़ा भाग अनुत्पादक कार्यों पर व्यय करते है इससे पूँजी निर्माण को प्रोत्साहन नहीं मिलता । (iii)

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इसके अतिरिक्त भारत में सरकार की कर प्रणाली भी संचय की शक्ति को कम कर देती है। भारत में आयकर उच्चतम दरें विश्व में सर्वोच्च है। इसी प्रकार अप्रत्यक्ष करों का भार भी बहुत अधिक है। अतः लोगों की बचत करने की शक्ति कम हो जाती है। (iv) करों की चोरी के कारण काले धन को पूँजीगत सम्पतियों में विनियोग न कर दूरूपयोग भी किया जाता है।

(2) संचय की इच्छा को प्रभावित करने वाले तत्वों का अभाव भारत में अशिक्षा और अज्ञानता के कारण व्यक्तियों में दूरदर्शिता का अभाव है। अतः वह अधिक बचाने को प्रेरित नहीं होते । सयुंक्त कुटुम्ब प्रणाली में पारिवारिक स्नेह का भी उतना दायित्व नहीं है। लोगों की आय का स्तर नीचा होने के कारण वे स्वभावतः बचत करने के आदी नहीं है। परोपकार की भावना व सामाजिक समान आदि को केवल कुछ ही लोगों की कल्पना हो सकती है।

(3) संचय की सुविधाओं का अभाव भारत के अन्य अल्प विकसित राष्ट्रों में राजनैतिक स्तरता का अभाव है व आर्थिक दरिद्रता के कारण आन्तरिक सुरक्षा व शान्ति का भी अभाव भी रहता है। भारत में विनियोग की पर्याप्त सुविधा भी नहीं है। अब भी देश के योग्य साहसियों, उद्योगपतियों व व्यवसायियों का अभाव भी पूँजी निर्माण की धीमी प्रगति का कारण है। इसलिये भारतीय पूँजी को शर्मिली पूँजी कहा जाता है। यद्यपि देश में स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद बैंकिंग एवं वित्तीय संस्थाओं को विकास एवं विस्तार किया जा रहा है। पर विकसित राष्ट्रों के मुकाबले यह सुविधायें अप्राप्त है। 1969 में 14 बैंकों तथा 1980 में 6 बैंकों की राष्ट्रीकरण के बाद ग्रामीण क्षेत्रों में बैंकिंग सुविधाओं के तेजी से विस्तार से भविष्य में पूँजी निर्माण तीव्रता की आवश्यकता है। पिछले 44–45 वर्षो में ग्रामीण क्षेत्रों में आय में तेजी से वृद्धि होने से उनकी बचतों को पूँजी निर्माण में गतिशील करने की आवश्यकता है।

(4) जनसंख्या में तेजी से वृद्धि एवं बेकारी – भारत या अन्य अल्पविकसित राष्ट्र में आर्थिक विकास के क्षेत्र में जनसंख्या में तीव्र गति से वृद्धि पूँजी निर्माण की बहुत बड़ी बाधा है। भारत में 1981–91 के दशक में जनसख्ंया 2.5 प्रतिशत वार्षिक दर से बढ़ी है, अब भी जनसंख्या की वृद्धि दर 1.95 प्रतिशत है। प्रतिवर्श भारत एक नये आस्ट्रेलिया का निर्माण कर लेता है। द्रुतगति से जनसंख्या में वृद्धि उपभोग में वृद्धि से बचतों को कम कर देती है। इसके अतिरिक्त देश में बड़ी संख्या में अर्द्ध बेरोजगारी, छीपी हुई बेरोजगारी तथा बेकारी के कारण आय स्तर बहुत नीचा है। उपभोक्ता अधिक और उत्पादक कम होने से बचत के अभाव में पूँजी निर्माण की कल्पना निरा स्वप्न बन कर रह जाती है।

(5) आर्थिक विकास के लिए आवश्यक आधार का अभाव है – अतः बचतों को विनियोग की और गतिशील करने की प्रेरणा नहीं मिलती । देश में यातायात एवं संचार के साधनों के विकास पूँजीगत उद्योगों की प्रगति विद्युत शक्ति, लोह–इस्पात उद्योग, रासायनिक उद्योग, बैंकिंग व्यवस्था, सिंचाई साधनों आदि के अभाव में पूँजी निर्माण की बात हास्यास्पद सी लगती है।

(6) भारत या अन्य अल्प विकसित राष्ट्र गरीबी के ऐसे दुष्चक्र में फंसे हुए हैं कि उसे तोड़ना कठिन पड़ रहा है। भारत या अन्य पिछड़े राष्ट्रों में उत्पति के साधनों का पूर्ण विकास न होने से पूँजी का नितान्त अभाव है। पूँजी के अभाव में उत्पादन का स्तर नीचा है। उत्पादन का स्तर नीचा होने से आय कम है। आय का स्तर नीचा होने से उपभोग और बचत दोनों का स्तर नीचा है। अतः बचत के अभाव में पूँजी निर्माण की गति धीमी है।

इस दुष्चक्र को दूसरे रूप में भी प्रस्तुत किया जा सकता है। अविकसित साधनों पिछडेपन तथा पूँजी की कमी के कारण उत्पादकता का स्तर नीचा है। जिसके कारण लोगों की वास्तविक आय कम। आय कम होने से उनकी प्रभावपूर्ण मांग कम है। प्रभावपूर्ण मांग कम होने के कारण पूँजी विनियोग की प्रेरणा का अभाव है। अतः पूँजी विनियोग न होने से पूँजी निर्माण की गति धीमी है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि पिछड़े राष्ट्रों में गरीबी के इस दुष्चक्र को तोड़ने में सरकार को प्रभापूर्ण कदम उठाने की आवश्यकता होती है। सरकार को अपनी राजस्व नीति में कठोरता, मौद्रिक नीति में उदारता तथा स्वयं सामाजिक पूँजी निर्माण द्वारा इस जाल को तोड़ना पड़ता है। इस दुष्चक्र को निम्नाकिंत चित्र द्वारा स्पष्ट करते हैः–

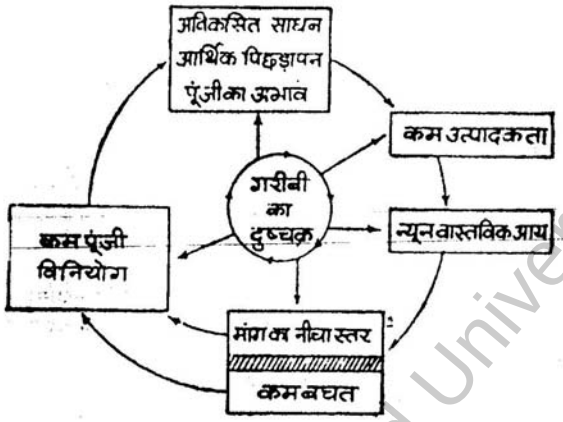

भारत में पूँजी निर्माण की गति को तीव्र करने तथा गरीबी के दुष्चक्र की व्यूह रचना को तोड़ने के लिए पंचवर्शीय योजनाओं में प्रभावशाली कदम उठाये है। सार्वजनिक करों एवं आय से बचतों को बढाया गया है। सार्वजनिक व्ययों से उद्योगों को कृषि परिवहन एवं संचार आदि का विकास किया गया है। बडी मात्रा में हिनार्थ प्रबन्ध से पूँजी निर्माण किया गया है। आधारभूत उद्योगों की स्थापना सरकार ने स्वयं की है। जिनसें लोह–इस्पात, बिजली का भारी समान, रासायनिक उद्योगों, विद्युत उत्पादन इकाईयों, मशीन निर्माण उद्योग, परिवहन एवं संचार उद्योग को अपने हाथ में लेकर विकसित किया है। बडी मात्रा में विदेशी सहायता का प्रयोग किया गया है। भारत में स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद मार्च 2000 तक कुल 168489 करोड़ रू. विदेशी सहायता का उपयोग हुआ है। इस प्रकार सरकार आन्तरिक तथा बाह्य दोनों प्रकार के साधनों की पूँजी का निर्माण में प्रयुक्त करने के लिए पूर्ण प्रयत्नशील है। यही कारण है कि जहॉ 1950–51 में पूँजी निर्माण की दर 7 प्रतिशत से 8 प्रतिशत थी वही अब बढ़कर राष्ट्रीय आय के 24 प्रतिशत के तुल्य है फिर भी इस विकसित राष्ट्रों के मुकाबले बहुत पीछे है। अतः निम्न सुझाव उपयोगी हो सकते है।

भारत या अल्प विकसित राष्ट्रों में पूँजी निर्माण में वृद्धि के सुझाव

भारत या अल्प विकसित राष्ट्रों में आर्थिक विकास हेतु पूँजी निर्माण में वृद्धि करने की शीघ्र आवश्यकता है। इसके लिए आन्तरिक साधनों तथा बाह्य साधनों दोनो को बढाने की आवश्यकता है।

(1) आन्तरिक बचतों की वृद्धि – आन्तरिक बचतों में व्यक्तिगत या पारिवारिक बचतों, व्यवसाय, संस्थाओं या निगमों की बचतों, राजकीय बचतों का समावेश होता है। उपभोग को कम करके निजी बचतों की वृद्धि की जा सकती है। व्यवसाय के सारे लाभों को वितरित न किया जाकर व्यवसाय के विस्तार या आधुनिकीकरण पर व्यय किया जा सकता है। सरकार अपनी राजकोषीय नीति से करारोपण की उचित नीतियों द्वारा बचतों को बढ़ा सकती है। पूँजीगत सम्पतियों में विनियोंगो को प्रेरित कर सकती है। सरकार स्वयं भी फिजूलखर्ची को कम करके राजकीय बचतों में पूँजी निर्माण कर सकती है।

(2) बचतों को गतिशील बनाना तथा वित्तीय संस्थाओं का विकास – सरकार बैंको, बीमा कम्पनियों तथा अन्य वित्तीय संस्थाओं के तीव्र विकास से लोगों की बचतों को उत्पादक सम्पतियों में बदलने के लिए प्रेरित कर

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

सकती है। भारत में 20 बैंको का राष्ट्रीयकरण तथा ग्रामीण क्षेत्रों में बैंको की शाखाओं का विस्तार, सहकारी समितियॉ, विनियोग ट्रस्ट आदि इस दिशा में उपयुक्त कदम है।

(3) वर्तमान पूँजी का अधिक अच्छा उपयोग – पूँजी निर्माण को गति प्रदान करने के लिए देश में उपलब्ध पूँजी का सदुपयोग भी उतना ही महत्वपूर्ण है जितना कि नई पूँजी का निर्माण । आज देश में अनेक पूँजीगत सार्वजनिक उद्योगो में उनकी पूर्ण क्षमता का उपयोग न होना भी पूँजी निर्माण में बाधा है। अतः वर्तमान पूँजी का आदर्श उपयोग पूँजी निर्माण में सहायक सिद्ध होगा । उपलब्ध उत्पादन क्षमता का समुचित तथा पूर्ण उपयोग पूँजी निर्माण में सहायक है।

(4) संग्रहीत साधनों का उत्पादक कार्यो में उपयोग – भारत तथा अन्य अल्प विकसित राष्ट्रों में अत्यधिक बचतें स्वर्ण, रजत, आभूषण, बड़े बड़े मकानों में संग्रहीत है। कुछ अज्ञानी तो भूमि में गाड़ के रख देते है। अतः इन बचतों को उत्पादक कार्यो में नियोजित करने से पूँजी निर्माण बढ़ जाता है। भारत में अनुमान लगाया जाता है कि 50,000 करोड़ रू की बचतें आभूषणों में लगी है। मन्दिरों, महलों में अपार संग्रहीत राशि का भी उत्पादक कार्यो में प्रयोग आवश्यक है।

(5) श्रम शक्ति का सर्वोत्तम उपयोग– श्रम उत्पति का सक्रिय साधन है। यह आर्थिक क्रियाओं का आदि और अन्त भी है। यह उपभोक्ता होने के साथ उत्पादक भी है। पर अगर धन का उपयोग उत्पादन में न किया जाय जो उसका उपभोग तो निरन्तर बना ही रहता है। अतः देश में बेकारों, अर्द्ध बेराजगारों तथा छिपे हुए बेरोजगारों को यथासम्भव उत्पादक कार्यों में नियोजित करने से राष्ट्रीय आय, बचत और उपभोग तीनों घटकों में वृद्धि से पूँजी निर्माण की गति तीव्र होगी ।

(6) विदेशी पूँजी को बढ़ावा – बाह्य साधनों से पूँजी निर्माण, निजी विदेशी विनियोग, विदेशों से ऋणों का अनुदानों तथा अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं (विष्व बैंक, अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम, एशियाई विकास बैंक, अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ आदि) से पूँजी प्राप्त कर किया जा सकता है और उसके विवेकपूर्ण उपयोग से देश में भविष्य में पूँजी निर्माण में आत्मनिर्भरता की स्थिति का मार्ग प्रशस्त किया जा सकता है।

(7) जनसंख्या पर प्रभावी नियन्त्रण भी देश में उपभोग को कम करके बचत को प्रोत्साहन देगा तथा पूँजीगत उद्योगों के विकास की प्रक्रिया प्रबल होगी ।

(8) विनियोगों के लिए आवश्यक आधार का निर्माण – देश सामाजिक पूँजी तथा मानव पूँजी दोनों का आवश्यक सुदृढ़ आधार तैयार किया जाना चाहिये। राजकीय बचतों से लोहा–इस्पात, रासायनिक उद्योग, विद्युत शक्ति, परिवहन एवं संचार साधन, सिंचाई आदि व्यवस्था भावी पूँजी–निर्माण एवं विनियोग वृद्धि के आधार स्तम्भ है।

इस प्रकार भारत में इन सब प्रयत्नों को लागू किया गया है और यही कारण है कि भारत पंचवर्शीय योजनाओं में पूँजी निर्माण की गति तीव्र हुई है। जहॉ 1950–51 में पूँजी निर्माण दर राष्ट्रीय आय की 7 प्रतिशत से 8 प्रतिशत थी वह 1965–66 में बढ़कर 13.4 प्रतिशत हो गयी थी। 1968–69 में वह केवल 9.6 प्रतिशत रही । छठी योजना के अन्त में पूँजी निर्माण की दर राष्ट्रीय आय के 22 प्रतिशत से 23 प्रतिशत होने का अनुमान था। सातवीं योजना के अन्त में पूँजी निर्माण दर राष्ट्रीय आय के 24 प्रतिशत होने का अनुमान है। आठवीं योजना के 1994–95 में पूँजी निर्माण की दर 25.2 प्रतिशत होने का अनुमान है। 2007–2009 में यह 28 प्रतिशत रहने का अनुमान है।

बोध प्रश्न :–

- पूंजी की परिभाषा दीजिये तथा पूंजी निर्माण को प्रभावित करने वाले तत्वो का वर्णन कीजिये।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

- आर्थिक विकास में पूंजी निर्माण के महत्व को स्पष्ट कीजिये तथ अर्द्ध विकसित राष्ट्र (भारत) में पूंजी निर्माण की धीमी गति के कारण बताते हुए उसमें तीव गति हेतु सुझाव दीजिये।
- क्या भूमि पूंजी है ?
- पूंजी का वर्गीकरण बताइये।
- पूंर्जी की विशेषताऐं बताइये।
- पूंर्जी के क्या कार्य है ?
- पूंजी की कार्यकुशलता को प्रभावित करने वाले घटक बताइये।
- पूंजी का महत्व समझाइये।
- गरीबी का दुष्चक्र क्या हैं? इसको तोडने हेतु सुझाव दीजिये।

2.9 जनसंख्या के सिद्धान्त :–

साधाारण सोचा तो यह जाता है कि जनसंख्या की समस्या एक अर्वाचीन समस्या है पर वास्तविक इससे भिन्न है। इस सन्दर्भ में प्रों0 मार्शल का कहना है कि ''जनसंख्या की समस्या तो सभ्यता से भी प्राचीन है ।'' यह सत्य नहीं कि जनसंख्या की समस्या, आज ही हमारे सामने एक समस्या के रूप में आयी हो । प्राचीन काल में भी जनसंख्या के सम्बन्ध अलग–अलग दृष्टि–कोण से सोचा गया था । कुछ विद्धानो ने जनसंख्या की वृद्धि को अचित समझा, तो कुंछ ने अनुचित । एक विचारधारा के अनूसार प्राचीन में उसी राष्ट्र को सम्पन्न समझा जाता था जिसकी जनसंख्या अधिक होती थी । सम्भवत उस समय की परिस्थितियों के अनूसार जनसंख्या को बढाना आवश्यक समझा जाता था ।

बहुत–सी धार्मिक एव सामाजिक धारणाएं ऐसी हैं जिनके कारण प्रत्येक दम्पति के लिए सन्तान पैदा करना आवश्यक है । उदारहण के लिए, मूसा तथा कनफ्यूसियस के विधान के अनूसार मुक्ति लेने के लिए पुत्र का होना आवश्यक माना गया है । हिन्दु धर्म में भी इस बात का उल्लेख मिलता है कि मोक्ष प्राप्त कारने तथा पूर्णता की प्राप्ति के लिए पुत्र के द्वारा मनूष्य दूसरों पर विजय प्राप्त करतास है, पुत्र के पुत्र द्वारा वह अमरत्व का अनन्द लेता है और उसके बाद पोते के पुत्र के द्वारा वह सूर्य निवास पाता है'' अत अनेक धार्मिक विचार सन्तान उत्पन्न करने के लिए लोगों को प्ररित करते रहते है ।

जनसंख्या का जहां धार्मिक महत्व है वहीं उसका आर्थिक महत्व भी कम नहीं हैं आर्थिक महत्व से प्रभावित होकर ही अर्थशास्त्र में जनसंख्या के सिद्धान्तों का अध्ययन किया जाने लगा है। माल्थस के जनसंख्या सिद्धान्त का जन्म आर्थिक परिस्थितियों के ही कारण। हुआ है। आज अर्थशास्त्र की कोई भी पुस्तक ातब तक पूर्ण नहीं समझी जाती है, जब तक कि उसमें जनसंख्या की समस्याओं का अध्ययन न हो। उत्पति के साधनों का अध्ययन करते समय श्रम की समस्याओं के अन्तर्गत जनसंख्या की समस्या का अध्ययन करना अनिवार्य हो जाता है, क्योंकि उत्पति का महत्वपूर्ण साधन मनुष्य सवयं कही है, जैसा कि मार्शल का कहना है ''धनोत्पति मनुष्य को जीविका के लिए, उसकी ईच्छाओं की सन्तुष्टि केलिए, उसकी क्रियाओं जैसे शारिरीक, मानसिक एवं नैतिकता के विकास के लिए केवल साधन मात्र है, परन्तु मनुष्य स्वयं ही उस धन की उत्पति का मुख्य साधन है जिसका वह अन्तिम उद्येश्य है।'' संक्षेप में, जनसंख्या से उत्पादन ही प्रभावित नहीं होता हैै, बल्कि उपभोग भी प्रभावित होता हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

जनसंख्या क सिद्धान्तों की व्याख्या करने से पूर्व हम यहां जनसंख्या के सम्बन्ध में व्यापारवादि तथा निर्बाधवादियों के विचारों का भी उल्लेख करेंगे ताकि उस समय के जनसंख्या सम्बन्धी विचारों की जानकारी हो सके –

(1) व्यापारवादी अर्थशास्त्रियों के विचार– व्यापारवादी अथवा वणिकवादी अर्थशास्त्रियों ने एक स्वर में कहा कि देश को शक्तिशाली बनाने के लिए अधिक जनसंख्या का होना आवश्यक है। क्योंकि जनसंख्या की वृद्धि से देश को सस्ता श्रम उपलब्ध होगा, वस्तुओं की उत्पादन लागत घटेगी, विदेशों को निर्यात बढेगा। व्यापार–वाणिज्य व युद्ध आदि के संचालन में उसी देश को सफलता मिल सकती है, जिस देश क पास बडे आकार में जनसंख्या है । इस प्रकार वणिकवादी जनसंख्या वृद्धि के पक्ष में थे।

(2) निर्बाधावादी अर्थशास्त्रियों के विचार– निर्बाधावादी अथवा प्रकृतिवादी अर्थशास्त्रियों ने भी बढती हुई जनसंख्या को देश के लिए उचित ठहराया है । प्रकृतिवादी प्राकृतिक नियमों का अनुसरण करते थे । उनका यह दृढ विश्वास था कि प्राकृतिक व्यवस्था मनुष्य के हित में होती है, यदि इस वयवस्था में किसी प्रकार का फेर–बदल किया गया, तो वह समाज क हित में नहीं होगा। वे जनसंख्या के नियन्त्रण के पक्ष में नहीं और नियन्त्रण के बुरे परिणामों की आशंका से हमेशा भयभीत थे। निश्चित रुप से यह नहीं कहा जा सकता है कि प्रकृतिवादियों ने बढति हृई जनसंख्या को अच्छा बताया या नहीं, फिर भी इतना अवष्य कहा जा सकता है कि उन्होने बढ़ती हुई जनसंख्या को बुरा नहीं समझा था। स्टेनजेलैण्ड ने भी इस बात की पुष्टि की है ।

समय के परिवर्तन के साथ–साथ आर्थिक एवं सामाजिक परिस्थितियों में परिवर्तन आने लगे । इंग्लैण्ड में फसलों के खराब होने से देश में बेराजगारी, बीमारी व गरीबी का ताण्डव नृत्य प्रारम्भ हो गया। विद्वानों ने बहुत करीब से उस दैवी विपदा को देखा और पाया की इन सब में बढती हुई जनसंख्या है । अनेक लोग इस खोज में जुट गयें कि क्या मानव जाति को इस पतन से बचाया जा सकेगा? विभिन्न विद्वानों ने समय–समय पर जनसंख्या के अनेकानेक सिद्धान्तों की व्याख्या करनी प्रारम्भ कर दी, जिसमे से प्रमुख सिद्धान्तों को नीचे दिया जा रहा है :

(1) माल्थस का जनसंख्या का सिन्द्धान्त (The Malthusian Theory of Population)

(2) आदर्शतम जनसंख्या का सिद्धान्त (Optimum Theory of Population)

(3) जनसंख्या का संक्रमण सिद्धान्त–आधुनिक सिद्वान्त (Theory of Demographic Tranisition-Modern Theory)

(4) जनसंख्या का जैविकीय सिद्धान्त (The Biogical Theory of Population)

(5) शुद्ध पुनरुत्पादन दर का सिद्धान्त (Theory of Reproduction Rate)

(1) माल्थस का जनसंख्या का सिद्धान्त :–

1798 में एक गमुनाम लेख, जिसका शीर्षक 'Easy on the Principle of Population as it effects on the Future Improvement of Society' था, प्रकाशित हुआ । इस लेख को पढकर लोग आश्चर्य में पड गये, क्योंकि इस लेख में जनसंख्या के प्रचलित विचारों भिन्न विचार दिये गये थे। चूंकि यह लेख गुंमनाम था इसलिए निबन्ध के पाठक एक अनूठी जिज्ञासा में डूबे रहे। स्वयं माल्थस के पिता थॉमस डेन्यल माल्यस (Thomas Daniel Malthus) जो डेविड हृयूम (David Hume) और प्रसिद्ध दार्शनिक रूसों तथा गाडविन (Godwin) के घनिष्ठ मित्र थे, बढती हुई जनसंख्या के समर्थक थें, बताया जाता है कि वे इस लेख को पढकर क्षुब्ध हो चुके थे और एक दिन चाय–पान के समय उन्होंने इस गुमनाम लेख की चर्चा अपने पुत्र माल्यस से कर दी पर माल्थस अन्त तक पूरी बातें चुपचाप सनत रहें । 1803 में इस निबन का दुसरा संस्करण प्रकाशित

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

हुआ जिसमें लेखक का नाम थॉमस रॉबर्ट माल्थ्स (Thomas Robert Malthus) था। दूसरे संस्करण में निबन्ध का शीर्षक 'An Essay on the Principle of Population or a view of its Past and Present Effects on Human Happiness' रखा गया था। इस लेखन के नाम व शीर्षक ने पूरे यूरोप में हलचल पैदा कर दी थी ।

माल्थस का जन्म 1776 ई0 में इंग्लैण्ड के रॉकरी नामक स्थान में एक सम्पन्न घराने में हुआ था । उनके पिता स्वयं पादरी और आशावादी विचारो के थें, जबकि माल्थस निराशावादी विचारो से प्रभावित था । माल्यस ने केम्ब्रिज विश्वविद्यालय में उच्च शिक्षा प्राप्त की, उन्होने ग्रीक और लेटिन भाषाओं तथा गणित में पुरस्कार प्राप्त किये थे 1794 में उन्होंने एम0 ए0 की उपाधि प्राप्त की और 31 वर्ष की आयु में एक गिरजे के पादरी बन गये । माल्यस ने इस बीच पूरे यूरोप का भ्रमण किया। वह नार्वे, स्वीडन, फ्रांस और स्विट्जरलैण्ड की आर्थिक एवं सामाजिक परिस्थितियौं से काफी प्रभावित हुए । 1804 में एक सम्पन्न घराने में उनका विवाह हो गया और 1805 में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के एक कॉलेज 'हेलबरी' में इतिहास तथा रानीति विज्ञान के प्राध्यापक नियुक्त हो गये और मुत्यु (1834) तक उसी कार्य में लगे रहे ।

माल्थस जब जनसख्या सम्बन्धी विचारों का उदघोष कर रहे थे उस समय तक पूरे–यूरोप में कारखाना प्रणाली के दोष फैल चुके थे । समाज दो वर्गो में बंट गया था । एक ओर धनी वर्ग था तथा दूसरी ओर श्रमिकों का समूह। धनी वर्ग लगातार श्रमिकों का शोषण कर रहा की जिससे श्रमिकों की आर्थिक दशा दिन–पर–दिन बिगडती जा रही थी । जनसंख्या के सम्बन्ध में उस समय जो भी विचार दिये जा रहे थें वे जनसंख्या की वृद्धि के पक्ष में थे और यह कहा जाता था कि बढती हुई जनसंख्या मानव जाति के विकास में सहायक होती है ।

माल्थस के समकालीन विचारक यूरोप की बिगडती हुई आर्थिक स्थिति के लिए बढती हुई जनसंख्या को दोषी नहीं मानते थे । परन्तु माल्थस ने देश–विदेशों का भ्रमण करके गणित व तर्क की सहायता से सिद्ध किया कि आर्थिक अवनति का प्रधान कारण बढती हुई, जनसंख्या है । माल्थस के निबन्ध के प्रथम संस्करण को पढने से ज्ञात होता है कि उसने अपने लेख में कोई विशेष महत्वपूर्ण बात नहीं कही है, फिर भी माल्थस का यह निबन्ध ''जनसंख्या सम्बन्धी विज्ञान'' का प्रारम्भ बिन्दु है । प्रो0 जीड (Gide) का कहना है कि ''एक शताब्दी के बाद भी बाद–विवाद की वह प्रतिध्वनि जो इस निबन्ध ने उत्पन्न की थी, पूर्णतया समाप्त नहीं हुई है । इस निबन्ध को एडम स्मिथ को जवाब भी समझा जा सकता है ।

माल्थस के जनसंख्या–सिद्धान्त की मानयताएं (Assumptions of the Malthusian Theory of Population)

माल्थस का जनसंख्या–सिद्धान्त अग्रलिखित मान्यताओं पर आधारित है :–

(1) मनुष्य में काम वासना (Sexual urge) यथास्थिर है, इसलिए इसमें सन्तानोत्पति की ईच्छा भी यथास्थिर रहती है ।

(2) कृषि में उत्पति हास नियम (Law of Diminishing Returns) लागू होता है, जैसा कि माल्थम के वक्तव्य से स्पष्ट है कि ''यह बात उन लोगों को अवश्य मालूम होगी जिन्हे कृषि की थोड़ी–बहुत जानकारी है, कि जिस अनुपत में कृषि बढायी जाती है और जो बढोतरी पहली औसत उत्पत्ति में प्रतिवर्ष होती है वह धीरे–धीरे कम से घटती चली जाती है ''

(3) माल्थस की अन्तिम महत्वपूर्ण मान्यता यह है कि जीवन–स्तर और जनसंख्या में सीधा सम्बन्ध है ।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

माल्यस के जनसंख्या–सिन्द्धान्त की व्याख्या (Explanation of the Malthusian Theory of Population)

उपयुक्त मान्यताओं के आधार पर माल्थस के जनसंख्या – सिद्धान्त का निम्न प्रकार से समझाया जा सकता है :–

(1) खाद्यान्न की अपेक्षा जनसंख्या में तीव्र वृद्धि– माल्थस ने इस सत्य को स्पष्ट किया कि ''जनसंख्या में वृद्धि आवश्यक रूप से जीवन निर्वाह के साधनों द्वारा सीमित हैं। जनसंख्या जीवन–निर्वाह के साधनों के बढने पर स्वामी रूप से बढेगी जब तक कि शक्तिशाली व स्पष्ट अवरोध इस प्रवृति को रोकें नहीं'' अतः माल्थस का कहना था कि :– प्रकृति ने मेज को सीमित अतिथियों के लिए लगाया है । जो बिना आमन्त्रण के आयेंगे उनको अवश्य भूखा मरना होगा।''

कृषि में उत्पति ह्रास निमय के कारण जिसअनुपात में जनसंख्या बढती है उस अनुपात में खाद्यानों का उत्पादन नहीं बढ पाता है । माल्थस के अनुसार, यदि किसी प्रकार की रूकावट न हो तो जनसंख्या गुणोतर कम (Geometrical Progression) से बढती है और खाद्यान की पूर्ति केवल अंकगणित या माध्य कम (Arithmetical Progression) से बढती है । यदि जनसंख्या में वृद्धि करने वाली शक्तियों को नहीं रोका जा सकता है, ता देश की खाद्य पूर्ति की तुलना में जनसंख्या बहुत अधिक हो जायेगी ।''

माल्यस के उपर्युकत कथन को हम निम्न उदारहण से सपष्ट कर सकते है :–

खाद्य–सामग्री का उत्पादन (दर)	1	2	3	4	5	6	7	8	9	10
जनसंख्या की वृद्धि (दर)	1	2	4	8	16	32	64	128	256	512

उपर्युक्त उदारहण में माल्थस ने यह समढाया है कि मनुष्य की काम वासना (Sexualurge) यथास्थिर रहती है, जिसके परिणामस्वरूप जनसंख्या खाद्यानों के उत्पादन की तुलना में अधिक तेजी से बढेगी, क्योंकि कृषि में उत्पादन ह्रास नियम लागु होता है, जिसके कारण उत्पादन नहीं बढ पाता है । उनके अनुसार प्रत्येक 25 वर्ष के बाद जनसंख्या दुगुनी होगी और खाद्यानों तथा जनसंख्या के बीच अनुपात का अन्तर और भी अधिक बढ जायेगा।

(2) सन्तुलन की स्थिति एवं प्राकृतिक रूकावटें (Positive Checks)– माल्थस के अनुसार, प्रकृति के उसी नियम के द्वारा जिसने मनुष्य के जीवन के लिए खाद्यान को आवश्यक बताया है, उसने इन दोनों (खाद्यान्न और जनसंख्या) असमान शक्तियों को अवश्य बराबर रखना है खाद्यान्नो और जनसंख्या के बीच जब संतुलन टूट जाता है, तब खाद्यानो की मांग खाद्यानों की पूर्ति की अपेक्षा अधिक बढ जाती है । अतः इस दशा को अति–जनसंख्या (Over Population) कहा जाता है । इस स्थिति में संतुलन स्थापित करने के लिए जब मनुष्य प्रभावी उपायों की कहा जाता है । इस स्थिति में संतुलन स्थापति करने के लिए जबकि मनुष्य प्रभावी उपायों की अवहेलना कर देता है, तब प्रकृति स्वयं जनसंख्या पर ऐसे अवरोध लगा देती है, जिसके परिणामस्वरूप जनसंख्या और खाद्यानो के बीच संतुलन स्थापित हो जाता है ।

माल्थस ने प्राकृतिक रूकावटों अथवा नैसगिंक रोकों (Positive Checks) के अन्तर्गत भुखमरी, बीमारी, बाढ़, सूखा, भूकम्प तथा अनेकानेक देवी प्रकोपों को गिनाया है । इस प्रकार के प्रकोपों के द्वारा जससंख्या स्वतः ही कम होने लगती है; क्योंकि इसमें जन्म दर की अपेक्षा मृत्यु दर बढ़ जाती है । इस किया से जनसंख्या की वृद्धि की दर अल्पकाल में रूकेगी तो सही, परन्तु कुछ समय के बाद यह फिर से तेजी से बढ़ेगी, क्योंकि मनुष्य की काम वासना को मिटाया नही जा सकता है तथा उस असन्तुलन को ठीक करने के लिए फिर से प्राकृति अवरोध

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

क्रियाशील होगें । इस घटना चक्र को माल्थस के नाम से जोड़ दिया गया है जिसे माल्थूसियन चक्र (Malthusian Cycle) कहा गया है ।

माल्थस के अनुसार जनसंख्या बढ़ जाने से प्रकृति मनुष्य के जीवन को कष्ट पहूँचायेगी । माल्थस के इस भय को कि ''प्रकृति ने मेज को समिति अतिथियों के लिए ही लगाया है। जो बिना निमन्त्रण के आयेगें उनको अवश्य भूखों मरना होगा।'' माल्थूसियन चक्र के सन्दर्भ में दुहराया जा सकता है। माल्थूसियन चक्र को चित्र संख्या 26.1 से स्पष्ट किया जा सकत है।

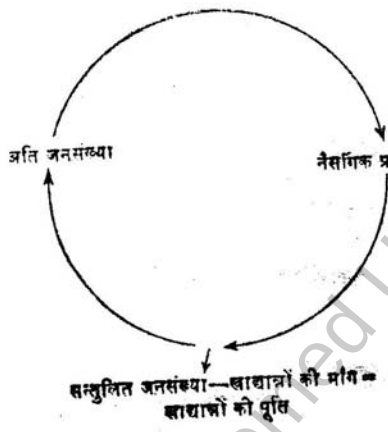

चित्र 26.1 से स्पष्ट है कि अर्थव्यवस्था में सन्तुलन बनाये रखने के लिए अति जनसंख्या की दशा में प्रकृति जनसंख्या वृद्धि पर रोक लगाती है, फलस्वरूप अर्थव्यवस्था में खाद्यात्रों की मांग खाद्यान्नों की पूर्ति के बराबर हो जाती है । वैसे, यह समस्या यहीं समाप्त नहीं होती है, सन्तुलन से फिर असन्तुलन उत्पन्न होता है, जिसका प्रमुख कारण जनसंख्या का खाद्य–पदार्थो की तुलना में अधिक तेजी से बढ़ना है ।

(3) मानवीय प्रतिबन्ध (Preventive Checks) -माल्थस के अनुसार प्राकृतिक प्रतिबन्ध (Positive Checks) दुखदायी होते है । इसलिए व्यक्ति को स्वयं के प्रयत्नों के द्वारा जससंख्या पर नियन्त्रण लगाना चाहिए । माल्थस ने लोगों को यह सुझाव दिया कि जनसंख्या की समस्या से निपटने के लिए यह आवश्यक है कि लोग ब्रह्मचर्य धर्म का पालन करें, देर से शादी करें तथा काम–वासना का दमन करें आदि । दुसरे शब्दो में, माल्थस ने जनसंख्या को कम करने के लिए नैतिक संयम को अधिक महत्व दिया है ।

नैतिक संयम के सम्बन्ध में माल्थस के एक कथन का मार्मिक उद्वरण यहां प्रस्तुत किया जा सकता है ''इस निबन्ध के प्रथम संस्करण में, मैने यह लिख दिया है कि प्रकृति के नियम अनुसार जनसंख्या की वृद्धि को रोकने के लिए अवरोध अवश्य होने चाहिए। अच्छाई इसी मे है कि प्राकृति अवरोधों की अपेक्षा, जिसमें महान कष्ट है, मानवीय अवरोध वास्तविक व अच्छे है .....ईसाईयों के लिए मै कहूँगा कि धार्मिक ग्रन्थ स्पष्ट रूप से बता रहे है कि हमारा यह कर्तव्य है कि हम अपने उन्माद पर विवेक व बुद्धि से प्रतिबन्ध लगायें ।

माल्थस स्वयं पादरी था, अतः वह जनसंख्या को रोकने के लिए आधुनिक प्रचलित उपायों को अनैतिक तथा भ्रष्ट मानता था । उसने संयम को सबसे महत्व दिया था । वह प्राकृतिक अवरोधों के पक्ष में भी नहीं था, क्योकि उसका कहना था, भले ही इस क्रिया से अल्प समय में जनसंख्या की वृद्धि की दर रूक जायेगी, परन्तु बाद मे जनसंख्या उसी तेजी से बढ़ेगी जिस तेजी से घास कटने के बाद बढ़ती है । अतः भविष्य में जनसंख्या की यह वृद्धि दर और भी भयंकर होगी ।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

माल्थस के अनुसार ''मनुष्य को यह समक्ष लेना चाहिए कि वह अपनी गरीबी का स्वयं कारण है ।'' यदि वह अपनी जन्म दर को बढ़ाये, तो प्रकृति भुखमरी, अकाल, गरीबी, महामारी आदि से बढ़ोतरी को कम कर देगी । प्रो. चटर्जी (ChatterJi) का कहना है कि ''बढ़ती हुई जनसंख्या में माल्थस ने अकाल, महामारी व युद्ध के पिशाच को देखा, उसे तभी दूर हटाया जा सकता है, जबकि सन्तानोत्पादन की इच्छा पर जिसका माल्थस ने संभोग की इच्छा कहा है, रोक लगा दी जाये ।''

माल्थस के जनसंख्या के सिद्धान्ता की आलोचना (Criticism of the Malthusian Theory of Population)

माल्थस के जनसंख्या सम्बन्धी सिद्धान्त के प्रभुख आलोचक गाडविन (Godwin) केनन (Cannan), निकलसन (Nicholson) इंग्राहम (Ingrham) आदि है । मात्थस की आलोचनाओं के सम्बन्ध में ग्रे (Gray) ने लिखा है कि ''यह सरलापूर्वक कहा जा सकता है कि अभी तक किसी भी सम्मानित नागरिक की इतनी बदनामी व आलोचना नहीं हुई है कि जितनी कि माल्थस की ।'' माल्थस के निबन्ध के प्रकाशित होते ही उस पर सर्वप्रथम आक्षेप गाडविन (Godwin) ने लगाया। उनका कहना था कि ''काला भयानक राक्षस मानव जाति की आशाओं का गला घोंटने को सदैव तैयार है ।'' वास्तव मे, माल्थस के सिद्धान्तो के बारे मे मे ऐसी बातें कहना निरर्थक है। गाडविन पूर्वाग्रहों से ग्रसित होकर ऐसी बातें कह गये । माल्थस ने तो मानव की खुशहाली को बढ़ाने के सम्बन्ध मे जनसंख्या के सिद्धान्त की रचना की थी, पर तब से लेकर आज तक माल्थस के जनसंख्या सिद्धान्त की आालोचना होती आ रही है । कुछ आलोचानाऐं निम्नलिखित है :

(1) सिद्धान्त की मान्यताओं का सही न होना – माल्थस के जनसंख्या सिद्धांत के बारे में कहा जाता है कि उनका यह सिद्धान्त जिन मान्यताओं पर आधारित है वे मान्यताएँ अव्यावहारिक है, जैसेः–

(i) माल्थस की मान्यता थी कि रहन–सहन के स्तर के बढ़ते के साथ–साथ जनसंख्या भी बढ़ जाती है। आलोचकों का मत है कि माल्थस की यह धारणा सही नही है । सभ्यता और आर्थिक विकास के साथ–साथ मनुष्य की सन्तानोत्पति की शक्ति घटी है । एक ऊँचे स्तर का जीवन व्यतीत करने वाले व्यक्ति के सामने जब कार व बच्चे के दो विकल्प रखे जाते है, त वह हमेशा बच्चे की अपेक्षा कार को अधिक पसन्द करता है । आलोचकों के अनुसार जीवन–स्तर के साथ–साथ व्यक्ति का मानसिक विकास भी होता हैं, उसमें नैतिकता की भावनाएँ आ जाती है, तब वह अपना अन्तिम उद्वेश्य बच्चा पैदा करना नही समझता है ।

इस आलोचना के उतर मे कहा जा सकता है कि माल्थस ने रहन–सहन के स्तर के बड़ने के साथ–साथ जनसंख्या के बढ़ने की जो बात कही है, वह श्रमिकों तथा निर्धन वर्ग के लोगों के सम्बन्ध में सही है। प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों की यह धारणा थी कि यदि मजदूरों का जीवन–निर्वाह मजदूरी से कुछ अधिक मजदूरी दी गयी, तो उनकी स्थिति पहले से अच्छी हो जाती है। परिणाम स्वरूप वे अपना पेट भरने के साथ–साथ अपने परिवार का भी पेट भर सकते है। अब वे सन्तानोंत्पति बढ़ा देते है और सोचते है कि हर अगला बच्चा उनके लिए कुछ न कुछ अवश्यक कमाकर लायेगा ।

(ii) माल्थस के जनसंख्या सिद्धान्त की दूसरी महत्वपूर्ण मान्यता है, मनुष्य की काम–वासना यथास्थिर रहती है । आलोचकों का कहना है कि माल्थस की यह धारणा गलत है, क्योकि जब व्यक्ति का रहन–सहन का स्तर बढ़ता है या वह सम्पन्न दशा मे पहुँच जाता है, तब उसके पास आमोद–प्रमोद के एक नही अनके साधन उपलब्ध होते है, ऐसी दशा मे व्यक्ति की काम–वासना स्थिर नहीं रहती है, बल्कि घट जाती है । इसके अतिरिक्त यह भी कहा गया है कि काम–वासना की सन्तुष्टि और सन्तोत्पति में कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं होता है, क्योंकि सन्तानोत्पति की इच्छा धार्मिक, सामाजिक एवं आर्थिक बातों पर निर्भर करती है, जबकि काम–वासना का सम्बन्ध प्राकृतिक है। यह आवश्यक नही है कि कामेच्छा के साथ–साथ सन्तानोत्पति की इच्छा भी हो ।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

(iii) माल्थस ने यह मान लिया था कि कृषि में उत्पति हास नियम तीव्रता से लागू होता है, परन्तु आलोचकों का कहना है कि माल्थस उत्पति हास नियम की धारणा को अच्छी तहत नहीं समझ पाये। आलोचकों का कहना है कि वैज्ञानिक अविष्कारों के द्वारा उत्पति हास नियम को टाला जा सकता है । इसके अतिरिक्त यदि किसी देश में खाद्यात्रों का अभाव है, तो बाहर अनाज मंगाकर इस कमी को दूर कर लिया गया है ।

आलोचकों की उपर्युक्त आलोचना सही नही है, क्योंकि उत्पति हास नियम को टालना सम्भव नही है, हॉ, कृषि में नये–नये तौर–तरीके अपनाकर कुछ समय के लिए इस नियम को टाला जा सकता है, परन्तु हमेशा के लिए नहीं। जहॉ तक विदेशों से अनाज मंगाकर जनसंख्या के भरण पोषण की बात कही गयी है, वहां कोई स्थायी हल नहीं है, क्योकि विश्व को एक परिवार मानकर जससंख्या की समस्या का अध्ययन करने से यह कहने का क्या औचित्य है कि विदेशों से अनाज मांगकर देश की खाद्यान्न होगी, तब कौन देश, किस देश से अनाज का आयात करेगा ?

(2) जनसंख्या एवं खाद्यान्न के गणितीय अनुपात सही न होना – आलोचकों का कहना है कि मल्थस ने जनसंख्या–सिद्धान्त में गणितीय सूत्र के अनुसार जनसंख्या और खाद्यान्नों का जो सम्बन्ध दर्शाया है व काल्पनिक है ।

यदि आलोचकों की बात को सही मान भी लिया जाय, तो भी माल्थस के सिद्धान्त की सत्यता में आंच नही आती है। जनसंख्या के गुणोत्तर श्रेणी में बढ़ने का अर्थ है कि प्रत्येक दम्पति छः बच्चे को जन्म दे । ऐसा इसलिए होता है कि छः में से दो बच्चे मर जायें व केवल चार बच्चे ही विवाह योग्य आयु तक पहुॅचें । स्पष्ट है कि यह संख्या सन्तान पैदा करने वालों की दुगनी हो गयी है । कभी–कभी कुछ परिवारों में एक भी सन्तान पैदा नही होती है, परन्तु दूसरे परिवारों मे दस तक की संख्या में सन्ताने देखी जा सकती है । अतः इस बातों से स्पष्ट है कि माल्थस का जनसंख्या का सिद्धान्त सत्य है।

माल्थस के आलोचकों का कहना है कि खाद्य–सामग्री समान्तर श्रेणी में नही है । उनका तर्क है कि खाद्य–सामग्री के अन्तर्गत, वनसम्पति तथा जानवरों की संख्या को भी सम्मिलित किया जा सकता है । उदाहरण के लिए, एक दम्पति वर्ष मे एक बच्चे को जन्म देता है, तो दूसरी और जंगली जानवरों व वनस्पति की वृद्धि दर कई गुना अधिक होती है । अतः जनसंख्या की तुलना मे उसके पोषण कहीं अधिक तेजी से बढ़ते है, इसलिए जनसंख्या की समस्या को खाद्यान्नों की समस्या के साथ नही जोड़ा जाना चाहिए।

आलोचकों के उपर्युक्त तर्क के सम्बन्ध मे यह कहा जा सकता है कि माल्थस पादरी था जिसने मांस भक्षण को उचित नही माना था । इसलिए उन्होने जनसंख्या का सम्बन्ध केवल खाद्यान्नों से स्थापित किया ।

(3) माल्थस की भविष्ययवाणी सही नहीं हुई – आलोचकों का कहना है कि माल्थस के विचारों की पुष्टि वास्तविक जगत में नही हो सकी है । इस सम्बन्ध मे जीड (Gide) का कहना है कि ''इतिहास ने उसके डर की निश्चत रूप से पुष्टि नही की है । एक भी देश ने यह नहीं बताया कि वह अति जनसंख्या से पीड़ित है । कुछ परिस्थितियों में उदाहरण के लिए, फ्रांस की जनसंख्या बहुत ही कम बढ़ी है । कुछ दूसरी परिस्थतियों में जनसंख्या काफी बढ़ी है । पर कहीं भी, वह धन से आगे नही बढ़ी है ।

जीड़ की उपर्युक्त आलोचना का भी उत्तर दिया जा सकता है कि फ्रांस मं जनसंख्या के घटने का करण वहां के लोग अत्यधिक जनसंख्या के बुरे परिणाम देख चुके थे और बाद मे माल्थस के द्वारा बताये गये उपायों से जनसंख्या को नियन्त्रित कर चुके थे । यदि फ्रांस के लोग माल्थस के द्वारा बताये गये प्रतिबन्धक रोकों को न अपनाते तो फ्रांस की भी वही दशा होती, जो आज भारत या उसके समकालीन देशों की है । यह स्थिति माल्थस के जनसंख्या सिद्धान्त का खण्डन न करके उसकी पुष्टि करती है ।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

(4) जनसंख्या वृद्धि के साथ श्रम शक्ति का बढ़ना – अर्थशास्त्री कैनन (Cannan) ने माल्थस की आलोचना करते हुए कहा है कि जब व्यक्ति पैदा होता है, तो वह केवल खाने के लिए मुँह लेकर ही नही आता है, बल्कि अपने साथ कार्य करन के लिए दो हाथ भी लाता है । इन हाथों से वह अपना ही पेट नहीं भरता है बल्कि दूसरों के पेट भरने के लिए भी काम करता है । अतः अधिक जनसंख्या का खतरा तब तक नही है जब तक कि वह अपने हाथों से अपना भरण पोषण कर सकता है ।

(5) प्राकृतिक विपतियों का होना अधिक जनसंख्या का सूचक नही – माल्थस के अनुसार प्राकृतिक प्रकोप अत्यधिक जनसंख्या के कारण होते है । आलोचकों का कहना है कि माल्थस की यह धारणा पूर्णतया गलत है । यह कैसे सम्भव है कि जनसंख्या के बढ़ने पर ही प्राकृति प्रकोप आये ? प्राय कम जनसंख्या वाले देशों मे भी भूकम्प, बाढ़, भुखमरी, सूखा, बीमारी, महामारी जैसी बाते हो जाती है, जबकि जनसंख्या के धनी देशों में यह सब नही होता है। यदि देश मे उत्पादन बढ़े, पर उसका वितरण उचित ढ़ंग से न किया जाय तो जनसंख्या की समस्या हो सकती है । इस सन्दर्भ मे सैलिगमैन (Seligman) ने कहां कि ''जनसंख्या की पूर्ण समस्या तब केवल आकार की ही समस्या नहीं है, बल्कि धन की भी है ।''

(6) जनसंख्या को रोकने के उपायों का व्यवहारिक न होना – माल्थस ने प्रतिबन्धक रोको के अन्तर्गत आत्मसंयम, ब्रह्मचर्य, देर से विवाह करना आदि बातों को महत्वपूर्ण बताया है। आलोचकों का कहना है कि माल्थस द्वारा बताये गये ये उपाय व्यावहारिक नही है। इन सब बातों को अपनाने में विवेक की आवश्यकता होती है, जबकि सामान्यतया व्यक्ति में विवेक की कमी होती है। ''संयमशीलता न कि संयमहीनता ही जनसंख्या के नियन्त्रण का सर्वोत्तम साधन है। परन्तु दुर्भाग्यवश, सदा सर्वोत्तम साधन सरल साधन नही होता है ।''

(7) जनसंख्या की प्रत्येक वृद्धि हानिकारक नही होती है – माल्थस के अनुसार जनसंख्या की प्रत्येक वुद्धि राष्ट्र के लिए हानिकारक होती है । आलोचक माल्थस के इस मत से सहमत नहीं है, क्योकि यदि किसी देश मे जनसंख्या आदर्श बिन्दु से कम है, तो जनसंख्या की प्रत्येक वृद्धि उत्पादन मे वृद्धि करेगी । ऐसी दशा मे जनसंख्या में होने वाली वृद्धि राष्ट्र के हित मे होती है । यदि जनसंख्या में वृद्धि के साथ देश का कुल उत्पादन भी बढ़ता है, तो जनसंख्या की वृद्धि से कोई हानि नही होगी ।

माल्थस के जनसंख्या सिद्धान्त में सत्यता का अंश (The Element of Truth in Malthusian Theoryof Population)

माल्थस के जनसंख्या सिद्धान्त की उपर्युक्त आलोचनाएँ अधिकतर तथ्यहीन है । ये आलोचनाएँ जनसंख्या सिद्धान्त का खण्डन नही कर सकती है । इस सन्दर्भ में वाकर (Walker) का कहना है कि ''माल्थस का सिद्धान्त उसके चारों तरफ होने वाले वाद–विवाद के बीच में अविनाशी व दुर्जय रहा है ।'' माल्थस का जनसंख्या सिद्धान्त आज भी जीवित है । इस बात की पुष्टि निम्न तथ्यों से की जा सकती है :

(1) माल्थस के जनसंख्या–सिद्धान्त की उपेक्षा नहीं की जा सकती है, क्योकि यदि जनसंख्या को रोकने के लिए किसी प्रकार के प्रतिबन्ध नही लगाये गये तो जनसंख्या तीव्र गति से बढ़ती जायेगी।

(2) प्रो. सैम्युलसन के अनुसार, माल्थस के जनसंख्या–सिद्धान्त का आज भी एक जीवन्त प्रभाव है, क्योकि माल्थस का यह सिद्धान्त उत्पति हास नियम पर आधारित है, जो सत्य है । इसीलिए जनसंख्या का सिद्धान्त भी सत्य है ।

(3) माल्थस का जनसंख्या–सिद्धान्त अल्प–विकसित देशों में पूर्णतया लागू होता है । यहाँ जनसंख्या की समस्या के ही परिणास्वरूप आर्थिक विकास अवरूद्ध हो चुका है । अर्द्ध–विकसित देशों के जनसंख्या सम्बन्धी इतिहास को देखने से पता चलता है कि कई बार जनसंख्या खाद्य सामग्री से आगे बढ़ी है । बढ़ी हुई

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

जनसंख्या को कम करने के लिए, प्रकृति ने प्राकृतिक प्रकोपों को लागू किया है । बरट्रेण्ड रसल (Bertrand Russe) का कहना है कि ''माल्थस का जनसंख्या का कथन उसके लिखने के समय तक बहुत सही था । आज भी जंगली व अर्द्ध–सभ्य जातियों और सभ्य जातियों में भी नीचतम मनुष्यों के लिए सत्य है ।''

(4) कुछ आलोचक फ्रांस का उदाहरण देकर यह सिद्ध करने की चेष्टा करते है कि वहां जनसंख्या बढ़ने की अपेक्षा घटी है । तब माल्थस का जनसंख्या–सिद्धान्त कहां लागू हो रहा है। इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि माल्थस के द्वारा बताये गये उपायों के परिणामस्वरूप ही फ्रांस में जनसंख्या घटी है ।

(5) अल्प–विकसित देशों में ही नही, बल्कि विकसित एवं सम्पन्न देशों के निवासियों पर माल्थस के जनसंख्या सिद्धान्त का गहरा प्रभाव देखा जा सकता है । वे आज भी इतने भयभीत है कि माल्थस द्वारा बताये गये प्रतिबन्धक रोकों को अपना रहे है ।

माल्थस के जनसंख्या सिद्धान्त की सत्यता के बारे मे एडवर्ड ईस्ट (Edward East) ने अपनी पुस्तक 'Mankind at the Crossroad' मे माल्थस के विचारों का समर्थन किया है और उसके सिद्धान्त की सत्यता की पुष्टि की है । इसी प्रकार मार्शल तथा जे.आर. हिक्स ने भी माल्थस के जनसंख्या–सिद्धान्त की सत्यता का समर्थन किया है । इस सन्दर्भ मे मार्शल का कहना है कि ''माल्थस के भावी परिवर्तनों को न देख सकने के कारण वे विचार पुराने पड़ गये है, किन्तु वे अब भी बड़ी सीमा तक सत्य है ।'' प्रो. वाकर भी इसी बात के समर्थक थे ।

माल्थस का जनसंख्या–सिद्धान्त और भारत :–

भारतवर्ष में माल्थस का जनसंख्या में तेजी–भारतवर्ष लागू होता है अथवा नहीं इस बात की पुष्टि निम्न बातों से की जा सकती है :

(1) जनसंख्या की वृद्धि–दर में तेजी–भारत वर्ष में जनसंख्या की वृद्धि की दर 2.5 प्रतिशत प्रतिवर्ष है, जो कम नही है । हम खाद्यान्नो के उत्पादन में पूर्णतया आत्मनिर्भर नहीं हो सके है । अभी भी देश में विदेशों से खाद्यान्नों का आयात हो रहा है । लोगों को जो भोजन व वस्त्र उपलब्ध हो रहा है वह भी निम्न स्तर का है । गरीबी, बीमारी, अशिक्षा से हम निपट नही पाये है, फलतः देश मे जनसंख्या की समस्या प्रतिवर्ष भयंकर रूप धारण करती जा रही है । बेरोजगारी के भार से देश दबता जा रहा है । 2001 की जनगणना के अनुसार भारत की जनसंख्या 102 करोड़ है, जो किसी भी माने मे कम नही है ।

(2) उत्पादन की अपेक्षा जनसंख्या का अधिक होना– देश में पुराने रीति–रिवाज व रूढ़ियों अभी भी ज्यों–की–त्यों बनी हुई, बाल–विवाह आज भी प्रचलित है, एक से अनेक पत्नियों को रखने वाले घर भी आज कम नही है । उत्पादन की पुरानी रीतियों से ही काम लिया जा रहा है, जिससे एक ओर जनसख्या बढ़ रही है और दूसरी ओर उत्पादन घट रहा है, परिणामस्वरूप, माल्थस की बात भारत मे सही रूप से लागू होती है ।

(3) प्रतिबन्धक रोकों का प्रयोग– देश में परिवार नियोजन कार्यक्रम को कुछ प्रभावी ढंग से लागू किया जा रहा है। उन तमाम बातों को अनिवार्य रूप से लागू किया जाने लगा है जो जनसंख्या की वृद्धि–दर को रोक सकें ।

(4) जीवन–स्तर का निम्न होना – देश मे कृषि कला का विकास तो रहा है, परन्तु हम कृषि से समुचित उत्पादन प्राप्त नही कर पाये है । देश में अभी भी वैज्ञानिक व औद्योगिक वातावरण की कमी है । देशवासियों का जीवन स्तर सामान्य स्तर से भी गिरा हुआ है । समय–समय पर देश को बाढ़ व सूखे की स्थितियों का सामना करना पड़ा रहा है, ये सब बाते बढ़ी हुई जनसंख्या की विशेषताएं हैं । इनके अतिरिक्त, अभी भी भारत में 50 प्रतिशत व्यक्ति द्ररिद्र–रेखा से नीचे है ।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

(5) इतिहास माल्थस के जनसंख्या–सिद्धान्त की पुष्टि करता है– पिछला 25 वर्ष पुराना, जनसंख्या का इतिहास बताता है कि आज जनसंख्या दुगनी हो गयी है, जो माल्थस की गणितीय व्याख्या की पुष्टि करता है । वैसे, ऑकड़े यह सिद्ध नही करते कि जनसंख्या इन 25 सालों में ठीक दुगनी हो गयी है । दुगनी से कम या ज्यादा हो सकती है ।

उपर्युक्त बातों के आधार पर हम कह सकते है कि भारत में ही नही, अपितु भारत की तरह अर्थ–व्यवस्था वाले अन्य देशों में भी माल्थस की यह भविष्यवाणी कुछ सीमा तक सत्य सिद्ध हो रही है । यदि मानव जाति भविष्य के लिए आशावादी दृष्टिकोण अपनाना चाहे, या अपनी सन्तानों की कुशल क्षेम की कामना करना चाहे, तो उसे जनसंख्या पर नियन्त्रण लगाना होगा ।

(2) अनुकूलतम जनसंख्या का सिद्धान्त :–

माल्थस के जनसंख्या सिद्धान्त के समय से ही अनेक लोग इस दिशा में सोचने लगे थे कि क्या वास्तव मे बढ़ी हुई जनसंख्या सदैव हानिकारक है ? लोगों की धारण है कि कोई चीज एक सीमा तक तो हितकर है, पर उसके आगे नहीं, यही बात जनसंख्या के सन्दर्भ मे भी सही है । अर्थशास्त्रियों का कहना है कि जब किसी देश मे जनसंख्या न अधिक होती है और न की कम पर ठीक उतनी ही होती है जितनी कि उस देश के आर्थिक साधनों को देखते हुए होनी चाहिए, तो उस जनसंख्या को उस देश के लिए आदर्शतम (Optimum) कहा जायेगा । ऐसी स्थिति में प्रति व्यक्ति आय, प्रति व्यक्ति उत्पादन तथा प्रति व्यक्ति उपभोग भी सबसे अधिक होगा।

आदर्शतम जनसंख्या के सिद्धान्त का उद्‌गम :– पूर्णतया यह बता पाना कठिन है कि आदर्शतम जनसंख्या के सिद्धान्त का प्रतिपादन किसने और किस रूप मे किया था, परन्तु आर्थिक विचारों के इतिहास के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि 1865 मे एडवर्ड (Edward West) ने एक निबन्ध लिखा जिसका शीर्षक Essay on the Application of Capital to Land था। इस निबन्ध में उन्होने स्पष्ट किया कि जनसंख्या के बढ़ने के साथ–साथ श्रम में विशिष्टता आती है और उत्पादन बढ़ने लगता हैं वेस्ट के ये विचार आदर्शतम जनसंख्या–सिद्धान्त के लिए संकेत मात्र थे। वास्तव मे इस सिद्धान्त की नींव का श्रेय सिजविक (Sidgwick) को है। उन्होने अपनी पुस्तक 'Principles of Political Economy' मे उत्पति के नियमों की विवेचना करते बताया कि यदि एक अनुपात में उत्पति के सब साधनों को लगाया गया तो उत्पादन अधिकतम होगा। जिस रुप में यह बात राष्ट्रीय उत्पादन के लिए सही है, ठीक उसी रूप में व्यक्तिगत अर्थ–व्यवस्था के लिए भी सही है । यद्यपि सिजविक ने यहां आदर्शतम अथवा अनुकूलतम शब्दों का प्रयोग नहीं किया है फिर भी उनका अभिप्राय इसी शब्द से था । 'आदर्शतम' (optimum) शब्द का प्रयोग तो सर्वप्रथम एडविन कैनन (Edwin Cannan) ने किया और उन्ही के द्वारा इस सिद्धान्त की वैज्ञानिक व्याख्या भी की गयी । अन्त मे इस सिद्धान्त को लोकप्रिय बनाने का श्रेय कार सण्डर्स (Carr Saunders) रॉबिन्स (Robbins) डाल्टन (Dalton) आदि अर्थशास्त्रियों को जाता है ।

अनुकूलतम जनसंख्या के विचार का प्रयोग (Application of the Concept of Optimum Population)

अनुकूलतम जनसंख्या का सिद्धान्त यह नही बताता है कि जनसंख्या का बढ़ना–घटना किस प्रकार से होता है । यह सिद्धान्त केवल उत्पति के साधनों के अनुकूलतम अनुपात पर ही विचार करता है। जिस प्रकार से एक उत्पादक उत्पति के साधनों को अनुकूलतम अनुपात में मिलाकर अधिकतम उत्पादन करता है, उसी प्रकार से यदि देश के अन्य दिये हुए साधनों के साथ जनसंख्या को अनुकूलतम अनुपात में मिलाया गया, तो प्रति व्यक्ति उत्पादन या प्रति व्यक्ति आय अधिकतम होगी। अतः जनसंख्या के क्षेत्र में सर्वोत्तम या अनुकूलतम विचार अनूकूलतम जनसंख्या का विचार है या ''अनुकूलतम जनसंख्या का सिद्धान्त है ।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

अनुकूलतम जनसंख्या के सिद्धान्त की मान्यताएं

अनुकूलतम जनसंख्या सिद्धान्त अग्र मान्यताओं पर आधारित है :–

(1) जिस अनुपात मे मे जनसंख्या बढ़ती है, ठीक उसी अनुपात में कार्यशील जनसंख्या श्रम (Labour) भी बढ़ती है ।

(2) यहां यह मान लिया गया है कि श्रमिक के औसत उत्पादन के बढ़ते तथा घटने के साथ साथ प्रति व्यक्ति आय भी बढ़ती घटती है ।

(3) इस बात को मान लिया गया है एक बिन्दु के बाद उत्पति हास नियम लागू होता है ।

अनुकूलतम जनसंख्या की परिभाषा :–

- अनुकूलतम जनसंख्या के सिद्धान्त की व्याख्या विभिन्न अर्थशास्त्रियों के द्वारा भिन्न भिन्न रूपों मे की गयी है । कुछ परिभाषाऍ इस प्रकार है :
- डाल्टन (Dalton) के अनुसार ''अनुकूलतम जनसंख्या वह है, जो प्रति व्यक्ति अधिकतम आय प्रदान करती है ।''
- रॉबिन (Robbins) के अनुसार ''अनुकूलतम जनसंख्या वह है, जिससे अधिकतम उत्पादन सम्भव होता है।
- डाल्टन ने आदर्शतम जनसंख्या उसे कहा है जिसके द्वारा देश के प्रति व्यक्ति आय अधिकतम की जाती है, परन्तु रॉबिन्स उस जनसंख्या को आदर्शतम मानते है जिस पर प्रति व्यक्ति उत्पादन अधिक होता है ।
- कार सण्डर्स (Carr Saunders) के अनुसार, ''आदर्शतम जनसंख्या वह जनसंख्या है जो अधिकतम आर्थिक कल्याण पैदा करती है । अधिकतम कल्याण आवश्यक रूप से वही नही है जो प्रति व्यिक्ति अधिकतम आय देता है, परन्तु प्रयोगात्मक उद्देश्य के लिए इसे उसके तुल्य माना जा सकता है ।
- कार सण्डर्स के अनुसार आदर्शतम जनसंख्या वह होगी जो देश के औसत वास्तविक आय को अधिकतम करती है ।

उपर्युक्त परिभाषाओं के अध्ययन से ज्ञात होता है कि आदर्शतम जनसंख्या के सिद्धान्त के बारे मे भिन्न भिन्न अर्थशास्त्रियों ने भिन्न भिन्न विचार व्यक्त किये है – प्रो. डाल्टन ने उस जनसंख्या को आदर्शतम माना है, जहां पर प्रति व्यक्ति आय अधिक होती है, परन्तु प्रो. रॉबिन्स आदर्शतम जनसंख्या उसे कहते है जहां प्रति व्यक्ति उत्पादन सबसे अधिक होता है । आदर्शतम जनसंख्या को निश्चित करने के सन्दर्भ में अर्थशास्त्री इस बात पर एकमत नही है कि इसके अन्दर किन किन चीजों को कितनी कितनी मात्रा में सम्मिलित किया जाये तथा इन चीजों में क्या क्या गुण होने चाहिए आदि ।

सामान्यता, आदर्शतम जनसंख्या का निर्धारण करते समय निम्न बातों को ध्यान मे रखा जा सकता है :–

(1) आदर्शतम जनसंख्या को निर्धारित करते समय जनसंख्या के गुण तथा उसके परिणाम को ध्यान मे रखा जाता है। अर्थात हमारी जो जनसंख्या है उसकी उम्र, स्वास्थ्य, शिक्षा, कुशलता आदि कैसी है।

(2) दुसरी ध्यान देने योग्य बात है कि आदर्शतम जनसंख्या के निर्धारण के समय भूमि से उपलब्ध होने वाले समस्त प्रदार्थो को सम्मिलित कर लिया जाता है तथा इसमें उन सभी चीजों को भी जोड दिया जाता है । जो विदेशी विनिमय से प्राप्त होती है ।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

(3) आदर्शतम जनसंख्या की स्थिति की जानकारी ज्ञात करने के लिए उत्पादक तकनीक को भी ध्यान में रखा जाता है ।

(4) चौथी विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि विभिन्न उत्पति के साधनों को किस अनुपात में मिलाया जाय, उतपादन का वितरण उतपति के साधनों में किस प्रकार से किया जाय, आर्थिक प्रणाली कौन सी हो तथा करारोपण आदि की व्यवस्था कैसी हो ।

(5) प्रायः सभी अर्थशास्त्री इस बात से सहमत है कि आदर्शतम जनसंख्या की धारण एक गुणात्मक विचार की धारणा है । इसलिए सर्वोतम जनसंख्या का निर्धारण करने के लिए समाजार्थिक कल्याण तथा सुख को भी ध्यान में रखना होगा ।

उपर्युक्त तथ्यों को ध्यान में रखते हुए आदर्शतम जनसंख्या की जानकारी ज्ञात की जा सकती है ।

आदर्शतम जनसंख्या के सिद्धान्त की व्याख्या

जैसा कि हम जानते है, आदर्शतम जनसंख्या के सिद्धान्त का आधार उत्पाति ह्रास नियम है । आदर्श या अधिकतम उतपादन के लिए यह आवष्यक है कि उत्पति के साधनों को एक आदर्शतम अनुपात में लगाया जाय । जब उत्पति के साधनों को आदर्शतम अनुपात में मिलाया जायेगा, तब प्रत्येक साधन का पूरा पूरा उपयोग हो सकेगा । उत्पादन में जब तक साधनों का आदर्शतम अनुपात स्थापित नही होगा, तब तक उत्पादन बढता ही जायेगा । यहॉ सम्पूर्ण राष्ट्रीय अर्थ व्यवस्था की दृष्टि से जनसंख्या को श्रम (Labour) मान लिया गया है । इस प्रकार जब तक श्रम (जन संख्या) का अनुपात कम होगा तब तक देश के प्राकृतिक साधन, उत्पादन कला तथा पूँजी का पूरा पूरा उपयोग नहीं हो सकेगा और औसत उत्पति भी कम होगी । अतः ज्यों ज्यों श्रम (जनसंख्या) के अनुपात को बढ़ाया जायेगा त्यों त्यों राष्ट्रीय उत्पादन बढ़ेगा और एक स्थिति ऐसी आयेगी जहॉ पर उत्पादन सर्वाधिक होगा और उस समय की जनसंख्या को आदर्श जनसंख्या कहा जायेगा, यदि इस बिन्दु से आगे श्रम (जनसंख्या) को बढ़ाया जाता है, तो आदर्शतम अनुपात टूट जायेगा । फलतः औसत उत्पदन या आय घटने लगेगी और यह जनसंख्या देश के लिए अधिक होगी । इस व्याख्या को तालिका संख्या 26.1 से स्पष्ट किया गया है ।

तालिका संख्या 26.1

कुल जनसंख्या (करोड़ में)	कुल वास्तविक आय	प्रति व्यक्ति औसत आय
30	1500	50
40	2400	60
50	3500	70
60	4200	80
70	5250	75
80	5600	70
90	5850	65

उपर्युक्त तालिका के प्रारम्भ में प्राकृतिक साधनों की तुलना में देश की जनसंख्या कम है । ज्यों ज्यों जनसंख्या बढ रही है, त्यों त्यों कुल आय तथा प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि होती है । एक बिन्दु ऐसा आता है, जहॉ पर

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

जनसंख्या उतनी ही होती है जितनी कि देश के प्राकृतिक साधनों के दोहन के लिए वह आवष्यक है । इस दशा में औसत आय (तालिका 26.1) 80 अधिकतम है । इस अधिकतम औसत आय को प्राप्त करने के लए 60 करोड की जनसंख्या आवष्यक है । यह जन संख्या आदर्शतम जनसंख्या हुई । उपर्युक्त अध्ययन से यह भी स्पष्ट है कि अनुकुलतम जनसंख्या स्तर, जनसंख्या का वह स्तर है जहॉ औसतन उत्पादन अधिकतम होता है । इससे पूर्व की स्थिति में निम्न जनसंख्या (under population) तथा इस बिन्दु के बाद अति जन संख्या (over population) है । इसे चित्र संख्या 26.2 से स्पष्ट किया जा सकता है । चित्र में X-axis पर जनसंख्या तथा Y-axis पर औसत आय को दिखाया गया है । AP वक्र प्रति व्यक्ति आय या औसत उत्पादन वक्र है । M बिन्दु पर औसत उत्पादन तथा प्रति व्यक्ति औसत आय अधिकतम है, जिसे चित्र में P बिन्दु में दिखाया गया है । इस बिन्दु को आदर्शतम जनसंख्या का बिन्दु कहा जाता है । M बिन्दु के बाद बढ़ती हुई जनसंख्या अति जनसंख्या है, क्योंकि M बिन्दु के बाद ज्यों ज्यों जनसंख्या बढती जाती है त्यों त्यों औसत उत्पादन तथा प्रति व्यक्ति औसत आय मे कमी आती जाती है ।

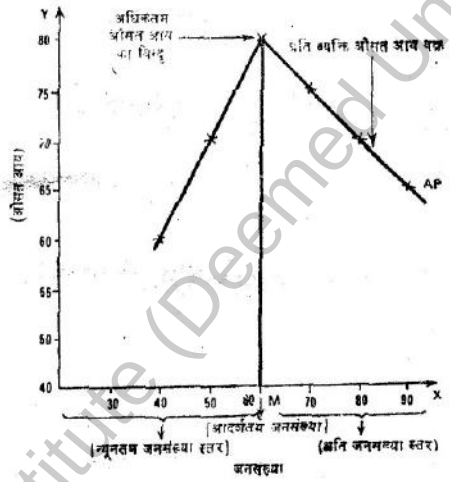

प्रो. डाल्टन (Dalton) ने किसी देश की जनसंख्या मे यह देखने के लिए कि वह जनसंख्या कम है अधिक है या आदर्शतम है, एक सूत्र दिया है, जो निम्न प्रकार है :–

$$M = \frac{A - O}{O}$$

जिसमें M = मात्रा की अव्यवस्था या असन्तुलन (Maladjustment)

A = वास्तविक जनसंख्या (Actual Population)

O = अनुकूलतम जनंसख्या (Optimum Population)

प्रों डाल्टन के सूत्र के आधार पर निम्न परिणाम प्राप्त होंगे :–

(i) यदि M का मान घनात्मक (Positive) है, तब इसका तात्पर्य है, जनसंख्या अधिक है, या जनाधिक्य है ।

(ii) यदि M का मान ऋणात्मक (Negative) है, तब इसका तात्पर्य है, जनसंख्या आदर्श से कम है, या जनाभाव है।

(iii) यदि M का मान शून्य (Zero) है, तब इसका तात्पर्य है, जनसंख्या आदर्श बिन्दु पर है ।

अनुकुलतम जनसंख्या के सिद्धान्त की आलोचना

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

आदर्शतम जनसंख्या के सिद्धान्त को भी जनसंख्या का अन्तिम सिद्धान्त नही माना गया है । इस सिद्धान्त की अनेक विद्धानों के द्वारा आलोचनाएँ की जाने लगी है । प्रमुख आलोचनाओं को नीचे दिया जा रहा है :–

(1) अनुकुलतम जनसंख्या का सिद्धान्त 'सिद्धान्त' नही है – आलोच को का कहना है कि अनुकूलतम जनसंख्या का सिद्धान्त जनसंख्या का कोई प्रमाणिक सिद्धान्त नही है । यह सिद्धान्त तो इस बात की व्याख्या ही नही करता है कि जनसंख्या क्यां और कैसे बढती है और उसके बढ़ने की दर क्या है । जब तक इन आधारभूत बातों की सही सही जानकारी ज्ञात नही कर ली जाती है तब इस तक इसे सिद्धान्त कैसे मान लिया जाय । यदि इस सिद्धान्त के प्रवर्तक इसे जन संख्या का सिद्धान्त मानते है, तो इन्हे इन सब बातों का भी उत्तर ढूँढ लेना चाहिए था । यह सिद्धान्त अनुकूलतम या आदर्शतम जनसंख्यश की बात कहकर लोगो को भ्रम में डाल देता है । अतः इसे सिद्धान्त नही कहा जा सकता है ।

(2) आदर्शतम बिन्दु के विचार का गलत होना – आदर्शतम जनसंख्या के सिद्धान्त में आदर्शतम बिन्दु को प्राप्त करना बड़ा कठिन है । यदि इसे प्राप्त कर भी लिया गया, तो यहॉ यह समस्या उत्पन्न होती है कि क्या इस बिन्दु को हमेशा के लिए स्थिर रखा जा सकता है ? यदि हम इसे स्थिर नही रख सकते है, तो इसका महत्व भी नही है । प्रायः यह है कि उत्पादन की कला में परिवर्तन आने या श्रम की कुशलता के बढ़ने घटने से उत्पादन में अनेकानेक उतार चढाव आते रहते है, जिसके परिणामस्वरूप यह आदर्शतम बिन्दु एक स्थान से दूसरे स्थान पर आता जाता रहता है । प्रो. चटर्जी के अनुसार, ''इस आकस्मिक और प्रतिक्षण परिवर्तनशील संसार में, वस्तुतः अनुकूलतम जनसंख्या की खोज मृगतृष्णा की भॉति है, जो कि हमेशा हमारी समक्ष को छल करके निकल जाती है '' ।

(3) सिद्धान्त की मान्यताओं का अवास्तविक होना – इस सिद्धान्त की जितनी भी मान्यताएँ है वे सब काल्पनिक है। यह सिद्धान्त इस मान्यता पर आधारित है कि कार्यशील जनसंख्या का अनुपात कुल जनसंख्या में स्थिर रहता है, परन्तु व्यावहारिकता यह है कि यह अनुपात बदलता रहता है ।

(4) यह सिद्धान्त जनसंख्या की समस्या के सम्बन्ध में कोई नीति निर्धारित नही करता है – इस सिद्धान्त से केवल इतनी ही जानकारी ज्ञात की जा सकती है कि कौनसी जनसंख्या देश के लिए आदर्शतम है । पर सिद्धान्त यह नही बताता है कि जनसंख्या को कैसे कम या अधिक किया जायेगा। यही कारण है कि सिद्धान्त का देश की आर्थिक नीतियों के निर्धारण में कोई स्थान नही है । जनसंख्या की नीति का निर्धारण अकेल औसत आय को ध्यान में रखकर नही किया जा सकता है । इसके लिए राष्ट्रीय उददेष्य को भी ध्यान में रखा जाना चाहिए था। जन संख्या की नीति इस प्रकार की होनी चाहिए, जिसमें राष्ट्रीय आदर्श की प्राप्ति हो सके। उदाहरण के लिए, दुसरे महायुद्ध से पहले जर्मनी तथा इटली का राष्ट्रीय आदर्श दूसरे राष्ट्रो के उपर विजय प्राप्त करना था, इसलिए उनके लिए यह सर्वदा उचित था कि वे एक ऐसी जनसंख्या नीति अपनायें जिससे देश में अधिक स्वस्थ व पुष्ट बच्चे लड़ाकू स्वभाव के बन सके, ताकि राष्ट्रीय उददेष्य की पूर्ति हो सके।

(5) भौतिकवादी उददेष्य – आलोचकों का कहना है कि आदर्शतम जनसंख्या सिद्धान्त का उददेष्य संकुचित है । इस सिद्धान्त का उद्धेष्य केवल प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि करना है, जो गलत है। व्यक्ति की भौतिक इच्छाओं के अतिरिक्त कुछ इच्छाएँ ऐसी भी है, जो आध्यात्मिक तृप्ति के लिए आवष्यक समझी जाती है । अतः जनसंख्या नीति की यह विशेषता होनी चाहिए कि उससे देश में सभी मनुष्य स्वस्थ, बुद्धिमान, शिक्षित और ईमानदार हों तथा भविष्य में भी ऐसे बच्चे पैदा हों जिनसें भावी पीढी में विष्वबन्धुत्व की भावना का विकास हो सके । इस सन्दर्भ में प्रो. ह्विपल (Whipple) का कहना है कि ''एक राष्ट्र की सच्ची सम्पति उसके भूमि तथा जल में नही है, न ही उसके वनों एवं खानों में होती है और न ही उसके पशुओं और डालरों में होती है, बल्कि उस राष्ट्र के धनी, प्रसन्न, स्वस्थ मनुष्यों, स्त्रियों एव बच्चों में निहित होती है ।''

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

(6) यह सिद्धान्त राष्ट्री आय के वितरण पक्ष पर ध्यान नही देता है – इस सिद्धान्त कें केवल अधिक उत्पादन पर ही ध्यान केन्द्रित किया गया है, जबकि वितरण की उपेक्षा कर दी गयी है। देश में प्रति व्यक्ति आय बढने का अर्थ यह नहीं है कि प्रति व्यति कल्याण भी बढ़ गया है। न्यायोचित वितरण व्यवस्था के अभाव में गरीबी ज्यों की त्यों बनी ही रहती है और सामाजिक कल्याण नही बढ़ता है । अतः समस्या प्रति व्यक्ति उत्पादन और प्रति व्यक्ति आय को बढ़ाने की नही है, बल्कि समस्या उचित वितरण की भी है ।

उपर्युक्त आलोचनाओं को देखनें से ज्ञात होता है कि नियम का व्यावहारिक महत्व बहुत ही कम है।

क्या आदर्शतम जनसंख्या का सिद्धान्त माल्थस के जनसंख्या सिद्धान्त के उपर सुधार है (In Optimum Theory of Population is it an Improvement over Malthusian Theory of Population ?)

निम्न बातों को ध्यान में रखते हुए हम कह सकते हैं कि आदर्शतम जनसंख्या का सिद्धान्त माल्थस के जनसंख्या सिद्धान्त के उपर सुधार है :

(1) माल्थस ने जनसंख्या के सम्बन्ध खद्यान्नों से स्थापित किया है, जबकि अनुकूलतम सिद्धान्त में जनसंख्या का सम्बन्ध उत्पादन से है – माल्थस ने जनसंख्या का सम्बन्ध खाद्यान्नों से जोडा है और कहा कि जब कभी जनसंख्या की तुलना में खाद्यान्नों की कमही होती है, तो जनसंख्या को अधिक समझ लेना चाहिए । दूसरी ओर अनुकूलतम जनसंख्या के सिद्धान्त में जनसंख्या की तुलना खाद्यान्नों से न करके उत्पादन से की गयी है। अनुकुलतम जनसंख्या के सिद्धान्त के समर्थकों का कहना है कि यदि देश में उत्पादन का स्तर बढ़ गया है, तो हम विदेशों को वस्तुओं का निर्यात करके खाद्यान्नों का आयात कर सकते है । और उससे अपने देश की जनसंख्या का पोषण कर लेगें । अतः ऐसी दशा में अधिक जनसंख्या का भय टल सकता है ।

(2) माल्थस जनसंख्या की प्रत्येक वृद्धि अहितकर मानते है, जबकि अनुकूलतम जनसंख्या का सिद्धान्त जनसंख्या की प्रत्येक वृद्धि को अहितकर नही मानता है – माल्थस जनसंख्या की समस्या को आकार की समस्या मानते है । उनका कहना है कि जनसंख्या की प्रत्येक वृद्धि देश के लिए हितकर नहीं है । अनुकूलतम जनसंख्या के सिद्धान्त में जनसंख्या की प्रत्येक वृद्धि हानिकारक नहीं मानी जाती है । सिद्धान्त का कथन है कि यदि जनसंख्या वृद्धि के साथ साथ प्रति व्यक्ति आय और प्रति व्यक्ति उत्पादन बढ़ता है, तो यह जनसंख्या लाभप्रद कही जायेगी ।

(3) माल्थस का जनसंख्या सिद्धान्त वास्तव में सिद्धान्त है, जबकि आदर्शतम जनसंख्या का सिद्धान्त ''वास्तविक'' सिद्धान्त नही है – माल्थस का जनसंख्या सिद्धान्त वास्तव में जनसंख्या का सिद्धान्त है जो जनसंख्या की वृद्धि की दर की जानकारी देता है । परन्तु आदर्शतम जनसंख्या का सिद्धान्त इस बात की जानकारी नही देता है कि जनसंख्या क्यों और कैसे बढ़ती है । इसके अतिरिक्त, यह सिद्धान्त इस बात को भी स्पष्ट नही करता है कि बढ़ती हुई जनसंख्या को किस प्रकार से कम किया जा सकता है । फिर भी आदर्शतम जनसंख्या के सिद्धान्त की श्रेष्ठता इस बात में निहित है कि यह सिद्धान्त जनसंख्या में वृद्धि या कमी को ठीक व सन्तुलित दृष्टि से समझाने में सहायक है ।

(4) माल्थस का जनसंख्या का सिद्धान्त वैज्ञानिक नहीं है, जबकि आदर्शतम जनसंख्या का सिद्धान्त वैज्ञानिक है – माल्थस का जनसंख्या सिद्धान्त वैज्ञानिक नहीं है, क्योंकि यह इस बात को स्पष्ट नही कर सका है कि एक देश के लिए कौनसी जनसंख्या उपयुक्त होगी । परन्तु आदर्शतमजनसंख्या का सिद्धान्त हमे इस बात की जानकारी देता है कि किस समय, किस देश के लिए कितनी जनसंख्या उचित होगी ।

(5) माल्थस जनसंख्या सिद्धान्त स्थिर और गतिशील है, परन्तु आदर्शतम सिद्धान्त केवल गतिशीलता पर आधारित है – माल्थस का जनसंख्या सिद्धान्त स्थिर अथवा गतिहीन परिस्थिति में काम करता है, जबकि आदर्शतम

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

जनसंख्या का सिद्धान्त गतिशील परिस्थितियों के बारे में बताता है कि जो अधिक व्यावहारिक है, क्योंकि उत्पादन कला में विकास होने के साथ साथ अनुकूलतम बिन्दु परिवर्तित होता रहता है ।

(6) माल्थस का जनसंख्या सिद्धान्त परिमाण की बात करता है, जबकि आदर्शतम जनसंख्या का सिद्धान्त जनसंख्या के गुणों की बात बताता है – माल्थस का जनसंख्या सिद्धान्त जनसंख्या के परिमाण की बात करता है । गुणात्मक पक्ष जैसे, स्वास्थ्य, नैतिकता, ईमानदारी, कुशलता, बुद्धि आदि सम्बन्धी बातों का विशेषकर ध्यान में नही रखता है । परन्तु अनुकूलतम जनसंख्या के सिद्धान्त में जनसंख्या के गुणात्मक पक्ष को भी ध्यान में रखा जाता है, इसलिए इस सिद्धान्त को माल्थस के जनसंख्या सिद्धान्त से अधिक अच्छा माना जाता है ।

(7) कसौटी सम्बन्धी भिन्नता – माल्थस ने अति जनसंख्या की कसौटी को बेकारी, भुखमरी, अकाल, बाढ तथा सूखे की स्थितियॉ माना है । परन्तु ये परिस्थितियॉ केवल जनसंख्या के बढ जाने से ही उत्पन्न नही होती है, बल्कि अन्य कारणों से भी उत्पन्न हो सकती है । अनुकूलतम जनसंख्या का सिद्धान्त ''अति जनसंख्या'' को उत्पादकता से सम्बन्धित करता है ।

(8) माल्थस का सिद्धान्त निराशावादी है, जबकि आदर्शतम सिद्धान्त आशावादी है – माल्थस का जनसंख्या सिद्धान्त निराशावादी दृष्टिकोण रखता है । उसने लोगो में भय एव आशंका को फेला दिया था । आदर्शतम जनसंख्या के सिद्धान्त मे निराशावादी दृष्टिकोण नही है । यह सिद्धान्त बताता है कि वैज्ञानिक आविष्कारों के साथ साथ बढ़ती हुई जनसंख्या की खुशहाली भी बढ़ायी जा सकती है । इस सन्दर्भ में नवीन्द्रनाथ चटर्जी ने माल्थस व आदर्शतम जनसंख्या के सिद्धान्त की तुलना बडे प्रभावी ढंग से की है । वे लिखते है कि ''माल्थस चारे की अर्थ व्यवस्था की समस्याओं में उलझा हुआ था । जबकि आदर्शतम सिद्धान्त अपना लक्ष्य अधिकतम आर्थिक कल्याण को किन्ही दी हुई परिस्थितियों में संम्भव है को प्राप्त करने से रखता है । प्रतिष्ठित समुदाय के प्राणनाशक निराशावादी तथा खिन्न दृष्टिकोण को, आनन्दमय, आशावादी – आर्थिक स्वगै के, जहॉ पर कि मनुष्य इच्छाओं व चिन्ताओं से रहित आर्थिक सुख व सफलता की चोटी पर, रहा करते है, के स्पष्ट आभास से पुनः स्थापित कर दिया है । माल्थस आने वाले आर्थिक ''नरक'' के भय के कष्ट पा रहा था जबकि आदर्श सिद्धान्त के प्रतिपादन करने वाले ''स्वर्ग'' की आशा से गर्वित है । ''

उपर्युक्त अध्ययन से स्पष्ट है कि अनुकूलतम जनसंख्या का सिद्धान्त कई दृष्टियों से माल्थस के जनसंख्या सिद्धान्त से अच्छा है । इसे माल्थस के जनसंख्या सिद्धान्त के उपर सुधार कहा जा सकता है, परन्तु अनुकूलतम जनसंख्या के आकार को प्राप्त कर पाना बड़ा कठिन है इसलिए कुछ लोगों का कहना है कि इस सिद्धान्त का केवल सैद्धान्तिक महत्त्व ही है ।

(3) जनसंख्या का संक्रमण सिद्धान्त – आधुनिक सिद्धान्त

जनसंख्या के शेष सिद्धान्तो की अपेक्षा जनसंख्या का संक्रामण सिद्धान्त सर्वाधिक लोकप्रिय सिद्धान्त है । यह सिद्धान्त संसार के विकसित देशों, विशेषकर पष्चिमी यूरोपीय देशों में, आर्थिक विकास की विभिन्न अवस्थाओं (Stage) में जनसंख्या वृद्धि के वास्तविक अनुभव पर आधारित है । आधुनिक अर्थशास्त्रियों ने स्पष्ट किया है कि आर्थिक विकास की विभिन्न अवस्थाओं में जन संख्या की वृद्धि भिन्न भिन्न होती है । इसलिए इस सिद्धान्त को जनसंख्या का आधुनिक सिद्धान्त कहा जाता है । सिद्धान्त का सम्बन्ध आर्थिक विकास को पॉच अवस्थाओं से है प्रो. सी.पी. ब्लेकर ने जनसंख्या विकास को पॉच अवस्थाओं में बॉटा है। कुछ अर्थशास्त्रियों ने इसे चार अवस्थाओं में भी बॉटा है, परन्तु हम यहॉ पर ब्लेकर की निम्न पॉच अवस्थाओं की ही व्याख्या करेगें जिसे चित्र संख्या 26.3 से समझाया गया है ।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

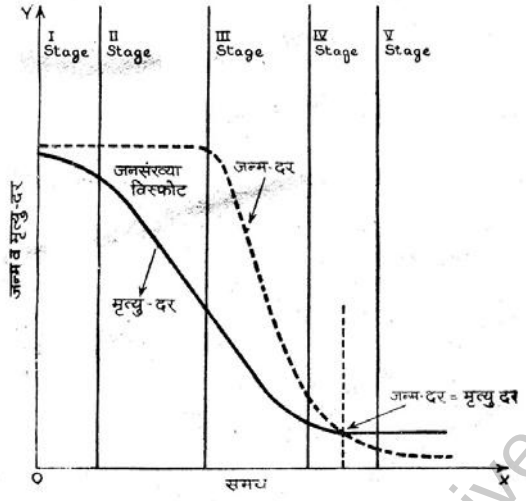

चित्र 26·3

प्रथम अवस्था (First Stage) – प्रथम अवस्था में जन्म और मृत्यु दर दोनों ही उॅची होती है । प्रायः यह लक्षण उन देशो में प्रभावी है, जहॉ पुरातन और पिछडी हुई अर्थ व्यवस्था है । प्रथम अवस्था में आर्थिक विकास निम्नस्तर का होता है । अतः कुपोषण, घटिया भोजन, अशिक्षा, बीमारी आदि कारणों से मृत्यु दर उॅची और बालविवाह, अशिक्षा परिवार नियोजन की कमी तथा रूढिगत बातों से जन्मदर भी उॅची होती है । अतः हेसे समाज व देश में जनसंख्या वृद्धि दर वास्तव में अधिक उॅची नही होती है । क्योंकि उच्च जन्मदर को उच्च मृत्युदर संतुलित कर देती है । अतः प्रथम अवस्था में उॅची 'स्थिर जनसंख्या' (High Stationary Population) होती है । इस प्रकार की स्थिति अफ्रीकी व एशियाई महाद्वीपों के पिछड़े व खानाबदोश देशो में देखनें को मिलती है ।

द्वितीय अवस्था (Second Stage) – दूसरी अवस्था कृषि अर्थ व्यवस्था की है, जिसमें जनसंख्या बड़ी तेजी से बढ़ती है । ज्यों ज्यों पिछडे देश आर्थिक विकास की ओर बढ़ने लगते है त्यों त्यों वहॉ लोगों को अधिक सुख सुविधाएॅ, जैसे – डॉक्टरी सहायता, अच्छा भोजन, शिक्षा स्वास्थ्य सम्बन्धी सुविधाएॅ, परिवार नियोजन का ज्ञान आदि बातें सुलभ होने लगती है । इन सब कारणों से मृत्युदर में कमी आती है, जबकि जन्मदर में उतनी कमी नही आती है । इस प्रकार जन्मदर और मृत्युदर के बीच अन्तर बढ ताजा है । अतः दूसरी अवस्था में यदि जनसंख्या की वृद्धि पर नियन्त्रण न हो, तो 'जनसंख्या विस्फोट' (Population Explosion) की स्थिति पैदा होती है ।

तृतीय अवस्था (Third Stage) – तृतीय अवस्था उद्योग प्रधानता की है । इसमें आर्थिक विकास के बढने के साथ साथ लोगों का अधिक सुख सुविधाएॅ उपलब्ध होने लगती है और मृत्युदर अधिक घट जाती है । तृतीय अवस्था में जन्मदर भी कम होती है । रोजगार पाने के लिए जनसंख्या ग्रामीण क्षेत्रों से शहरी क्षेत्रों में प्रवेश करने लगती है। पुरूष और महिलाएॅ साथ साथ औद्योगिक क्षेत्र में काम करते है, प्रत्येक व्यक्ति अपने परिवार के आकार को घटाना चाहता है । प्रत्येक व्यक्ति में अपने तथा अपने परिवार के आर्थिक स्तर को उॅचा उठाने की इच्छा रहती है । आर्थिक प्रगति लोगों को शिक्षा की ओर आकर्षितकरने लगती है । शिक्षा के विकास के साथ साथ परम्परागत रूढियों, अन्धविष्वासों व पुराने रीति रिवाजों की प्रथा समाप्त होने लगती है । अब प्रत्येक परिवार, परिवार नियोजन के महत्व को समझने लगता है । कुल मिलाकर इस अवस्था में संयम तथा कृत्रिम उपायों के द्वारा जनसंख्या को नियन्त्रित करने का अधिक प्रयत्न किया जाता है । जन्मदर और मृत्युदर में अन्तर कम हो

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

जाता है। जिसमें जनसंख्या विकास धीमा हो जाता है । कुल मिलाकर द्वितीय और तृतीय अवस्था में भी जनसंख्या विस्फोट (Population Explosion) की स्थिति देखने को मिलती है इस समय भारतवर्ष तीसरी अवस्था में में है ।

चतुर्थ अवस्था (Fourth Stage) – यह अवस्था उस समय देखनें को मिलती है, जब देश का आर्थिक विकास उच्च कोटि का होता है । लोगों का रहन सहन का स्तर काफी उॅचा होता है । सन्तानोत्पति के प्रति लोगो का दृष्टिकोण बदलने लगता है । इस अवस्था में जन्मदर की अपेक्षा मृत्युदर उॅची होती है । दूसरे शब्दों में, जन्म व मृत्यु दर दोनों गिरती जाती है और एक स्थान पर दोनों बराबर होने के बाद जन्मदर की अपेक्षा मृत्युदर बढ जाती है । आज युरोप के विकसित देशों में यह स्थिति देखनें का मिलती है ।

पंचम अवस्था (Fifth Stage) – पॉचवी अवस्था, आर्थिक विकास की अन्तिम अवस्था है यहॉ पूर्ण रोजगार, राष्ट्रीय आय, प्रति व्यक्ति आय आद सर्वाधिक होती है । मृत्युदर की अपेक्षा जन्मदर बहुत कम हो जाती है । यह अवस्था फ्रांस आदि देशो में देखने को मिलती है ।

चित्र संख्या 26.3 में बिन्दु रेखा जन्मदर को तथा सपाट रेखा मृत्यु दर को प्रदर्शित करती है । प्रथम अवस्था में जन्म दर व मृत्युदर दोनो ही उॅची रहने के करण एक दूसरे के प्राभाव को समाप्त कर देती है । फलतः जनसंख्या में कोई विशेष परिवर्तन नही होता है । दूसरी अवस्था में मृत्युदर बड़ी तेजी से गिरती है जबकि जन्मदर यथास्थिर रहती है । तीसरी अवस्था में जन्म दर में कमी आने लगती है । अतः जन्मदर व मृत्युदर में अन्तर कम हो जाता है, दूसरी और तीसरी अवस्था में 'जनसंख्या विस्फोट' की स्थिति आ जाती है ।

चौथी अवस्था में जन्म और मृत्युदर दोनों गिर जाती है । एक स्थान पर दोनों बराबर रहती है और इसके बाद जन्मदर की अपेक्षा मृत्युदर बढ जाती है । पॉचवी अवस्था में पहुॅचने पर मृत्युदर और जन्म दर के बीच अन्तर बढ़ जाता है । इस अवस्था में मृत्युदर की अपेक्षा जन्मदर कहीं अधिक कम हो जाती है ।

जनसंख्या संकमण सिद्धान्त की आलोचनाएँ (Criticisms)

जनसंख्या सकमण सिद्धान्त की प्रमुख आलोचनाएँ निम्नलिखित है :–

(1) यह सिद्धान्त यूरोपीय देशों के अनुभव पर आधारित है – यह सिद्धान्त विकासशील देशों में जनसंख्या विष्लेषण में उपयोगी नहीं है। औद्योगीकरण से पूर्व यूरोप के देशों में जनसंख्या कम थी, परन्तु आज विकासशील देशों में जनसंख्या अधिक है । इसलिए उन देशों के अनुभव आज के लिए उपयोगी नहीं हो सकते है ।

(2) विकासशील देशों के लिए अनुपयोगी – इस सिद्धान्त के आधार पर यह निष्कर्ष नही निकाला जा सकता है कि जनसंख्या की वृद्धि को रोकने के लिए पहले आर्थिक विकास होना चाहिए । वास्तविकता तो यह है कि विकासशील देशों के तीव्र आर्थिक विकास के लिए जनसंख्या की तीव्र वृद्धि पर पहले नियन्त्रण लगाया जाय।

अन्त में, हम यह कह सकते है कि यूरोप के देशों में लोगों के रहन सहन के स्तर के बढ़ जाने से उन्हे पौष्टिक आहार मिलने लगा जिससे मृत्युदर में कमी आने लगी, लेकिन आज के विकासशील देशों में चिकित्सा सम्बन्धी सुविधाओं नें मृत्यु दर को घटा दिया है । इस प्रकार दोनों प्रकार के देशों में मृत्युदर की गिरावट के कारण एक से नही है ।

(4) जनसंख्या का जीवशास्त्रीय सिद्धान्त

जीवशास्त्रीय सिद्धान्त को बनाने का श्रेय अमेरीकी अर्थशास्त्री रेमण्ड पर्ल (Rymond Pearl) को जाता है । यह सिद्धान्त उनकी पुस्तक 'The Biology of Population Growth' जिसका प्रकाशन 1925 में हुआ था, में दिया

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

गया है । सिद्धान्त को दूसरे शब्दो में ''वृद्धि घात वक्र रेखा सिद्धान्त'' (Logistic Curve Theory) के नाम से भी पुकारा जाता है । पर्ल (Pearl) ने इस सिद्धान्त का प्रयोग फल की मक्खियों (Fruit Fly) पर पर किया था । यदि हम इस सिद्धान्त को रेखाचित्र से स्पष्ट करें तो चित्र की आकृति लगभग अग्रेंजी के S अक्षर से लिती है (चित्र 26.4) । यह सिद्धान्त जनसंख्या की प्रकृति एवं उसके माप की विधि से सम्बन्धित है । सिद्धान्त इस बात की जानकारी देता है कि जनसंख्या समान गति से नही बढ़ती है, बल्कि इसके बढनें की गति समय समय पर बदलती रहती है ।

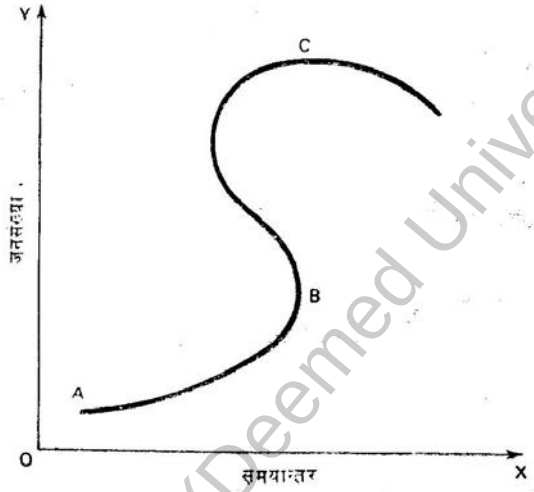

चित्र 26·4

जैसा कि, हम उपर बता चुके है प्रो. पर्ल ने फल की मक्खियों पर इस सिद्धान्त का प्रयोग किया था और वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि मक्खियों की संख्या प्रारम्भ में तीव्रता से बढ़ती है, फिर वृद्धि की गति मन्द पड़ जाती है, उसके बाद वह गति धीरे धीरे घटती है और अन्त मे तीव्रता के साथ घटती है, इसके बाद इसकी गति में फिर से वृद्धि होने लगती है । पर्ल ने इस बात को सिद्ध किया है कि जो बात फल की मक्खियों पर लागू होती है, वही बात मनुष्य के बारे में भी सत्य है ।

सिद्धान्त की व्याख्या (Explanation of the Theory) प्रो. पर्ल द्वारा दिये गये जनसंख्या सिद्धान्त की व्याख्या को चित्र संख्या 26.4 से स्पष्ट कर सकते है । चित्र को देखने से ज्ञात है कि जनसंख्या का प्रारम्भ A बिन्दु से माना गया है । इस बिन्दु से जनसंख्या बढ़नी प्रारम्भ होती है, परन्तु उसकी बढ़ने की दर बहुत धीमी है । B बिन्दु के बाद जनसंख्या तेजी से बढ़नी प्रारम्भ होती है और C बिन्दु के बाद यह गिरने लगती है और गिरने की दर बहुत धीमी होती है । यहॉ यह का जाता है कि प्रारम्भिक दशा में जन संख्या की वृद्धि बहुत धीमी है, क्यांकि देश के विकास के प्रारम्भिक चरण में जनसंख्या की वृद्धि में अनेकानेक बाधाऍ आ जाती है । उदाहरण के लिए, खाद्यान्नों का आभाव, असुरक्षा, बीमारी आदि जैसे जैसे देश मे विकास की गति तेज होती है, असुरक्षा तथा बीमारी की दशाऍ समाप्त होने लगती है त्यों त्यों जनसंख्या बढ़ी तेजी से बढ़ती है। इस थ्सिति को चित्र में B बिन्दु से C बिन्दु तक दिखाया गया है । परन्तु जब देश विकास के उच्च शिखर पर पहुँच जाता है (वक्र रेखा के C बिन्दु की स्थिति) तक जनसंख्या का बढ़ना कम हो जाता है । यह स्थिति व्यावहारिक है और आज दुनिया के उन समस्त देशों में जनसंख्या की यह सिथति देखने को मिलती है, जो देश विकास के चरम बिन्दु पर पहुँच चुके है ।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

सिद्धान्त के गुण (Merits of the Theory)

इस सिद्धान्त के प्रमुख गुण निम्नलिखित है :–

(1) सिद्धान्त को समझने मे आसानी – माल्थस के जनसंख्या सिद्धान्त मे जनसंख्या के लगतार तेजी से बढ़ने की बात कही गयी है, परन्तु यह सिद्धान्त जनसंख्या के विकास की गतियों को तीन भागों में बॉटता है और व्यख्या करता है कि ऐसा क्यों होता है । इस व्याख्या से जन संख्या के सिद्धान्त को आसानी से समाझाा जा सकता है।

(2) सिद्धान्त का आशावादी होना – माल्थस का कहना है कि आर्थिक विकास तथा आर्थिक सम्पन्नता की तुलना में जनसंख्या बड़ी तेजी से बढ़ती है, जिससे जनसंख्या की समस्या बनी रहती है । परन्तु यह सिद्धान्त बताता है कि विकास के चरम बिन्दु पर पहुँच जाने से जनसंख्या बढ़ नही सकती है, अर्थात जनसंख्या की समस्या समाप्त हो जाती है । इस दृष्टि से यह सिद्धान्त भविष्य की आशाओं का पोषक है, जबकि मात्थस का जनसंख्या का सिद्धान्त निराशाओं को बढ़ाने वाला था।

सिद्धान्त की आलोचना (Criticism of the Theory)

जनसंख्या के अन्य सिद्धान्तों की तरह से इस सिद्धान्त की भी अनेक आलोचनाएँ है । कुछ प्रमुख आलोचनाओं को नीचे दिया जा रहा है :

(1) इस सिद्धान्त में आर्थिक एवं सामाजिक तत्वों का समावेश नही हो पाया है । यह सिद्धान्त केवल नैतिक तत्वों पर ही प्रकाश डालता है । इसलिए इस सिद्धान्त को जनसंख्या का पूर्ण सिद्धान्त नही कहा जा सकता है ।

(2) इस सिद्धान्त की सत्यता को फलों की मक्खियों पर लागू किया गया है । यह व्याख्या मक्खियों के बारें मे तो सही हो सकती है, परन्तु यह आवष्यक नही है कि यह सिद्धान्त जनसंख्या के लिए भी सही हो ।

(3) यह सिद्धान्त वातावरण की व्याख्या नही करता है, जबकि वातावरण मनुष्य के विचार, स्वभाव, चरित्र आदि बातों पर प्रभाव डालता है और ये सब बातें जनसंख्या पर भी प्राभाव डालती है ।

उपर्युक्त आलोचनाओं का विशेष महत्व नही है । आज विष्व के विकसित देशों में जनसंख्या का जो स्वरूप है, वह इसी सिद्धान्त के अनुकूल है । इसलिए वर्तमान में अन्य सिद्धान्तों की अपेक्षा इस सिद्धान्त को अधिक महत्व दिया जाने लगा है ।

(5) शुद्ध पुनरूत्पादन दर का सिद्धान्त

प्राक्कथन (Introduction)

जनसंख्या के इस सिद्धान्त को, जनसंख्या का आधुनिक सिद्धान्त (Modern Theory of Population) कहा जाता है। सर्वप्रथम इस सिद्धान्त का प्रतिपादन कुजिन्स्की Kuezynski) नामक प्रसिद्ध अर्थशास्त्री ने किया था । यहॉ यह बताना आवष्यक है कि कुजिन्स्की से पहले पर्ल (Pearl) ने जन्म मृत्यु दर सूचनांको की सहायता से जनसंख्या की भावी प्रवृति को मापा, तो उसमें कुछ त्रुटियॉ आ गयी । प्रो. कुजिन्स्की ने उन त्रुटियों की ओर लागों का ध्यान आकर्षित किया तथा बताया कि किसी भी देश की जनसंख्या को जन्म मृत्यु दर सूचनांको (Vital Index) से ज्ञात करना कठिन है । अतः कुजिन्स्की ने नयी विधि के द्वारा जनसंख्या को मापने का प्रयास किया ।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

सिद्धान्त का कथन एवं व्याखा

शुद्ध पुनरूत्पादन दर से सिद्धान्त के अनुसार, जनसंख्या की वृद्धि की दर जन्मदर व मृत्युदर के अन्तर पर नही बल्कि स्त्री जनसंख्या की वृद्धि दर पर निर्भर करती है । उनके अनुसार यदि हमें, जनसंख्या की वास्तविक वृद्धि दर को ज्ञात करना है, तो हमें शिशु जनन आय (Child Bearing Age) की स्त्रियों की दर ज्ञात करनी चाहिए । संक्षेप में, जनसंख्या के विकास की वास्तविक स्थिति का ज्ञान शुद्ध पुनरूत्पादन दर (Not Reproduction Rate) से हो सकता है ।

प्रो. कुजिन्सकी (Prof. Kuezynski) के अनुसार ''जिस दर से स्त्री जनसंख्या अपने आप को प्रतिस्थापित करती है, वह वास्तविक पुनरूत्पादन दर कहलाती है ।''

शुद्ध पुनरूत्पादन दर की गणना

जनसंख्या की वृद्धि दर निकालने के लिए निम्न विध का उपयोग किया जाता है :–

(1) सर्वप्रथम इस बात की गणना कर ली जाती है कि शिशु जनन आयु (Child Bearing Age) की स्त्रियों की संख्या कितनी है । अनुमान के अनुसार शिशु जनन आयु 15 वर्ष से 50 वर्ष के बीच की मानी गयी है ।

(2) अब यह ज्ञात कर लिया जाना चाहिए कि विद्यमान स्त्रियों के द्वारा कितनी लड़कियों को जन्म दिया जायेगा ।

(3) उक्त दो बातों को ज्ञात कर लेने के बाद, यह ज्ञात करना होगा कि इन नवजात लडकियों में से कितनी लडकियॉ जनन आयु तक जीवित रहेगी और कितनी लडकियों को जन्म देगी ।

(4) अब शिशु जनन आयु की स्त्रियों को संख्या (क्रमांक 2 के अनुसार) में से शिशु जनन न करने वाल स्त्रियों की संख्या कम कर दीजिये तथा शिशु जनन करने वाली स्त्रियों की शुद्ध संख्या मालूम कर लीजिए । शिशु जनन आयु की स्त्रियों की कुल संख्या से शिशु जनन आयु की स्त्रियों की शुद्ध संख्या का अनुपात ही जनसंख्या की वृद्धि दर को मापता है । यही शुद्ध जनन दर है । गणितीय सूत्र के रूप में,

$$\text{NPR (शुद्ध जनन दर)} = \frac{\text{शिशु जनन करने वाली स्त्रियों की कुल संख्या}}{\text{शिशु जनन करने वाली स्त्रियों की शुद्ध संख्या}}$$

सुत्र के अनुसार तीन बातें ज्ञात की जा सकती है :–

(i) अगर शुद्ध पुनरूत्पादन दर इकाई के बराबर है, तो जनसंख्या स्थिर रहेगी । इस बात को एक उदाहरण से स्पष्ट किया जा सकता है । मान लीजिए कि सन्तान पैदा करने वाली स्त्रियों की संख्या 100 है । अब यह भी मान लीजिए कि ये स्त्रियॉ अपने जीवन काल में केवल 100 ऐसी लडकियों को जन्म देंगी जो स्वयं भी संन्तान पैदा करेगी, तो सूत्र के अनुसार –

$$\text{NPR} = \frac{100}{100} = 1$$ है । इस दशा में जनसंख्या को स्थिर माना जायेगा ।

(ii) माना 100 स्त्रियॉ 100 लडकियों को जन्म देती है, जिनमें से 80 ही सन्तानोत्पति की आयु तक जीवित रहती है तो सूत्र के अनुसार –

$$\text{NPR} = \frac{80}{100} = 0.8$$ है । इस दशा में जनसंख्या कम होगी ।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

(iii) माना क्रम एक में स्त्रियों की संख्या 100 है, तथा क्रम तीन में जनन आयु तक जीवित स्त्रियॉ 120 लडकियों को जन्म देती है । सूत्र के अनुसार –

$$NPR = \frac{120}{100} = 1.2$$ है । इस दशा में जनसंख्या में वृद्धि होगी ।

सिद्धान्त की आलोचना (Criticism of the Theory)

जनसंख्या का यह सिद्धान्त जनसंख्या के माप की दृष्टि से सन्तुलित एवं विवेकपूर्ण है परन्तु इस सिद्धान्त को त्रुटिहीन नही माना जा सकता है । इस सिद्धान्त की कुछ आलोचनाएँ निम्नलिखित है:

(1) इसे जनसंख्या का सिद्धान्त नही कहा जा सकता है, क्यांकि इस सिद्धानत ने यह स्पष्ट नही किया है कि जनसंख्या किस क्रम में बढ़ती है ।

(2) इस सिद्धान्त की आलोचना करने हुए यह कहा जा सकता है कि जनसंख्या क्यों बढती है ? इस प्रष्न का उत्मर इस सिद्धानत में नही दिया है ।

(3) शुद्ध पुनरूत्पादन सिद्धान्त ने जनसंख्या का सम्बन्ध उत्पादन तथा खाद्यान्नो से स्थापित नही किया है । अतः यह एकपक्षीय सिद्धान्त है । इस बात से सभी सहमत हो सकते है कि यदि किसी देश में अनाज और अन्य उत्पादन सामगी की तुलना में जनसंख्या कम होती है, तो उसे अधिक जनसंख्या नही कहा जा सकता है । यदि इस सिद्धान्त के आधार पर सम्पन्न देशों की जन संख्या की गणना की जाय, तो वहॉ जनसंख्या अधिक हो सकती है, जो वास्तविक स्थिति के अनुरूप नही होगी ।

(4) इस सिद्धान्त ने यह स्पष्ट नही किया कि जनसंख्या का सम्बन्ध आर्थिक विकास से क्या होना चाहिए ।

अन्त में, हम यह कह सकते है कि शुद्ध पुनरूत्पादन सिद्धान्त, जनसंख्या का वास्तविका सिद्धान्त नही है । इस सिद्धान्त ने जनसंख्या समस्या की विभिन्न बातों पर प्रकाश न डालकर, केवल जनसंख्या को मापने की विधि पर ही प्रकाश डाला है ।

मानव श्रम एवं आर्थिक विकास

यहॉ पर मानव श्रम एवं आर्थिक विकास का अर्थ जनसंख्या की वृद्धि व कमी का आर्थिक विकास से सम्बन्ध होना है । थोड़ी देर के लिए हम श्रम को जनसंख्या मान लें तो हमारे अध्ययन में कोई अन्तर नही आऐगा । जनसंख्या को राष्ट्रीय अर्थ व्यवसायी की दृष्टि से श्रम मान लिया गया है । इसलिए यह कहा जाता है कि आर्थिक विकास में जनसंख्या का महत्वपूर्ण स्थान है । इस कथन को माल्थस तथा उसके समर्थक दोनों ही स्वीकार कर चुके हे कि जनसंख्या की घट बढ़ का प्रत्यक्ष सम्बन्ध आर्थिक विकास से है । आज वर्तमान समय में भी यह प्रष्न विचारणीय हो गया है कि जनसंख्या का वह कौन सा स्तर है जिस पर आर्थिक विकास अवरूद्ध न हो । प्रायः अति जनसंख्या (Over Population) तथा न्यून जनसंख्या (Under population) दोनों की आर्थिक विकास में बाधक होती है । भले ही अनुकूलतम जनसंख्या के विचारक, अति जनसंख्या की तुलना में न्यून जनसंख्या को इसलिए उपयुक्त मान लेते हे कि न्यून जनसंख्या की वृद्धि दर आर्थिक विकास की वृद्धि दर को बढ़ाती है ।

यह सर्व विदित है कि अति और न्यून जनसंख्या के स्तर से आर्थिक विकास में बाधा उत्पन्न होती है । इन दोनों से बाधा कैसे उत्पन्न होगी इसका उललेख नीचे किया गया है :

(1) अति जनसंख्या व आर्थिक विकास (Over population and Economic Development) अति जनसंख्या की हानियों के बारे में सर्वप्रथम ध्यान आकर्षित करने का श्रेय माल्थस (Malthus) को जाता है । इस अध्याय के

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

प्रारम्भ में ही हम स्पष्ट कर चुके है कि जनसंख्या का धनी देश किस प्रकार से गरीबी व अभाव का जीवन व्यतीत करता है । यह सामान्य सी बात है कि ऐसे देश का आर्थिक स्तर काफी नीचे रहता है । यही नही, उस देश का आर्थिक विकास भी रूक जाता है ।

अति जनसंख्या आर्थिक विकास में कैसे बाधक होती है, इस बात को निम्न शीर्षकों से स्पष्ट किया जा सकता है :

(i) रहन सहन के स्तर में गिरावट (Fall in the Standard of Living) – हम स्पष्ट कर चुके हे कि जिस अनुपात में जनसंख्या बढ़ती है, उसी अनुपात में उत्पादन का स्तर नही बढ़ाया जा सकता है । आज जिन देशों में जनसंख्या बडी तेजी से बढ़ रही है या बढ़ चुकी है, उन देशो में जीवन की आवष्यक वस्तुएँ उस तेजी से नही बढ़ पायी है । माल्थस इस बात को स्पष्ट कर चुके है कि व्यक्ति में काम वासना यथास्थिर है, या उसकी प्रजनन की दर जिस तेजी से बढ़ती है । उत्पादन उतनी तेजी से नही बढ़ पाता है । यही कारण है कि लोगो को रोटी, कपड़ा, मकान एवं अन्य आवष्यक वस्तुएँ पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध नही हो पाती है । ऐसे देशों में रहन सहन का स्तर एक सामान्य स्तर से भी नीचे होता है । प्रायः लोगो को जीवन भर अभावों, कष्टों व दुखों का सामना करते हुए अपना जीवन गुजार देना पड़ता है ।

(ii) पूँजी निर्माण में कमी (Lack of Capital Formation) – पूँजी का निर्माण बचत से होता है । जिस देश में बचत होगी उस देश में पूँजी निर्माण और विनियोग की दर उँची होगी । विनियोग की उँची दर पूँजी निर्माण को बढाती है । अधिक जनसंख्या वाले देशो मे खुले आम गरीबी रहती है । राष्ट्रीय बचत को प्रयत्नों के बाद भी बढ़ाया नही जा सकता है, प्रायः ऐसे देशों को अर्द्ध विकसित देश कहा जाता है, इन देशो में उपभोग की प्रवृति व सामूहिक बचतें बहुत कम होती है । आधारभूत विनियोग है जैसे – कृषि, लोह इस्पात, सीमेण्ट, खाद, कारखानें, शिक्षा विशेष कर प्राविधिक शिक्षा आदि पर भी पर्याप्त विनियोग नही किया जाता है । जैसाकि हम कह चुके है विनियोग के लिए बचतों का होना आवष्यक है परन्तु अति जनसंख्या के धनी देशों में उँची जन्म दर (High birth rate) के कारण चाहते हुए भी बचतें नही हो पाती है, फलतः यहाँ पूँजी निर्माण की दर भी अपेक्षाकृत काफी नीची होती है ।

(iii) उत्पति ह्रास नियम (Law of Diminishing Returns) – उत्पादन के क्षेत्र में यदि जनसंख्या को श्रम मान लिया जाए, तो कहा जा सकता है कि उत्पति के शेष साधनों की तुलना में जिस तेजी से श्रम (जनसंख्या) बढ़ता है, उस तेजी से शेष साधनों – विशेषकर भूमि को नहीं बढ़ाया जा सकता है । क्योंकि भूमि साधन सीमित है । अब यह भी मान लीजिए कि ज्यों ज्यों उत्पादन के क्षेत्र में साधनों को बढ़ाया जाता है त्यों त्यों उत्पादन तो बढ़ता है, परन्त कुछ ही समय के बाद सीमान्त व औसत उत्पादन की वृद्धि की दर कम होने लगती है । इस बिन्दु के बाद भी जनसंख्या उसी तेजी से बढ़ती है । और उत्पादन घटनें लगता है, अब जनसंख्या की समस्या उत्पन्न हो जाती है । अतः अब जनसंख्या की प्रत्येक वृद्धि प्रति व्यक्ति आय व प्रति व्यक्ति उतपादन की मात्रा में कमी कर देती है और यही कमी आर्थिक विकास में कमी कर देती है । यदि जनसंख्या की वृद्धि की दर को उस बिन्दु पर रोक दिया जाता है जहाँ से सीमान्त व औसत उत्पादन के घटने का क्रम प्रारम्भ होता, तो अति जनसंख्या की बुराइयों को समाप्त कर लिया जाता । इस बिन्दु को अर्थ–शास्त्रियों ने आदर्शतम बिन्दु कहा है । इस बिन्दु का आर्थिक विकास पर बुरा प्रभाव नही पड़ता है, बशर्ते कि इस बिन्दु को प्राप्त करने के बाद स्थिर कर लिया जाय।

(2) न्यून जनसंख्या व आर्थिक विकास (Under population and Economic Development)

हम स्पष्ट कर चुके है कि अति जनसंख्या आर्थिक विकास पर बुरा प्रभाव डालती है । जहाँ जक न्यून जनसंख्या का प्रष्न है वह भी आर्थिक विकास पर प्रतिकूल प्रभाव डालती हे । इस बात को नीचे स्पष्ट किया गया है :–

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

(i) विशिष्टीकरण में बाधा :– बड़े पैमानें का उत्पादन दो बातों पर निर्भर करता है– (अ) विशिष्टीकरण (Specialization), तथा (ब) श्रम विभाजन (Division of Labour) । जिस देश में प्राकृतिक साधन भरपूर हो, और वह बड़े मैमाने के उत्पादन से आर्थिक विकास करना चाहे, तो वह ऐसा तब तक नही कर सकता है, जब तक उस देश में पर्याप्त जनसंख्या न हो । जनसंख्या के बढ़ने पर उद्योगों को पर्याप्त श्रम शक्ति उपलब्ध होगी जिससे बड़े पैमाने पर उत्पादन बढ़ाया जा सकेगा । श्रम के अभाव में बड़े पैमाने का उत्पादन नही होगा और अर्थ व्यवस्था भी पिछडी रह जायेगी ।

(ii) पूँजी के निर्माण में कमी :– जिस प्रकार अति जनसंख्या (Over Population) पूँजी निर्माण में बाधा डालती है, उसी प्रकार न्यून जनसंख्या (Under Population) भी पूँजी निर्माण (Formation of Capital) में बाधक होती है। जनसंख्या के अभाव में विशेषकर गुणात्मक जनसंख्या की कमी के करण, राष्ट्रीय आर्थिक प्रयासों का विस्तार नही किया जा सकता है । बडे पैमाने पर पूँजीगत वस्तुओं के निर्माण पर श्रम शक्ति के अभाव में विनियोग नही किया जा सकता है, यही कारण है कि न्यून जनसंख्या का स्तर समुचित आर्थिक विकास मे बाधक बन जाता है। यदि जनसंख्या को बढ़ाया गया, तो आर्थिक विकास की गति भी शनैःशनै बढती जाती है ।

(iii) विदेशी व्यापार में कमी – वर्तमान समय में, विदेशी व्यापार को बहुत महत्व दिया जाने लगा है । विदेशी व्यापार आज भी सम्पन्नता का प्रतीक है । न्यून जनसंख्या वाले देश श्रम शक्ति के अभाव में, प्रमापीकरण, विशिष्टीकरण तथा श्रम विभाजन के लाभो से वंचित रह जाते है । फलतः ऐसे राष्ट्र विदेशी बाजार में प्रतियोगिता नही कर पाते है और अपने विदेशी बाजार को फेलाने की अपेक्षा सीमित करते रहते है । यदि इन देशों में पर्याप्त जनसंख्या होती तो ये देश भी विदेशी व्यापार के लाभों को प्राप्त कर सकते थे । वणिकवाद में जनसंख्या को बढ़ाकर विदेशी व्यापार के पर्याप्त लाभों को प्राप्त किया गया था । उस समय एक नाविक, एक व्यापारी, एक सैनिक तथा एक कारीगर का कार्य कर सकता था । देश विदेश में सामान को पहुँचानें और नये नये बाजारों की खोज करने के लिए श्रम शक्ति का होना नितान्त आवष्यक है । यदि ऐसा नही हुआ, तो न्यून जनसंख्या वाले राष्ट्रो का आर्थिक विकास सम्भव नही होगा ।

उपर्युक्त व्याख्या से स्पष्ट है कि जैसे एक सीमा तक न्यून जनसंख्या (Uner Population) आर्थिक विकास में प्रतिकूल प्रभाव डालती है ठीक उसी प्रकार एक सीमा के बाद अति जनसंख्या (Over Population) भी आर्थिक विकास को पंगु बना देती है ।

जनसंख्या की यह समस्या अर्द्ध विकसित देशों कें आर्थिक विकास को रोके हुए है । आज बेरोजगारी की समस्या विकसित देशों की अपेक्षा अल्पविकसित देशों में अधिक है । यही नही, यह समस्या न्यून जनसंख्या वाले देशों की तुलना मं अति जनसंख्या वाले देशों में और भी उग्र रूप धारण कर चुकी है । अतः इतना अवष्य कहा जायेगा । कि न्यून जनसंख्या की अपेक्षा अति जनसंख्या की समस्या आर्थिक विकास को कहीं अधिक पीछे धकेल देती है । न्यून संख्या इस माने में अच्छी है । कि उसे बढ़ाकर आशानुकूल आर्थिक विकास की ओर ले जाया जा सकता है।

संक्षेप में, अति और न्यून दोनों ही जनसंख्या के स्तर अर्थ व्यव्सथा पर प्रतिकूल प्रभाव डालते है । अतः आदर्शतम जनसंख्या को प्राप्त करने का प्रयत्न श्रेयस्कर है, परन्तु इसे पूर्णतया व्यवहार में तो लाया नही जा सकता है । फिर भी प्रत्येक राष्ट्र को इस आदर्श जनसंख्या के आसपास चक्कर काटने का प्रयत्न तो करना ही चाहिए ।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

बोध प्रश्न :–

- जनसंख्या की समस्या केवल आकार की समस्या नही है। बल्कि उत्पादन तथा न्याय युक्त वितरण की समस्या है। इस कथन की व्याख्या कीजिये।
- माल्थस के जनसंख्या सिद्धान्त को समझाइये।
- अनुकूलतम जनसंख्या सिद्धान्त को समझाइये।
- जनाधिक्य क्या है ?
- जनसंख्या विस्फोट किसे कहते है।
- नैसर्गिक व निवारक प्रतिबंधो को समझाइये।
- शुद्ध पुनउत्पादन दर क्या होती है।
- जनसंख्या का आर्थिक विकास से क्या सम्बन्ध है?
- अनुकूलतम जनसंख्या क्या होती हैं चित्र दीजिये।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

खण्ड–स

अध्यायों के नाम

1. विनिमय –

   1. मूल्य निर्धारण का सामान्य सिद्धान्त : मांग व पूर्ति में परिवर्तन और साम्य मूल्य पर उसके प्रभाव

   2. मूल्य निर्धारण में समय तत्व

2. बाजार –

   1. बाजार की परिभाषा और वर्गीकरण

   2. पूर्ण प्रतियोगिता में मूल्य एवं उत्पादन मात्रा का निर्धारण

   3. अपूर्ण प्रतियोगिता :(i) एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता में मूल्य व उत्पादन मात्रा का निर्धारण

      (ii) द्वयाधिकार व अल्पाधिकार में मूल्य एवं उत्पादन मात्रा का निर्धारण

   4. एकाधिकार

   5. विभेदात्मक एकाधिकार।

मूल्य निर्धारण का सामान्य सिद्धान्त : मांग और पूर्ति में परिवर्तन तथा सामान्य मूल्य पर उसके प्रभाव

अर्थशास्त्र में मूल्य निर्धारण के सिद्धान्त के सम्बंध में अर्थशास्त्रियों में बहुत मतभेद रहा है। प्रो. मार्शल ने ही अन्त में सही दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार मूल्य निर्धारण में उत्पादन लागत (Production Cost) और वस्तु की सीमान्त उपयोगिता (Marginal Cost) दोनों का समान महत्व है। प्रो. मार्शल ने कैंची का उदाहरण देकर इसे स्पष्ट किया है। उन्होंने मूल्य निर्धारण को कैंची के फलकों से कागज को काटने के समान माना है। मार्शल के शब्दों में, ''यदि हम इस बात पर विवाद करें कि क्या यह कैंची के ऊपर वाला फलक है अथवा नीचे वाला फलक है जिसे कागज के टुकड़े को काटा है।

ठीक इसी प्रकार इस बात पर भी विवाद हो सकता है कि मूल्य को उपयोगिता निर्धारित करती है या उत्पादन लागत निर्धारित करता है। मार्शल का यह कथन सही है क्योंकि जिस तरह कागज को काटने के लिए कैंची के दोनों फलकों की जरूरत होती है ठीक उसी प्रकार मूल्य निर्धारण हेतु वस्तु की मांग एवं पूर्ति दोनों की आवश्यकता होती है। मूल्य निर्धारण प्रो. मार्शल के सिद्धान्त को निम्नलिखित प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता है–

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

1. **वस्तु की मांग** – वस्तु की मांग बाजार में उपभोक्ताओं या क्रेताओं द्वारा की जाती है लेकिन यह मांग वस्तु से प्राप्त सीमान्त उपयोगिता के आधार पर की जाती है। यदि वस्तु की सीमान्त उपयोगिता बहुत अधिक है तो क्रेता इसके लिए ऊंचा मूल्य भी देने को तत्पर होगा। इसी तथ्य की पुष्टि मांग का नियम भी करता है। ऊंचे मूल्य पर वस्तु की अधिक मात्रा क्रय की जायेगी अर्थात् वस्तु की कीमत व मांग मात्रा में विपरीत सम्बंध होने के कारण मांग वक्र बायें से दांये गिरता हुआ ''ऋणात्मक ढाल वाला'' होता है। इसी तथ्य को उपरोक्त रेखाचित्र द्वारा स्पष्ट किया गया है। चित्र में DD वक्र अर्थात् मांग वक्र है जिसका ऋणात्मक ढाल स्पष्ट करता है कि OY अक्ष पर कीमत में जैसे–जैसे कमी होती है। OX अक्ष पर मांग वक्र दायें और खिसकता है अर्थात् मांग की मात्रा में भी वृद्धि होती है।

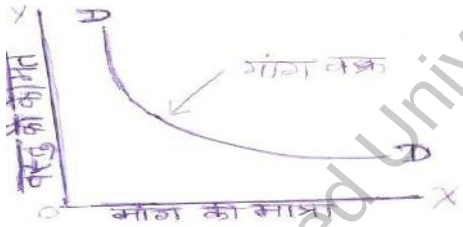

2. **वस्तु की पूर्ति** – एक विक्रेता अथवा उत्पादक एक निश्चित समय व निश्चित कीमत पर जो वस्तु बाजार में विक्रय करने को तत्पर होता है, उसे ही वस्तु की पूर्ति कहते हैं। वस्तु की कीमत व पूर्ति की मात्रा में धनात्मक सम्बन्ध होता है अर्थात् कीमत में वृद्धि होने पर उत्पादक वस्तु की पूर्ति में वृद्धि और कम कीमत पर पूर्ति में कमी कर देते हैं। दोनों में प्रत्यक्ष सम्बन्ध होने के कारण पूर्ति वक्र धनात्मक ढालू होता है। इसे रेखाचित्र द्वारा प्रदर्शित किया जा सकता है : –

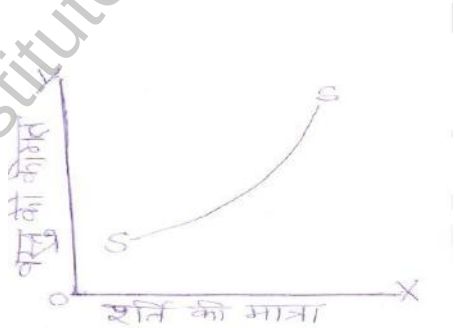

इस रेखाचित्र में SS पूर्ति वक्र है जिसका धनात्मक ढाल स्पष्ट करता है कि ऊंचे मूल्यों पर निर्माता पूर्ति में वृद्धि और नीचे मूल्यों पर पूर्ति में कमी कर देते हैं।

संतुलित मूल्य का निर्धारण

या

मांग व पूर्ति का साम्य

यहां संतुलित मूल्य अथवा साम्य मूल्य से अभिप्राय ऐसे मूल्य से है जो वस्तु की मांग व पूर्ति द्वारा निर्धारित किया जाता है। इस मूल्य पर बाजार में न तो वस्तु का आधिक्य होता है और न कमी होती है। इस कीमत पर मांग व पूर्ति दोनों ही वस्तु की बराबर होती है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

प्रो. मार्शल के शब्दों में परिभाषा :– ''साम्य मूल्य वह मूल्य है जिस पर वस्तु की मात्रा जो कि विक्रेता बेचने को इच्छुक है, उस मात्रा के बराबर होती है जो कि क्रेता खरीदना चाहते हैं, यह वह मूल्य है जो बाजार को समाप्त कर देता है।''

इस तरह अगर किसी वस्तु की मांग व पूर्ति बराबर नहीं है तो उस वस्तु के मूल्य में परिवर्तन होने की प्रवृत्ति पायी जायेगी। यदि वस्तु की मांग कम है और पूर्ति अधिक है तो उसका मूल्य कम होता है। इसके विपरीत यदि वस्तु की मांग अधिक है पूर्ति कम है तो मूल्य अधिक होता है। यदि वस्तु की मांग – पूर्ति दोनों बराबर हैं तो मूल्य में कोई परिवर्तन नहीं होता है।

एक काल्पनिक उदाहरण के द्वारा भी साम्य मूल्य के निर्धारण को समझा जा सकता है। उदाहरण के लिए एक समय विशेष पर किसी वस्तु की बाजार में कुल मांग व पूर्ति निम्न प्रकार है –

मूल्य प्रति इकाई (रू. में)	वस्तु की मांग (इकाईयां)	वस्तु की पूर्ति इकाईयां	वस्तु की मांग व पूर्ति का प्रभाव
4	500	80	वस्तु की मांग अधिक व पूर्ति कम होने से मूल्य में वृद्धि (D>S)
5	400	100	
6	300	200	
7	250	250	संतुलन (मांग = पूर्ति)
8	200	400	वस्तु की मांग कम एवं पूर्ति अधिक होने से मूल्यों में कमी (S>D)
9	100	600	
10	50	800	

उपरोक्त तालिका के विश्लेषण से ज्ञात होता है कि संतुलित मूल्य 7रू. प्रति इकाई है क्योंकि इस मूल्य पर वस्तु की 250 इकाईयों की मांग और 250 इकाईयो की पूर्ति दोनों बराबर हैं। तालिका में वस्तु की मांग 300 इकाईयां होने पर वस्तु की पूर्ति 80 इकाईयां बताई गई हैं। इस स्थिति में वस्तु का मूल्य 4 रू. प्रति इकाई है।

पूर्ति के नियमानुसार वस्तु का मूल्य बढ़ने से वस्तु की पूर्ति बढती है और वस्तु की मांग घटती है और वस्तु की मांग घटती है। मूल्य के बढकर 6 रू. हो जाने पर उसकी पूर्ति बढकर 200 इकाईयां और मांग घटकर 300 इकाईयां रह जाती है। इस दशा में अतिरिक्त मांग (300–200) = 100 इकाईयां रहती है। अपूरित मांग रह जाने से मूल्य बढता है और 7रू. प्रति इकाई हो जाता है। इस स्थिति में वस्तु की मांग घटकर 250 इकाईयां और पूर्ति भी बढकर 250 इकाईयां हो जाती है। यही संतुलन की अवस्था है क्योंकि इस अवस्था में न तो अतिरिक्त मांग है और न अतिरिक्त पूर्ति है। इसलिए साम्य अथवा संतुलन मूल्य को ही सामान्य मूल्य (General Price) अथवा साम्य मूल्य (Equilibrium Price) अथवा दीर्घकालीन मूल्य भी कहा जाता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

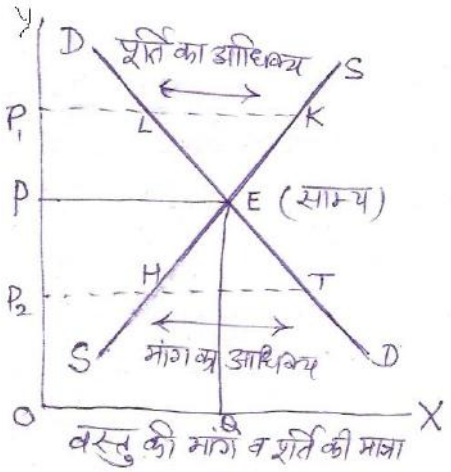

रेखाचित्र द्वारा उपर्युक्त विश्लेषण को निम्न प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है :– रेखाचित्र में DD वस्तु की मांग रेखा है और SS आपूर्ति रेखा है। ये एक दूसरे को E बिन्दु पर काटती है। अतः यह इसका साम्य बिन्दु है। इस बिन्दु पर वस्तु की OQ मात्रा, OP मूल्य पर बेची जाती है। इस प्रकार OP वस्तु का साम्य मूल्य है और OQ साम्य मात्रा है। वस्तु का मूल्य बढकर OP_1 हो जाता है कि जो कि साम्य मूल्य से अधिक है। इस मूल्य पर वस्तु की P_1L मात्रा मांगी जाती है जबकि पूर्ति P_1K के बराबर है। इस तरह LK के बराबर पूर्ति की मात्रा अधिक होगी।

पूर्ति के इस अतिरिक्त भाग को बेचने हेतु विक्रेताओं में प्रतियोगिता होगी। फलस्वरूप मूल्य घटकर OP हो जायेगा, जहां मांग व पूर्ति दोनों बराबर होगी। इसी प्रकार यदि मूल्य OP_2 होता है जो साम्य मूल्य से कम है तो इस स्थिति में पूर्ति की मात्रा P_2H और मांग की मात्रा P_2T अधिक होगी। इस अतिरिक्त मांग के कारण क्रेताओं में प्रतियोगिता होगी और वे वस्तु का अधिक मूल्य देने को भी तैयार हो जायेंगे। परिणामस्वरूप मूल्य बढ़कर पुनः OP हो जायेगा।

इस प्रकार वस्तु के क्रेताओं की प्रतियोगिता मूल्य को वृद्धि की ओर धकेल देगी और इसके विपरीत विक्रेताओं की प्रतियोगिता मूल्य को कमी की ओर धकेल देगी। अन्त में साम्य मूल्य ही बाजार में प्रभावी रह जायेगा।

मूल्य का विरोधाभास :– पानी व हीरे की तुलना

बाजार में किसी भी वस्तु की मांग क्यों होती है? इसके प्रत्युत्तर में यह कहा जा सकता है कि, किसी भी वस्तु अथवा सेवा की मांग उसमें निहित उपयोगिता के कारण होती है। क्योंकि वह उपभोक्ता की आवश्यकता की संतुष्टि करती है। यदि वस्तु में उपयोगिता ही न हो अथवा उपयोगिता समाप्त हो जाती है तो उस वस्तु की उपभोक्ता मांग नहीं करेगा। इसलिए यह कहा जा सकता है कि वस्तु से जो उपयोगिता प्राप्त होती है और उस वस्तु के लिए जो मूल्य दिया जाता है, उन दोनों के मध्य घनिष्ठ सम्बंध होता है।

प्राचीन व आधुनिक अर्थशास्त्रियों ने उपयोगिता के बारे में अपना अलग–अलग मत व्यक्त किया है। प्राचीन अर्थशास्त्रियों ने माना था कि जिस वस्तु की उपयोगिता अधिक होती है, उस वस्तु का मूल्य अधिक होता है। लेकिन कुछ वस्तुओं के सम्बन्ध में उनकी यह मान्यता लागू नहीं होती है, क्योंकि जैसे मनुष्य को जीने के लिए हीरे (Diamond) की अपेक्षा पानी की अधिक उपयोगिता अनुभव होती है। लेकिन व्यवहार में हम यह देखते हैं कि इसके बाद भी पानी की अपेक्षा हीरे का मूल्य बहुत अधिक होता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इस तरह सोना, चांदी, मोती, मूंगा, पन्ना व पुखराज आदि मानव जीवन हेतु शुद्ध हवा व शुद्ध जल आदि की तुलना में ज्यादा उपयोगी नहीं हैं। लेकिन मूल्य की दृष्टि से इनकी कीमत अधिक होती है। मूल्य के इस विरोधाभास को अर्थशास्त्र के पितामह प्रो. एडम स्मिथ ने हीरे व पानी का उदाहरण देकर स्पष्ट किया है। लेकिन प्राचीन अर्थशास्त्री इस विरोधाभास को अच्छी तरह नहीं समझा पाये थे। मार्शल ने उसे अच्छी तरह से स्पष्ट किया है।

आधुनिक अर्थशास्त्रियों के अनुसार ''पानी की आपूर्ति एवं मांग रेखायें इस प्रकार की होती हैं कि वे नीचे के मूल्य पर एक – दूसरे को काटती हैं, लेकिन हीरे की पूर्ति और मांग रेखायें इस प्रकार की होती हैं कि वे ऊंचे मूल्य पर काटती हैं। यहां यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि पानी की पूर्ति एवं मांग रेखायें क्यों बहुत नीचे मूल्य पर काटती हैं?

इसके प्रत्युत्तर में यह कहा जा सकता है कि दो भागों में बांटकर दिया जा सकता है – प्रथम मांग पक्ष व द्वितीय पूर्ति :

1. **मांग पक्ष –** मांग के सम्बंध में प्राचीन अर्थशास्त्रियों के भ्रम का एक मुख्य कारण यह भी था कि वे 'कुल उपयोगिता' एवं 'सीमान्त उपयोगिता' को पृथक नहीं कर सके और वे इस बात को स्पष्ट रूप से नहीं समझा सके कि किसी वस्तु का मूल्य उसकी 'कुल उपयोगिता' द्वारा नहीं बल्कि 'सीमान्त उपयोगिता' द्वारा निर्धारित होता है। बाजार में हीरे अथवा पानी का मूल्य इस बात पर निर्भर करेगा कि पानी की थोड़ी सी अतिरिक्त मात्रा से अथवा हीरों की कुछ अतिरिक्त इकाईयों से कुल उपयोगिता में कितनी वृद्धि होती है, अर्थात् सीमान्त उपयोगिता मूल्य की निर्धारक होती है। चूंकि हरे बहुत सीमित होते हैं, इसलिए उनकी सीमान्त उपयोगिता बहुत अधिक होती है और उनका मूल्य भी अधिक होता है। इसके विपरीत पानी की मात्रा बहुत अधिक पायी जाती है जिसके कारण उसकी सीमान्त उपयोगिता बहुत कम होती है। अतः उसका मूल्य भी कम पाया जाता है।

2. **पूर्ति पक्ष –** मूल्य निर्धारण के सामान्य सिद्धान्त की जब हम बात करते हैं तो यह पाते हैं कि हीरे बहुत दुर्लभ होते हैं इसी कारण उनकी पूर्ति भी बहुत सीमित होती है और हीरों की अतिरिक्त इकाईयां प्राप्त करने हेतु ऊंची लागत होती है। इसके विपरीत पानी प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होता है अर्थात् पूर्ति की बहुलता होती है और उसकी अतिरिक्त मात्रा को प्राप्त करने की लागत भी बहुत न्यून होती है। अतः पानी का मूल्य बहुत कम होता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि पानी की पूर्ति और मांग रेखायें बहुत नीचे नीचे मूल्यों पर और इसके विपरीत हीरे की पूर्ति और मांग रेखायें ऊंचे मूल्यों पर एक–दूसरे को क्यों काटती है?

अगर परिस्थितियों में परिर्वन हो जाता है तो पानी की सीमान्त उपयोगिता हीरों की सीमान्त उपयोगिता से अधिक हो सकती है। परिणामस्वरूप पानी का मूल्य भी हीरों के मूल्यों से ऊंचा हो सकता है। उदाहरण के लिए, एक रेगिस्तान में जहां पर पानी सीमित है, एक प्यासे हीरों के स्वामी को पानी की थोड़ी सी मात्रा रखने वाले व्यक्ति से सौदा करना पड़ता है, तो सामान्य परिस्थितियों की अपेक्षा, पानी की सीमान्त उपयोगिता बहुत अधिक होती है और उसका मूल्य हीरों से भी बहुत अधिक होगा। मूल्य निर्धारण के विरोधाभास को रेखाचित्र के द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है :–

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

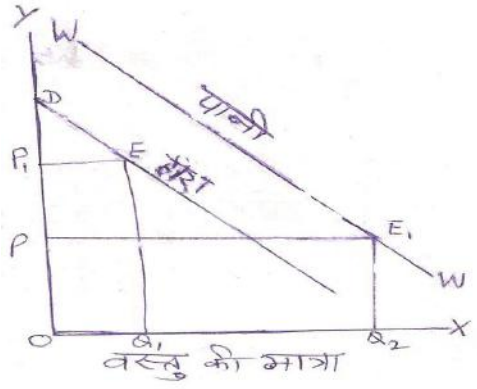

रेखाचित्र में OY अक्ष पर सीमान्त उपयोगिता और OX अक्ष पर वस्तु की मात्रा बतायी गई है। DD रेखा हीरों की सीमान्त उपयोगिता और WW पानी की सीमान्त उपयोगिता को बताती है। पानी की बहुलता होती है। अतः पानी की अधिक मात्रा OQ_2 की सीमान्त उपयोगिता OP है। इसके विपरीत हीरों की पूर्ति दुर्लभ होने के कारण सीमान्त उपयोगिता भी बहुत अधिक होगी। OQ_1 हीरों की सीमित मात्रा की सीमान्त उपयोगिता $_{OP1}$ के बराबर है। इससे यह स्पष्ट होता है कि हीरे की सीमान्त उपयोगिता OP_1 पानी की सीमान्त उपयोगिता OP की तुलना में अधिक है। चूंकि मूल्य का निर्धारण सीमान्त उपयोगिता के आधार पर होता है। इसलिए हीरों का मूल्य पानी की तुलना में अधिक होगा। इससे यह स्पष्ट होता है कि मूल्य निर्धारण में सीमान्त उपयोगिता को बहुत महत्व दिया जाता है।

प्रश्न

1. मांग एवं पूर्ति में परिवर्तन का साम्य पर पड़ने वाले प्रभाव को स्पष्ट कीजिये?
2. ''हीरा, पानी की तुलना में, मानव जीवन के लिये कम उपयोगी होता है, फिर भी हीरे की कीमत पानी की तुलना में बहुत उंची होती है।'' इस विरोधाभास को रेखाचित्र द्वारा समझाइये।
3. संतुलित अथवा साम्य मूल्य का अर्थ समझाते हुये मांग व पूर्ति में परिवर्तन होने से साम्य मूल्य किस प्रकार प्रभावित होता है? स्पष्ट कीजिये।
4. मूल्य निर्धारण के सामान्य सिद्धान्त पर एक निबन्ध लिखिये।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

अध्याय–2

मूल्य निर्धारण में समय तत्व

बाजार में मूल्य निर्धारण में समय तत्व की बहुत अधिक महता होती है। यद्यपि वस्तु का मूल्य निर्धारण मांग व पूर्ति की सापेक्षिक शक्तियों द्वारा होता है और मांग तथा पूर्ति में परिवर्तन के परिणामस्वरूप मूल्य में भी परिवर्तन होता है। लेकिन समय में परिवर्तन के फलस्वरूप मांग व पूर्ति के परिवर्तनों का स्वरूप पृथक–पृथक होता है। अर्थशास्त्र के क्षेत्र में प्रो. मार्बल ने सर्वप्रथम मूल्य निर्धारण में समय के महत्व को स्पष्ट किया है। तभी से इसे वस्तु का मूल्य निर्धारित करते समय बहुत महत्व दिया जाने लगा है।

मूल्य निर्धारण में समय तत्व की भूमिका या महत्व

समय तत्व का अर्थ :– समय तत्व का अभिप्राय अर्थशास्त्र में घड़ी या कलेण्डर के समय से न होकर उस 'क्रियात्मक समय' से होता है जो मांग के अनुरूप पूर्ति को समायोजित करने में लगता है। प्रो. मार्शल ही ऐसे पहले अर्थशास्त्री थे जिसने मूल्य निर्धारण में मांग व पूर्ति के साथ – साथ समय तत्व को भी महत्व दिया है।

प्रो. मार्शल के अनुसार – ''एक स्थिति अल्पकाल दूसरी स्थिति में दीर्घकाल से भी बड़ा हो सकता है।'' क्योंकि विभिन्न उद्योगों के लिए समय भिन्न–भिन्न होता है। किसी वस्तु के मूल्य निर्धारण के पम्बंध में प्राचीन अर्थशास्त्रियों की दो विचारधाराएं हैं –

1. वस्तु का मूल्य उसकी उत्पादन लागत के बराबर होता है।
2. वस्तु का मूल्य उसकी उपयोगिता के बराबर होता है।

प्रो. मार्शल ने मूल्य निर्धारण के उपर्युक्त विवाद को समाप्त कर दिया है। उन्होंने बताया है कि ''किसी वस्तु का मूल्य केवल उत्पादन लागत अर्थात् पूर्ति अथवा केवल उपयोगिता अर्थात् मांग द्वारा निर्धारित नहीं होता है। बल्कि दोनों ही मांग एवं पूर्ति पक्ष संयुक्त रूप से मूल्य को निर्धारित करते हैं। लेकिन हां, यह संभव है कि कुछ परिस्थितियों में मूल्य निर्धारण में मांग पक्ष की भूमिका का अधिक महत्व हो सकता है और अन्य परिस्थितियों में पूर्ति पक्ष की भूमिका अपेक्षाकृत अधिक सक्रिय हो सकती है। मूल्य के सिद्धान्त में समय तत्व की भूमिका इस बात में निहित है कि अल्पकाल में मांग पक्ष का प्रभाव मूल्य निर्धारण में अपेक्षाकृत अधिक रहता है। जबकि दीर्घकाल में पूर्ति पक्ष का प्रभाव अधिक होता है।

अन्य शब्दों में मूल्य के सिद्धान्त में मांग पक्ष व पूर्ति पक्ष के सापेक्षिक प्रभावों का समय तत्व के आधार पर समुचित अध्ययन किया जा सकता है।

समय तत्व का विभाजन – प्रो. मार्शल ने समय तत्व का अध्ययन करते समय, समय को चार भागों में बांटा है –

1. **अति अल्पकाल** – अति अल्पकाल को स्पष्ट करते हुए प्रो. मार्शल ने कहा है कि ''अति अल्पकाल से अभिप्राय ऐसी समयावधि से है जिसमें पूर्ति को मांग के अनुसार परिवर्तित नहीं किया जा सकता है किन्तु टिकाऊ वस्तुओं की पूर्ति तैयार माल अथवा स्टॉक में रखे माल की सीमा तक बढाई जा सकती है। इस समयावधि में वस्तु का मूल्य उसकी मांग के द्वारा निर्धारित किया जा सकता है। अर्थात् मांग में वृद्धि होने पर वस्तु के मूल्य में भी वृद्धि और मांग में कमी होने पर वस्तु के मूल्य में भी कमी होती है। इसमें पूर्ति रेखा पूर्ण बेलोचदार होती है। तथापि वस्तु शीघ्र नाशवान होने पर अथवा टिकाऊ किस्म की होने पर भी उसका मूल्य निर्भर करता है। इसे रेखाचित्र द्वारा आसानी से स्पष्ट किया जा सकता है –

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

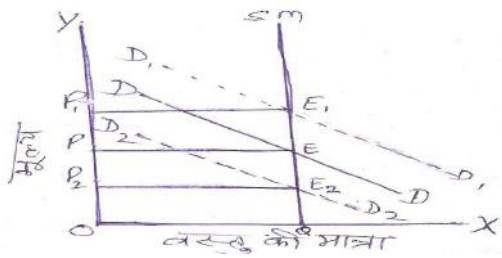

चित्र में SM अति अल्पकालीन पूर्ति रेखा है। प्रारंभिक मांग वक्र D इसे E बिन्दु पर काटता है जो कि साम्य का बिन्दु है। इस पर मूल्य OP और मात्रा OQ है। मांग में वृद्धि होने पर (D_1) पर साम्य बिन्दु E_1 तथा मूल्य बढकरOP_1 हो जाता है। इसी प्रकार मांग में कमी होने पर यह D_2 रेखा पर आ जाती है और मूल्य घटकर OP_2 रह जाता है। किन्तु मात्रा में कोई भी परिवर्तन नहीं होता है। मांग की मात्रा स्थिर रहती है।

2. **अल्पकाल** – अल्पकाल का अभिप्राय उस समयावधि से होता है जिसमें पूर्ति पूर्णतया बेलोचदार नहीं होती है, वरन् पूर्ति को मांग की स्थिति के अनुसार एक सीमा तक समायोजित किया जा सकता है। दूसरे शब्दों में अल्पकाल में वह समय होता है जिसमें वस्तु विशेष की उत्पादित मात्रा को परिवर्तित किया जा सकता है। किन्तु मशीन या संयन्त्र की क्षमता को नहीं बढाया जा सकता है, वह यथावत् अथवा पूर्ववत् बनी रहती है। इसमें उत्पति के परिवर्तनशील उत्पाद साधनों (श्रम व पूंजी) के परिवर्तित किया जा सकता है अर्थात् केवल प्लाण्ट की कार्यक्षमता को परिवर्तित किया जा सकता है। इन सभी के बावजूद भी मांग के परिवर्तनों के अनुसार पूर्ति को पूर्ण रूप से समायोजित नहीं किया जा सकता है। अतः अल्पकाल में भी मुख्य भूमिका मांग की ही रहती है। इसे रेखाचित्र की सहायता से भी समझा जा सकता है –

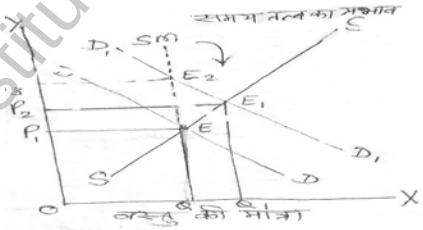

प्रस्तुत रेखाचित्र में SM अति अल्पकालीन पूर्ति वक्र है जो कि स्थिर है, SS अल्पकालीन पूर्ति वक्र है। E बिन्दु पर DD मांग वक्र व पूर्ति वक्र एक – दूसरे को काटते हैं और OP के बराबर मूल्य का निर्धारण करते हैं। यदि मांग में वृद्धि DD से D_1D_1 हो जाती है तो मूल्य OP_3 हो जायेगा। यदि पूर्ति में कुछ सीमा तक परिवर्तन संभव है जो कि SS पूर्ति वक्र को बताता है और यह नये मांग वक्र D_1D_1 को E_1 बिन्दु पर काटता है तथा OP_2 पर मूल्य का निर्धारण होता है। इस मूल्य पर पहले की अपेक्षा पूर्ति भी बढकर OQ से OQ_1 हो जाती है। अतः समय प्रभाव (SM और S के मध्य) को तीर के संकेत से बताया गया है। इसलिए हम यह कह सकते हैं कि मूल्य में परिवर्तन जिस तेजी से अति अल्पकाल में होता है उसी तेजी से वह अल्पकाल में नहीं होता है।

3. **दीर्घकाल** – मूल्य निर्धारण में दीर्घकाल का अभिप्राय उस समयावधि से है जिसमें उत्पति के समस्त साधन परिवर्तनशील होते हैं और मांग के अनुरूप पूर्ति में किसी भी सीमा तक परिवर्तन किया जा सकता है अर्थात् पूर्ति को घटाया, बढाया जा सकता है। इस समयावधि में नई फर्में बाजार में प्रवेष कर सकती हैं और वर्तमान में विद्यमान फर्में बाजार छोड़कर जा सकती हैं और सभी फर्में उत्पादन की क्षमता को

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

आवश्यकतानुसार घटा या बढा सकती है। दीर्घकाल में वस्तु के मूल्य निर्धारण में उत्पादन की लागत का सबसे महत्वपूर्ण स्थान होता है। इस समयावधि में वस्तु का मूल्य कितना होगा। यह उत्पति के नियमों पर निर्भर करता है –

(अ) उत्पति वृद्धि नियम : यदि किसी उद्योग में उत्पति वृद्धि नियम अथवा लागत ह्रास नियम लाग हो रहा है तो ऐसे उद्योग की औसत न्यूनतम लागत उत्पादन में वृद्धि होने के साथ – साथ कम होती जायेगी और इस कारण यदि वस्तु की मांग बढती है तो उसका मूल्य कम होगा। यदि वस्तु की मांग घटती है तो उसका मूल्य बढ जायेगा। इसे रेखाचित्र द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है–

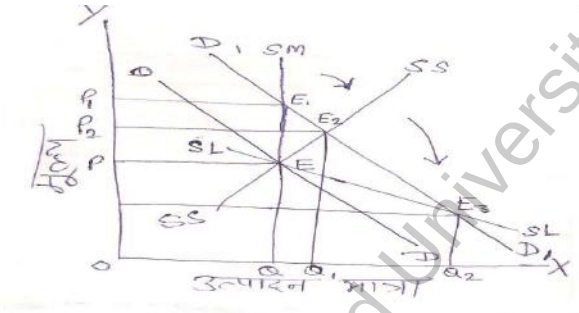

प्रस्तुत रेखाचित्र में DD प्रारम्भिक मांग वक्र, SM प्रारम्भिक पूर्ति वक्र तथा OP प्रारंभिक मूल्य और OQ प्रारम्भिक मात्रा है। मांग बढकर D_1D_1 हो जाती है और मूल्य बढकर OP_1 हो जाता है, लेकिन मात्रा OQ ही बनी रहती है। दीर्घकाल में जब पूर्ति बढकर SS हो जाती है तो मूल्य घटकर OP_3 रह जाता है। दीर्घकालीन मूल्य OP_3 और दीर्घकालीन मात्रा OQ_2 होगी। इस प्रकार मांग बढ़ने की स्थिति में दीर्घकालीन मूल्य प्रारंभिक मूल्य से कम रहेगा क्योंकि उत्पति वृद्धि नियम लागू होने के कारण पूर्ति बढाने के लिए अतिरिक्त लागत कम आयेगा। चित्र में OP_2, OQ_1 तथा SS अल्कालीन स्थिति को दर्शाते हैं।

(ब) उत्पति समता नियम – यदि किसी उद्योग में उत्पति समता नियम अथवा लागत समता नियम लागू हो रहा है तो उत्पादन के सभी स्तरों पर औसत न्यूनतम लागत समान रहेगी और इस कारण वस्तु का मूल्य हमेशां समान रहेगा, चाहे उसकी मांग कम हो अथवा अधिक हो। जिसे रेखाचित्र की सहायता से स्पष्ट किया जा सकता है –

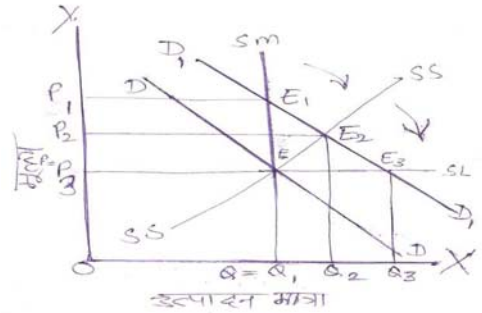

प्रस्तुत रेखाचित्र में OP प्रारंभिक मूल्य OQ प्रारंभिक मात्रा DD प्रारंभिक मांग वक्र और SM प्रारंभिक पूर्ति वक्र है। मांग DD से बढकर D_1D_1 और मूल्य OP_1 हो जाता है। लेकिन मात्रा OQ ही बनी रहती है। दीर्घकाल में जब पूर्ति बढकर SL हो जाती है तो मूल्य घटकर P_3 रह जाता है। दीर्घकालीन

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

मूल्य OP_3 तथा मात्रा OQ_3 होगी। इस तरह मांग बढने की स्थिति दीर्घकालीन मूल्य और प्रारंभिक मूल्य बराबर रहेंगे क्योंकि पूर्ति बढाने के लिए अतिरिक्त लागत में कोई परिवर्तन नहीं आयेगा।

(स) उत्पति ह्रास नियम – यदि किसी उद्योग में उत्पति ह्रास नियम अथवा लागत वृद्धि नियम लागू हो रहा है तो ऐसे उद्योग में मांग में वृद्धि होने पर वस्तु के मूल्य में भी वृद्धि हो जावेगी। इसे रेखाचित्र द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है –

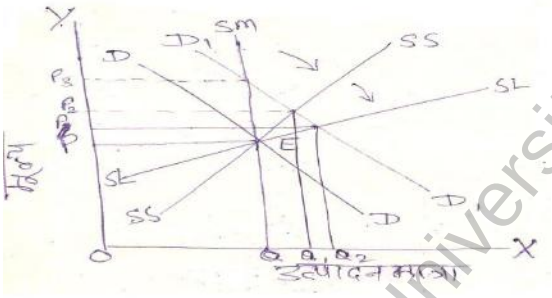

प्रस्तुत रेखाचित्र में OP प्रारंभिक मूल्य, OQ प्रारंभिक मात्रा, DD प्रारंभिक मांग वक्र एवं SS प्रारंभिक पूर्ति वक्र है। मांग बढकर DD से D_1D_1 हो जाती है और मूल्य बढकर OP_1 हो जाता है, परन्तु मात्रा OQ ही बनी रहती है। दीर्घकाल में जब पूर्ति बढकर SS हो जाती है तो मूल्य घटकर OP1 रह जाता है। दीर्घकालीन मूल्य OP_3 एवं मात्रा OQ_1 होगी। इस प्रकार मांग बढने की स्थिति में दीर्घकालीन प्रारंभिक मूल्य से अधिक रहेगा क्योंकि उत्पति ह्रास नियम लागू होने के कारण पूर्ति बढाने के लिए अतिरिक्त लागत अधिक बढ जायेगी।

बाजार मूल्य तथा सामान्य मूल्य

बाजार मूल्य का अर्थ – बाजार मूल्य का अभिप्राय उस मूल्य से होता है जो अति – अल्पकालीन बाजार में मांग एवं पूर्ति के अस्थायी साम्य से निर्धारित होता है। दूसरे शब्दों में यह कह सकते हैं कि यह वह मूल्य होता है जिस पर किसी समय विशेष में बाजार व्यवहार किये जाते हैं।

परिभाषा – स्टिगलर के अनुसार – ''किसी वस्तु का बाजार मूल्य उस समय अवधि के मूल्य को कहते हैं, जिसमें उस वस्तु की पूर्ति लगभग स्थिर रहती है।'' ऐसा इसलिए होता है क्योंकि, अति अल्काल में वस्तु की पूर्ति निश्चित एवं स्थिर होती है। अतः मूल्य निर्धारण में मांग पक्ष ही अधिक सक्रिय एवं प्रभावी रहता है। मांग बढने पर मूल्य भी बढ जाते हैं और मांग घटने पर मूल्य भी घट जाते हैं। इसलिए बाजार मूल्य मांग एवं पूर्ति का निर्धारित मूल्य होता है और इसमें अत्यधिक उतार – चढाव होते रहते हैं। यहां तक कि कभी – कभी उत्पादन लागत से भी कम हो जाता सकता है। यह मूल्य अस्थायी साम्य अथवा संतुलन का संकेतक होता है।

बाजार मूल्य की विशेषतायें – बाजार मूल्य की निम्नलिखित विशेषताएं होती हैं –

1. बाजार मूल्य, अस्थायी मूल्य होता है क्योंकि अति अल्पकाल में वस्तु की मांग बढने पर मूल्य बढ जाता है और मांग घटने पर मूल्य घट जाता है।
2. यह उत्पादन लागत से कम या अधिक हो सकता है।
3. इसके निर्धारण में मांग पक्ष अधिक सक्रिय रहता है और पूर्ति पक्ष निष्क्रिय, क्योंकि बाजार मूल्य अति अल्पकालीन होता है और इस अवधि में पूर्ति में परिवर्तन करना संभव नहीं होता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

4. इसमें सामान्य मूल्य के बराबर होने की प्रवृति पायी जाती है अर्थात् जब सामान्य मूल्य बाजार से अधिक होता है, तब बाजार मूल्य के बढने की प्रवृति होगी और यदि सामान्य मूल्य बाजार मूल्य से कम होता है तो बाजार मूल्य में घटने की प्रवृति होगी।

5. पर्याप्त समय मिलने पर बाजार मूल्य की प्रवृति लागत अर्थात् सामान्य मूल्य के बराबर होने की होती है।

6. मांग एवं पूर्ति के अस्थायी साम्य द्वारा यह निर्धारित होता है।

7. यह वास्तविक मूल्य होता है, जो किसी समय विशेष में बाजार में प्रचलित रहता है।

बाजार मूल्य का निर्धारण – अति – अल्पकाल में वस्तु की मांग व पूर्ति की सापेक्षिक शक्तियों के अस्थायी साम्य से ही बाजार मूल्य का निर्धारण होता है। अति – अल्पकाल में पूर्ति प्रायः स्थिर एवं निश्चित होती है। इसमें दो प्रकार की वस्तुओं को सम्मिलित किया जाता है –

I- **पुनरूत्पादनीय वस्तुयें** : पुनरूत्पादनीय वस्तुओं का अभिप्राय उन वस्तुओं से है जिनका पुनः अथवा दुबारा उत्पादन किया जा सकता है, यथा – फल, सब्जी, मक्खन, पनीर, दूध, मांस, मछली, कपड़ा, अनाज और घी, तेल व अण्डे आदि। ऐसी वस्तुएं दो प्रकार की होती हैं–

क. शीघ्र नष्ट होने वाली वस्तुएं – शीघ्र नष्ट होने वाली वस्तुओं में दूध, दही, अण्डा, पनीर, हरी सब्जियां, मांस, मछली आदि को सम्मिलित किया जाता है और विक्रेताओं को इनकी पूरी मात्रा को बेचना ही पड़ता है। चाहे इनका मूल्य लागत से कम क्यों न हो? इसका परिणाम यह होता है कि इन वस्तुओं का पूर्ति वक्र अति – अल्पकाल में पूर्णतः बेलोचदार हो जाता है और इनका मूल्य केवल इनकी मांग के आधार पर निर्धारित होता है। जैसे ही इन वस्तुओं की मांग बढ़ती है, इनका मूल्य भी बढ जाता है और यदि मांग कम हो जाती है तो इनका मूल्य भी कम हो जाता है। इसे रेखाचित्र द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है –

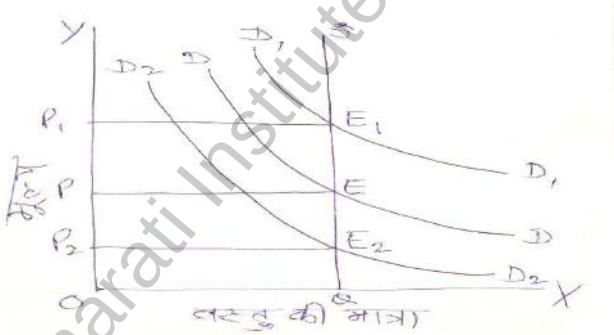

प्रस्तुत रेखाचित्र में हम यह देख रहे हैं कि SQ पूर्ति वक्र पूर्णतः बेलोचदार है, जो यह प्रदर्शित करता है कि बाजार में मूल्य चाहे कितना भी अधिक या कम क्यों न हो, कुल पूर्ति SQ ही रहेगी। DD मांग वक्र है जो E बिन्दु पर पूर्ति वक्र को काटता है। जिससे मूल्य का निर्धारण OP बिन्दु पर होता है।

अब यदि मांग बढ़कर D_1D_1 हो जाती है तो मूल्य भी बढकर OP_1 हो जाता है एवं साम्य E_1 बिन्दु पर होता है। इसी प्रकार मांग में कमी होने पर DD से गिरकर $D2D_2$ हो जाती है तो मूल्य भी घटकर OP_2 हो जाता है।

अतः इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि, अति अल्पकाल में पूर्ति स्थिर रहती है, केवल मांग में परिवर्तन होने के कारण मूल्य में परिवर्तन होता है। प्रो. मार्शल ने अति अल्पकालीन मूल्य को ही बाजार मूल्य माना है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

ख. टिकाऊ वस्तुएं – टिकाऊ वस्तुओं का अभिप्राय उन वस्तुओं से होता है जो कि लम्बे समय तक आसानी से स्टॉक में बिना खराब हुये रखी जा सकती हैं। इसी कारण टिकाऊ वस्तुओं का वक्र अति अल्पकाल में पूर्णतः बेलोचदार नहीं होता है। टिकाऊ वस्तुओं के संदर्भ में दो मूल्य स्तर सम्भव हो सकते हैं :–

1. वह मूल्य जिस पर उत्पादक एवं विक्रेता अपनी वस्तु के सम्पूर्ण स्टॉक को बेचने को तैयार हो जायेंगे तथा

2. दूसरा वह मूल्य जिस पर वे वस्तु की कोई भी मात्रा बेचने को तैयार नहीं होंगे और सम्पूर्ण मात्रा को स्टॉक में ही रख लेंगे।

अब इन दोनों मूल्य स्तरों के बीच में वस्तु की पूर्ति की मांग के अनुसार बदलती रहेगी। लेकिन, किसी भी दशा में यह पूर्ति स्टॉक की कुल मात्रा से अधिक नहीं हो सकती क्योंकि इस समयावधि में स्टॉक की मात्रा को बढाया नहीं जा सकता है। इस तरह टिकाऊ वस्तु के मूल्य निर्धारण में यद्यपि मांग व पूर्ति दोनों की शक्तियां अपना– अपना योगदान देती हैं, परन्तु मुख्य भूमिका मांग की होती है। इसे निम्नलिखित रेखाचित्र द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है –

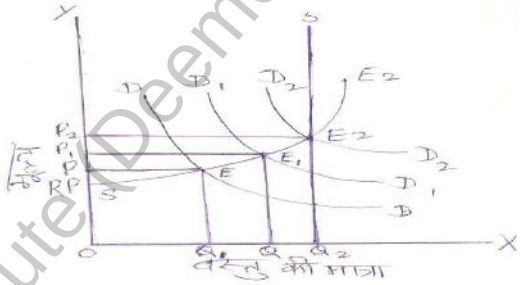

प्रस्तुत रेखाचित्र में D_1D_1 प्रारंभिक मांग वक्र है SS प्रारंभिक पूर्ति वक्र है और E_1 प्रारंभिक साम्य मूल्य है। इस मूल्य पर OQ मात्रा बाजार में बिक्री के लिए आयेगी और इसमें से OQ_2 मात्रा स्टॉक में रख ली जायेगी। मांग बढकर D_2D_2 हो जाती है, जिसके परिणामस्वरूप बढकर OP_2 हो जाता है, जिस पर उत्पादक एवं विक्रेता सम्पूर्ण मात्रा बेचने के लिए सहमत हो जायेंगे। अब यदि मांग वक्र घटकर DD रह जाये तो मूल्य घटकर OP रह जायेगा, जिस पर केवल OQ_1 मात्रा बेची जायेगी एवं Q_1Q_2 मात्रा स्टॉक में रख ली जायेगी। RP सुरक्षित मूल्य है। इसलिए इससे कम मूल्य रहने पर उत्पादक एवं विक्रेता वस्तु की कोई भी मात्रा बेचने को सहमत नहीं होंगे।

II- **निरूत्पादनीय वस्तुएं** – निरूत्पादनीय वस्तुओं का तात्पर्य ऐसी वस्तुओं से है जिनका उत्पादन बार–बार नहीं किया जा सकता है। जैसे पुराने डाक टिकट, सिक्के, हीरे–जवाहरात, प्राचीन चित्रकला, मृतक लेखकों की हस्तलिखित पाण्डुलिपियां आदि। इन वस्तुओं का उत्पादन बार–बार संभव नहीं होता है, इसलिए इनकी पूर्ति स्थिर न रहती है। अतः इन वस्तुओं के मूल्य भी मांग से प्रभावित होते हैं। यदि मांग अधिक है तो इनके मूल्य में वृद्धि हो जाती है और मांग घटने पर इनके मूल्य घट जाते हैं। इन वस्तुओं का मूल्य निर्धारण शीघ्र नष्ट होने वाली वस्तुओं या नाश्वान वस्तुओं की भांति होगी। इसकी व्याख्या पूर्व में विस्तार से की जा चुकी है।

सामान्य मूल्य

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

सामान्य मूल्य का अर्थ – सामान्य मूल्य का अभिप्राय ऐसे मूल्य से होता है जो किसी वस्तु की मांग और पूर्ति की स्थायी शक्तियों के साम्य द्वारा दीर्घकाल से निर्धारित होता है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि, किसी वस्तु का सामान्य मूल्य वह होता है जिसे बाजार की शक्तियां अंतिम क्षण अथवा दशा में निर्धारित करती है।

सामान्य मूल्य की परिभाषा – स्टोनियर एवं हेग के अनुसार ''सामान्य मूल्य उन मूल्यों को कहते हैं, जिनके प्रचलन में दी गई मांग एवं पूर्ति की दशाओं में आशा होती है। परन्तु इसमें समय का अधिक प्रभाव होता है। एक ऐसा मूल्य को दीर्घकाल में सामान्य है, वह अल्पकालीन सामान्य मूल्य से भिन्न होता है।''

सारांशतः यह कहा जा सकता है कि सामान्य मूल्य का आशय दीर्घकालीन मूल्य से होता है। इसलिए किसी वस्तु की मांग एवं पूर्ति के स्थायी संतुलन द्वारा दीर्घकाल में जो मूल्य निर्धारित होता है, उसे सामान्य मूल्य कहते हैं।

सामान्य मूल्य की विशेषतायें – सामान्य मूल्य की निम्नलिखित विशेषतायें होती हैं–

1. सामान्य मूल्य दीर्घकालीन बाजार मूल्य होता है।
2. इसका निर्धारण मांग व पूर्ति की स्थायी शक्तियों द्वारा होता है।
3. इस पर मांग की तुलना में पूर्ति का अधिक प्रभाव पड़ता है।
4. दीर्घकालीन सामान्य मूल्य, सीमान्त लागत और औसत लागत के बराबर अर्थात् MC = AC होता है।
5. सामान्य मूल्य का विचार काल्पनिक है।
6. सामान्य मूल्य सामान्यतः उन्हीं वस्तुओं का हो सकता है, जिनका पुनरूत्पादन किया जा सकता है।
7. बाजार मूल्य की प्रवृति सामान्य मूल्य की ओर आने की होती है।
8. यह मूल्य बाजार मूल्य से अलग होता है।

सामान्य मूल्य का निर्धारण – सामान्यतः दीर्घकालीन मूल्य को ही सामान्य मूल्य कहा जाता है। कुछ अर्थशास्त्रियों ने सामान्य मूल्य के निर्धारण को दो अवधियों में विभाजित किया है। जो निम्न प्रकार हैं –

1. **अल्पकालीन सामान्य मूल्य** – यह वह मूल्य होता है जिसका सम्बंध अल्पकाल से होता है जिसमें फर्म अपनी पूर्ति में वृद्धि अपनी वर्तमान क्षमता के अधिकाधिक उपयोग से कर सकती है। फर्म की संख्या एवं फर्म के आकार प्रकार में परिवर्तन की संभावना नहीं होती है अर्थात् बढी हुई मांग की पूर्ति फर्मों के वर्तमान संयत्रों की क्षमता तक ही सीमित होती है। इसलिए पूर्ति में मांग के अनुरूप केवल कुछ सीमा तक ही समायोजन किया जा सकता है।
2. **दीर्घकालीन सामान्य मूल्य** – दीर्घकाल वह समयावधि होती है जिसमें पूर्ति को मांग के अनुरूप परिवर्तित किया जा सकता है। क्योंकि इसमें समय इतना लम्बा होता है कि मांग के घटने पर पूर्ति की मात्रा को भी फर्मों के आकार एवं संख्या में कमी करके घटाया जा सकता है और मांग में वृद्धि होने पर पूर्ति की मात्रा को फर्मों के आकार एवं संख्या में वृद्धि करके अथवा पूर्ण उत्पादन क्षमता का प्रयोग करके बढाया जा सकता है। इस प्रकार सामान्य मूल्य का निर्धारण मांग एवं पूर्ति की दीर्घकालीन साम्यावस्था से होता है जिसे रेखाचित्र की सहायता से समझाया जा सकता है –

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

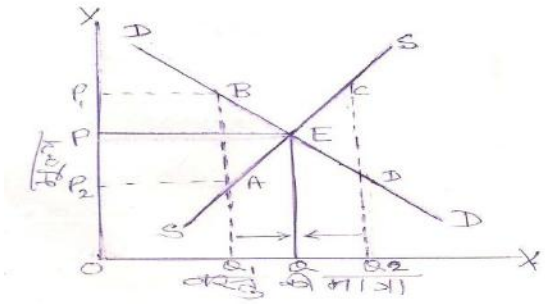

प्रस्तुत रेखाचित्र में DD दीर्घकालीन मांग वक्र और SS दीर्घकालीन पूर्ति वक्र है। ये दोनों वक्र E बिन्दु पर एक –दूसरे को काटते हैं। अतः OP बिन्दु पर दीर्घकालीन या सामान्य मूल्य का निर्धारण होता है। क्योंकि E बिन्दु पर सामान्य मूल्य OP एवं सीमान्त उपयोगिता और सीमान्त लागत EQ के बराबर है। यदि मूल्य OP_1 है तो विक्रेता वस्तु की पूर्ति को बढाने के लिए तत्पर होगा और वस्तु का उत्पादन बढकर OQ_2 हो जाता है तथा मांग OQ_1 ही रह जाती है अर्थात् मूल्य कम होकर OP ही रह जाता है। यदि मूल्य OP_2 है तो उत्पादक पूर्ति को कम करेंगे और मूल्य बढकर पुनः OP हो जायेगा। इस प्रकार दीर्घकाल में मूल्य सीमान्त उपयोगिता और सीमान्त लागत अर्थात् (MU=MC) के बराबर होता है। दीर्घकाल में सामान्य मूल्य के तहत औसत लागत (AC) के बराबर होगा क्योंकि औसत लागत में सामान्य मूल्य निहित होता है जिसका अर्थ यह है कि दीर्घकाल में प्रतियोगी फर्म केवल सामान्य लाभ (Normal Profit) की अर्जित कर सकती है।

सामान्य मूल्य एवं बाजार मूल्य में सम्बन्ध – सामान्य मूल्य तथा बाजार मूल्य में बहुत गहरा सम्बन्ध होता है। इसका मुख्य कारण यह है कि बाजार मूल्य सामान्य मूल्य के चारों ओर चक्कर काटता है। बाजार मूल्य समय–समय पर बदलता रहता है परन्तु इसकी प्रकृति बार–बार साम्य मूल्य की ओर बढने की होती है। बाजार में अनेक अस्थाई और आकस्मिक कारणों से उच्चावचन अर्थात् उतार–चढाव आते रहते हैं, लेकिन फिर भी मूल्यों में यह परिवर्तन अधिक समय तक नहीं रह सकता क्योंकि उसकी प्रवृति सामान्य मूल्य की तरफ जाने की होती है। इसे एक रेखाचित्र द्वारा समझाया जा सकता है –

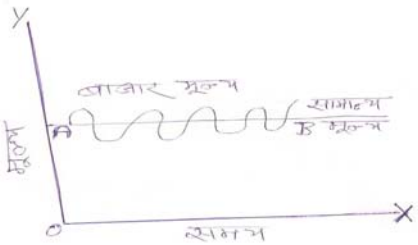

प्रस्तुत रेखाचित्र में AB एक पड़ी रेखा है, वह सामान्य मूल्यों को प्रदर्शित कर रही है। इस रेखा के A बिन्दु पर लागत को बताया गया है, क्योंकि सामान्य मूल्य लागत के बराबर होता है। यदि बाजार मूल्य सामान्य मूल्य से ऊंचा होता है तो उत्पादकों को लाभ होता है तथा वे इससे प्रेरित होकर अधिक उत्पादन करते हैं। जिसके परिणामस्वरूप बाजार में वस्तु की पूर्ति बढती है जिससे बाजार मूल्य में गिरावट आती है और वह सामान्य मूल्य के बराबर हो जाता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इसके विपरीत यदि बाजार मूल्य, सामान्य मूल्य से कम होता है तो उत्पादकों को हानि होने लगती है। जिससे हतोत्साहित होकर वे उत्पादन को कम करके बाजार में वस्तु की पूर्ति को घटायेंगे। इसके परिणामस्वरूप मूल्यों में वृद्धि होगी और वह सामान्य मूल्य के बराबर हो जायेगा।

सामान्य मूल्य एवं बाजार मूल्य में अंतर

क.सं.	अन्तर का आधार	सामान्य मूल्य	बाजार मूल्य
1.	संतुलन / साम्य	यह मांग एवं पूर्ति की शक्तियों के अंतिम साम्य का प्रतीक समझा जाता है।	जबकि बाजार मूल्य, मांग एवं पूर्ति की शक्तियों का अस्थायी संतुलन अथवा साम्य होता है।
2.	धारणा	सामान्य मूल्य एक अव्यावहारिक धारणा है।	जबकि बाजार मूल्य एक व्यावहारिक धारणा है।
3.	लाभ	सामान्य मूल्य में उत्पादक को केवल सामान्य लाभ प्राप्त होते हैं।	जबकि बाजार मूल्य में उत्पादक को असामान्य लाभ, सामान्य लाभ अथवा हानि हो सकती है।
4.	लागत	सामान्य मूल्य सदैव उत्पादन लागत के बराबर ही होता हैं	जबकि बाजार मूल्य लागत से प्रभावित नहीं होता है क्योंकि यह लागत से अधिक या इसके बराबर या कुछ परिस्थितियों में एक सीमा तक इससे कम भी हो सकता है।
5.	प्रकृति	यह काल्पनिक होता है जो किसी समय विशेष में वास्तव में प्रचलित नहीं होता है।	यह किसी समय विशेष में वास्तव में प्रचलित नहीं होता है।
6.	अर्थ	दीर्घकाल में मांग एवं पूर्ति के दीर्घकालीन संतुलन द्वारा जो साम्य मूल्य प्राप्त होता है, उसे सामान्य मूल्य कहते हैं।	जबकि बाजार मूल्य का अभिप्राय किसी वस्तु के उस बाजार से है जो अल्पकालीन बाजार में मांग एवं पूर्ति के अस्थायी साम्य से निर्धारित होता है।
7.	सम्बन्ध	इसका सम्बन्ध दीर्घकाल से होता हैं	जबकि इसका सम्बंध अल्पकाल से होता है।
8.	परिवर्तन	सामान्य मूल्य में स्थायित्वता होती है और यह एक केंद्र बिन्दु अथवा प्रमाण के रूप में कार्य करता है।	जबकि बाजार मूल्य प्रायः तेजी से परिवर्तित होता रहता है और इसकी प्रवृति सामान्य मूल्य की ओर जाने की रहती है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

9.	वस्तुओं की प्रकृति	यह केवल पुनरूत्पादनीय वस्तुओं का ही होता है।	यह सभी प्रकार की वस्तुओं का होता है, चाहे वह पुनरूत्पादनीय वस्तु हो अथवा निरूत्पादनीय वस्तु हो।
10.	मूल्य निर्धारण	इसके निर्धारण में पूर्ति पक्ष की भूमिका अधिक महत्वपूर्ण होती है क्योंकि दीर्घकाल में वस्तु की पूर्ति मांग के अनुसार पूर्णतः समायोजित की जा सकती है।	जबकि बाजार मूल्य के निर्धारण में मांग पक्ष की भूमिका अधिक महत्वपूर्ण होती है क्योंकि अति अल्पकाल में पूर्ति स्थिर रहती है।

उपर्युक्त विवेचन के अध्ययन एवं विश्लेषण से हमें मूल्य निर्धारण में समय तत्व की भूमिका तथा बाजार मूल्य एवं सामान्य मूल्य के बारे में विस्तृत जानकारी प्राप्त होती है।

प्रश्न

1. मूल्य निर्धारण में समय तत्व के महत्व की सचित्र व्याख्या कीजिये।

   अथवा

   मूल्य निर्धारण के सिद्धान्त में समय तत्व की भूमिका का वर्णन कीजिये।

2. ''बाजार मूल्य, सामान्य मूल्य के चारों ओर चक्कर काटता है तथा वह सामान्य मूल्य की ओर जाने की प्रवृत्ति भी होता है।'' इस कथन की व्याख्या कीजिये।
3. बाजार मूल्य एवं सामान्य मूल्य का अर्थ एवं परिभाषा लिखिये तथा दोनों मूल्यों में अन्तर बताइये।
4. प्रो0 मार्शल के अनुसार समय तत्व के वर्गीकरण की सचित्र व्याख्या कीजिये।
5. मूल्य निर्धारण में समय तत्व की विवेचना करते हुये एक निबन्ध कीजिये।
6. दीर्घकालीन समयावधि में वस्तु का मूल्य कितना होगा, यह उत्पत्ति के नियमों पर निर्भर करता है। कैसे? चित्र द्वारा समझाइये।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

अध्याय – 3

बाजार –परिभाषा एवं वर्गीकरण

(Market-Definitions & classifications)

अर्थशास्त्र में बाजार के बारे में जानकारी प्राप्त करना बहुत ही आवश्यक एवं महत्त्वपूर्ण है। अर्थशास्त्र के क्षेत्र में मांग एवं पूर्ति के महत्त्व के बाद बाजार का सर्वाधिक महत्त्व है। अतः आर्थिक विश्लेषण को अच्छी तरह से समझने के लिए बाजार और इसकी विभिन्न स्थितियों और उनके सिद्धान्तों को जानना बहुत आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी है।

अर्थशास्त्र में बाजार का अर्थ (Meaning of Market)

सामान्य शब्दों में बाजार शब्द का अभिप्राय उस स्थान विशेष से लगाया जाता है जहाँ पर किसी वस्तु अथवा सेवा का क्रय–विक्रय करने हेतु भौतिक रूप से अनेक क्रेता एवं विक्रेता उपस्थित होते है।

लेकिन, अर्थशास्त्र में बाजार शब्द का अर्थ संकुचित न होकर विस्तृत है। अर्थशास्त्र में बाजार शब्द का अभिप्राय उस सम्पूर्ण क्षेत्र से होता है जिसमें वस्तु विशेष के क्रेताओं और विक्रेताओं में प्रतिर्स्पद्धात्मक सम्बन्ध हो। जिसके परिणामस्वरूप उस क्षेत्र विशेष में उस वस्तु के मूल्य लगभग समान होने की प्रवृत्ति रखते हों। इससे यह स्पष्ट होता है कि बाजार में क्रेताओं व विक्रेताओं की भौतिक उपस्थिति उतना महत्त्व नहीं रखती है जितना कि उसमें प्रतिस्पर्द्धा एवं सम्पर्क महत्त्व रखता है। यह सम्पर्क यदि तार, टेलीफोन अथवा संचार के किन्हीं अन्य साधनों से भी हो तो वह सम्पूर्ण क्षेत्र बाजार (Market) ही माना जाता है।

बाजार की परिभाषा (Definitions of market)

(1) प्रो. बेनहम के अनुसार :– ''बाजार वह क्षेत्र है जहाँ क्रेताओं और विक्रेताओं में प्रत्यक्ष या व्यापारियों के द्वारा इस प्रकार का सम्बन्ध हो कि बाजार के एक भाग में प्रचलित मूल्यों का बाजार के दूसरे भाग के मूल्यों पर प्रभाव हो।''

(2) प्रो कुर्नो के शब्दों में :– ''अर्थशास्त्री बाजार शब्द का आशय किसी स्थान विशेष से ही नहीं लेते जहाँ वस्तुएँ खरीदी और बेची जाती हैं बल्कि बाजार शब्द से उस समस्त क्षेत्र का बोध होता है जिसमें क्रेता और विक्रेताओं में ऐसा स्वतन्त्र एवं प्रतियोगितापूर्ण सम्बन्ध होता है कि वस्तु के मूल्य उस क्षेत्र में सुगमता एवं शीघ्रता से एक होने की प्रवृत्ति रखते हैं।''

(3) प्रो. केअरनक्रास के अनुसार :– ''क्रेता और विक्रेता के बीच किसी साधन या वस्तु के लेन देन का जाल सूत्र है।''

(4) प्रो. चैपमेन के अनुसार :– ''बाजार शब्द का अभिप्राय किसी स्थान विशेष से नहीं वरन् उसका आशय सदैव वस्तु या वस्तुओं और क्रेताओं तथा विक्रेताओं से सम्बन्धित होता है जो आपस में प्रत्यक्ष रूप से प्रतियोगिता करते हैं।''

(5) स्टोनियर एवं हेग के अनुसार :– ''अर्थशास्त्र में बाजार का तात्पर्य एक ऐसे संगठन से है जिससे कि किसी वस्तु के क्रेता एवं विक्रेता एक दूसरे के निकट सम्पर्क में रहते हैं।''

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

बाजार की विशेषतायें

1. बाजार का आशय किसी स्थान विशेष से न होकर उस सम्पूर्ण क्षेत्र से होता है जहाँ वस्तु के क्रेता–विक्रेता फैले हुये हैं। अनेक दशाओं में यह सम्पूर्ण क्षेत्र पूरा विश्व भी हो सकता है।
2. बाजार के वस्तु साधन या सेवा का होना आवश्यक है ताकि उसका क्रय–विक्रय या लेनदेन या आदान–प्रदान हो सके।
3. बाजार में क्रेताओं और विक्रेताओं का अस्तित्व है चाहे क्रेता–विक्रेताओं एक–दो हो अथवा अनेक हो।
4. क्रेताओं विक्रेताओं में प्रत्यक्ष रूप से स्वतन्त्र प्रतियोगितापूर्ण सम्बन्ध होना चाहिए ताकि उस वस्तु या सेवा की कीमत सम्पूर्ण क्षेत्र में एक समान होने की प्रवृत्ति रखती है।

बाजार का वर्गीकरण

(अ) समायानुसार बाजार	(ब) प्रतियोगिता या परिस्थितियों के	(स) स्थानीय या क्षेत्रानुसार बाजार	(द) कार्यानुसार बाजार
(1) अति अल्पकालीन बाजार	(1) पूर्ण प्रतियोगिता	(1) स्थानीय बाजार	(1) सामान्य या मिश्रित बाजार
(2) अल्पकालीन बाजार	(2) अपूर्ण प्रतियोगिता	(2) प्रादेशिक बाजार	(2) विशिष्ट बाजार
(3) दीर्घकालीन बाजार	(i) द्वयाधिकार	(3) राष्ट्रीय बाजार	(3) नमूनों द्वारा बिक्री का बाजार
(4) अतिदीर्घकालीन बाजार	(ii) अल्पाधिकार	(4) अन्तर्राष्ट्रीय बाजार	(4) श्रेणी या ग्रेड के अनुसार बिक्री बाजार।
	(iii) एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता		
	(3) एकाधिकार बाजार		

बाजार के उपर्युक्त वर्गीकरण की व्याख्या निम्नालिखित प्रकार की जा सकती है –

(अ) **समयानुसार बाजार का वर्गीकरण** :– समयानुसार बाजार को 4 भागों में बाँटा गया है जिसकी व्याख्या अग्रलिखित प्रकार है–

(1) **अतिअल्पकालीन बाजार** – अतिअल्पकालीन बाजार या दैनिक बाजार (Very Short Period or Daily Market)– अति अल्पकालीन या दैनिक बाजार वह होता है जिसमें वस्तु की पूर्ति को बिलकुल भी घटाया या बढ़ाया नहीं जा सकता है। इसमें पूर्ति स्थिर (fixed) रहती है। मांग चाहे घटे या बढ़े पूर्ति में किंचित मात्र भी परिवर्तन संभव नहीं होता है। अन्य शब्दों में यह शीघ्र नष्ट होने वाली वस्तुओं जैसे, मछली, अण्डा, दही, पत्तेदार सब्जियाँ, ब्रेड और मक्खन आदि का बाजार होता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

(2) **अल्पकालीन बाजार**_(Short Period Market) – बाजार वह बाजार होता है जिसमें वस्तु की पूर्ति में यद्यपि मांग के अनुसार तो परिवर्तन संभव नहीं होता लेकिन मांग वृद्धि होने पर वर्तमान साधनों के अधिक प्रयोग से पूर्ति को कुछ सीमा तक बढ़ाये जाने या मांग घटने पर पूर्ति को कुछ सीमा तक घटाये जाने की संभावना होती है। अल्पकालीन बाजार में समय इतना कम होता है कि पूर्ति में परिवर्तन यन्त्रों की वर्तमान क्षमता तक स्थिर रहता है। इतना समय नहीं होता कि अधिक उत्पादन क्षमता तक स्थिर रहता है। इतना समय नहीं होता कि अधिक उत्पादन क्षमता का निर्माण हो सके।

(3) **दीर्घकालीन बाजार**_(Long Period market) – इस बाजार में इतना पर्याप्त समय होता है कि उत्पादन के साधनों में कमी–वृद्धि अथवा विस्तार संकुचन से वस्तु की पूर्ति को मांग के अनुसार घटाया या बढ़ाया जा सकता है। अतः वस्तु के मूल्य निर्धारण में पूर्ति की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है।

(4) **अतिदीर्घकालीन बाजार**_(Very Long Period) – अतिदीर्घकालीन बाजार वह बाजार होता है जिसमें समयावधि इतनी लम्बी होती है कि न केवल पूर्ति पक्ष में परिवर्तन किया जा सकता है बल्कि मांग पक्ष में जनसंख्या में वृद्धि, रूचि एवं फैशन में परिवर्तन आदि तत्वों का जन्म होता है। पूर्ति पक्ष भी नये–नये उत्पाद नयी–नयी उत्पादन विधियाँ और नई–नई खोजें हो जाती है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि अति दीर्घकाल इतना लम्बा समय होता है कि इसमें पूरे कारखाने या फैक्ट्री का ढाँचा ही बदला जा सकता है और उसमें आधुनीकिकरण को अपनाया जा सकता है।

(ब) **प्रतियोगिता या परिस्थितियों के अनुसार बाजार –**

(1) **पूर्ण प्रतियोगिता बाजार –** इस बाजार का आशय बाजार की उस स्थिति से है जहाँ वस्तु अथवा सेवा के अनेक क्रेता तथा विक्रेता होते हैं और उन्हें बाजार की पूर्ण जानकारी होती है और उत्पादन साधनों के पूर्ण गतिशीलता होती है और उनमें पूर्ण तथा स्वतंत्र प्रतियोगिता होती है। उसके परिणामस्वरूप पूरे बाजार में एक ही मूल्य होने की प्रवृत्ति पायी जाती है।

(2) **अपूर्ण प्रतियोगिता बाजार** – यह बाजार की वह स्थिति होती है जिसमें क्रेताओं एवं विक्रेताओं की संख्या अपेक्षाकृत कम होती है और उनमें पूर्ण प्रतियोगिता का अभाव होता है तथा वस्तु विभेद की प्रवृत्ति से वस्तुओं के मूल्यों में भी कुछ अन्तर पाया जाता है।

(i) **द्वयाधिकार** (Duopoly) – द्वयाधिकार बाजार की वह स्थिति होती है जिसमें किसी वस्तु के बाजार में केवल दो ही विक्रेता होते हैं।

(ii) **अल्पाधिकार** (oligopoly) – अल्पाधिकार बाजार की वह स्थिति है जिसमें वस्तु के दो से अधिक किन्तु थोड़े से विक्रेता पाये जाते हैं। वस्तु विभेद और मूल्यविभेद पाया जाता है।

(iii) **एकाधिकार बाजार**_(Monopoly Market) – एकाधिकार बाजार वह बाजार होता है जिसमें किसी वस्तु विशेष अथवा किसी सेवा विशेष का बाजार में केवल एक ही विक्रेता पाया जाता है। वह ऊँचा मूल्य निर्धारित करता है और वस्तुएँ समरूप होती हैं।

(स) स्थानीय या क्षेत्रानुसार बाजार –

(i) **स्थानीय बाजार** (Local Market) – स्थानीय बाजार उस बाजार को कहा जाता है जिसमें किसी वस्तु विशेष के क्रेता और विक्रेता किसी स्थान विशेष, नगर विशेष या गांव तक ही सीमित होते हैं।

(ii) **प्रादेशिक बाजार** (State Market) – प्रादेशिक बाजार का अभिप्राय उस बाजार से होता है जिसमें किसी वस्तु या सेवा विशेष के क्रेता–विक्रेता किसी राज्य या प्रदेश की सीमा में रहकर ही उसकी खरीद–फरोख्त करते है। उदाहरण के लिए जोधपुरी कोट, बंधेज कोटा–डोरिया की साड़ियाँ, चमड़े की मोजड़ियाँ आदि।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

(iii) **राष्ट्रीय या देशी बाजार** (National Market)_– राष्ट्रीय बाजार का अभिप्राय उस बाजार से होता है जिसमें वस्तुओं और सेवाओं के क्रेता–विक्रेता एक राष्ट्र की सीमा में रहकर ही अपना लेन–देन करते हैं। उदाहरणार्थ भारतीय साफे, पगड़ियाँ, बन्धेज की साड़ियाँ, फिरोजाबाद की चूड़ियाँ व लाख की चूड़ियाँ आदि।

(iv) **अन्तर्राष्ट्रीय बाजार** (International Market)_– अन्तर्राष्ट्रीय बाजार वह बाजार होता है जिसमें वस्तुओं और सेवाओं का क्रय–विक्रय एक राष्ट्र की सीमा को पार करके दूसरे राष्ट्रों की सीमाओं में प्रवेश कर जाता है अर्थात् यह बाजार विश्व के विभिन्न भागों में फैला होता है। उदाहरणार्थ, सोने–चाँदी, गेहूँ, दाल, चावल, पैट्रोल और सामरिक साजो–सामान का क्रय–विक्रय कर आयात–निर्यात करना आदि।

(द) कार्यानुसार बाजार –

(i) **सामान्य या मिश्रित बाजार** – जब एक ही बाजार में अनेक प्रकार की वस्तुओं का क्रय–विक्रय किया जाता है तो उसे ही मिश्रित बाजार कहा जाता है।

उदाहरण के लिए– कपड़ा, किताब, दाल–चावल, सोना–चाँदी, कम्प्यूटर व टी.वी. आदि। गाँवों व कस्बों और शहरों में प्रायः एक ही बाजार में अनेक प्रकार की वस्तुओं की खरीद फरोख्त की जाती है। वह मिश्रित बाजार ही होता है।

(ii) **विशिष्ट बाजार**_– जिस बाजार में किसी एक ही प्रकार की वस्तुएँ अथवा सेवाएँ खरीदी व बेची जाती हैं उसे विशिष्ट बाजार कहते हैं। उदाहरण के लिए धान मण्डी, सब्जी मण्डी, सराफा बाजार, कपड़ा बाजार आदि।

(iii) **नमूनों द्वारा बिक्री का बाजार** – जिस बाजार में नमूनों के आधार पर वस्तुओं का क्रय–विक्रय किया जाता है उसे नमूनों द्वारा बिक्री का बाजार कहा जाता है। उदाहरण के लिए एजेन्ट द्वारा LIC की पॉलिसी का विक्रय, विक्रय प्रतिनिधि द्वारा स्कूल, कॉलेजों और यूनिवर्सिटीज में नमूनों द्वारा पुस्तकों का विक्रय, साड़ियों की नमूनों द्वारा बिक्री आदि।

(iv) **श्रेणी या ग्रेड के अनुसार बिक्री** – जब बहुत सी वस्तुओं का पहले से ही श्रेणीकरण या प्रमाणीकरण कर दिया जाता है और व्यापारी वर्ग उन वस्तुओं की किस्म का ज्ञान केवल उसकी ग्रेड के आधार पर लगातार क्रय–विक्रय के सौदे करते हैं तो उसे श्रेणी या ग्रेड के अनुसार बाजार कहा जाता है। उदाहरण के लिए चावल की फाइन किस्म और सुपर फाइन किस्म, A ग्रेड की सीमेन्ट आदि।

उपरोक्त विवेचन के आधार पर हमें अर्थशास्त्र में बाजार का अर्थ परिभाषा और वर्गीकरण के बारे में विस्तृत जानकारी मिलती है।

प्रश्न

1. अर्थशास्त्र में बाजार से क्या अभिप्राय है? बाजार की परिभाषा दीजिये। किसी वस्तु के बाजार के आकार को प्रभावित करने वाले तत्वों का विवेचन कीजिये।
2. बाजार का अर्थ बताइये और उसका वर्गीकरण कीजिये।
3. किसी वस्तु के बाजार के विस्तार को निर्धारित करने वाले तत्वों को समझाइये।
4. ''बाजार का आशय उस सामान्य क्षेत्र से है, जहां किसी वस्तु विशेष के मूल्य को निर्धारित करने वाली शक्तियां क्रियाशील होती हैं।'' विवेचना कीजिये और साथ ही यह भी बताइये कि बाजार का वर्गीकरण किस प्रकार किया जा सकता है ?

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

अध्याय – 4

पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत मूल्य एवं उत्पादन मात्रा का निर्धारण

आज का युग प्रतियोगिताओं से भरा हुआ है। जीवन का चाहे कोई भी क्षेत्र हो हर क्षेत्र में मनुष्य को प्रतियोगिता का सामना करना पड़ता है। चाहे वह उद्योग का क्षेत्र हो अथवा व्यापार का अथवा वाणिज्य का अथवा नौकरी चाकरी का। प्रत्येक क्षेत्र में प्रतियोगिता से गुजर कर सफलता प्राप्त करने की चुनौती व्यक्ति के समक्ष सदैव विद्यमान रहती है।

इसी संदर्भ में जब हम व्यापार की बात करते हैं तो व्यापारी और ग्राहक दोनों को ही कोई भी वस्तु अथवा सेवा प्राप्त करने के लिए बाजार में मूल्य को लेकर मोल–भाव अर्थात् सौदेबाजी करनी पड़ती है। पूर्ण प्रतियोगिता में यह विशेष रूप से देखने को मिलता है।

पूर्ण प्रतियोगिता का अर्थ

पूर्ण प्रतियोगिता का अर्थ :– पूर्ण प्रतियोगिता का अभिप्राय बाजार की उस स्थिति से होता है जिसमें एक ही वस्तु अथवा सेवा के अनेक क्रेता और विक्रेता होते हैं तथा उनमें परस्पर इतनी प्रतियोगिता होती है कि पूरे बाजार में एक सी अथवा पूर्ण प्रतिस्थापन वस्तुओं तथा सेवाओं की एक ही कीमत प्रचलित रहती है। एक व्यक्तिगत विक्रेता अथवा फर्म पूरे बाजार की आपूर्ति का एक सूक्ष्म भाग उपलब्ध करता है। अतः कोई भी व्यक्तिगत फर्म या विक्रेता बाजार में कीमत को प्रभावित नहीं कर सकता है।

बाजार में कीमत का निर्धारण सभी फर्मों के द्वारा की जाने वाली सामूहिक पूर्ति और सम्पूर्ण बाजार की पारस्परिक शक्तियों के साम्य से होता है। बाजार में उपस्थित सभी फर्मे मिलकर उद्योग कहलाती है। अतः बाजार में मूल्य निर्धारण उद्योग की कुल पूर्ति और बाजार की कुल मांग को शक्तियों के साम्य से ऐसे बिन्दु पर होता है जहाँ वस्तु की पूर्ति और मांग दोनों बराबर होती है।

इससे यह सिद्ध होता है कि पूर्ण प्रतियोगिता में मूल्य का निर्धारण उद्योग द्वारा होता है। व्यक्तिगत फर्में या विक्रेता तो मूल्य के स्वीकारक होते हैं मूल्य के निर्धारक नहीं होते है। सभी फर्मों के लिए मूल्य का निर्धारण उद्योग द्वारा ही होता है। सभी फर्मे उद्योग द्वारा निर्धारित मूल्य पर केवल ''उत्पादन की मात्रा की समायोजन कर्त्ता'' होती है। व्यक्तिगत फर्म की अपनी कोई मूल्य नीति नहीं होती है वह तो उद्योग की मूल्य नीति को स्वीकार करके चलती है। अतः उसका मांग वक्र पूर्णतया लोचदार अर्थात् एक क्षैतिज पड़ी रेखा होती है।

उद्योग द्वारा पूर्ण प्रतियोगिता में मूल्य निर्धारण :–

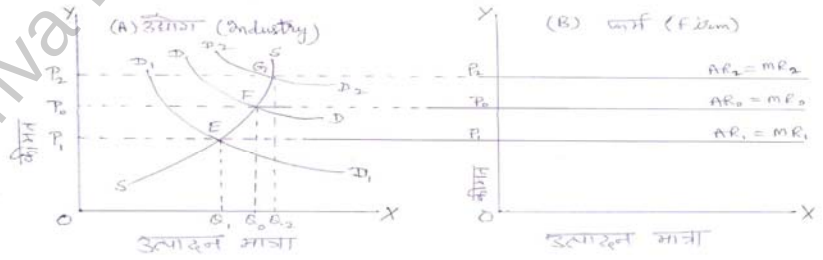

रेखाचित्र - 1

उपरोक्त रेखाचित्र–1 (अ) में उद्योग में कुल मांग और कुल पूर्ति की शक्तियों से बिन्दु E,F और G पर मूल्य का निर्धारण होता है जहाँ कुल मांग और कुल पूर्ति बराबर है। मांग DD वक्र पर जब OQ थी तो

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

F बिन्दु पर मांग और पूर्ति (ss) दोनों के बराबर होने से उद्योग में मूल्य का निर्धारण opo के बराबर होता है। इसे फर्म प्रचलित मूल्य मानकर चलती है। इसी क्रम में जब मांग वक्र D2D2 हो जाता है तो पूर्ति भी बढ़ाई जाती है और OQ2 मात्रा की कुल मांग और कुल पूर्ति पर मूल्य का निर्धारण N बिन्दु पर OP2 होता है। इसे भी फर्म दिया हुआ लेकर चलती है और अगर वस्तु की मांग घट जाती है तो D1D1 मांग वक्र पर पूर्ति भी घट जाने से मांग और पूर्ति दोनों के E बिन्दु पर बराबर होने से OQ1 मात्रा पर मूल्य OP1 रहता है। उत्पादन की कुल मात्रा का ये फर्मे परस्पर समायोजन करेंगी। यहाँ मूल्यों में समायोजन करना संभव नहीं होता है क्योंकि मूल्य तो दिया हुआ होता है जो सभी फर्मों को स्वीकार करना पड़ता है।

इसीलिए व्यक्तिगत फर्मों का मांग वक्र पूर्णतया लोचदार अर्थात् एक क्षैतिज या पड़ी हुई रेखा के रूप में होता है। जैसा कि रेखाचित्र 1(B) में क्रमशः मूल्य रेखा OP1 के AR1=MR1, OP0 के ARo=MRo और OP2 के AR2=MR2 के द्वारा बताया गया है।

फर्म किसी उद्योग विशेष की अविभाज्य इकाई होती है लेकिन मूल्य का निर्धारण उद्योग द्वारा होता है जबकि उत्पादन की कितनी मात्रा कौनसी फर्म उत्पादित करे इसका निर्धारण प्रत्येक फर्म द्वारा उत्पादन की उस मात्रा पर होता है जहां फर्म की सीमान्त लागत (MC) और सीमान्त आगम (MR) बराबर हो और व्यक्तिगत फर्म को एक दिये हुये मूल्य पर अधिकतम लाभ हो।

फर्म और उद्योग में अन्तर

1. पूर्ण प्रतियोगिता में फर्म उसे कहते हैं जो जितनी मात्रा में चाहे, प्रचलित बाजार मूल्य पर वस्तु बेच सकती है पर उसमें बाजार मूल्य में कमी का वृद्धि करने की क्षमता नहीं होती है। फर्म किसी उद्योग विशेष की एक इकाई होती है।	1. उद्योग किसी वस्तु विशेष के उत्पादन में संलग्न सभी उत्पादन इकाइयों के समूह के कहा जाता है।
2. प्रत्येक फर्म साम्य की अवस्था में तब होती है जब उसके उत्पादन की मात्रा में परिवर्तन की प्रवृत्ति नहीं हो और फर्म को उत्पादन की उस मात्रा पर अधिकतम लाभ प्राप्त हो रहा हो।	2. उद्योग साम्य की स्थिति में तब होता है जब उद्योग में उत्पादन की निर्धारित मात्रा पर अधिकतम लाभ प्राप्त हो रहा हो।

साम्यावस्था की मान्यतायें

1. पूर्ण प्रतियोगिता में प्रत्येक फर्म अपने लाभ को अधिकतम करने हेतु प्रयत्नशील रहती है और फर्मों का व्यवहार विवेकशील होता है।
2. प्रत्येक फर्म अपनी लागत को न्यूनतम करने हेतु प्रयत्न रहती है।
3. विक्रेताओं को विभिन्न साधनों की कीमत का पूर्ण ज्ञान रहता है।
4. उत्पादन साधनों की सभी इकाइयाँ समान रूप से कुशल हैं और कोई भी फर्म वर्तमान मूल्यों पर किसी भी साधन की जितनी इकाइयाँ चाहे उपयोग में ला सकती है।

पूर्ण प्रतियोगिता में फर्म के साम्य निर्धारण के दृष्टिकोण

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

(अ) कुल लागत एवं कुल आगम दृष्टिकोण (Total cost & Total Revenue or TC & TR Approach)

(ब) सीमान्त लागत एवं सीमान्त आगम दृष्टिकोण (Marginal cost & marginal Revenue (MC=MR) Approach)

अ. **फर्म के साम्य की कुल लागत एवं कुल आगम रीति :–**

पूर्ण प्रतियोगिता में फर्म उद्योग द्वारा निर्धारित मूल्य पर अपने उत्पाद की चाहें जितनी मात्रा बेचने को स्वतन्त्र होती है। प्रचलित मूल्य पर जैसे–जैसे उत्पादन की मात्रा बेची जाती है वैसी–वैसी कुल आगम (TR) भी बढ़ता जाता है। इसी प्रकार उत्पादन की कुल लागत भी उत्पादन मात्रा के साथ–साथ बढती जाती है। इसे रेखा चित्र–2 से समझाया जा सकता है –

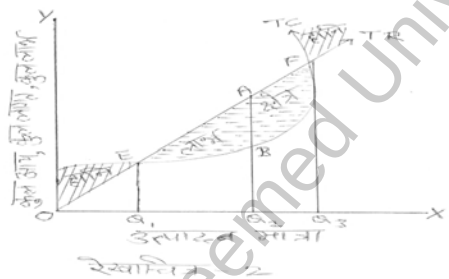

उपरोक्त रेखाचित्र में TR कुल आगम व TC कुल लागत रेखा है। दोनों के बीच E से F तक की दूरी लाभ क्षेत्र है। इसमें फर्म उत्पादन की OQ मात्रा पर साम्य की स्थिति में है जहाँ AB लाभ सर्वाधिक है।

TC और TR रेखा में एक–दूसरे को परस्पर E तथा F बिन्दुओं पर काटती हैं अर्थात् उत्पादन की क्रमशः OQ1 और OQ3 मात्राओं पर कुल लागत (TC) और कुल आगम (TR) दोनों बराबर अर्थात् (TR=TC) हैं। दोनों बिन्दुओं E तथा F को समविच्छेद बिन्दु (Break even Points) कहते हैं। यहाँ उत्पादक को केवल सामान्य लाभ ही होता है। बिन्दु E से पहले और F के बाद कुल लागत रेखा कुल आगम रेखा से ऊपर है। इसलिए फर्म को OQ1 से कम तथा OQ3 से अधिक उत्पादन करने पर हानि होती है जबकि फर्म का लाभ क्षेत्र E तथा F के मध्य OQ1 से OQ3 में निहित है। इस लाभ क्षेत्र में फर्म को OQ2 उत्पादन पर AB अधिकतम लाभ मिलता है। जहाँ TC और TR के मध्य अधिकतम अन्तर है।

आलोचना

यह दृष्टिकोण अवैज्ञानिक है। अतः यह प्रचलन में भी कम है जबकि इसके विपरीत सीमान्त आगम एवं सीमान्त आगम विधि वैज्ञानिक दृष्टिकोण पर आधारित है। अतः व्यवहार में उसका प्रचलन अधिक है।

फर्म के साम्य निर्धारण की सीमान्त लागत एवं सीमान्त आगम विधि :–

इस दृष्टिकोणनुसार फर्म का साम्य उत्पादन की उस मात्रा पर होता है जहाँ फर्म की सीमान्त लागत (Marginal cost or MC) और उसकी सीमान्त आगम

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

(Marginal Revenue or MR) दोनों बराबर होते है। अर्थात् फर्म का साम्य उस बिन्दु पर होता है जहाँ फर्म की MC=MR होती है। इसमें बढ़ती हुई सीमान्त लागत की अवस्था में जहाँ MC=MR होते हैं, वहीं फर्म के अधिकतम लाभ की साम्य अवस्था होती है।

सीमान्त लागत (MC) तथा सीमान्त आगम (MR) उत्पादन की जिस मात्रा पर दोनों बराबर (MC=MR) होते हैं तो फर्म को उस उत्पादन मात्रा पर अधिकतम लाभ प्राप्त होता है। बशर्ते कि सीमान्त लागत वक्र सीमान्त आगम वक्र (MR) को नीचे से काटती हुई ऊपर की ओर चढ़ती हुई रेखा हो। ऐसी स्थिति में फर्म का औसत लाभ, औसत आगम (AR) तथा औसत लागत (AC) के बीच अन्तर से स्पष्ट हो जाता है। यह उल्लेखनीय है कि यदि MC रेखा MR को ऊपर से काटती हुई नीचे गिरती हुई रेखा हो तो यह साम्य का बिन्दु नहीं बल्कि न्यूनतम हानि की स्थिति होती है। अतः फर्म को अपना लाभ अधिकतम करने के लिए उत्पादन उस बिन्दु तक बढ़ाना पड़ता है जहाँ MC और MR को नीचे से काटे जैसा कि रेखाचित्र से स्पष्ट होता है।

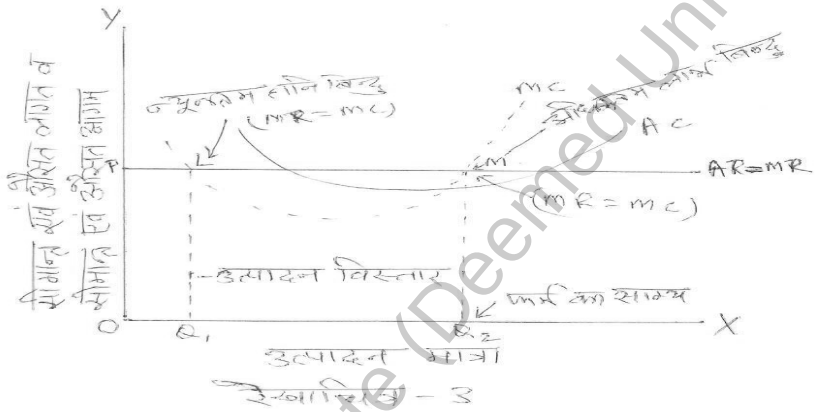

रेखाचित्र – 3

रेखाचित्र – 3 में सीमान्त लागत (MC) रेखा है जबकि पूर्ण प्रतियोगिता से AR=MR=P बाजार में प्रचलित निर्धारित मूल्य है। यद्यपि L बिन्दु की OQ1 मात्रा पर भी MR=MC है फिर भी यह फर्म का साम्य बिन्दु नहीं हैं क्योंकि MC रेखा MR को ऊपर से काटती हुई नीचे गिरती है। यह तो फर्म की न्यूनतम हानि का बिन्दु है जबकि फर्म का साम्य बिन्दु M है जहाँ OQ2 उत्पादन मात्रा पर फर्म का लाभ अधिकतम है क्योंकि यह MC रेखा MR को नीचे से काटती हुई ऊपर की ओर उठती रेखा है यही फर्म के संतुलन की स्थिति कहलाती है।

पूर्ण प्रतियोगिता में अल्पकाल में मूल्य एवं उत्पादन मात्रा का निर्धारण

अल्पकाल में फर्म की साम्यावस्था :– प्रत्येक फर्म पूर्ण प्रतियोगिता में यद्यपि अपने लाभ को अधिकतम करने का प्रयास करती है लेकिन अल्पकाल में फर्म उत्पादन के साधनों की मात्रा व फर्म के आकार में परिवर्तन नहीं कर सकती है। इसलिए उद्योग द्वारा निर्धारित मूल्य पर उस फर्म को अल्पकाल में अतिरिक्त लाभ हो सकता है, सामान्य लाभ हो सकता है अथवा हानि भी हो सकती है।

फर्म का साम्य तथा लाभ की मात्रा अधिकतम तब होती है जबकि फर्म की सीमान्त लागत (MC) और सीमान्त आगम (MR) दोनों बराबर हो जाये यानि (MC=MR) हो और MC वक्र MR रेखा को नीचे से काटे। रेखाचित्र द्वारा तीनों स्थितियों को निम्नलिखित प्रकार प्रदर्शित किया जा सकता है–

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

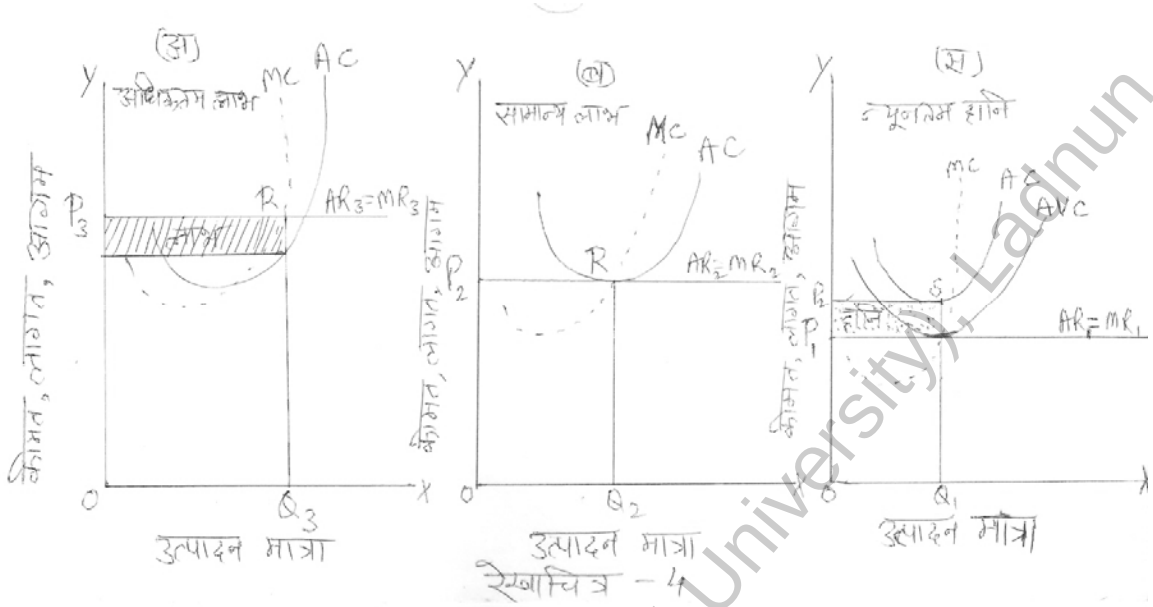

रेखाचित्र – 4

रेखाचित्रों की व्याख्या :– उपरोक्त तीनों रेखाचित्रों में फर्म की औसत लागत (AC) सीमान्त लागत (MC) और औसत आगम (AR) तथा सीमान्त आगम (MR) रेखाओं की सहायता से फर्म के साम्य को अल्पकाल में फर्म को होने वाले असामान्य/ अतिरिक्त लाभ, सामान्य लाभ तथा हानि की दशाओं को चित्रित किया गया हे। यहाँ फर्म साम्य की स्थिति में तब होती है जबकि MC और MR दोनों बराबर होती है।

रेखाचित्र–4 (अ) में जब बाजार में वस्तु की कीमत OP3 है तो उत्पादन की OQ3 मात्रा के R बिन्दु पर MR3, MC के बराबर है। इस मूल्य पर औसत लागत AC औसत आगम (AR3) से कम है अतः फर्म प्रति इकाई RS के बराबर लाभ प्राप्त होता है और कुल उत्पादन Q3 पर लाभ की मात्रा P3RSP2 प्राप्त होती है जो अधिकतम है।

रेखाचित्र–4 (ब) में कीमत तब घटकर OP2 रह जाती है तो इस कीमत पर MC और MR दोनों बिन्दु R पर मिलते हैं जहां उत्पादन की मात्रा OQ2 है। इस उत्पादन मात्रा पर फर्म की P2=AR2=MR2=MC=AC हैं। इसलिए फर्म को केवल सामान्य लाभ ही प्राप्त होता है।

रेखाचित्र–3 (स) में जब कीमत गिरकर OP1 रह जाती है तो फर्म का औसत लागत (AC) वक्र आगम AR1 और MR1 से ऊपर है अर्थात् अधिक है। फर्म OP1 कीमत पर उत्पादन की OQ1 मात्रा निर्धारित करेगी क्योंकि इस स्थिति में X बिन्दु पर MR1=MC यह फर्म की हानि की स्थिति को प्रकट करती है। फर्म को प्रति इकाई हानि SR के बराबर होगी और कुल हानि OQ1 उत्पादन पर P1RSP2 के बराबर होगी।

क्या फर्म हानि उठाकर भी उत्पादन चालू रख सकती है ?

किसी भी फर्म को दीर्घकाल में उसके उत्पादन की औसत लागत (AC) के बराबर मूल्य मिलना ही चाहिए। कुल लागत में दो प्रकार की लागते शामिल होती है (i) स्थिर लागतें (FIC) और परिवर्तनशील लागतें (VIC) जो उत्पादन की मात्रा में घटते–बढ़त के साथ–साथ घटती–बढ़ती रहती है। अतः कोई भी फर्म अल्पकाल में हानि उठाकर भी उत्पादन तब तक चालू रखेगी जब तक कि फर्म को अपनी औसत परिवर्तनशील लागत (AVC) के

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

बराबर तक मूल्य मिल ही जावे। यदि मूल्य AVC से नीचे चले जाते हैं तो फर्म उत्पादन बंद कर देगी क्योंकि वह यह जानती है कि FC का भार तो उत्पादन करने न करने दोनों ही स्थितियों में उसे उठाना ही पड़ेगा।

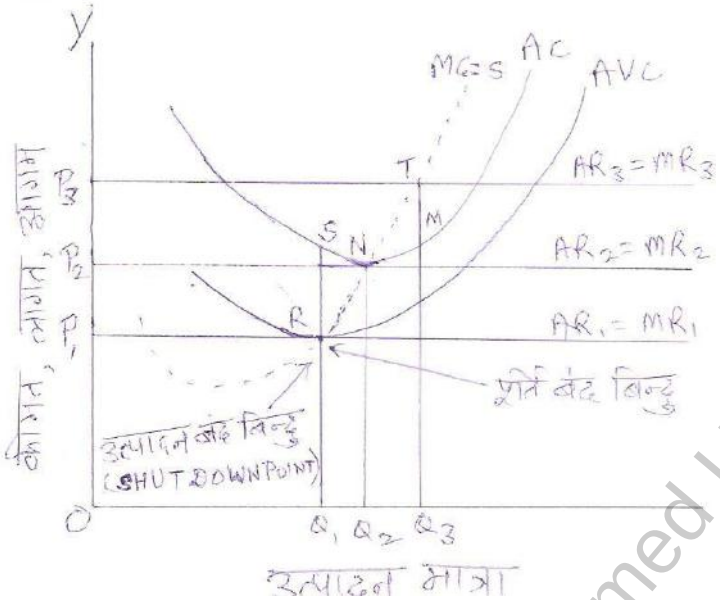

उपरोक्त रेखाचित्र में फर्म को जब तक OQ1 उत्पादन पर बेचने पर OP1 मूल्य मिलता रहेगा तब तक फर्म उत्पादन चालू रखेगी क्योंकि यहाँ तक उत्पादन करने पर उसे औसत परिवर्तनशील लागत AVC मिल रही है। हाँ, अब OP1 से भी नीचे यदि मूल्य गिरते हैं तो फर्म तुरन्त उत्पादन बंद कर देगी।

पूर्ण प्रतियोगिता में दीर्घकाल में उत्पादन एवं कीमत निर्धारण

पूर्ण प्रतियोगिता में दीर्घकाल में फर्म में फर्म और उद्योग दोनों को ही सामान्य लाभ (Normal Profit) की प्राप्ति होती है क्यों दीर्घकालीन में समय इतना लम्बा होता है कि फर्में अपने आकार को घटा–बढ़ाकर उत्पादन की मात्रा को मांग के अनुसार ढाल सकती है। हानि या अतिरिक्त लाभ (Abnormal Profit) की कोई संभावना नहीं रहती है।

उसका कारण यह है कि दीर्घकालीन में फर्म और उद्योग दोनों की साम्यावस्था तब होती है जबकि मूल्य (P) सीमान्त लागत (MC)= औसत लागत (AC) = सीमान्त आगम (MR) = औसत आगम (AR) या P=MC=MR=AC=AR होती है। इसे रेखाचित्र द्वारा चित्रित कर समझाया जा सकता है–

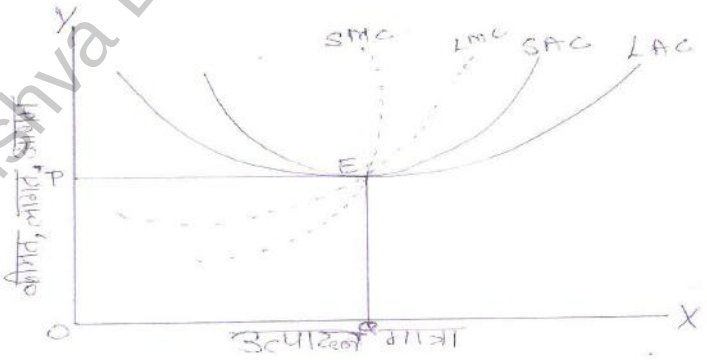

रेखाचित्र – 6

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

यहाँ रेखाचित्र में OP मूल्य पर OQ उत्पादन मात्रा दीर्घकाल में बेची जा रही है। OP अथवा OQ के E (साम्य) बिन्दु पर दीर्घकालीन सीमान्त लागत (LMC) और दीर्घकालीन औसत लागत (LAC) और AR तथा MR सभी बराबर है। अतः फर्म को सामान्य लाभ प्राप्त हो रहा है।

पूर्ण प्रतियोगिता में दीर्घकाल में उद्योग का साम्य

जैसा कि पूर्व में बताया गया जा चुका है कि दीर्घकाल में उद्योग को भी सामान्य लाभ ही प्राप्त होता है क्योंकि उद्योग में पायी जाने वाली सभी फर्मों को स्थिति दीर्घकाल में P=MC=MR=AC=AR की होती है। इसे रेखाचित्र द्वारा समझाया जा सकता है।

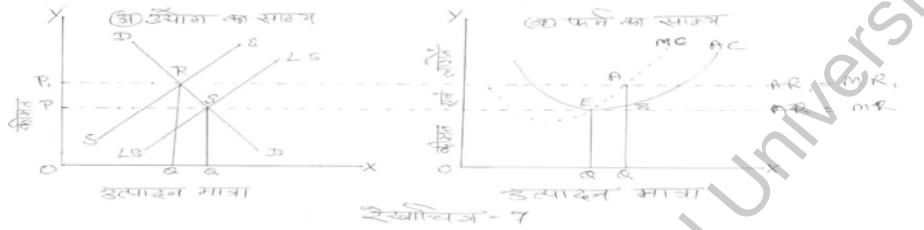

रेखाचित्र - 7

उपरोक्त रेखाचित्र में जब कीमत OP1 थी तो फर्म के साम्य बिन्दु A पर अल्पकाल में AB अतिरिक्त लाभ मिलता है क्योंकि इस बिन्दु पर MR=MC है लेकिन AR>AC अर्थात् AR,AC से अधिक है। अतः फर्म को AB के बराबर लाभ मिलने से नई फर्मों का प्रवेश होगा।

उद्योग में OP1 मूल्य पर उसका साम्य R बिन्दु पर होगा लेकिन उद्योग का दीर्घकालीन साम्य S बिन्दु पर उत्पादन की OQ2 मात्रा पर ही होगा क्योंकि OP कीमत पर सभी फर्मों में E बिन्दु पर (P) = सीमान्त आय (MR) = सीमान्त लागत (MC) = औसत लागत (AC)= औसत आगम (AR) सब बराबर है। उद्योग उत्पादन की OQ2 मात्रा पर दीर्घकालीन पूर्ति वक्र LS के द्वारा S बिन्दु पर साम्यावस्था की स्थिति में होगा।

निष्कर्षतः पूर्ण प्रतियोगिता के बारे में यह कहा जा सकता है कि वास्तविक जीवन में पूर्ण प्रतियोगिता एक कल्पना एवं मिथ्या धारणा है। सैद्धान्तिक रूप से तो यह सही है पर व्यवहार में नहीं पायी जाती। व्यवहार में अपूर्ण प्रतियोगिता और एकाधिकार की स्थिति ही देखने को मिलती है।

संक्षेप में प्रतियोगिता के आधार पर बाजार का वर्गीकरण निम्नांकित मानचित्र द्वारा भी किया जा सकता है।

<u>प्रतियोगिता के आधार पर बाजार का वर्गीकरण</u>

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

प्रश्न

1. पूर्ण प्रतियोगिता में अल्पकाल में कीमत एवं उत्पादन मात्रा का निर्धारण कैसे होता है? सचित्र स्पष्ट कीजिये।

   (संकेत : जिन प्रश्नों के उतर में चित्र बनाया जाना है वहां चित्र अवश्य बनाईये और सचित्र उतर दीजिये।)

2. पूर्ण प्रतियोगिता में अल्पकाल में एवं दीर्घकाल में कीमत व उत्पादन मात्रा का निर्धारण कैसे होता है ? स्पष्ट कीजिये। यह भी बताईये कि क्या फर्म हानि उठाकर भी उत्पादन चालू रख सकती है ?

3. पूर्ण प्रतियोगिता पूर्ण प्रतियोगिता का अर्थ, परिभाषा और विशेषतायें बताइये।

4. पूर्ण प्रतियोगिता का क्या आशय है ? इसकी विशेषतायें बताइये और यह भी बताइये कि इसमें मूल्य का निर्धारण कैसे किया जाता है ?

5. पूर्ण प्रतियोगिता में रेखाचित्रों की सहायता से फर्म के सन्तुलन की विवेचना कीजिये। हानि की दशा में फर्म अल्पकाल में कब तक उत्पादन जारी रख सकती है ?

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

अध्याय – 5

अपूर्ण प्रतियोगिता : (i) एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता के अन्तर्गत मूल्य व उत्पादन मात्रा का निर्धारण –

एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता के एकाधिकृत प्रतियोगिता अथवा एकाधिकारी प्रतियोगिता के नाम से भी जाना जाता है।

एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता का अर्थ – एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता अपूर्ण प्रतियोगिता की एक मुख्य किस्म है। यह पूर्ण प्रतियोगिता के बहुत निकट होने पर भी वस्तु विभेद के कारण प्रत्येक विक्रेता का अपनी वस्तु पर एक प्रकार से अर्द्ध एकाधिकार रहता हैं।

एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता का अभिप्राय बाजार की उस स्थिति से होता है जिसमें विक्रेताओं की संख्या बहुत अधिक न होकर केवल अधिक होती है और वस्तु विभेद के कारण विभिन्न विक्रेताओं की वस्तुएँ पूर्ण स्थान्नापन्न न होकर अपूर्ण–स्थान्नापन्न होती है। इससे प्रत्येक विक्रेता को अपनी वस्तु के लिए एकाधिकारी होते हुये भी अपूर्ण स्थान्नापन्न वस्तुओं की प्रतिस्पर्द्धा का सामना करना पड़ता है।

विशेषताएँ

1. वस्तु विभेद पाया जाता है। 2. मूल्य विभेद पाया जाता है। 3. फर्मों की संख्या बहुत अधिक न होकर केवल अधिक होती है। 4. प्रत्येक फर्म अपनी वस्तु विशेष के लिए एकाधिकारी होती है। 5. उद्योग में नई फर्मों के प्रवेश व बर्हिगमन की स्वतन्त्रता होती है।

एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता में साम्य अथवा कीमत एवं उत्पादन निर्धारण

जैसा कि हम जानते हैं कि अल्पकाल में समय इतना कम होता है कि फर्म अपनी पूर्ति को परिवर्तित नहीं कर सकती है। मांग–पक्ष मूल्य का उत्पादन मात्रा निर्धारण में अधिक प्रभावी रहता है। यदि फर्म की वस्तु की मांग बाजार में अधिक है तो फर्म को अधिक लाभ होगा और यदि मांग पक्ष बहुत कम हो तो फर्म को हानि भी हो सकती है। इस प्रकार फर्म को अल्पकाल में (अ) अतिरिक्त लाभ (ब) सामान्य लाभ (स) हानि हो सकती है। इन्हें निम्नांकित रेखाचित्र द्वारा प्रदर्शित किया जा सकता है–

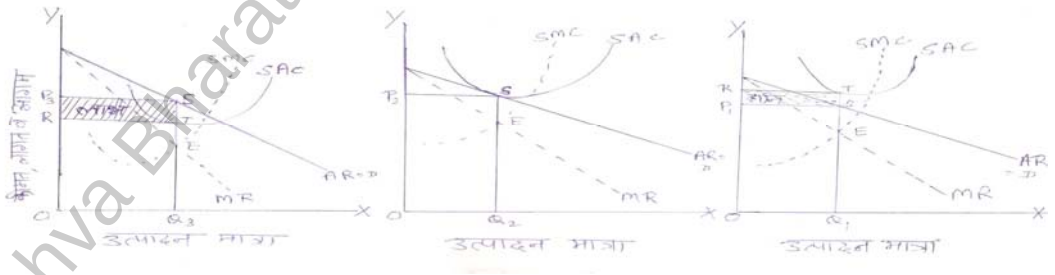

रेखाचित्र – 1

उपरोक्त तीनों रेखाचित्रों में AR और MR क्रमशः एकाधिकृत फर्म की औसत आगम एवं सीमान्त आगम रेखायें हैं और SAC तथा SMC क्रमशः अल्पकालीन औसत लागत वक्र और सीमान्त लागत (MC) वक्र रेखायें हैं। फर्म का साम्य तीनों चित्रों में E बिन्दु पर बताया गया है जहाँ पर MC और MR दोनों बराबर (MC=MR) है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

रेखाचित्र 1 (अ) में उत्पादक OQ3 मात्रा का उत्पादन करेगा और OP1 या SQ3 उसकी कीमत होगी। साम्य बिन्दु पर AR,AC से अधिक अर्थात् AR>AC है। इसलिए फर्म को यहाँ P, STR के बराबर असामान्य या अतिरिक्त लाभ होगा P1R या ST के बराबर प्रतिइकाई लाभ होगा।

रेखाचित्र 1 (ब) में यह बताया गया है कि एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता में फर्म को सामान्य लाभ भी हो सकता है चूंकि फर्म के E बिन्दु पर MC=MR होने से साम्य की अवस्था OQ2 मात्रा का उत्पादन करती है और मूल्य OP या SQ2 रखती है। इस स्थिति में फर्म AR=SAC है। इसलिए फर्म को केवल औसत लागत के बराबर ही कीमत मिल रही है। अतः ऐसी दशा में फर्म को शून्य लाभ ही होता है।

रेखाचित्र 1 (स) में फर्म का साम्य यद्यपि E बिन्दु पर MR=SMC के है पर फर्म की अल्पकालीन औसत लागत SAC>AR है। इसलिए फर्म की कीमत OP0 या SQ1 है जबकि फर्म की प्रति इकाई लागत OR या TQ1 है अतः फर्म को प्रति इकाई TS या RP0 के बराबर हानि हो रही है तथा कुल हानि RTSP0 के बराबर है। यहाँ हानि की स्थिति में भी फर्म उत्पादन तब तक जारी रखेगी जबकि फर्म को कम से कम औसत परिवर्तनशील लागत (AVC) के बराबर कीमत मिलती रहे। यदि अल्पकाल में कीमतें AVC से भी नीचे चली जायेगी तो फर्म उत्पादन करना बंद कर देगी।

दीर्घकालीन में एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता में फर्म का साम्य या मूल्य तथा उत्पादन निर्धारण –

दीर्घकाल में एकाधिरात्मक प्रतियोगिता में फर्म के साम्य की दो स्थितियाँ देखने को मिलती है– (1) नई फर्मों का प्रवेश खुला होने पर फर्म का दीर्घकालीन साम्य (2) नई फर्मों का प्रवेश अवरूद्ध होने पर फर्म का दीर्घकालीन साम्य।

(1) नई फर्मों का प्रवेश खुला होने पर फर्म का दीर्घकालीन साम्य – यदि एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता में दीर्घकाल में उद्योग में नई फर्मों के प्रवेश और पुरानी फर्मों के बहिर्गमन की खुली छूट हो तो प्रत्येक फर्म साम्य की अवस्था में केवल सामान्य लाभ ही प्राप्त कर सकती है। क्योंकि दीर्घकाल में समय इतना लम्बा होता है कि प्रत्येक फर्म न केवल अपनी पूर्ति को बाजार की मांग के अनुसार समायोजित कर लेगी बल्कि असामान्य लाभ कमाने वाली फर्मों के ऊँचे लाभों से आकर्षित होकर नई फर्में उद्योग में प्रवेश करेगी और उनकी उत्पादित निकटतम स्थान्नापन्न वस्तुओं की पूर्ति बढ़ने से पुरानी फर्मों द्वारा भी अधिक लाभ कमाने की प्रवृत्ति के कारण वस्तुओं की पूर्ति बढ़ेगी और मांग यथावत रहने पर मूल्यों में गिरावट होने से प्रत्येक फर्म को प्राप्त औसत आगम (AR) उसकी दीर्घकालीन औसत लागत (LAC) के बराबर हो जायेगा अर्थात् AR=LAC होने से प्रत्येक फर्म को केवल सामान्य लाभ ही प्राप्त हो सकेगा।

इसे रेखाचित्र द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है–

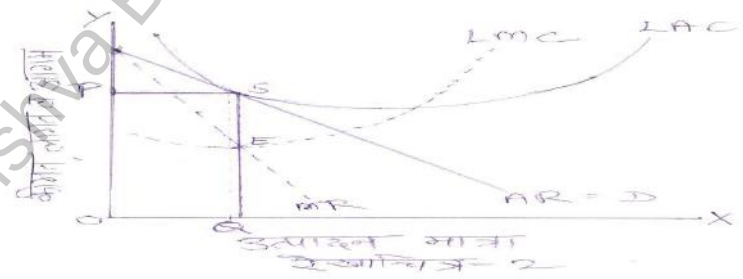

रेखाचित्र–2 में E बिन्दु पर LMC=MR है। अतः फर्म वस्तु की OQ मात्रा उत्पादित करके साम्य मूल्य OP या SQ निर्धारित करेगी। उत्पादन की OQ मात्रा एवं OP मूल्य पर एकाधिकृत प्रतियोगिता में दीर्घकालीन साम्य

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

की दोहरी शर्त पूरी होती है। क्योंकि OP मूल्य पर न केवल LMC=MR है वरन् LAC=AR भी है। इसलिए एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता में दीर्घकाल में नई फर्मों का प्रवेश खुला होने पर प्रत्येक फर्म को केवल सामान्य लाभ ही प्राप्त होता है।

(ii) **नई फर्मों का प्रवेश अवरूद्ध होने पर फर्म का दीर्घकालीन साम्य** :–

सामान्यतः एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता में नई फर्मों का प्रवेश और पुरानी फर्मों के बर्हिगमन पर कोई प्रतिबन्ध नहीं होता है किन्तु कभी–कभी नई फर्मों के प्रवेश पर प्रभावी रोक लगा दी जाती है क्योंकि ये फर्में शक्तिशाली संघों या राजनैतिक प्रभाव से जब कानून द्वारा नई फर्मों के प्रवेश को अवरूद्ध करवा देते हैं तो फिर पुरानी फर्में अपने लाभ को अधिकतम करने में सफल हो जाती हैं और वे दीर्घकाल में अपने लाभ को अधिकतम कर लेती है। इसे निम्नांकित रेखाचित्र द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है–

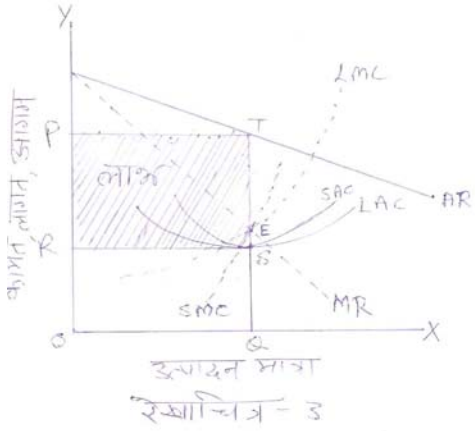

रेखाचित्र – 3

इस चित्र में E बिन्दु पर फर्म का साम्य है और LMC=MR है। इस साम्य बिन्दु पर फर्म वस्तु की OQ मात्रा उत्पादित करती है और फर्म का साम्य मूल्य OP या TQ है। इस दीर्घकालीन साम्य मूल्य पर फर्म का औसत आगम AR उसके दीर्घकालीन औसत लागत (LAC) AR से अधिक है अर्थात् AR>LAC है। इसलिए यहाँ फर्म को प्रति इकाई TS या PR के बराबर अतिरिक्त लाभ प्राप्त होता है तथा कुल लाभ प्राप्त होता है तथा कुल लाभ PRST के बराबर प्राप्त होता है।

यह विशेष उल्लेखनीय है कि एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता में दीर्घकालीन साम्यावस्था में फर्म उत्पादन का वही पैमाना चुनेगी जो SAC=LAC और SMC=LMC हो। उपरोक्त रेखाचित्र में इसी पैमाने को फर्म ने अपनाया है।

प्रश्न

1. एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता का अर्थ एवं विशेषतायें बताईये।
2. एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता में अल्प काल में कीमत एवं उत्पादन का निर्धारण कैसे किया जाता है ? सचित्र स्पष्ट कीजिये।
3. एकाधिकृत प्रतियोगिता में अल्पकाल में एवं दीर्घकाल में मूल्य एवं उत्पदान का निर्धारण कैसे होता है ? रेखाचित्र की सहायता से समझाइये।
4. एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता में अल्पकाल एवं दीर्घकाल में कीमत एवं उत्पादन का निर्धारण किस प्रकार होता है ? सचित्र समझाइये।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

अध्याय – 6

अपूर्ण प्रतियोगिता : (ii) द्वयाधिकार तथा अल्पाधिकार या अल्पविक्रेताधिकार के अन्तर्गत साम्य या कीमत एवं मूल्य का निर्धारण

द्वयाधिकार (Duopoly)

द्वयाधिकार का अर्थ : बाजार की उस स्थिति से होता है जब कि पूरे बाजार में किसी भी वस्तु अथवा सेवा के केवल ही विक्रेता अथवा आपूर्तिकर्त्ता होते हैं और दोनों का बजार की सम्पूर्ण पूर्ति पूर्ण नियन्त्रण एवं प्रभाव होता है। ये दोनों विक्रेता एक प्रकार से एकाधिकारी के समान आचरण कर सकते हैं। बशर्ते दोनों पारस्परिक समझौते द्वारा संयुक्त रूप से पूर्ति और मूल्य पर नियंत्रण रखे।

यह अल्पविक्रेताधिकार या अल्पाधिकार का ही छोटा रूप है लेकिन फिर भी दोनों में कुछ अन्तर पाये जाते हैं जो निम्नलिखित है :–

1. द्वयाधिकार में किसी वस्तु विशेष के समूचे बाजार में मात्र दो ही उत्पादक या विक्रेता या पूर्तिकर्त्ता होते हैं जबकि अल्पाधिकार में उस वस्तु या सेवा विशेष के विक्रेताओं की संख्या दो से अधिक किन्तु फिर भी थोड़ी सी होती है।
2. द्वयाधिकार में विक्रेताओं की संख्या केवल दो ही होने से उनमें पारस्परिक समझौते द्वारा एकाधिकारी लाभ अर्जन करने की संभावना अधिक होती है और प्रतियोगिता कम होती है जबकि अल्पाधिकार में अपेक्षाकृत प्रतियोगिता अधिक होती है और लाभ कम होता है।
3. द्वयाधिकार में दोनों उत्पादक या विक्रेता समान वस्तुएँ उत्पादित करते हैं अथवा थोड़ा बहुत वस्तु विभेद अवश्य पाया जाता है।
4. व्यावहारिक जीवन में द्वयाधिकार की स्थिति देखने को नहीं मिलती है लेकिन फिर भी सैद्धान्तिक रूप से उसका महत्त्व अवश्य है जबकि अल्पाधिकार की स्थिति व्यावहारिक जीवन में अवश्य देखने को मिलती है।

अल्पाधिकार अथवा अल्पविक्रेताधिकार (Oligopoly)

अर्थ :– अल्पाधिकार का अभिप्राय बाजार की उस स्थिति से होता है जिसमें किसी वस्तु विशेष के विक्रेताओं की संख्या थोड़ी होती है और उनमें परस्पर प्रतिस्पर्द्धा भी कम होती है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि अल्पाधिकार बाजार की वह स्थिति होती है जिसमें विक्रेताओं की संख्या दो से अधिक किन्तु अल्प थोड़ी होती है। प्रत्येक व्यक्तिगत फर्म कुल उत्पादन का बहुत बड़ा भाग उत्पादित कर अपनी पूर्ति से बाजार मूल्य को काफी हद तक प्रभावित कर सकती है।

परिभाषा :– प्रो. मेयर्स के अनुसार – ''अल्पविक्रेताधिकार बाजार की उस स्थिति को कहते है जिसके बहुत थोड़े से विक्रेता होते हैं उनमें प्रत्येक उत्पादक कुल उत्पादन का काफी बड़ा भाग उत्पादित करता है। फलस्वरूप कोई एक उत्पादक अपने उत्पाद या मूल्य में परिवर्तन करके अपने अन्य उत्पादकों के मूल्य व उत्पादन को काफी बड़ी सीमा तक प्रभावित कर सकता है।''

उदाहरण के लिये जैसे– पैट्रोलियम के उत्पादन में इण्डियन ऑयल कं (IOC), हिन्दुस्तान पैट्रोलियम (HP), इन्डो–बर्मन पेट्रोलियम (IBP), और भारत पैट्रोलियम (BP) आदि अल्पाधिकार की श्रेणी में आते हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

अल्पाधिकार की विशेषतायें :– (1) उद्योग में फर्मों की संख्या कम या अल्प होती है। (2) व्यक्तिगत रूप से प्रत्येक फर्म बाजार की पूर्ति का बहुत बड़ा भाग उपलब्ध करवाती है। (3) सभी फर्मों की स्थिति एकाधिकारी की शक्ति के तुल्य होती है। (4) व्यक्तिगत फर्म की मांग वक्र प्रायः निश्चित होता है क्योंकि यह प्रतिद्वन्द्वी फर्मों की प्रतिक्रिया के अधीन होता है और यह प्रतिक्रिया अनिश्चित होती है। (5) प्रतिद्वन्द्वी फर्मों की प्रतिक्रिया का ध्यान रखकर इसमें प्रत्येक व्यक्तिगत फर्म को अपनी कीमत उत्पादन नीति निर्धारित करनी पड़ती है। (6) अल्पाधिकार में फर्मों की प्रतियोगिता एवं संघर्ष मौन नहीं रहता, बल्कि बड़ा ही तीव्र रूप धारण कर सकता है जिसे कीमत युद्ध कहा जा सकता है। (7) अल्पाधिकार में प्रत्येक फर्म अपनी स्थिति को मजबूत करने और अपना अस्तित्व बनाये रखने के लिए खुलकर विज्ञापन का सहारा लेती है। विज्ञापन उनके जीवन–मरण का प्रश्न बन सकता है (8) कीमत व उत्पादन मात्रा निर्धारण का इसमें कोई निश्चित सिद्धान्त नहीं है।

अल्पाधिकार में कीमत व उत्पादन मात्रा का निर्धारण

अल्पाधिकार में कीमत एवं उत्पादन निर्धारण की तीन विधियाँ हैं जो निम्नलिखित हैं–

(अ) स्वतन्त्र मूल्य निर्धारण

(ब) कपट–संधि अथवा गुटबंदी के अन्तर्गत मूल्य निर्धारण

(स) मूल्य नेतृत्व के अन्तर्गत मूल्य निर्धारण

(अ) अल्पाधिकार में स्वतन्त्र मूल्य निर्धारण :– अल्पाधिकार में जब उद्योग की हर एक फर्म अपनी वस्तु की मूल्य व उत्पादन नीति का निर्धारण अपने प्रतिद्वन्द्वियों की प्रतिक्रियाओं का समुचित अध्ययन करने के बाद स्वतन्त्र रूप से करती है और उसके उत्पाद में वस्तु विभेद होता है तो प्रत्येक अल्पाधिकारी फर्म की कीमत एकाधिकार कीमत के समान हो सकती है और यदि अल्पाधिकार की समस्त फर्मों की वस्तु समरूप हो तो स्वतन्त्र रूप से कीमत निर्धारण में सभी फर्मों की एक सी कीमत हो सकती है। बशर्ते की बाजार का विभाजन सभी फर्मों के बीच एक समान हो और उनके लागत वक्र में एकरूपता हो। इसके विपरीत यदि फर्म का मांग वक्रअनिश्चित हो तो अल्पाधिकार की प्रत्येक फर्म का मूल्य एवं उत्पादन मात्रा भी अनिश्चित ही होगी और उनकी अनेक संभावनायें हो सकती है।

(1) स्वतन्त्र रूप से मूल्य और उत्पादन निर्धारण से विभिन्न फर्मों के बीच पारस्परिक प्रतिस्पर्द्धा से मूल्य युद्ध होगा और मूल्यों में अत्यधिक अस्थिरता हो सकती है।

(2) विभिन्न प्रतिद्वन्द्वी फर्में हो सकता है कि प्रयोग एवं त्रुटि की विधि के अनुरूप स्वतन्त्र रूप से ऐसा मूल्य निर्धारित करें कि यथासंभव अधिकतम लाभ मिल सके।

(3) कीमतों के उचित एवं संतोषजनक स्तर पर पहुँचने के बाद अनम्यता या स्थिरता (Price Rigidity) आ सकती है। यह संभावना अधिक रहती है क्योंकि इस स्थिति में अनिश्चितता नयून्तम होती है। सभी फर्मे कीमत को लाभ की दृष्टि से संतोषप्रद मानकर मांग और लागत में न्यूनाधिक परिवर्तन के बाद भी मूल्य अनम्यता की नीति का अनुसरण करती है।

(4) कीमतें किसी भी अनिश्चित स्तर पर स्थिर हो सकती है।

लेकिन, कुछ अर्थशास्त्रियों का मानना है कि अल्पाधिकार में स्वतन्त्र रूप से निर्धारित मूल्य स्थिर नहीं रहता है क्योंकि अल्पाधिकार में पायी जाने वाली विभिन्न फर्मों में परस्पर अविश्वास, विरोध और असुरक्षा का भय बना रहता है। अतः उन सभी फर्मों में स्वतन्त्र रूप से निर्धारित मूल्य एवं उत्पादन नीति के दोषों के निराकरण के लिए प्रत्यक्ष या परोक्ष (Indirect) रूप से संधि प्रवृत्ति प्रबल रूप से हावी रहती है और मूल्य नेतृत्व या अल्पाधिकारी फर्मों को गुटबन्दी की प्रेरणा मिलती है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

(ब) अल्पाधिकार में कपट संधि या गुटबन्दी के अन्तर्गत कीमत व उत्पादन निर्धारण :–

कपट संधि या गुटबन्दी के अन्तर्गत मूल्य व उत्पादन की मात्रा के निर्धारण का जन्म स्वतन्त्र मूल्य, मूल्य निर्धारण के दोषों को दूर करने के लिए हुआ। गुटबन्दी में विभिन्न अल्पाधिकारी विक्रेता फर्मों के मध्य किसी न किसी प्रकार का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष समझौता होता है। गुटबन्दी पूर्ण या अपूर्ण हो सकती है।

पूर्ण गुटबन्दी में सभी अल्पाधिकारी फर्में केन्द्रीय संस्था द्वारा निर्धारित कीमत एवं उत्पादन मात्रा की नीति का अनुसरण करती है। कार्टेल (Cartal) कपटसंधि या गुटबन्दी का अच्छा उदाहरण है क्योंकि की कार्टेल सदस्य फर्मों द्वारा उत्पादन की मात्रा में परिवर्तन न करने का आदेश देता है और अपने सभी सदस्यों के बीच सर्वसम्मति के आधार पर लाभ का बँटवारा करता है।

(i) पूर्ण गुटबन्दी में कीमत व उत्पादन मात्रा का निर्धारण :– पूर्ण गुटबन्दी में अल्पाधिकारी मूल्य एवं उत्पादन मात्रा का निर्धारण लगभग एक फर्म उद्योग के अनुसार होता है क्योंकि सभी प्रतिद्वन्द्वी फर्मे केन्द्रीय संगठन (कार्टेल) द्वारा नियमित होती है। पूरे उद्योग की उत्पादन मात्रा एवं मूल्य को इस प्रकार निर्धारित किया जाता है कि उद्योग में अधिकतम लाभ संभव हो सके। इस कार्य के लिए सर्वप्रथम पूरे उद्योग की मांग वक्रका अनुमान लगाया जाता है कि वस्तु की कितनी–कितनी मात्रा को किस–किस मूल्य पर बेचना संभव हो सकेगा और इसके अनुसार ही सीमान्त आय वक्र (MRC) लागत ज्ञात की जाती है। फिर उत्पादन की औसत लागत व सीमान्त लागत ज्ञात की जाती है। उद्योग का कुल उत्पादन उस सीमा पर निर्धारित किया जाता है जहाँ सम्पूर्ण उद्योग की सीमान्त आय (MR) उसकी सीमान्त लागत (MC) के बराबर होती है। इसे निम्नांकित रेखाचित्र द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है–

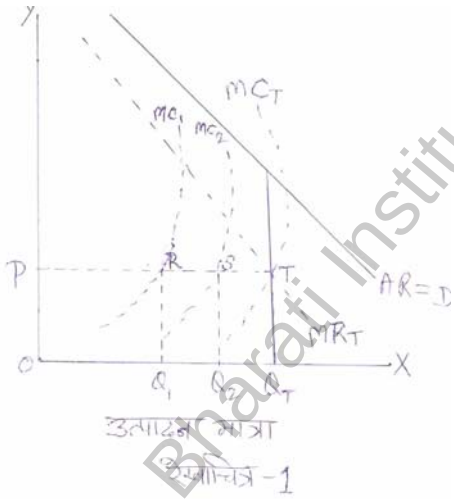

रेखाचित्र–1 से स्पष्ट होता है कि AR=D उद्योग का औसत आय वक्र (मांग) है और सीमान्त आय (MR) वक्र है। MCT सम्पूर्ण उद्योग का सीमान्त लागत वक्र है, जो AR=D अल्पाधिकारी फर्मों की व्यक्तिगत सीमान्त लागतों MC, व MC2 को जोड़कर मालूम की जाती है। अल्पाधिकार में गुटबन्दी उत्पादन की कुल मात्रा OQT पर होगा, क्योंकि T बिन्दु पर MRT=MCT है।

ो OQT मात्रा पर PQT होगा। उद्योग प्रतिइकाई PT सर्वाधिक है। OQT कुल उत्पादन मात्रा। इस कुल मात्रा को अल्पाधिकारी फर्मे

फर्म OQ2 मात्रा का उत्पादन करेगी, क्योंकि R तथा S बिन्दुओं की ा (MC) उद्योग की कुल सीमान्त लागत MCT के बराबर होगी।

उपरोक्त व्याख्या से यह स्पष्ट होता है कि पूर्ण गुटबन्दी में मूल्य व उत्पादन निर्धारण एकाधिकारी के समान ही होता हे। उसका कारण यह है कि सब फर्मे एक केन्द्रीय संगठन के निर्देशानुसार आचरण करती है और लाभ का बंटवारा सर्वसम्मति समझौते के आधार पर होता है उत्पादन की मात्रानुसार नहीं होता है।

(ii) अपूर्ण गुटबन्दी में उत्पादन एवं कीमत निर्धारण :– अपूर्ण गुटबन्दी में प्रत्येक फर्म अपनी उत्पादन मात्रा अनिश्चितता के वातावरण में उस स्थान पर निर्धारित करती है जहाँ उनकी सीमान्त आय (MR), सीमान्त लागत (MC) के बराबर होती है। ऐसी स्थिति में सभी प्रतिद्वन्द्वी फर्मों की कीमत तब तक एक नहीं होगी जब तक कि सबकी सीमान्त लागतें एक समान न हो। इसलिए सभी प्रतिद्वन्द्वी फर्में मूल्य युद्ध (Price war) से बचने हेतु

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

समझौते द्वारा कीमतें निश्चित कर लेती है। पर ये कीमतें पूर्ण गुटबन्दी की कीमतों से कम होती है। इसीलिए अपूर्ण गुटबन्दी अल्पाधिकार में कीमत तथा लाभ दोनों पूर्ण–गुटबन्दी वाले अल्पाधिकार की अपेक्षा कम होंगे। इसमें भी नई फर्मों के प्रवेश पर लगाने के लिए ग्राहकों से सीमित मूल्य ही वसूल करना होगा।

(स) अल्पाधिकार में मूल्य नेतृत्व के अन्तर्गत मूल्य निर्धारण_:– मूल्य नेतृत्व का अर्थ– मूल्य नेतृत्व का अभिप्राय बाजार की उस परिस्थिति से है जिसमें मूल्य निर्धारित करने या उसमें परिवर्तन करने का अधिकार किसी एक नेता फर्म के हाथ में होता है। इस नेता फर्म द्वारा निर्धारित कीमत पर प्रायः सभी या ज्यादातर फर्में अपने उत्पादन को बेचने को तैयार हो जाती है।

इसे अन्य शब्दों में इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है कि ''मूल्य नेतृत्व अल्पाधिकार की वह अवस्था है, जिसमें मूल्य निर्धारण व मूल्य नियंत्रण करने का अधिकार किसी एक नेता फर्म विशेष के हाथ में होता है।''

<u>परिभाषा</u> :– **प्रो. आर्थर बन्स** के शब्दों में ''यदि किसी फर्म के द्वारा सदैव या प्रायः मूल्य में परिवर्तन किये जाते हैं तो इस प्रकार का मूल्य परिवर्तन मूल्य नेतृत्व पर आधारित है।''

मूल्य नेतृत्व के प्रकार – इसे तीन भागों में बाँटा जा सकता है–

मूल्य नेतृत्व के प्रकार

सबसे बड़ी फर्म द्वारा मूल्य नेतृत्व	पुरानी व अनुभवी फर्म द्वारा मूल्य नेतृत्व	आक्रामक मूल्य नेतृत्व

(1) सबसे बड़ी फर्म द्वारा मूल्य नेतृत्व :– मूल्य नेतृत्व के अन्तर्गत परम्परानुसार सबसे बड़ी या सर्वाधिक प्रभुता–सम्पन्न फर्म के द्वारा कीमत नेतृत्व किया जाता है। कई अल्पाधिकारी उद्योगों में कुछ छोटी–छोटी फर्मों के साथ एक बड़ी फर्म हो सकती है, जो सम्पूर्ण उत्पादन मात्रा का काफी बड़ा भाग उत्पन्न करती हो। वही मूल्य का भी नेतृत्व करती है।

(2) पुरानी या अनुभवी फर्म द्वारा मूल्य नेतृत्व :– पुरानी या अनुभवी या प्रसिद्ध फर्म द्वारा नेतृत्व किया जाना चाहे वह उद्योग की सबसे बड़ी फर्म न हो, फिर उद्योग की सभी फर्मे उस फर्म द्वारा निर्धारित कीमत स्वीकार कर ले। इस प्रकार के मूल्य नेतृत्व के स्थिर मूल्य नेतृत्व भी कहते है।

(3) आक्रामक मूल्य नेतृत्व :– आक्रामक मूल्य नेतृत्व वह होता है जिसमें उद्योग की शक्तिशाली फर्म अपने कुछ या सभी प्रतिद्वन्द्वियों को हटाने के लिए वैध या अवैध उपायों का सहारा लेती है। इस नीति में मूल्य युद्ध सबसे अधिक प्रचलित तरीका है।

मूल्य नेतृत्व के अन्तर्गत मूल्य एवं उत्पादन निर्धारण

(1) इस विधि में मूल्य नेता निर्धारित करते समय अनेक बातों को ध्यान में रखना पड़ता है जैसे कि (1) उसकी कीमत नीति के प्रति उसके प्रतिद्वन्द्वियों की संभावित प्रतिक्रिया क्या होगी।

(2) उसके और उसके प्रतिद्वन्द्वियों द्वारा उत्पादित वस्तुओं के बीच प्रतिस्थापन की लोच क्या या कितनी होगी।

(3) अपने प्रतिद्वन्द्वियों की मूल्य नीति का यथासंभव ज्ञान प्राप्त करना और यदि मूल्य–नेता को ये सब बातें पहले से ज्ञात रहे तो उसके लिए कीमत निर्धारित करना सरल कार्य होता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

(4) इसलिए प्रतिद्वन्द्वी फर्में मूल्य नेता द्वारा निर्धारित कीमत को स्वीकार कर अपने अस्तित्व को बनाये रखेंगी और सामान्य मूल्य प्राप्त करती रहेगी।

इसे निम्नांकित रेखाचित्र द्वारा प्रस्तुत किया जा सकता है–

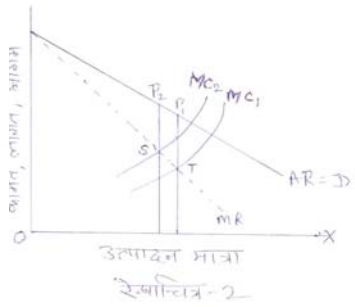

रेखाचित्र–2 में सुविधा की दृष्टि से यह माना कि उद्योग में दो फर्में हैं, जिसमें एक बड़ी फर्म की उत्पादन लागत दूसरी छोटी फर्म की उत्पादन लागत से कम है। दोनों फर्मों का मांग वक्र समरूप है अर्थात् उद्योग के मांग वक्र से आधा है। बड़ी फर्म की सीमान्त लागत (MC1) और छोटी फर्म की सीमान्त लागत(MC2)है क्योंकि पहली फर्म की सीमान्त आय (MR) बिन्दु R पर बराबर है। इसलिये इस बड़ी फर्म अर्थात् Q1 उत्पादित की जायेगी और मूल्य Q1P1 होगा।

छोटी अर्थात् दूसरी फर्म की सीमान्त लागत (MC2) है और उसकी सीमान्त आय (MR) S बिन्दु पर बराबर है। अतः छोटी फर्म अपना मूल्य P2Q2 निर्धारित करेगी और वह इस मूल्य पर OQ2 मात्रा का उत्पादन करेगी। पहली बड़ी फर्म मूल्य नेता फर्म है, इसलिए फर्म का उत्पादन अधिक और कीमत कम है, जबकि दूसरी छोटी फर्म का उत्पादन कम तथा कीमत उंची है। दूसरी फर्म मूल्य अनुयायी फर्म है। व्यवहार में मूल्य नेतृत्व के अनेक कठिन दृष्टांत देखने को मिलते है।

कीमत में अन्तर के बारे में आपको यहाँ यह बता दें कि यह तभी संभव हो पाता है जब प्रतिद्वन्द्वियों के उत्पादन में वस्तु विभेद हो। यदि दोनों फर्में समरूप वस्तुओं का उत्पादन कर रही हो तो मूल्य नेता द्वारा निर्धारित कीमत P1Q1 पर अपना उत्पादन बेचना पड़ेगा। छोटी फर्म P2Q2 मूल्य पर अपना माल नहीं बेच सकेगी। अतः कुछ अर्थशास्त्रियों के अनुसार मूल्य नेतृत्व गठबन्धन मूल्य निर्धारण की एक विधि है क्योंकि सभी प्रतिद्वन्दी फर्मे समझौते को स्वीकार कर लेती है और उसके अनुसार नेता द्वारा निर्धारित मूल्य को पूर्णतया स्वीकार कर लिया जाता है।

प्रश्न

1. द्वयाधिकार किसे कहते हैं ? अल्पाधिकार एवं द्वयाधिकार में क्या अन्तर है ? स्पष्ट कीजिये।
2. अल्पाधिकार अथवा अल्पविक्रेताधिकार का अर्थ और विशेषतायें बताइये।
3. अल्पाधिकार में कीमत एवं उत्पादन का निर्धारण कैसे किया जाता है ? विवेचना कीजिये।

   संकेत : जिन प्रश्नों के उतर में कीमत एवं उत्पादन मात्रा का निर्धारण पूछा गया है उनमें चित्र अवश्य बनाईये और सचित्र उतर दीजिये।
4. अल्पाधिकार में कीमत एवं उत्पादन निर्धारण की विभिन्न दशाओं का वर्णन कीजिये।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

अध्याय – 7

एकाधिकार में मूल्य एवं उत्पादन मात्रा का निर्धारण

(Price & Output Determination in Monopoly)

एकाधिकार अर्थ :– एकाधिकार का अभिप्राय बाजार की उस स्थिति से होता है जिसमें किसी वस्तु विशेष अथवा सेवा विशेष का पूरे बाजार में एक अकेला (alone) उत्पादक अथवा निर्माता अथवा आपूर्तिकर्ता अथवा विक्रेता है। उसकी वस्तु अथवा सेवा की कोई निकट स्थानापन्न वस्तु या सेवा नहीं होती है। पूरे बाजार पर उस एक ही विक्रेता का अधिकार होता है। इसीलिए उसे एकाधिकारी कहा जाता है।

एकाधिकार की परिभाषा (Defination of monopoly) –

1. **प्रो. लर्नर के अनुसार** – ''एकाधिकारी उस विक्रेता को कहते हैं जिसकी वस्तु का मांग वक्र गिरता हुआ होता है अर्थात् उसकी पूर्ति का विक्रय वक्र लोचहीन होता है।''
2. **प्रो. वाटसन के अनुसार** – ''एकाधिकारी एक वस्तु का अकेला उत्पादक होता है जिसकी कोई निकट स्थानापन्न वस्तु नहीं होती है।''
3. **स्टोनियर एवं हेग के अनुसार** – ''एकाधिकारी वह उत्पादक होता है जो किसी वस्तु की पूर्ति पर पूर्ण अधिकार रखता है तथा उस वस्तु की कोई निकट स्थानापन्न वस्तु नहीं होती है।''
4. **प्रो. चेम्बरलीन के अनुसार** – ''एकाधिकारी वह है जो सामान्यतः किसी वस्तु की पूर्ति पर पूर्ण नियंत्रण रखता है और वह अधिकांश मामलों की पूर्ति का संचालन न कर मूल्य का संचालन करता हो।''
5. **प्रो. लेफ्टविच के अनुसार** – विशुद्ध एकाधिकार बाजार की वह स्थिति है जिसमें वस्तु का एक ही विक्रेता होता है और उसकी वस्तु की कोई निकट स्थानापन्न वस्तु नहीं होती है।''

उपर्युक्त परिभाषा के आधार पर निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि ''एकाधिकार में किसी वस्तु विशेष का सम्पूर्ण बाजार में एक ही उत्पादक एवं आपूर्तिकर्ता होता है और वह अपनी वस्तु का मूल्य अधिक निर्धारित करता है।

एकाधिकार की विशेषताएं

1. सम्पूर्ण बाजार में किसी वस्तु विशेष या सेवा विशेष का केवल एक मात्र अकेला विक्रेता या उत्पादक होता है।
2. उसकी वस्तु की कोई निकट स्थानापन्न वस्तु नहीं होती है।
3. एकाधिकारी उत्पादन मात्रा और कीमत इन दोनों में से केवल एक का निर्धारण कर सकता है, दोनों का नहीं।
4. ऐसी स्थिति में वह कीमत का निर्धारण करना पसंद करता है।
5. इसमें उपभोक्ता का शोषण रोकने के लिए सरकारी नियंत्रण होता है।
6. नई फर्मों के प्रवेश पर प्रभावी रोक होती है।
7. फर्म एवं उद्योग वस्तुतः एक ही होते हैं।
8. एकाधिकारी दीर्घकाल में असामान्य या अतिरिक्त लाभ कमाता है।
9. एकाधिकार में कीमत ऊँची और उत्पादन कम रखा जाता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

10. एकाधिकारी की वस्तु की मांग की लोच बेलोचदार होती है।

एकाधिकार में साम्य या कीमत एवं उत्पादन मात्रा का निर्धारण

एकाधिकार में भी पूर्ण प्रतियोगिता व एकाधिकृत प्रतियोगिता की भांति कीमत एवं उत्पादन मात्रा निर्धारण की दो विधियां हैं – 1. कुल लागत एवं कुल आगम विधि तथा 2. सीमान्त लागत एवं सीमान्त आगम विधि।

1. **कुल लागत एवं कुल आगम विधि** (Total cost & total revenue method) – इस विधि की विस्तृत व्याख्या पूर्व में पूर्ण प्रतियोगिता वाले अध्याय में की जा चुकी है। इस विधि में कोई परिवर्तन नहीं होता है। अतः उसी रूप में उसका अध्ययन किया जाना चाहिए। उसकी पुनरावृति की यहां आवश्यकता नहीं है।

2- **सीमान्त लागत एवं सीमान्त आगम विधि** (MC & MR Method) – एकाधिकार में भी पूर्ण प्रतियोगिता की भांति उत्पादक अथवा विक्रेता अपनी कीमत एवं उत्पादन की मात्रा उस बिन्दु पर निर्धारित करता है जिस बिन्दु पर सीमान्त लागत (MC) और सीमान्त आगम (MR) दोनों बराबर होते हैं। इसी बिन्दु पर फर्म को अधिकतम लाभ मिलता है तथा यही एकाधिकारी के साम्य की स्थिति का प्रतीक है।

अन्य शब्दों में एकाधिकारी साम्य की स्थिति में तब होता है, जबकि उसकी सीमान्त आय और सीमान्त लागत दोनों बराबर होते हैं। अर्थात् जहां MR = MC हो। अल्पकाल में यह साम्य बिन्दु अधिकतम एकाधिकारी लाभ, सामान्य लाभ या हानि का प्रतीक हो सकता है। जबकि दीर्घकाल में यह साम्य बिन्दु अधिकतम एकाधिकारी लाभ का द्योतक होता है। उदाहरण द्वारा इसे स्पष्ट किया जा सकता है – सीमान्त लागत (MC) और सीमान्त आगम (MR) वक्रों की उत्पति वस्तु की मांग एवं लागत सारणी से ज्ञात होती है। जिससे यह स्पष्ट होता है कि दीर्घकाल में जब सीमान्त लागत (MC) और सीमान्त आगम (MR) दोनों बराबर (=) होती है तो एकाधिकारी को अधिकतम लाभ मिलता है और जब एकाधिकारी इस बिन्दु से कम उत्पादन कर मूल्य निर्धारित करता है तो उसका कुल लाभ घटता है तथा अधिक मूल्य पर भी उसका कुल लाभ घट जाता है। इसे एक तालिका द्वारा समझाया जा सकता है –

एकाधिकार में कीमत, सीमान्त आय, सीमान्त लागत, कुल आय और कुल लागत तथा लाभ :–

दैनिक उत्पादन मात्रा (मेजें) (Q)	कीमत प्रति इकाई रूपयों में (P)	आगम (Revenue)		लगत (Costs)		एकाधिकारी लाभ (Monopoly Profit)
		कुल आगम (TR)	सीमान्त आगम (MR)	कुल लागत (TC)	सीमान्त लागत (MC)	
9	30	300	–	260	–	40
10	29	319	19	276	18	44
11	27	335	16	292	16	44
12	25	338	3	310	15	28
13	23	336	–2	318	8	18

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि एकाधिकारी प्रतिदिन जब 11 कुर्सियों का उत्पादन करेगा तब कीमत वह 28 रूपये प्रति कुर्सी रखेगा। इस उत्पादन पर और कीमत पर उसकी सीमान्त आय और सीमान्त लागत बराबर है

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

अर्थात् यहां पर R=MC है। जिस पर उसको मिलने वाला एकाधिकारी लाभ भी 44 रू. अधिकतम है। अगर एकाधिकारी मूल्य 30 रू. रखता है तो उसका कुल आगम मात्र 40 रूप्ये ही रहता है। उपरोक्त तालिका में यह बात उल्लेखनीय है कि एकाधिकारी की वस्तु का मांग वक्र ऋणात्मक ढालू होता है अर्थात् वह वस्तु की अतिरिक्त इकाईयां मूल्य कम करने पर ही विक्रय कर सकता है अन्यथा नहीं कर सकता है। लेकिन, जब वह एक अतिरिक्त इकाई को बेचने के लिए मूल्य को कम करता है तो सभी इकाईयों पर आगम घटता है। इसे हम रेखाचित्र से भी स्पष्ट कर सकते हैं।

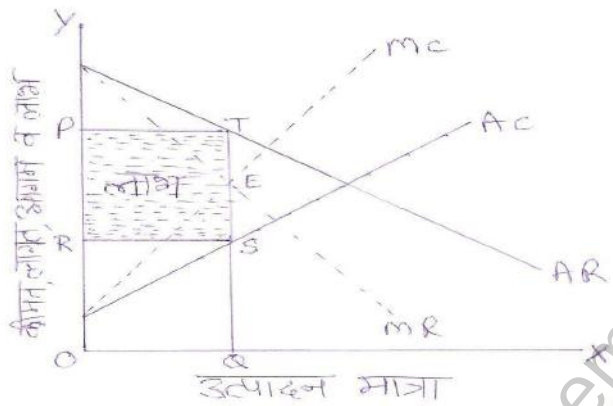

रेखाचित्र द्वारा इसकी व्याख्या – नीचे रेखाचित्र 2 में AR और MR क्रमशः एकाधिकारी के औसत आगम और सीमान्त आगम वक्र हैं, जबकि AC तथा MC क्रमशः औसत लागत एवं सीमान्त लागत वक्र हैं। बिन्दु E पर MR = MC । अतः वहां से खिंची लम्ब रेखा उत्पादन की OQ मात्रा पर एकाधिकारी के साम्य या संतुलन को बताती है और एकाधिकारी कीमत TQ अथवा OP होगी। एकाधिकारी का प्रति इकाई लाभ TS = PR होगा जो कि AR तथा AC के बीच अन्तर को बताता है।

यहां एकाधिकारी का कुल लाभ –

= औसत (औसत आगम – औसत लागत) X उत्पादन मात्रा

अथवा

Total Profit = (AR-AC) x Q ।

यहां Q का अभिप्राय बिक्री की कुल मात्रा से है।

रेखाचित्र में कुल एकाधिकारी लाभ PTSR

अथवा RSTP के बराबर होगा।

एकाधिकारी के संतुलन या मूल्य एवं उत्पादन निर्धारण की सीमान्त आगम एवं औसत लागत वक्र रेखा पद्धति कुल लागत एवं कुल आगम पद्धति से कई दृष्टि से अच्छी एवं उपयुक्त है क्योंकि –

1. सर्वप्रथम तो इससे साम्य की स्थिति ज्ञात करना बहुत आसान है।
2. प्रति इकाई मूल्य चित्र में देखने मात्र से एक दृष्टि में (at a glance) ज्ञात हो जाता है व

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

3. प्रति इकाई लाभ व कुल लाभ आसानी से ज्ञात हो जाते हैं, गणीतीय झंझटों से उलझने की जरूरत नहीं रहती। यह पद्धति एकाधिकारी को व्यावहारिक रूप से मांग के बारे में सही जानकारी होने पर ही संभव होती है।

एकाधिकारी बहुत दिनों तक मांग और पूर्ति की अवस्थाओं का अध्ययन की सीमान्त आय और सीमान्त लागत (MR & MC) को बराकर करके अधिकतम लाभ प्राप्त कर सकता है। जब तक सीमान्त आगाम सीमान्त लागत से अधिक होती है (MR>MC) तो उत्पादन में बढोतरी करके कुल लाभ में वृद्धि की जा सकती है। इसके विपरीत सीमान्त लागत आये से अधिक हो तो उत्पादन में कमी करना उपयुक्त है।

एकाधिकारी संतुलन अथवा मूल्य व उत्पादन निर्धारण का साम्य अध्ययन कर लेने के बाद अल्पकाल और दीर्घकाल में मूल्य निर्धारण की जानकारी आवश्यक है–

एकाधिकार में कीमत निर्धारण

एकाधिकार में मूल्य एवं उत्पादन निर्धारण के लिए समय तत्व को ध्यान में रखना आश्यक है। इसलिए मूल्य का निर्धारण तीन समयावधियों के अन्तर्गत किया जाता हैः–

1. **अति अल्पकाल में मूल्य एवं उत्पादन निर्धारण** – अति अल्पकाल समय की बहुत ही छोटी अवधि का होता है। अतः इसमें वस्तु की पूर्ति केवल स्टॉक में माल से ही की जाती है। इसमें यह माना जाता है कि, एकाधिकारी वस्तु की एक निश्चित मात्रा का उत्पादन पहले ही कर चुका है। इसलिये वस्तु की लागत पर इसमें विचार नहीं किया जाता है। अतः एकाधिकारी वस्तु को उस मूल्य पर विक्रय करता है, जिस मांग का निर्धारण कुल लाभ को अधिकतम कर सके। इस स्थिति को रेखाचित्र की सहायता से भी समझा जा सकता है –

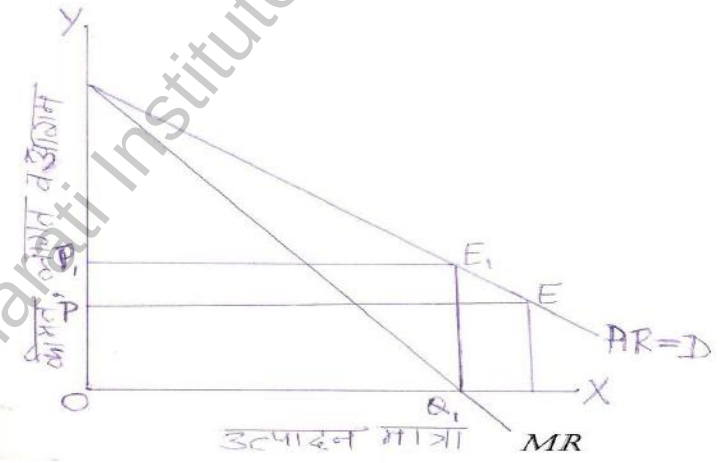

रेखाचित्र का स्पष्टीकरण – इस रेखाचित्र में एकाधिकारी का मांग वक्र DD है और वस्तु जो कि विक्रय हेतु उपलब्ध है, वह OQ है। अतः एकाधिकारी इस OQ मात्रा को QE तथा OP मूल्य पर बाजार में विक्रय कर सकता है। लेकिन लाभ नहीं होगा क्योंकि इस बिन्दु पर MR ऋणात्मक है। यदि MR शून्य हो तो उस समय TR धिकतम होगा। अतः एकाधिकारी OQ_1 मात्रा का विक्रय OP1 मूल्य पर करेगा और उसे अधिकतम लाभ मिलेगा। एकाधिकारी के पास इस साम्य बिन्दु पर Q_1Q मत्रा वस्तु की शेष रह जायेगी। जिसे वह या तो नष्ट करेगा या विदेशी बाजार राशिपातन करके बेचेगा।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

2. **अल्पकाल में मूल्य एवं उत्पादन मात्रा का निर्धारण** – अल्पकाल में समय इतना कम होता है कि एकाधिकारी मांग के अनुरूप उत्पादन की मात्रा में परिवर्तन नही कर सकता है। लेकिन, सूक्ष्म समायोजन वह परिवर्तनशील साधनों के माध्यम से ही कर सकता है क्योंकि स्थायी साधनों में तो परिवर्तन नहीं हो सकता है। अतः एकाधिकारी को सामन्य लाभ हानि या असामान्य हो सकता है। जिसे निम्नांकित चित्रों द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है –

(1) असामान्य या अधिसामान्य लाभ – असामान्य लाभ की दशा में उत्पादन तथा मूल्य उस बिन्दु पर निर्धारित होता है जहां पर सीमान्त आगम (MR) व सीमान्त लागत (MC) दोनों बराबर होते हैं और औसत आगम, औसत लागत से अधिक (AR>AC) हो।

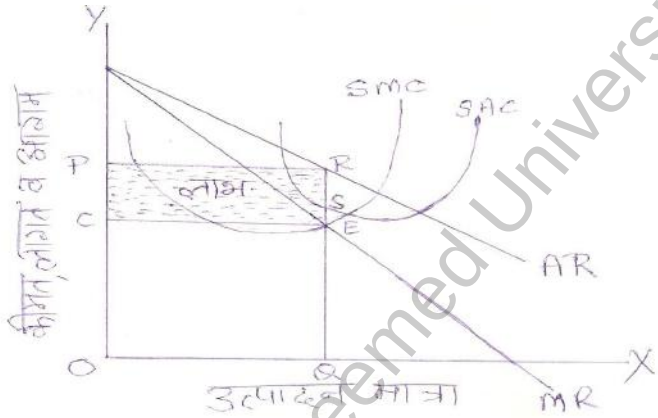

<u>रेखाचित्र की व्याख्या–</u>

इस रेखाचित्र से यह स्पष्ट होता है कि E बिन्दु साम्य स्थिति को बताता है क्योंकि यहां पर MR=MC है तथा उत्पादन की मात्रा OQ निर्धारित होती है। E बिन्दु से होती हुई मांग वक्र (AR) की ओर लम्बवत् रेखा खींचने से RQ या OP मूल्य निर्धारित होता है। रेखाचित्र में OT प्रति इकाई लागतए OP प्रति मूल्य एवं दोनों का अन्तर PT प्रति इकाई लाभ को बताता है। कुल लाभ को ज्ञात करने हेतु कुल उत्पादन को प्रति इकाई लाभ से गुणा करना होगा अर्थात् PTSR अथवा RSTP के बराबर कुल लाभ होगा।

(2) सामान्य लाभ अथवा शून्य लाभ – यह स्थिति उस समय आती है जब एकाधिकारी वस्तु का मूल्य वस्तु की औसत उत्पादन लागत के बराबर निर्धारित करता है अर्थात् (AR=AC) होती है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

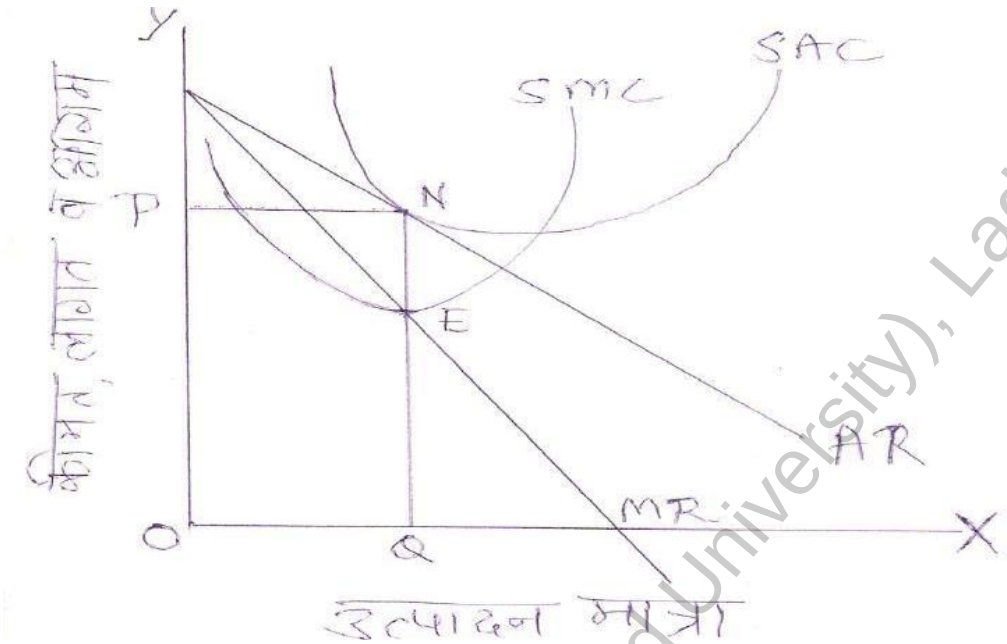

रेखाचित्र की व्याख्या–

इस स्थिति को रेखाचित्र द्वारा देखने पर ज्ञात होता है कि एकाधिकारी के सामान्य अथवा शून्य लाभ प्राप्त होता है। इस स्थिति में औसत लागत (AC) और औसत आगम (AR) बराबर (AC=AR) होती है। E बिन्दु पर सीमान्त आगम (MR) सीमान्त लागत (MC) के बराबर है, इस बिन्दु से होती हुई लम्बवत् रेखा AR को N बिन्दु पर तथा OX अक्ष को Q बिन्दु पर स्पर्श करती है जिससे मूल्य तथा OQ उत्पादन की मात्रा का निर्धारण होता है। अर्थात् दोनों बराबर हैं। अतः एकाधिकारी को कोई अतिरिक्त लाभ प्राप्त नहीं हो रहा है क्योंकि बिन्दु N पर AR = AC है।

(3) हानि की स्थिति – अल्पकाल में एकाधिकारी को हानि भी हो सकती है। अल्पकाल में उसकी वस्तु की मांग इतनी कम हो सकती है कि उसे वस्तु का मूल्य उस वस्तु की औसत लागत (AC) से भी कम रखना पड़े। इस स्थिति में एकाधिकारी को हानि हो सकती हैं फिर भी वह औसत परिवर्तनशील लागत (AVC) से अधिक मूल्य प्राप्त होने की आशा उत्पादन जारी रखता है जिससे कि दीर्घकाल में यह हानि लाभ में परिवर्तित हो सके।

अल्पकाल में एकाधिकारी की हानि की स्थिति को अग्रांकित चित्र द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है –

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

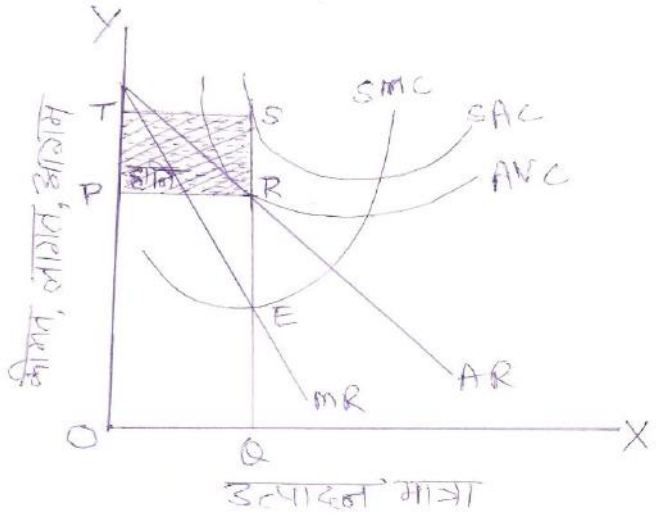

रेखाचित्र की व्याख्या–

E बिन्दु रेखाचित्र में साम्य की स्थिति को बताता है। इस बिन्दु पर उत्पादन मात्रा OQ है तथा वस्तु का मूल्य OP अथवा QR है और लागत OT या QS है ऐसी स्थिति में प्रति इकाई हानि PT और कुल हानि PTSR के बराबर होगी। यदि एकाधिकारी मूल्य से उसे औसत परिवर्तशील लागत (AVC) की प्राप्ति हो जाती है तो वह उतपादन जारी रखेगा अन्यथा उत्पादन बंद कर देगा।

3. **दीर्घकाल में मूल्य एवं उत्पादन निर्धारण** – एकाधिकारी दीर्घकाल में अपनी वस्तु की बाजार में मांग के अनुसार उसकी पूर्ति की मात्रा को समायोजित कर सकता है। चूंकि एकाधिकार में नई फर्में आसानी से बाजार में प्रवेश नहीं कर सकती हैं अतः एकाधिकारी को दीर्घकाल में सदैव असामान्य अथवा अधिसामान्य लाभ की ही प्राप्ति होती है। इस अवधि में भी एकाधिकारी का साम्य उस बिन्दु पर होता है जिस बिन्दु पर दीर्घकालीन सीमान्त लागत (MC) वक्र और सीमान्त आगम (MR) वक्र एक – दूसरे को काटते हैं। एकाधिकारी फर्म की दीर्घकाल में साम्य की स्थिति को निम्नांकित रेखाचित्र द्वारा प्रदर्शित किया जा सकता है –

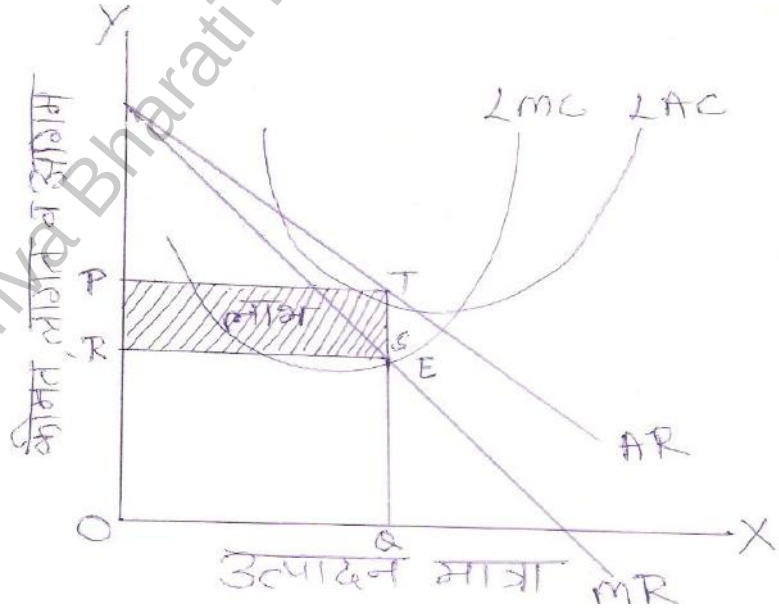

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

रेखाचित्र की व्याख्या – रेखाचित्र के विश्लेषण से यह ज्ञात होता है कि एकाधिकारी फर्म E बिन्दु पर साम्य की स्थिति में है। क्योंकि इस बिन्दु पर दीघ्रकालीन सीमान्त लागत (LMC) वक्र एवं सीमान्त आगम (MR) वक्र एक – दूसरे को काटते हैं। इस बिन्दु से होती हुई एक लम्बवत् रेखा TQ खींचने से मूल्य निर्धारित होता है। और इस रेखा पर एकाधिकारी फर्म का उत्पादन OQ मात्रा के बराबर निर्धारित होता है। एकाधिकारी फर्म की प्रति इकाई लागत OR आती है। अतः फर्म का कुल लाभ PRST के बराबर होता है।

इससे यह सिद्ध होता है कि एकाधिकारी को दीर्घकाल सदैव असामान्य (Abnormal Profit) या अधिसामान्य लाभ होता है। क्योंकि उसका मूल्य दीर्घकाल में भी उंचा ही रहता है। जबकि अल्पकाल में एकाधिकारी को अधिसामान्य लाभ, सामान्य लाभ अथवा हानि की स्थिति का सामना करना पड़ सकता है।

प्रश्न

1. एकाधिकार का अर्थ, परिभाषा और विशेषतायें बताइयें।
2. एकाधिकार में कीमत एवं उत्पादन का निर्धारण कैसे किया जाता है ? सचित्र स्पष्ट कीजिये।
3. एकाधिकार में अल्प काल में मूल्य एवं उत्पादन मात्रा का निर्धारण कैसे किया जाता है? समझाइये।
4. एकाधिकार में दीर्घकाल में कीमत एवं उत्पादन मात्रा का निर्धारण कैसे किया जाता है ? रेखाचित्र द्वारा समझाइये।
5. एकाधिकार में अल्पकाल व दीर्घकाल में मूल्य व उत्पादन मात्रा का निर्धारण कैसे किया जाता है ? सचित्र वर्णन कीजिये।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

अध्याय – 8

विभेदात्मक एकाधिकार में मूल्य एवं उत्पादन निर्धारण

विभेदात्मक एकाधिकार में एकाधिकारी अपने लाभ को अधिकतम करने के लिए अपनी एक ही प्रकार की वस्तु अथवा सेवा को अलग–अलग बाजारों में अलग–अलग मूलयों पर बेचकर अपने लाभ को अधिकतम करने का प्रयास करता है। किन्तु, ऐसा तभी हो सकता है जब उत्पादक के पास एकाधिकारी शक्ति हो।

विभेदात्मक एकाधिकार का अर्थ :– विभेदात्मक एकाधिकार को मूल्य विभेद के नाम से भी जाना जाता है। विभेदात्मक एकाधिकार बाजार का अभिप्राय बाजार की उस स्थिति अथवा दशा से है जिसमें एकाधिकारी एक ही प्रकार की वस्तु विभिन्न उपभोक्ताओं को पृथक–पृथक मूल्यों पर बेचता है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि जब एकाधिकारी अपनी वस्तु विभिन्न व्यक्तियों या स्थानों या बाजारों में अलग–अलग मूल्य केताओं से वसूल करता है, तो ऐसे एकाधिकारी की इस क्रिया को ही विभेदात्मक एकाधिकार कहा जाता है।

विभेदात्मक एकाधिकार की परिभाषायें :–

1. **श्रीमती जॉन रोबिन्सन के शब्दो में** – ''विभिन्न केताओं को एक प्रकार की वस्तु जिसका उत्पादन भी एक ही नियंत्रण में हुआ हो, को विभिन्न मूल्यों पर बेचना मूल्य विभेद कहा जाता है।''
2. **प्रो. थॉमस के अनुसार** – ''एकाधिकार नीति की यह विशेषता है कि एक ही वस्तु या सेवा की पूर्ति के विभिन्न क्षेत्रों या विभिन्न भागों के लिए उपभोक्ता से विभिन्न मूलय लिये जाते हैं। इस प्रकार का मूल्य विभेद विभिन्न व्यापारों, विभिन्न क्षेत्रों अथवा विभिन्न लोगों में हो सकता है।''
3. **प्रो. स्टिगलर के शब्दों में** – ''समान वस्तु के लिए दो या दो से अधिक कीमतें वसूल करने को मूल्य विभेदीकरण कहते हैं।''

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर निष्कर्षतः हम यह कह सकते हैं कि एकाधिकारी अपने एक ही उत्पाद को विभिन्न उपभोक्ताओं अथवा बाजारों में भिन्न–भिन्न मूल्यों पर बेचता है तो उसे विभेदात्मक एकाधिकार या मूल्य विभेद एकाधिकार कहा जाता है।

विभेदात्मक एकाधिकार में मूल्य एवं उत्पादन निर्धारण :– विभेदात्मक एकाधिकार में यह देखने को मिलता है कि एकाधिकारी भी अन्य उत्पादकों की तरह ही अपने लाभ को अधिकतम करने की कोशिश करता है लेकिन उसका वस्तु की पूर्ति पर पूर्ण नियंत्रण होने से कुछ दशाओं में मूल्य विभेद की नीति से वह एक ही वस्तु या सेवा के लिए भिन्न–भिन्न बाजारों में भिन्न–भिन्न उपभोक्ताओं से अलग–अलग मूल्य ले सकता है और अपने एकाधिकारी लाभ को अधिकतम कर सकता है।

इस संदर्भ में श्रीमती जॉन रोबिन्सन ने बताया है कि ''एकाधिकारी का लाभ उस समय सर्वाधिक होगा जिस समय प्रत्येक बाजार की सीमान्त आय कुल उत्पादन की सीमान्त लागत के बराबर हो। कहने का तात्पर्य यह है कि, प्रत्येक बाजार में एकाधिकारी की सीमान्त आय समान होनी चाहिए और इसके साथ ही प्रत्येक बाजार से प्राप्त सीमान्त आगम (MR) कुल उत्पादन की सीमान्त लागत (MC) के बराबर (MR=MC) हो।

प्रत्येक बाजार में वस्तु की कीमत मांग की लोच के अनुसार भिन्न–भिन्न होगी। कम लोचदार मांग वाले बाजार में कीमत ऊंची और अधिक लोचदार वाले बाजार में कीमत नीची होगी।

विभेदात्मक एकाधिकार में मूल्य निर्धारण की पृथक–पृथक दशाएं अथवा शर्तें –

1. **जब एकाधिकारी का सभी बाजारों में एकाधिकार हो –** विभेदात्मक एकाधिकार में मूल्य विभेद का प्रमुख उद्देश्य एकाधिकारी द्वारा अपने लाभों को अधिकतम करना होता है। एकाधिकारी को मूल्य विभेद करने पर अधिकतम लाभ उस समय प्राप्त होता है, जब वह भिन्न–भिन्न बाजारों में अपने ग्राहकों से

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

अलग–अलग मूल्य वसूल करता है। लेकिन, वह इस बात पर निर्भर करता है कि वस्तु अथवा सेवा विशेष की मांग की लोच उस बाजार में कैसी है?

जिस बाजार में एकाधिकारी की वस्तु की मांग की लोच बेलोचदार होती है, वहां वस्तु का मूल्य अधिक और इसके विपरीत अधिक लोचदार मांग वाले बाजार में वस्तु का मूल्य तुलनात्मक दृष्टि से कम निर्धारित किया जाता है। ताकि वह अधिकतम लाभ अर्जित कर सके। एकाधिकारी के साम्य की दो मुख्य शर्तें निम्नलिखित हैं :–

(अ) एकाधिकारी उत्पादन की कुल मात्रा का निर्धारण इस प्रकार करेगा जिससे कुल उत्पादन की सीमान्त लागत (MCT) व कुल सीमान्त आगम (MRT) दोनों बराबर हों। इसे रेखाचित्र में E बिन्दु से प्रदर्शित किया जा सकता है।

(ब) प्रत्येक बाजार में प्राप्त होने वाली सीमान्त आगम (MR) सभी बाजारों की सीमान्त आगम के योग MRT के योग के बराबर होनी चाहिए।

विभेदात्मक एकाधिकार की इस स्थिति को समझने के लिए यदि यह मान लिया जाय कि एकाधिकारी के दो बाजार हैं A तथा B। बाजार A में बेलोचदार मांग और बाजार B में वस्तु की लोचदार मांग है। इस दशा में मूल्य एवं उत्पादन का निर्धारण का रेखाचित्र द्वारा प्रदर्शित किया जा सकता है –

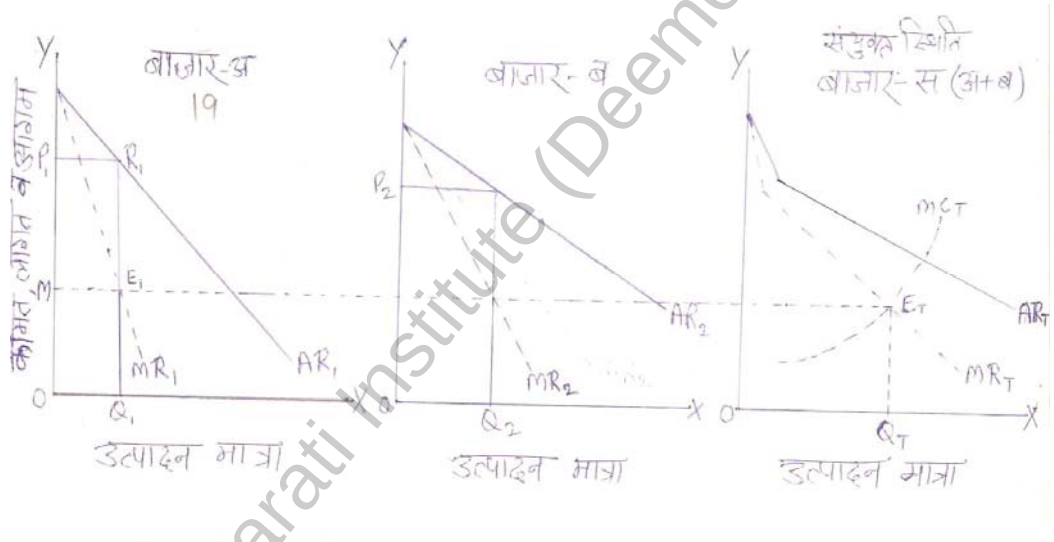

रेखाचित्र का विश्लेषण –

उपरोक्त रेखाचित्र का विश्लेषण करने पर यह ज्ञात होता है कि बाजार A और B के मांग वक्र और सीमान्त आगम (MR) वक्र क्रमशः AR_1, AR_2 तथा MR_1 व MR_2 हैं। MCT एकाधिकारी का कुल सीमान्त लागत वक्र है। कुल सीमान्त लागत (MCT) व कुल सीमान्त आगम (MRT) एक – दूसरे को E बिन्दु पर काटते हैं। अतः E बिन्दु एकाधिकारी का साम्य बिन्दु है। एकाधिकारी उत्पादन की कुल OQ_T मात्रा को बाजार A तथा B में इस प्रकार बेचता है कि उसका लाभ अधिकतम हो जाता है। अब, यदि E_T बिन्दु से दोनों बाजारों के OY अक्ष पर एक पड़ी हुई रेखा EM खींची जाये तो उससे दोनों बाजारों में बेची जाने वाली कुल उतपादन मात्रा का निर्धारण हो जाता है। इससे उन बाजारों के लिए सीमान्त लागत (MC) का निर्धारण हो जाता है। जो इन व्यक्तिगत बाजारों में सीमान्त आगम (MR) वक्रों MR_1 और MR_2 को क्रमशः E_1 तथा E_2 बिन्दु पर काटता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

उपर्युक्त रेखाचित्र का विश्लेषण निम्नांकित तालिका द्वारा भी स्पष्ट किया जा सकता है–

क्र. सं.	मदें	बाजार A	बाजार B	संयुक्त बाजार (A+B)
1.	औसत आगम वक्र (AR)	AR_1	AR_2	AR_T
2.	सीमान्त आगम वक्र (MR)	MR_1	MR_2	MR_T
3.	सीमान्त लागत वक्र (MC)	-	-	MC_T
4.	साम्य बिन्दु (E)	E_1	E_2	E_T
5.	प्रति इकाई मूल्य (P)	OP_1	OP_2	-
6.	उत्पादन मात्रा (Q)	OQ_1	OQ_2	OQ_T

इस तालिका का विश्लेषण करने से यह स्पष्ट होता है कि बाजार A का मूल्य (OP) बाजार B के मूल्य (OP_2) से अधिक है अर्थात् ($OP1>OP_2$) और बाजार B का उत्पादन (OQ_2) A बाजार के उत्पादन (OQ_1) से अधिक अर्थात् ($OQ_2>OQ_1$) अथवा $OQ_1+OQ_2 = OQT$ है।

2. संरक्षित घरेलू बाजार तथा प्रतिस्पर्धापूर्ण विदेशी बाजार –

जब दो या दो से अधिक देशों में एकाधिकारी अपने माल की आपूर्ति करता है तो वह मूल्य विभेद की नीति को अपनाकर अपने लाभ को अधिकतम करने का प्रयास करता हैं ऐसी स्थिति में एकाधिकारी के समक्ष अपने स्वयं के देश का बाजार तो संरक्षित होता है और विदेशी बाजार प्रतिस्पर्धी होता है। अतः स्वदेश के बाजार में वस्तु की आपूर्ति पर उसका पूर्ण नियंत्रण होता है और विदेशी बाजार में उसे वस्तु अथवा सेवा का विक्रय करने हेतु प्रतिस्पर्धा का सामना करना पड़ता है। अतः एकाधिकारी स्वदेश में वस्तु का मूल्य अधिक तथा विदेश में कम रखकर वस्तु का विक्रय करता है।

स्वदेशी तथा विदेशी दोनों बाजारों में मूल्य निर्धारण हेतु एकाधिकारी को निम्नलिखित बातों का ध्यान रखना पड़ता है :–

(अ) विदेशी बाजार में पूर्ण प्रतिस्पर्धा के कारण एकाधिकारी अपनी वस्तु की कीमत सीमान्त आगम (MR) के बराबर अर्थात् $P=MR=MC_T$ रखेगा और

(ब) एकाधिकारी अपने लाभों को बढाने हेतु कुल उत्पादन की सीमान्त लागत को प्रत्येक बाजार के सीमान्त आगम के बराबर अर्थात् $MR_1=MR_2=MC_T$ करेगा।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

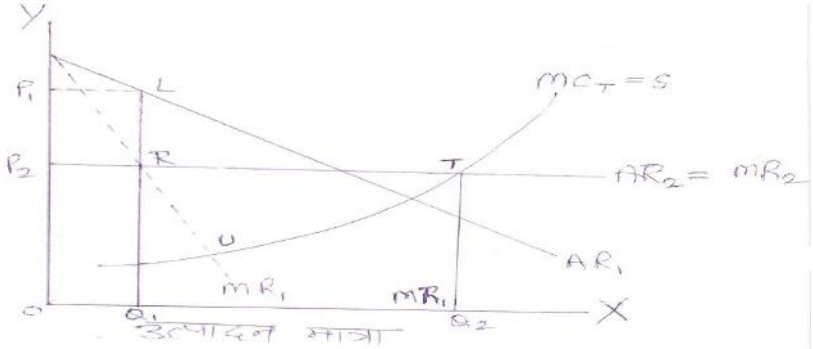

रेखाचित्र में $AR_1=MR_1$ घरेलू बाजार की सीमान्त व औसत आगम रेखा है और $AR_2=MR_2$ विदेशी (प्रतिस्पर्धी) बाजार की आगम रेखायें हैं। सर्वप्रथम एकाधिकारी MC_T और MR_2 के साम्य बिन्दु T के आधार पर घरेलू बाजार के साम्य बिन्दु R को निर्धारित करेगा जिससे कि दोनों बाजारों का सीमान्त आगम बराबर हो सके। रेखाचित्र को निम्नांकित तालिका द्वारा भी स्पष्ट किया जा सकता है –

रेखाचित्र का तालिका द्वारा स्पष्टीकरण :–

क्र.सं.	मदें	संरक्षित घरेलू बाजार	प्रतिस्पर्धी विदेशी बाजार
1.	औसत आगम रेखायें (AR)	AR_1	AR_2
2.	सीमान्त आगम रेखायें (MR)	MR_1	MR_2
3.	सीमान्त लागत वक्र (MC)	-	MCT
4.	साम्य बिन्दु (E)	R	T
5.	प्रति इकाई मूल्य (P)	OP_1	OP_2
6.	उत्पादन मात्रा (Q)	OQ_1	OQ_2

उपर्युक्त तालिका का विश्लेषण करने से स्पष्ट होता है कि –

1- $OP_1>OP_2$

2- $OQ1+Q_1Q_2 = OQ_2$

3. यदि विदेशी बाजार में मूल्य गिरकर U बिन्दु से भी नीचे चला जाए तो एकाधिकारी विदेशों में वस्तु की पूर्ति पूरी तरह से बंद कर देगा। इसे ''विदेशी बाजार में पूर्ति का बिन्दु'' कहते हैं।

निष्कर्ष :– उपर्युक्त विवेचन के अध्ययन एवं विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि एकाधिकारी अपने लाभ को अधिकतम करने के लिए मूल्य विभेद या विभेदात्मक एकाधिकार की नीति अपनाता है। ऐसा करते समय वह वस्तु की मांग की लोच को अवश्य ध्यान में रखता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

प्रश्न

1. विभेदात्मक एकाधिकार का अर्थ व परिभाषा लिखिये।
2. विभेदात्मक एकाधिकार में मूल्य एवं उत्पादन मात्रा का निर्धारण कैसे किया जाता है ? रेखाचित्र द्वारा समझाइये।
3. विभेदात्मक एकाधिकार में मूल्य एवं उत्पादन मात्रा के निर्धारण की विभिन्न दशाओं का सचित्र वर्णन कीजिये।
4. विभेदात्मक एकाधिकार में जब सभी बाजारों में एकाधिकारी का एकाधिकार हो तब कीमत एवं उत्पादन मात्रा का निर्धारण वह कैसे करता है ? स्पष्ट कीजिये।
5. विभेदात्मक एकाधिकार में जब घरेलू बाजार संरक्षित हो और विदेशी बाजार में पूर्ण प्रतियोगिता हो तो ऐसी स्थिति में वह मूल्य एवं उत्पादन मात्रा को कैसे निर्धारित करता है ?
6. विभेदात्मक एकाधिकार में जब घरेलू बाजार में एकाधिकारी को संरक्षण प्राप्त हो और विदेशी बाजार में उसे पूर्ण प्रतिस्पर्द्धा का सामना करना पड़ रहा हो, तो वह कीमत व उत्पादन की मात्रा का निर्धारण कैसे करता है ? इसका सचित्र विश्लेषण कीजिये।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

खण्ड (डी)
इकाई 1 – वितरण का सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त

1.0 इकाई की रूपरेखा
1.1 उद्देश्य
1.2 प्रस्तावना
1.3 सीमांत उत्पादकता से अभिप्राय अथवा धारणाएं
1.3.1 सीमांत भौतिक उत्पादकता (MPP)
1.3.2 सीमांत आगम उत्पादकता (MRP)
1.3.3 सीमांत उत्पाद का मूल्य (VMP)
1.4 वितरण के सीमांत उत्पादकता सिद्धान्त की व्याख्या
1.5 रेखाचित्रों द्वारा निरूपण
1.5.1 पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत उत्पादन साधनों का मूल्य निर्धारण
1.5.1 अपूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत साधनों का मूल्य निर्धारण
1.6 वितरण के सीमांत उत्पादकता सिद्धान्त की मान्यताएं
1.7 वितरण के सीमांत उत्पादकता सिद्धान्त की आलोचनाएं
1.8 सारांश
1.9 शब्दावली

1.1 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य उत्पादन के साधनों के कीमत निर्धारण के सिद्धांत की व्याख्या करना है । इस इकाई के अध्ययन से आप जान पाएंगे कि –

उत्पादन के साधनों की कीमत कैसे निर्धारित होती है?

उत्पादन के साधनों की मांग उनकी उत्पादकता के कारण होती है।

अल्पकाल मे साधन का शोषण , सामान्य लाभ अथवा हानि तीनों स्थितियां संभव है जबकि दीर्घकाल में साधन की कीमत सदैव उसकी सीमांत उत्पादकता के बराबर ही होती है तथा फर्म को सामान्य लाभ मिलता है।

1.1 प्रस्तावना

उत्पादन के पांच साधन है – श्रम, पूंजी, भूमि, साहस एवं संगठन जिन्हे उत्पादन में से मजदूरी,ब्याज, लगान, लाभ एवं वेतन के रूप में पारिश्रमिक दिया जाता है। उत्पादन मे से इन साधनों के पारिश्रमिक का निर्धारण उस साधन की सीमांत उत्पादकता के आधार पर होता है। किसी साधन की द इकाइयो के स्थान पर n+ 1 इकाइयो का प्रयोग करने पर उत्पादन मे जो वृद्धि होती है वही उस साधन की सीमांत उत्पत्ति होती है। प्रस्तुत अध्याय में सीमांत उत्पादन से संबंधित विभिन्न अवधारणाओं के अध्ययन के पश्चात वितरण के सीमांत उत्पादकता सिद्धान्त की व्याख्या की जायेगी, तत्पश्चात पूर्ण प्रतियोगिता तथा अपूर्ण प्रतियोगिता बाजार स्थितियो मे साधनों के कीमत निर्धारण की व्याख्या के पश्चात सिद्धान्त की मान्यताओं तथा आलोचनाओं की व्याख्या की जायेगी।

1.3. सीमांत उत्पादकता से अभिप्राय

सीमांत उत्पादकता सिद्धान्त के प्रमुख शब्द सीमांत उत्पादकता के अनेक अभिप्राय एवं धारणाएं प्रचलित है अतः सिद्धान्त की व्याख्या के पूर्व इन धारणाओं को समझना आवश्यक है जो क्रमशः निम्नलिखित हैः–

1.3.1 सीमांत भौतिक उत्पादकता –

उत्पादन प्रक्रिया में जब उत्पादन के अन्य साधनों को स्थिर रखकर किसी परिवर्तनशील साधन की एक अतिरिक्त इकाई बढाने अथवा घटाने से कुल भौतिक उत्पादन मे जो वृद्धि या कमी होती है , वह परिवर्तनशील साधन की सीमांत भौतिक उत्पादकता कहलाती है। उदाहरण के लिए उत्पादन के अन्य साधनों के साथ मिलकर यदि

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

10 श्रमिक किसी वस्तु की 1000 इकाइयां बनाते है और अन्य साधनों को समान रखते हुए श्रमिकों की संख्या 11 कर दी जाये तो उत्पादन बढकर 1050 इकाइयां हो जाये तो एक अतिरिक्त श्रमिक से कुल भौतिक उत्पादन जो 50 इकाई बढता है वही ग्यारहवे श्रमिक की सीमांत भौतिक उत्पादकता है।

$$MPP = \frac{Q_1 - Q_0}{F_1 - F_0} = \frac{\Delta Q}{\Delta F}$$

जहां MPP = सीमांत भौतिक उत्पादन

Q_1 = नया कुल भोतिक उत्पादन

Q_2 = नया कुल भोतिक उत्पादन

F_1 = परिवर्तित साधन की वर्तमान कुल इकाइयां

F_2 = परिवर्तित साधन की कुल प्रारंभिक इकाइयां

1.3.2 सीमांत आगम उत्पादकता (MRP) :- अन्य साधनों के स्थिर रहने पर परिवर्तनशील साधन की एक अतिरिक्तइकाई के प्रयोग मे लेने या न लेने से कुल आगम में जो परिवर्तन (वृद्धि–कमी) होता है उसे ही उस साधन की सीमांत आगम उत्पादकता कहते है।

गणितीय सूत्र के रूप में, $MRP = \frac{TR_1 - TR_0}{F_1 - F_0}$

जहां TR_1 = नया कुल आगम

TR_2 = प्रारंभिक कुल आगम

F_1 = साधन की नई कुल इकाइयां

F_0 = साधन की प्रारंभिक कुल इकाइयां

उदाहरण के लिए अन्य साधनों के स्थिर रहने पर यदि 10 श्रमिक मिलकर 1000 रूपये की वस्तुएं बनाते है तथा 11 श्रमिक मिलकर 1100 रूपये की वस्तुएं उत्पादित करते है तो फर्म की सीमांत आगम उत्पादकता 100 रू. (1100–1000) होगी।

$$MRP = \frac{1100 - 1000}{11 - 10} = 100 \text{ रू.}$$

1.3.3 सीमांत उत्पादकता का मूल्य (VMP)

सीमांत भौतिक उत्पादकता को वस्तु की कीमत से गुणा करने से जो गुणनफल आता है उसे सीमांत उत्पादकता का मुल्य कहते है।

गणितीय सूत्र के रूप मे VMP = MPP x कीमत

पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत फर्म की वस्तु की कीमत (P) तथा औसत आगम (AR) तथा सीमांत आगम (MR) तीनों बराबर होते है इसलिए MRP=VMP होते है जबकि अपूर्ण प्रतियोगिता मे फर्म की वस्तु की कीमत (P) सामान्यतः सीमांत आगम (MR) से अधिक होती है इसलिए सीमांत उत्पादन का मूल्य सीमांत आगम उत्पादकता से अधिक होता है अर्थात VMP > MRP

बोध प्रश्न

प्र.1 सीमांत भौतिक उत्पादकता (MPP) की परिभाषा दीजिए।

.....

.....

.....

.....

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

प्र.2 सीमांत उत्पादकता का मूल्य (VMP) का सूत्र दीजिये ।

.....

.....

.....

.....

प्र.3 सीमांत आगम उत्पादकता (VMP) से आप क्या समझते है।

.....

.....

.....

.....

1.4 सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त की व्याख्या

यह वितरण का महत्वपूर्ण सिद्धान्त माना जाता है इसका प्रारंभिक विचार रिकार्डो ने प्रस्तुत किया था किन्तु उसे वितरण क`एक सामान्य सिद्धान्त के रूप मे विकसित करने का श्रेय से बी क्लार्क, विक्सटीड तथा वायरस को जाता है बाद मे श्रीमति जॉन रॉबिन्सन तथा हिक्स ने उसे आगे बढाया।

इस सिद्धान्त के अनुसार दीर्घकाल मे प्रत्येक उत्पादन साधन की कीमत उस साधन की सीमांत उत्पादकता द्वारा निर्धारित होती है। अर्थात अन्य साधनों को स्थिर रखकर किसी साधन विशेष की एक अतिरिक्त इकाई के प्रयोग से कुल उत्पादन में जो वृद्धि होती है वह वृद्धि ही साधन की सीमांत उत्पादकता है इस सिद्धांत के पहले भाग में यह बताया जाता है कि उत्पत्ति के प्रत्येक साधन की कीमत इसलिए होती है क्योकि उनमें उत्पादकता होती है तथा जितनी अधिक साधन की उत्पादकता होगी उतनी ही अधिक साधन की कीमत होगी। साम्यावस्था हेतु शर्ते।

इस सिद्धान्त के अनुसार संतुलन अथवा साम्य की स्थिति में निम्न तीन शर्ते पूरी होती हैः–

1. उत्पादन के प्रत्येक साधन का मूल्य अथवा पारिश्रमिक उस साधन की सीमान्त उत्पादकता के बराबर होता है अर्थात साधन की कीमत साधन की उत्पादकता

2. उत्पादन के किसी भी साधन की सीमान्त उत्पादकता सभी व्यवसायों अथवा उद्योगों मे लगभग बराबर होती है अर्थात उद्योग मे साधन ए की सी.उ. = Y उद्योग मे साधन ए की सी. =Z उद्योग मे साधन ए की सी.उ. =

क्योंकि अगर किसी साधन की किसी उद्योग मे सीमांत उत्पादकता अन्य की तुलना मे अधिक होगी तो वह साधन उस उद्योग को ठोड़कर अधिक उत्पादकता वाले उद्योग मे चला जायेगा और यह प्रतिस्थापन तब तक चलता रहेगा जब तक उस साधन की सभी उद्योग मे भी सीमांत उत्पादकता बराबर हो।

3. प्रत्येक फर्म अधिकतम लाभ प्राप्ति हेतु उत्पादन के साधनो को उत्पादन कार्यो मे कार्य मे इस प्रकार लगायेगी कि प्रत्येक साधन की सीमांत उत्पादकता तथा कीमत का अनुपात दूसरे साधन की सीमांत उत्पादकता और उसकी कीमत के अनुपात के बराबर हो जाये।

सूत्र के रूप में

$$\frac{\text{x साधन की सी.उ.}}{\text{x साधन की कीमत}} = \frac{\text{y साधन की सी.उ.}}{\text{y साधन की कीमत}} =$$

$$\frac{\text{z साधन की सी.उ}}{\text{z साधन की कीमत}}$$

$$\frac{MRP_x}{P_x} = \frac{MRP_y}{P_y} = \frac{MRP_z}{P_z}$$

अगर किसी एक साधन की सीमांत उत्पादकता तथा कीमत का अनुपात दूसरे साधन की सीमांत उत्पादकता

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

और कीमत के अनुपात से अधिक हुआ तो उत्पादक कम उत्पादकता वाले साधन के स्थान पर अधिक सीमांत उत्पादकता वाले साधन का प्रयोग करेगा तथा यह क्रम तब तक चलता रहेगा जब तक कि सभी साधनों की सीमांत उत्पादकता तथा कीमत का अनुपात बराबर न हो जाये।

बोध प्रश्न

प्र1. वितरण के सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त के अनुसार फर्म के साम्य की तीन शर्ते बताइये।

प्र.2 साधन के मूल्य निर्धारण के सीमांत उत्पादकता सिद्धांत की विवेचना कीजिए।

1.5 उत्पादन साधनों का मूल्य निर्धारण या फर्म का साम्य

अब हम वितरण के सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त के आधार पर पूर्ण प्रतियोगिता तथा अपूर्ण प्रतियोगिता मे साधन के मूल्य निर्धारण की विवेचना करेंगे।

1.5.1 पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत साधनों का मूल्य निर्धारण

पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत उद्योग या बाजार मे साधन की कीमत उसकी मांग व पूर्ति की सापेक्षिक शक्तियों के साम्य से निर्धारित होती है । फर्म के लिए साधन की कीमत उसकी लागत है अतः साधन की औसत लागत तथा सीमांत लागत एक पड़ी रेखा होती है जिस पर फर्म साधन की मनचाही इकाइयां प्रयुक्त कर सकती है , फर्म साम्य की स्थिति मे तब होती है जब फर्म की सीमांत आगम उसकी सीमांत लागत के बराबर हो जाये।

;पद्ध अल्पकाल मे फर्म का साम्य – अल्पकाल मे फर्म साधन की मात्रा मे कोई विशेष परिवर्तन नहीं कर सकती इसलिए प्रचलित दर पर अतिरिक्त लाभ, शून्य लाभ अथवा हानि हो सकती है । जैसा कि चित्र से स्पष्ट है।

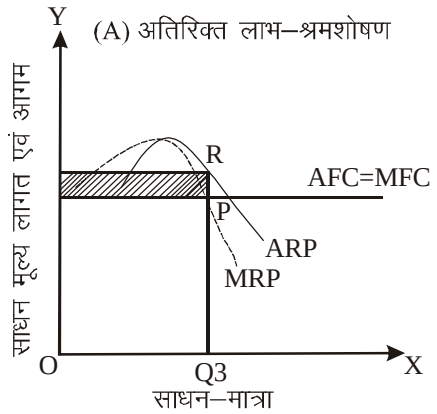

चित्र

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

रेखाचित्र 1(a) के अनुसार Q बिन्दु पर फर्म का MFC = MRP होने से फर्म साम्यावस्था में है जहां साधन की O N मात्रा प्रयोग मे ली जायेगी। चूंकि इस स्थिति में फर्म का ARP > AFC अतः फर्म को प्रति इकाई PS = RQ लाभ प्राप्त होगा तथा फर्म का कुल लाभ PQRS होगा ।

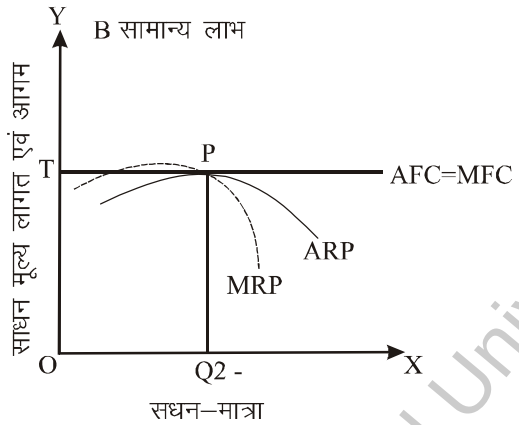

रेखाचित्र 1(b) के अनुसार Q बिन्दु पर फर्म का MFC = MRP होगा तथा साधन की Q_2 मात्रा का निर्धारण होगा जहां AFC= ARP = MFC = MRP होने के कारण फर्म को सामान्य लाभ प्राप्त होगा।

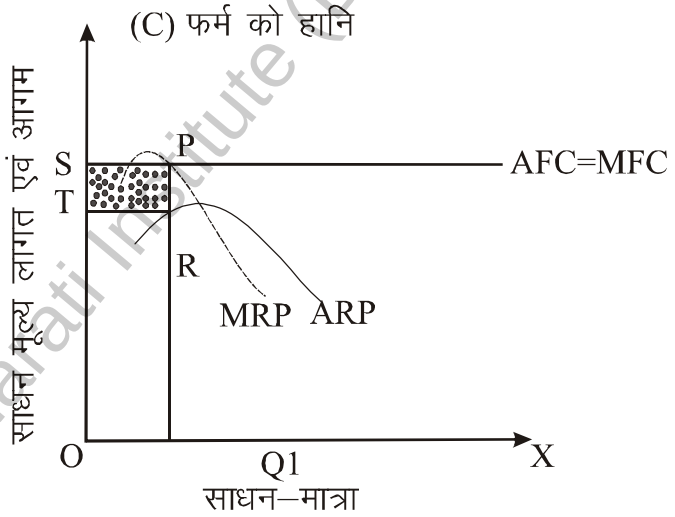

रेखाचित्र 1(b) Q बिन्दु पर MFC = MRP होने के कारण साधन की OQ_3 मात्रा का निर्धारण होगा, लेकिन इस बिन्दु पर AFC > ARP होने के कारण फर्म को PQRS के बराबर हानि होगी।

(ii) दीर्घकाल मे फर्म का साम्य – दीर्घकाल मे समय इतना लम्बा होता है कि फर्म साधन की मात्रा में मनचाहा परिवर्तन कर सकती है तथा साधन भी पूर्णतया गतिशील होते है इसलिए दीर्घकालीन साम्य की स्थिति मे फर्म केवल सामान्य लाभ अर्जित करेगी जैसा कि चित्र मे स्पष्ट है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

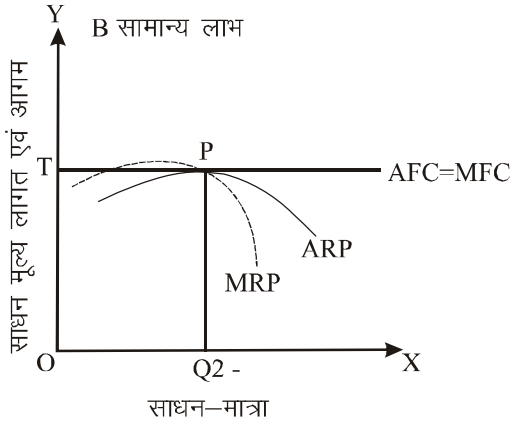

रेखाचित्र 2 मे फर्म का साम्य Pबिन्दु पर होने से फर्म साधन की OQ_2 मात्रा का प्रयोग करेगी जहां MFC = MRP = ARP = AFC है, अतः फर्म को दीर्घकालीन साम्यावस्था मे केवल सामान्य लाभ ही प्राप्त होगा।

1.5.2 अपूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत साधन का मूल्य निर्धारण

अपूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत भी उत्पादक का लाभ उस बिन्दु पर अधिकतम होता है जहां साधन का सीमांत आय उत्पादन तथा साधन की सीमांत लागत बराबर होती है अपूर्ण प्रतियोगिता मे उत्पादक को साधन की उत्तरोत्तर इकाइयां प्रचलित मूल्य पर प्राप्त नहीं होती तथा वह अधिक इकाइयां ऊंचे मूल्य चुका कर ही प्राप्त कर सकता है अतः उसकी AFC तथा MFC दोनों बढती जाती है जैसा कि निम्न चित्र से स्पष्ट हैः–

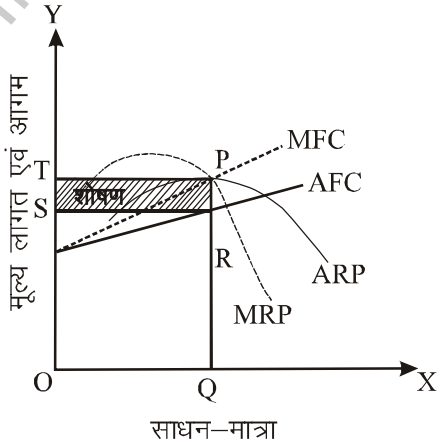

चित्र मे MFC तथा MRP,P बिन्दु पर परस्पर काटते है जिसके अनुसार OQ साधन मात्रा निर्धारित होती है लेकिन इस साधन मात्रा पर AFC < ARP, इसलिए फर्म को अतिरिक्त लाभ प्राप्त होता है। श्रमिकों का कुल शोषण RSTV है।

बोध प्रश्न 3 –

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

प्र. 1पूर्ण प्रतियोगिता मे अल्पकाल में साधन का मूल्य निर्धारित करने हेतु फर्म के साम्य का विश्लेषण कीजिए।

प्र. 3 अपूर्ण प्रतियोगिता में साधन की कीमत निर्धारित हेतु फर्म के साम्य की विवेचना कीजिए।

1.6 मान्यताएं –

यह सिद्धान्त अनेक मान्यताओं पर आधारित है जो क्रमशः निम्नलिखित है

1. साधन विशेष की सभी इकाइयां समान है तथा उनकी उत्पादन क्षमता समान हैं।
2. उत्पादन के विभिन्न साधनों मे विभिन्न प्रयोगों मे पूर्ण गतिशीलता विद्यमान है।
3. यह सिद्धान्त पूर्ण प्रतियोगिता की मान्यता पर आधारित है।
4. यह सिद्धान्त दीर्घकालीन परिस्थितियों में लागु होता है।
5. साधन की सीमान्त उत्पादकता को मापा जा सकता है।
6. उत्पादन प्रक्रिया में उत्पति ह्रास नियम लागू होता है।
7. उत्पादन के प्रत्येक साधन मे व्यावसायिक स्थान तथा प्रयोगों मे पूर्ण गतिशीलता विद्यमान है अर्थात साधन कम कीमत वाले प्रयोगों से अधिक कीमत वाले प्रयोगों में बिना रूकावट आ जा सकते है।
8. विभिन्न साधनों की इकाइयों के मध्य पूर्ण प्रतिस्थापन संभव होना चाहिए।

1.7 आलोचनाएं –

यह सिद्धान्त काल्पनिक मान्यताओं तथा दीर्घकालीन दृष्टिकोण पर आधारित है इसलिए व्यावहारिक जीवन मे इसका महत्व बहुत कम रह जाता है इसकी मुख्य आलोचनाएं निम्न है

1. एक पक्षीय सिद्धान्त – यह सिद्धान्त साधन के केवल मांग पक्ष पर जोर देता है जबकि पूर्ति पक्ष की पूर्णतया अवहेलना की गई है।
2. सीमांत उत्पति ज्ञात करना कठिन – टॉजिग देवनपोर्ट आदि अर्थशास्त्रियों के अनुसार व्यवसाय मे उत्पति के समस्त साधन मिलकर संयुक्त उत्पति करते है इसलिए किसी भी साधन की पृथक सीमांत उत्पति ज्ञात करना कठिन है।
3. पूर्ण प्रतियोगिता एक काल्पनिक धारणा :– व्यवहार मे पूर्ण प्रतियोगिता कही भी देखने को नही मिलती।
4. गलत मान्यताएं – यह सिद्धान्त गलत एवं अव्यावहारिक मान्यताओं पर आधारित है इसलिए इसकी उपयोगिता बहुत कम रह जाती है।
5. दीर्घकालीन सिद्धान्त – प्रो कीन्स के अनुसार यह दीर्घकाल से संबंधित है जबकि दीर्घकाल मे तो हम सब मर जाते है।
6. साहसी के प्रतिफल की व्याख्या नहीं – चूंकि प्रत्येक व्यवसाय मे साहसी एक ही होता है अतः उसकी उत्पादकता इस सिद्धान्त से ज्ञात नहीं की जा सकती।

   हॉब्सन आदि अर्थशास्त्रियों के अनुसार किसी साधन की सीमान्त उत्पादकता उसकी सेवाओं का ठीक मापक नहीं होती।
8. अन्य तत्व महत्वपूर्ण – साधन के मूल्य निर्धारण में सीमान्त उत्पादकता के अतिरिक्त कई अन्य आर्थिक, सामाजिक एवं राजनैतिक तत्वो का भी प्रभाव पडता है जिसकी इस सिद्धान्त मे उपेक्षा दी गई है।
9. साधनों का अनुपात अधिकांशतः स्थिर – प्रो . हॉब्सन के अनुसार उत्पादन में साधनों का अनुपात प्रायः तकनीकी कारणो से स्थिर रहता है अतः किसी एक साधन की पृथक सीमांत उत्पादकता ज्ञात करना कठिन है।

उपयुर्क्त आलोचनाओं का विश्लेषण करने से स्पष्ट है कि यह सिद्वान्त एकपक्षीय होने के कारण लगान, मजदूरी लाभ, तथा ब्याज की ठीक–ठीक व्याख्या करने में असमर्थ है लेकिन फिर भी साधनों की उत्पादकता का विश्लेषण करने हेतु यह उपयोगी साबित हुआ है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

बोध प्रश्नः–

प्र.1 वितरण के सीमान्त उत्पादकता सिद्वांत की मान्यताएं लिखिये।

प्र.2 वितरण के सीमांत उत्पादकता सिद्वांत की आलोचनाएं लिखिये।

प्र. 3 वितरण के सीमांत उत्पाकदता सिद्धांत की व्याख्या कीजिये।

1.8 सारांश

उपयुर्क्त अध्याय में हमने उत्पत्ति के साधनों की सीमांत उत्पादकता से संबंधित विभिन्न अवधारणाओं का विश्लेषण किया जिनमें से कुछ महत्वपूर्ण है सीमांत भौतिक उत्पादकता (MPP) सीमांत आगम उत्पादकता (MPR) सीमांत उत्पादकता का मूल्य (VMP) इसके पश्चात साधनों के मूल्य निर्धारण के सीमांत उत्पादकता सिद्वांत की व्याख्या के पश्चात हमने पूर्ण प्रतियोगिता तथा अपूर्ण प्रतियोगिता बाजार स्थितियों में साधनों के मूल्य निर्धारण की व्याख्या की तथा अंत में सीमांत उत्पादकता सिद्वांत की मान्यताओं तथा आलोचनाओं का विश्लेषण किया।

1.9 बोध प्रश्नों के उत्तर–

1.3 उत्तर 1. देखिये 1.3.1 उत्तर 2. देखिये 1.3.2 उत्तर 3. देखिये 1.3.3

1.4. उत्तर 1. देखिये 1.4.1 उत्तर 2. देखिये 1.4

1.5 उत्तर 1. देखिये 1.5.1 उत्तर 2. देखिये 1.5.2

1.6 उत्तर 1. देखिये 1.6 उत्तर 2. देखिये 1.7

1.9 शब्दावली :–

सीमांत उत्पादकता (MP)

सीमांत भौतिक उत्पादकता (MPP)

सीमांत आगम उत्पादकता (MRP)

सीमांत उत्पादकता का मूल्य (VMP)

साहसी

लगान

ब्याज

पूंजी

लाभ

1.11 कुछ उपयोगी पुस्तके

एम.एल .सेठ अर्थशास्त्र के सिदांत

एच.एल.आहुजा, उच्चतर व्यष्टि अर्थशास्त्र

लक्ष्मी नारायण नाथूराम का, व्यष्टि अर्थशास्त्र

बी. एल. ओझा , व्यष्टि अर्थशास्त्र

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इकाई 2—लगान,मजदूरी ,ब्याज एवं लाभ का सिद्धांत

2.0 इकाई की रूप रेखा
2.1 उद्देश्य
2.2 प्रस्तावना
2.3 लगान के वितरण सिद्धांत
2.3.1 लगान का अर्थ एवं परिभाषा
2.3.2 रिकार्डो का लगान सिद्धांत
2.3.3 लगान का आधुनिक सिद्धांत
2.4 मजदूरी निर्धारण के सिद्धांत
2.4.1 मजदूरी का अर्थ एवं परिभाषा
2.4.2 मजदूरी का जीवन निर्वाह सिद्धांत
2.4.3 मजदूरी कोष सिद्धांत
2.4.4 मजदूरी का सीमान्त उत्पादकता सिद्धांत
2.4.5 मजदूरी का अवशेषाधिकार सिद्धांत
2.4.6 मजदूरी का आधुनिक सिद्धांत
2.5 ब्याज के सिद्धांत
2.5.1 ब्याज का अर्थ एवं परिभाषा
2.5.2 ब्याज का त्याग या प्रतीक्षा सिद्धांत
2.5.3 फिशर का समय पसंदगी ब्याज सिद्धांत
2.5.4 ब्याज का सीमान्त उत्पादकता सिद्धांत
2.5.5 ब्याज का प्रतिष्ठित अथवा बचत विनियोग सिद्धांत
2.5.6 ब्याज का तरलता पसंदगी सिद्धांत
2.6 लाभ के सिद्धांत
2.6.1 अर्थ एवं प्रकृति
2.6.2 लाभ का लगान सिद्धांत
2.6.3 लाभ का मजदूरी सिद्धांत
2.6.4 लाभ का सीमान्त उत्पादकता सिद्धांत
2.6.5 लाभ का प्रावैगिक सिद्धांत
2.6.6 लाभ का नव प्रवर्तन सिद्धांत
2.6.7 लाभ का जोखिम वहन सिद्धांत
2.6.8 लाभ का अनिश्चितता सहन सिद्धांत
2.6.9 लाभ का मांग एवं पूर्ति सिद्धांत
2.7 सारांश
2.8 उपयोगी पुस्तके
2.9 शब्दावली

2.1 उद्देश्य :—

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन से आप जान पाएंगे कि —

(i) उत्पादन के विभिन्न साधनों जैसे भूमि, पूंजी, श्रम तथा साहसी को मिलने वाले पारिश्रमिक ब्याज, मजदूरी, ब्याज तथा लाभ का निर्धारण कैसे किया जाता है?

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

(ii) लगान के विभिन्न सिद्धांत जैसे रिकॉर्डों का लगान सिद्धांत तथा लगान का आधुनिक सिद्धांत क्या है?

(iii) विभिन्न अर्थशास्त्रियों की मजदूरी निर्धारण के संबंध में क्या विचारधाराएं है?

(iv) लाभ के संबंध में विभिन्न अर्थशास्त्रियों ने क्या मत प्रकट किये है?

(v) ब्याज का तरलता अधिमान सिद्धांत तथा तरलता ब्याज की स्थिति क्या है?

2.2 प्रस्तावना :– उत्पादन के विभिन्न साधनों जैसे भूमि, पूंजी, श्रम तथा साहसी को उत्पादन में से मिलने वाला प्रतिफल क्रमशः लगान, ब्याज, मजदूरी तथा लाभ है। इन सभी के संबंध में अर्थशास्त्रियों द्वारा विभिन्न अवधारणाएं प्रतिपादित की गई है। लगान के संबंध में प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों एवं आधुनिक अर्थशास्त्रियों के दृष्टिकोणों में अंतर देखने कों मिलता है। रिकॉर्डों का लगान का सिद्धांत जो भूमि तथा अन्य प्राकृतिक साधनों के प्रयोग की कीमत की समस्या का अध्ययन करता है जबकि लगान का आधुनिक सिद्धांत जिसमें किसी उत्पादन के साधन की इकाई द्वारा उसके वर्तमान उपयोग अथवा पेशे में काम करते रहने के लिये प्रेरित करने के लिये आवश्यक आय से अतिरिक्त अर्जित आय का वर्णन किया गया है। रिकॉर्डों के अनुसार लगान भूमि के प्रयोग के लिए दिया गया जाता है अर्थात् लगान का संबंध केवल भूमि से होता है परंतु लगान के आधुनिक सिद्धांत के अनुसार लगान केवल भूमि को ही प्राप्त नहीं होता अपितु उत्पत्ति के सभी साधनों भूमि, श्रम, पूंजी, संगठन तथा साहसी को प्राप्त हो सकता है।

इसके अतिरिक्त प्रस्तुत अध्याय में मजदूरी, ब्याज तथा लाभ के विभिन्न सिद्धान्तों का विवेचन किया गया है।

2.3 लगान के सिद्धांत–राष्ट्रीय आय का वह भाग जो भूमि के प्रयोग के बदले मेंप्राप्त होता है, लगान, कहलाता है। लगान संबंधी विचार सर्वप्रथम निर्बाधवादी अर्थशास्त्रियों ने प्रस्तुत किया बाद मे रिकार्डो ने इसका वैज्ञानिक विचार प्रस्तुत किया।

2.3.1 लगान का अर्थ एवं परिभाषा –

रिकार्डो के अनुसार, लगान भूमि की उपज का वह भाग है जो भू–स्वामियों को भूमि की मौलिक एवं अविनाशी शक्तियों के प्रयोग के बदले मे दिया जाता है।

प्रो. मार्शल के अनुसार, भूमि या प्रकृति के अन्य उपहारों के स्वामित्व के कारण प्राप्त आय को लगान कहते है।

उपयुर्क्त परिभाषाओं में लगान शब्द का योग संकुचित अर्थ मे किया गया है जबकि आधुनिक अर्थशास्त्रियों के अनुसार लगान केवल भूमि स्वामियों को ही नहीं मिलता वरन् उत्पत्ति के अन्य साधनों के स्वामियों को भी लगान मिलता है।

प्रो. बोल्डिंग के शब्दों में, किसी भी उत्पादन के साधन की एक इकाई को वर्तमान कार्य मे बनाये रखने के लिए जो न्यूनतम रकम देना आवश्यक होता है, उससे जो भी अधिक भुगतान किया जाता है। ,लगान कहलाता है। इस प्रकार आधुनिक विचारधारा के अनुसार लगान , शब्द का प्रयोग उन उत्पादन साधनों के भुगतानों को सूचित करने के लिए किया जाता है जिनमें पूर्ति की लोच कम होती है।

2.3.2 रिकार्डो का लगान सिद्धांत –

प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों मे सर्वप्रथम डेविड रिकार्डो ने ही लगान के संबंध में निश्चित एवं सुव्यवस्थित सिद्धांत प्रस्तुत किया रिकार्डो के अनुसार लगान भूमि की उपज का वह भाग है जो भू–स्वामी को भूमि की मौलिक एवं अविनाशी शक्तियों के प्रयोग के लिए दिया जाता है। रिकॉर्डो के अनुसार भूमि की उर्वरा शक्तियों में भिन्नता पाई जाती है। अतः समान उत्पादन लागत पर भी अधिक उपजाऊ भूमि से प्राप्त उत्पत्ति कम उपजाऊ भूमि की तुलना में अधिक होती है।इस तरह लगान अधिक उपजाऊ भूमि तथा कम उपजाऊ भूमि की उपज का अंतर है। रिकार्डो का लगान सिद्धांत विस्तृत एवं कृषि एवं गहन कृषि दोनों पर लागू होता हैं।

विस्तृत खेती के अन्तर्गत लगान

विस्तृत खेती वह खेती होती है जिसमे उत्पादन बढ़ाने के लिए भूमि के क्षेत्रफल को बढ़ाकर उत्पादन बढ़ाया जाता है। ऐसी खेती मे लगान को निर्धारित करने के लिए रिकार्डो ने एक ऐसे भू भाग की कल्पना की जहां अनेक प्रकार की गुणवत्ता वाले भूखण्ड है। मान लिजिए इनकी चार श्रेणियां A B C एवं क उपजाऊ शक्ति के अनुसार, A

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

श्रेणी का भूखण्ड सबसे श्रेष्ठ है उससे कम उपजाऊ भूखण्ड है B। C श्रेणी भूखण्ड की उपजाऊ शक्ति उससे भी कम है तथा D श्रेणी का भूखण्ड सबसे कम उपजाऊ शक्ति वाला है इसकी उपज का मूल्य उसके लागतों के मूल्य के समान है। अतः इस (Dश्रेणी के) भूखण्ड पर कोई अतिरेक या बचत प्राप्त नहीं होती। इस D श्रेणी के भूखण्ड को सीमान्त भूखण्ड कहा जाता है।

A, B, C श्रेणी के सभी भूखण्ड ऐसे है जिन पर होने वाला उत्पादन का मूल्य उन पर होने वाले लागतों के मूल्य (लागत) से अधिक है। ये भूखण्ड अधिसीमान्त भूखण्ड कहलाते है। रिकार्डो के अनुसार अधिसीमान्त भूमि एवं सीमान्त भूमि के बीच उत्पादन का अन्तर ही लगान होता है। एक काल्पनिक उदाहरण की सहायता से इसे स्पष्ट किया जा सकता है।

मान लीजिये एक देश में A श्रेणी की भूमि पर प्रति एकड़ उपज 50 क्विंटल , B श्रेणी की भूमि पर प्रति एकड़ उपज 40 क्विंटल C श्रेणी की भूमि पर प्रति एकड़ उपज 30 क्विंटल तथा क श्रेणी की भूमि पर प्रति एकड़ उपज 20 क्विंटल गेहूं उत्पादित होता है। D श्रेणी की भूमि सीमान्त भूमि है। अतः इस पर कोई लगान नहीं होगा। A, B ताकि C अधिसीमान्त भूमियां हैं इन पर प्राप्त होने वाला उत्पादन अतिरेक जो A श्रेणी की भूमि पर 50–20 = 30 क्विंटल प्रति एकड़, क्विंटल प्रति एकड़ B श्रेणी की भूमि पर 40–20 = 20 क्विंटल प्रति एकड़ तथा C श्रेणी की भूमि पर 30–20 = 10 क्विंटल प्रति एकड़ लगान होगा। इसका कुल योग 30+20+10=60 क्विंटल प्रति एकड़ होगा। चित्र द्वारा इसे निम्न प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है।

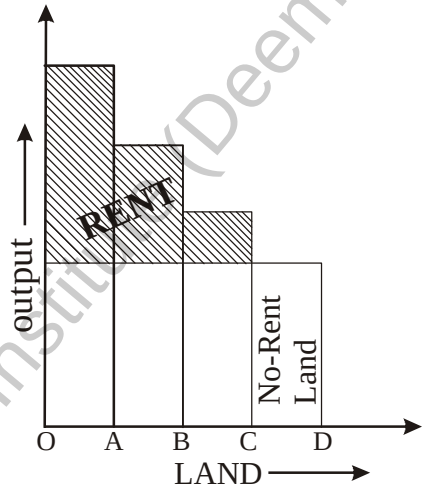

चित्र – 1 में OX अक्ष पर भूमि की श्रेणी तथा OY अक्ष पर उत्पादन की मात्रा को दर्शाया गया है। A,B,C तथा D चार भूमि की श्रेणिया है। A,B,C,D के ऊपर बने खानों (Bars) की उंचाई प्रति एकड़ उत्पादन को दर्शाती है। D श्रेणी की भूमि पर प्रति एकड़ उत्पादन उस पर आने वाली प्रति एकड़ लागत के बराबर है। अतः यह लगान रहित भूमि है। दूसरे शब्दो में यह सीमान्त भूमि हैं। शेष तीनों श्रेणी की भूमियों A,B,C, पर प्रति एकड़ उत्पादन उन पर आने वाली प्रति एकड़ लागत से अधिक है। अतः ये तीनों श्रेणी (A,B,C) की भूमियां अधिसीमान्त भूमि हैं। अतः इन पर मिलने वाला प्रति एकड़ उत्पादन अतिरेक लगान होगा। जो चित्रानुसार A श्रेणी की भूमि पर 30 क्विंटल, B श्रेणी की भूमि पर 20 क्विंटल, Cश्रेणी की भूमि पर 10 क्विंटल प्रति एकड़ है।

2. गहन खेती के अर्न्तगत लगान

गहन खेती वह खेती होती हैं जिसमें उत्पादन बढ़ाने के लिये भूमि के निश्चित क्षेत्रफल पर श्रम तथा पूंजी की अधिक इकाईयों का प्रयोग किया जाता है। रिकार्डों के अनुसार चूंकि कृषि में घटते प्रतिफल का नियम (Law of Diminishing Returns) लागू होता है। जिसके कारण गहन खेती के अर्न्तगत भी लगान के निर्धारण को स्पष्ट किया जा सकता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

माना एक भू–स्वामी भूमि के एक निश्चित क्षेत्रफल के टूकड़े पर श्रम व पूंजी की इकाईयों को उत्पादन बढ़ाने के उददेश्य से तब तक लगाता जायेगा जब तक कि इन इकाईयों से मिलने वाले सीमान्त उत्पादन की कीमत इन पर होने वाली सीमान्त लागत बराबर न हो जावें। पूंजी और श्रम की जिस इकाई से मिलने वाला सीमान्त उत्पादन तथा उसकी सीमान्त लागत बराबर हो जाती है वह सीमान्त इकाई (marginal Unit) कहलाती है तथा इस इकाई से पहिले जितनी इकाईयां लगायी गई हैं वे अधिसीमान्त इकाईया (Super Marginal Units) कहलाती हैं। रिकार्डों के अनुसार गहन खेती केअन्तर्गत इन अधिसीमान्त तथा सीमान्त इकाई केउत्पादन का अन्तर लगान कहलाता है। चित्र 2 इसे निम्न प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता है।

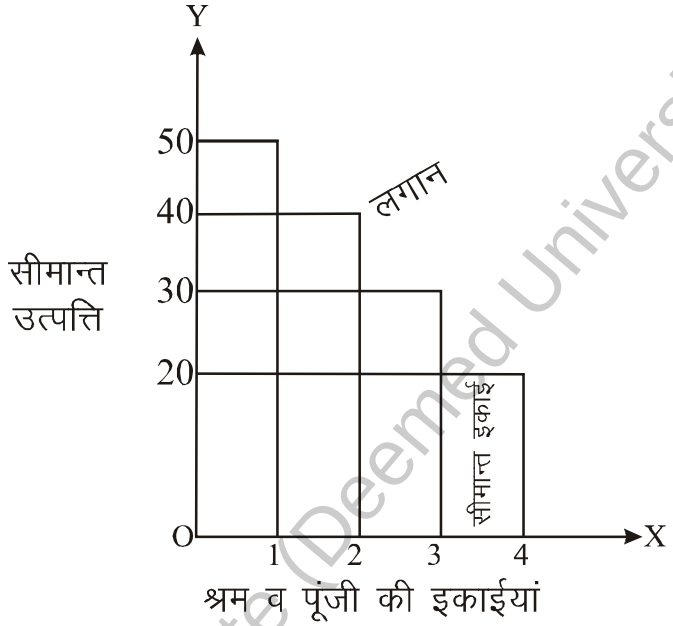

चित्र – 2

चित्र – 2 में OX अक्ष पर श्रम व पूंजी की इकाईयों को तथा OY अक्ष पर सीमान्त उत्पत्ति को लिया गया है। भूमि के एक निश्चित क्षेत्रफल के टुकड़े पर श्रम व पूंजी की पहली इकाई लगाने से होने वाला उत्पादन 50 क्विंटल है। श्रम व पूंजी की दूसरी इकाई लगाने से दूसरी इकाई का सीमान्त उत्पादन 40 क्विंटल है तथा श्रम व पूंजी की तीसरी इदकाई लगाने से तीसरी इकाई का सीमान्त 30 क्विंटल है। जब श्रम व पूंजी की चौथी इकाई लगाई जाती है तो चौथी इकाई का सीमान्त उत्पादन 20 क्विंटल आता है। यदि चौथी इकाई को लगान रहित इकाई माना जावे तो यह सीमान्त इकाई कहलायेगी अर्थात् यही वह इकाई है जिसका सीमान्त उत्पादन एवं सीमान्त लागत बराबर है तो पहली तीन इकाईयां अधिसीमान्त इकाईयां कहलायेगी तथा इन तीनों इकाईयों से प्राप्त होने वाला सीमान्त उत्पादन अतिरेक लगान होगा जैसा कि चित्र में दर्शाया गया है कि प्रथम इकाई से प्राप्त लगान 30 क्विंटल, दूसरी इकाई से प्राप्त लगान 20 क्विंटल तथा तीसरी इकाई से प्राप्त लगान 10 क्विंटल है।

3 सिद्धांत की मान्यताएं

रिकॉर्डों ने लगान सिद्धांत की स्पष्ट व्याख्या प्रस्तुत करने हेतु अनेक मान्यताओं को आधार बनाया जो निम्न प्रकार हैं :–

1. भूमि की पूर्ति स्थिर होती है।
2. भूमि में मौलिक एवं अविनाशी शक्तियां होती है तथा यह भूमि के विभिन्न टुकड़ो की अलग–अलग होती है।
3. भूमि के वैकल्पिक उपयोग नहीं होते। भूमि का केवल एक ही उपयोग होता है और वह है उस पर खेती करना।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

4. भूमि पर खेती का कार्य भूमि की उपजाऊ शक्ति के क्रम में किया जाता है अधिक उपजाऊ भूमि पर कम उपजाऊ भूमि की अपेक्षा पहले खेती की जाती है।
5. कृषि क्षेत्र में घटतें प्रतिफल का नियम लागू होता है।
6. वस्तु बाजार में पूर्ण प्रतियोगिता पाई जाती है।

2. आलोचनाएं

रिकार्डो के लगान सिद्धांत की अनेक विशेषता होने के उपरान्त भी अवास्तविक एवं अव्यवहारिक मान्यताओं के कारण कुछ अलोचनाएं हुई जो निम्नलिखित है।

1. रिकार्डो केअनुसार लगान भूमि की मौलिक एवं अविनाशी शक्तियो के कारण मिलता है परन्तु वास्तविकता में भूमि की उर्वरा शक्ति न तो मौलिक होती है और न ही अविनाशी । वर्तमान समय में इसे तकनीकी का सहारा लेकर परिवर्तित किया जा सकता है।
2. रिकार्डो का यह मानना है कि सबसे अच्छी भूमि पर सबसे पहले खेती हुई तथा उसके बाद उससे कम अच्छी भूमि पर ऐतिहासिक दृष्टि से सही नही लगता।
3. पूर्ण प्रतियोगिता की मान्यता अवास्तविक है।
4. रिकार्डो ने भूमि के केवल एक उपयोग कृषि को माना जो पूर्णयता अव्यवहारिक है। भूमि के अनेको वैकल्पिक उपयोग होते है।
5. कुछ अर्थशास्त्रियों का मानना है कि लगान केउत्पन्न होने का कारण भूमि का उपजाऊपन न होकर उसकी सीमितता होता है।
6. वर्तमान समय से लगान रहित भूमि का पायाजाना वास्तविकता से परे की बात लगती है।

2.3.3 लगान का आधुनिक सिद्धांत

रिकार्डो ने लगान का विश्लेषण केवल भूमि के संदर्भ में किया क्योंकि उनके अनुसार केवल भूमि में ही सीमितता अगतिशीलता तथा उर्वरा शक्तियों भिन्नता के गुण विधमान होते है परंतु आधुनिक अर्थशात्रियों ने लगान का विश्लेषण केवल भूमि के संदर्भ में न कर उत्पत्ति के सभी साधनों के संदर्भ में किया है।

आधुनिक अर्थशात्रियों के अनुसार लगान विशिष्ठता के लिए भुगतान हे या विशिष्टता का परिणाम है। श्रीमती जॉन रॉबिन्स के अनुसार लगान वह आधिक्य है जो कि साधन की इकाई उस न्यूनतम आय में बनाये रखने के लिए आवश्यक है। प्रो. बेनहम के अनुसार उत्पादन का साधन अपनी स्थानन्तरण आय से जो कुछ भी अधिक आय प्राप्त करता है, वही लगान है।

लगान = वास्तविक आय – स्थानान्तरण आय या वैकल्पिक आय

वास्तविक आय एवं स्थानान्तरण आय के बीच अन्तर जितना अधिक होगा उतना ही अधिक होगा। अगर यह अन्तर कम होगा तो लगान भी कम होगा। यदि वास्वविक आय एवं स्थानान्तरण आय बराबर होगी तो लगान शून्य होगा। वास्तविक आय वह आय है जो साधन को वर्तमान में प्राप्त हो रही है। जबकि स्थानान्तरण आय वह आय जो साधन की इकाई के सर्वश्रेष्ठ वैकल्पिक प्रयोग से प्राप्त हो सकती है। दूसरे शब्दो में यह वह आय है जो साधन की एक इकाई को किसी उद्योग में बनाये रखने के लिये आवश्यक होती है।

लगान के उत्पन्न होने के कारण उत्पत्ति के साधनों की विशिष्टता होती है। अर्थात् लगान साधन की विशिष्टता का परिणाम होता है। जो साधन पूर्णयता अविशष्टि होते है उन्हें लगान प्राप्त नहीं होता है। क्योंकि पूर्णयता अविशिष्ट साधन की स्थानान्तरण आय उसकी वास्तविक आय के बराबर होती है। जब साधन पूर्णतया विशिष्ट होता है तो उसकी स्थानान्तरण आय शून्य होती है। जिसके कारण उसकी सारी वास्तविक आय ही लगान कहलाती है।

आधुनिक अर्थशास्त्रियों के अनुसार जिस प्रकार किसी वस्तु की कीमत का निर्धारण मांग एवं पूर्ति के द्वारा तय किया जाता है लगान को भी उत्पादन के साधन की पूर्ति एवं मांग के द्वारा तय किया जाता है। उत्पादन के साधन की पूर्ति के सम्बन्ध में तीन परिस्थितियां हो सकती है।

1. जब साधन की पूर्ति पूर्णयता लोचदार हो,
2. जब साधन कीपूर्ति पूर्णयता बेलोचदार हो तथा

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

3. जब साधन की पूर्ति पूर्णयता लोचदार से कम हो।

लगान की निर्धारण इन तीनों परिस्थितियों में निम्न प्रकार किया जा सकता है।

1. जब साधन की पूर्ति पूर्णयता लोचदार हो

साधन की पूर्ति पूर्णयता लोचदार होती है तो साधन पूर्णयता अविशिष्ट होता है और उसकी वास्तविक आय उसकी स्थानान्तरण आय बराबर होतीहै। ऐसी स्थिति में लगान शून्य होता है । चित्र 3 द्वारा इसे निम्न प्रकार समझाया जा सकता है।

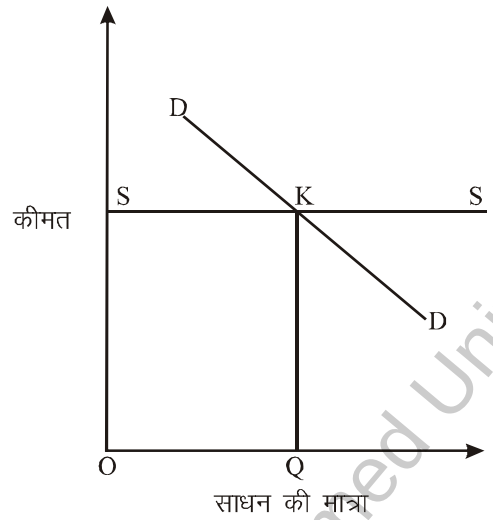

चित्र 3

चित्र 3 में OX अक्ष पर साधन की मात्रा तथा OY अक्ष पर की कीमत को लिया गया है। DD साधन का मांग वक्र है। SS साधन पूर्ति वक्र है। यह X अक्ष के समानान्तर है जो बताता है कि साधन की पूर्ति पूर्णतया लोचदार है। साधन का मांग वक्र DD पूर्ति वक्र SS को K बिन्दु पर काटता है । साधन की प्रति इकाई कीमत KQ निर्धारित होती है। कुल आय OQKS होगी जो उसकी स्थानान्तरण आय के बराबर है। अतः लगान शून्य होगा।

2. जब साधन की पूर्ति पूर्णतया बेलोचदार हो

जब साधन की पूर्ति पूर्णतया बेलोचदार हो तो इसका तात्पर्य है कि साधन की पूर्ति स्थिर है। पूर्णयता बेलोचदार पूर्ति होने पर साधन पूर्णयता विशिष्ट होता है। ऐसी स्थिति में साधन की स्थानान्तारण आय शून्य होती है जिसके कारण वास्तविक आय एवं स्थानान्तरण आय का अन्तर वास्तविक आय के बराबर आयेगा और इसके फलस्वरूप सारी वास्तविक आय लगान होगी। चित्रानुसार इसे निम्न प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है।

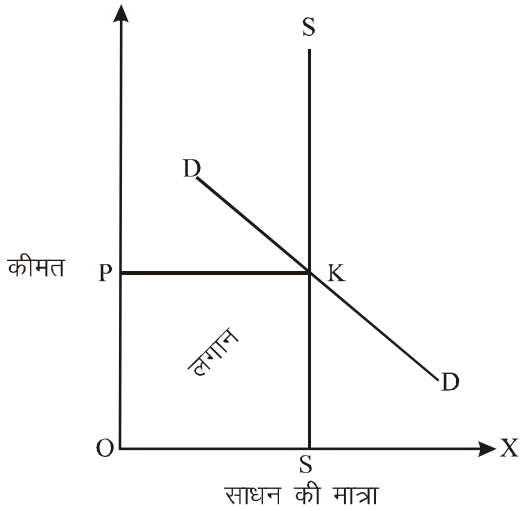

चित्र 4

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

चित्र 4 मे DD साधन का मांग वक्र है। SS साधन का पूर्ति वक्र है। जो OY अक्ष के समान्तर है। K बिन्दु सन्तुलन का बिन्दु है जहां मांग वक्र DD तथा पूर्ति वक्र SS एक दूसरे को काटते है। संतुलन की स्थिति में साधन की वास्तविक आय OSKP निर्धारित होती है जबकि इसकी स्थानान्तरण आय शून्य है। अतः कुल वास्तविक आय OSKP लगान होगी।

3. जब साधन की पूर्ति पूर्णतया लोचदार से कम हो

जब साधन की पूर्ति पूर्णतया लोचदार से कम हो तो साधन आंशिक रूप सके विशिष्ट होता है। ऐसी स्थिति में लगान के निर्धारण को चित्र 5 की सहायता से स्पष्ट किया जा सकता है।

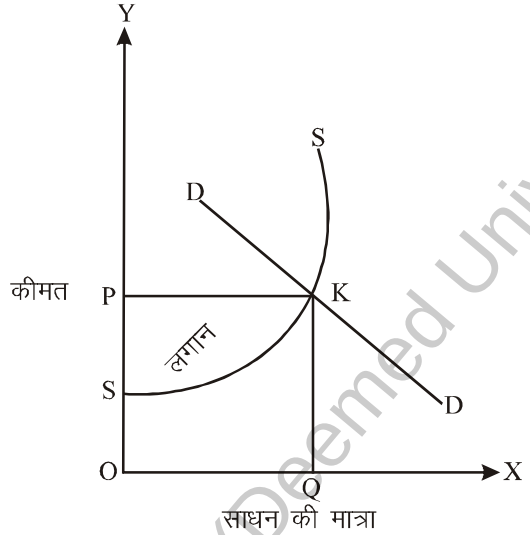

चित्र 5

चित्र 5 में DD साधन का मांग वक्र है। तथा SS साधन का पूर्ति वक्र है। ये दोनो आपस में एक दूसरे को K बिन्दु सन्तुलन का बिन्दु होगा। इस स्थिति में साधन की वास्तविक आय के OQKP के बराबर होगी जबकि साधन की स्थानान्तरण आय OQKP का अन्तर SKP लगान को बताएगा।

मूल्यांकन

आधुनिक लगान सिद्धांत एक व्यापक एवं सामान्य सिद्धांत है जो साधन की मांग एवं पूर्ति पर आधारित है। इसके अनुसार, लगान उत्पत्ति के साधनों की विशिष्टता का भुगतान है तथा साधनों की पूर्ति सीमित होने, बेलोचदार होने या पूर्ण लोचदार से कम होने पर ही लगान उत्पन्न होता है।

2.3.4 आभास लगान

आभास लगान की धारणा का प्रयोग मार्शल ने भूमि के अतिरिक्त मनुष्य द्वारा बनाये गये उन साधनों से प्राप्त आय के लिए किया जिनकी पूर्ति अल्पकाल में स्थिर होती है। दीर्घकाल में आभास लगान नहीं मिलता है। आभास लगान कुल आगम एवं कुल परिवर्तनशील लागत के अन्तर के बराबर होता है।

TQR=TR-TVC

यहां

TQR= कुल आभास लगान

TVC= कुल परिर्वनशील लागत या

AQC=AR-AVC

यहां

AQS= प्रति इकाई आभास लगान

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

AR= औसत आगम
AVC= औसत परिवर्तनशील लगात
चित्र6 की सहायता से आभास लगान के निर्धारण को स्पष्टतः समझा जा सकता है।

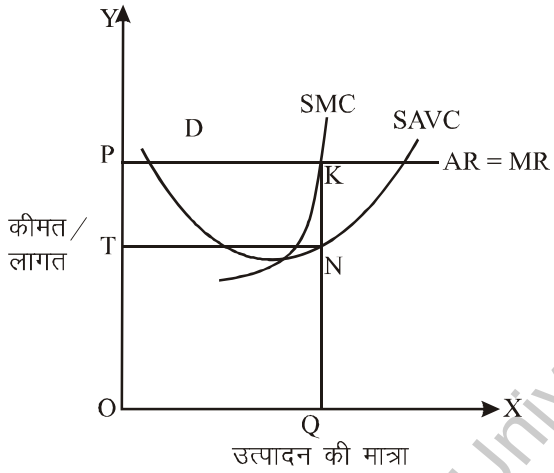

चित्र 6

चित्र – 6 में OX अक्ष पर उत्पादन की मात्रा तथा OY अक्ष पर कीमत एवं लागत को लिया गया है। AR=MR औसत आगम एवं सीमान्त आगम वक्र है। SAVC अल्पकालीन औसत परिवर्तनशील लागत वक्र है। SMC अल्पकालीन सीमान्त लागत वक्र है। पूर्ण प्रतियोगिता में फर्म के साम्य की स्थिति वहां होती है जहां MR=MC होता है। चित्र में K बिन्दु होगा। उत्पादन की मात्रा OQतथा कीमत OP निर्धारित होगी। OQ उत्पादन के स्तर पर प्रति इकाई आगम OK तथा कुल आगम OQKP होगा। OQ उत्पादन के स्तर पर प्रति इकाई अल्पकालीन औसत परिवर्तनशील लागत QN है जबकि अल्पकालीन कुल परिवर्तनशील लागत OQNT है। अतः प्रति इकाई आभास लगान OQ-QN = NK होगा तथा कुल आभास लगान OQKP - OQNT = TNKP होगा।

अभ्यास प्रश्नः

प्र. 1 लगान का अर्थ एवं परिभाषा बताइये।

.....

.....

.....

.....

प्र. 2 रिकार्डो का लगान सिद्धांत विस्तृत कृषि एवं गहन कृषि में समझाइये।

.....

.....

.....

.....

प्र.3 रिकार्डो के लगान सिद्धांत की मान्यताएं एवं आलोचनाएं लिखिये।

.....

.....

.....

.....

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

प्र.4 लगान के आधुनिक सिद्धांत की अवधारणा स्पष्ट कीजिए।

.....

.....

.....

.....

प्र. 5 आभास लगान से आप क्या समझते है?

.....

.....

.....

.....

2.4 मजदूरी निर्धारण के सिद्धांत

उत्पत्ति के साधन के रूप में श्रम को राष्ट्रीय आय में जो भाग मिलता है वह मजदूरी कहलाता है। दूसरे शब्दों मे राष्ट्रीय आय का वह भाग जो श्रम को उत्पादन क्रिया मे सहयोग के बदले प्राप्त होता है। मजदूरी कहलाती है।

मजदूरी निर्धारण के संबंध मे विभिन्न अर्थशास्त्रियों ने समय–समय पर अलग–अलग सिद्धांत प्रतिपादित किये है, जिनका संक्षिप्त विवरण निम्नलिखित है।

2.4.1 मजदूरी का जीवन निर्वाह सिद्धांत

इस सिद्धांत के अनुसार दीर्घकाल मे मजदूरी की दर द्रव्य की उस मात्रा के बराबर होती है। जो श्रमिक के जीवन निर्वाह के लिए पर्याप्त है। दूसरे शब्दों मे दीर्घकाल में मजदूरी इतनी होती है कि उससे से श्रमिक जीवन अस्तित्व बनाये रख सके।

आलोचनाएं

1. यह सिद्धांत एक पक्षीय है।
2. गलत मान्यता
3. अन्यायपूर्ण है।
4. एक ही उद्योग में मजदूरी की भिन्नता की व्याख्या करने मे असमर्थ है।

2.4.2 मजदूरी कोष सिद्धांत

इसका प्रतिपादन अर्थशास्त्री जे. एस. मिल. ने किया उसके अनुसार मजदूरी पूंजी और जनसंख्या के अनुपात पर निर्भर होती है। मजदूरी बिना उस कोष की वृद्धि के जिसमें से मजदूरी दी जाती है, नही बढ़ सकती। सूत्र के रूप मे

$$\text{मजदूरी की दर} = \frac{\text{मजदूरी कोष}}{\text{श्रमिकों की संख्या}}$$

आलोचनाएं

1. मजदूरी कोष की धारणा काल्पनिक है।
2 मजदूरों की उत्पादकता की उपेक्षा कर दी गई है।
3 गलत मान्यताओं पर आधारित है।

2.4.3 मजदूरी का सीमान्त उत्पादकता सिद्धांत

इस सिद्धांत का प्रतिपादन प्रो. जेवन्स ने किया यह सिद्वांत वितरण के सामान्य सीमान्त उत्पादकता पर आधारित है। इस सिद्धांत के अनुसार दीर्घकाल में श्रमिकों की मजदूरी उनकी सीमान्त उत्पादकता के बराबर होने की प्रवृति होती है। अर्थात् संतुलन की स्थिति में एक उद्योगपति श्रमिको का प्रयोग उत्पादन कार्य मे उस सीमा तक करेगा जहां तक श्रमिकों की मजदूरी उनकी सीमांत उत्पादकता के मूल्य के ठीक बराबर नही हो जाती।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

आलोचनाए

इसकी मुख्य आलोचनाएं निम्न है –

1. अपूर्ण एवं एकपक्षीय सिद्धांत
2. गलत मान्यताएं
3. सीमांत उत्पादकता ज्ञात करना कठिन
4. श्रमिक संघों के महत्त्व की उपेक्षा
5. अवास्तविक सिद्वांत

2.4.4 मजदूरी का अवशेषाधिकार सिद्धांत

इस सिद्धांत का प्रतिपादन प्रो. वाकर ने किया ।

प्रो. वाकर के अनुसार, मजदूर जो कुछ उत्पन्न करते है, उसमे से लगान ,ब्याज, व लाभ को निकालने के बाद जो कुछ भी बचता है, वह अन्तत मजदूरों की मजदूरी के बराबर होता है। सूत्र के रूप में

कुल मजदूरी = कुल उत्पादन मूल्य, लगान, ब्याज, लाभ

इस सिद्धांत में वाकर मजदूरों की कार्य कुशलता व मजदूरी के बीच प्रत्यक्ष संबंध स्थापित करते है अर्थात् श्रमिक जितना अधिक उत्पादन करेंगे उतनी ही उनकी मजदूरी भी अधिक होगी।

आलोचनाएं

1. एकपक्षीय सिद्धांत है अर्थात मजदूरों के केवल पक्ष की ओर ध्यान देता है।
2. स्थैतिक दृष्टिकोण पर आधारित सिद्धांत है
3. अवशेष अंश के अधिकारी मजदूर नहीं होते वरन् साहसी होते है अतःयह सत्य नही है कि मजदूरी का निर्धारण अवशेष अंश से होता है।

2.4.5 मजदूरी का आधुनिक सिद्धांत मांग पूर्ति सिद्धांत

मजदूरी के आधुनिक सिद्धांत के अनुसार जिस प्रकार किसी वस्तु का मूल्य निर्धारण उस वस्तु की मांग एवं पूर्ति की शक्तियों के साम्य से होता है ,ठीक उसी प्रकार मजदूरी का निर्धारण भी श्रमिकों की मांग एवं पूर्ति की पारस्परिक शक्तियों के संतुलन से होता है। दूसरे शब्दों मे एक उद्योग में मजदूरी का निर्धारण उस बिन्दु पर होता है, जहां श्रम को कुल मांग वक्र एवं श्रम का कुल पूर्ति वक्र एक–दूसरे को काटते है। अतः मजदूरी का निर्धारण करने के लिए श्रम की मांग वक्र एवं पूर्ति तथा इनकी अन्तक्रिया (Interaction) का विवेचन करना आवश्यक है।

(i) श्रम की मांग

श्रम की मांग उत्पादको द्वारा उत्पादन कार्य के लिए की जाती है क्योंकि श्रम उत्पादन का एक सक्रिय एवं महत्वूर्ण साधन होता है। श्रम की मांग व्युत्पन्न मांग (Derived Demand) होती है। क्योंकि यह उन वस्तुओं एवं सेवाओं की मांग पर निर्भर करती है जिनके उत्पादन में श्रम का प्रयोग हुआ है। अतः हम कह सकते हैं कि श्रम की मांग मजदूरी की निश्चित दर पर श्रमिकों की वह संख्या है जिन्हें उत्पादक काम पर लगाना चाहता है। उत्पादक श्रम की मांग श्रम की सीमान्त उत्पादकता (Marginal Productivity) को ध्यान में रखकर करता है। कोई उत्पादन सामान्यतः श्रम को उसकी सीमान्त उत्पादकता से अधिक मजदूरी नहीं देना चाहता है। वह हमेशा श्रम को उसकी सीमान्त उत्पादकता के बराबर ही मजदूरी अदा करना चाहेगा।

मजदूरी की दर एवं श्रम की मांग उल्टा सम्बन्ध (Inverse Relation) पाया जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि जब मजदूरी की दर अधिक होगी तो श्रम की मांग कम होगी तथा जब मजदूरी की दर कम होगी तो श्रम की मांग अधिक होगी। श्रम का मांग वक्र चित्र–7 के अनुसार बांये से दांये ओर उपर से नीचे गिरती रेखा होती है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

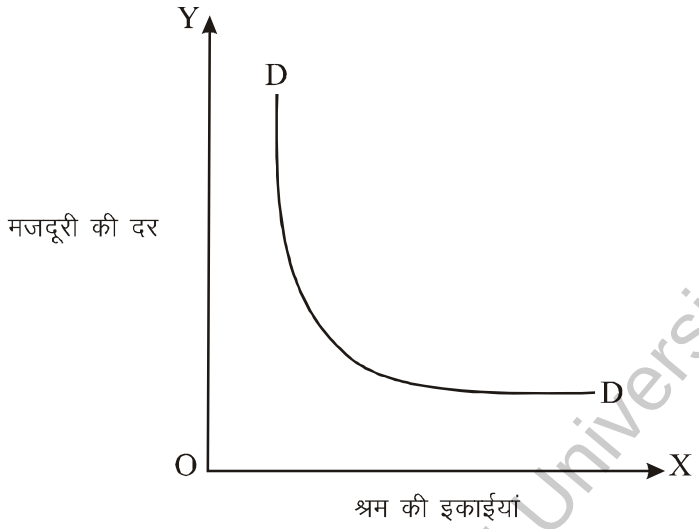

चित्र 7

चित्र संख्या 7 में OX अक्ष पर श्रमिकों की संख्या तथा OY अक्ष पर मजदूरी की दर को लिया जाता है। क्व श्रम की मांग वक्र है। जो यह बतलाता है कि जैसे–जैसे मजदूरी की दर घटती जाती है श्रम की मांग बढ़ती जाती है। जैसे–जैसे मजदूरी की दर बढ़ती जाती है श्रम की मांग कम होती जाती है।

(ii) श्रम की पूर्ति

किसी उद्योग के लिए श्रम की पूर्ति का अभिप्राय एक विशेष प्रकार के श्रमिकों की उस संख्या से है जो विभिन्न मजदूरी दरों पर अपनी सेवाओं को अर्पित करने को तत्पर है। यदि मजदूरी की दर एवं श्रम की पूर्ति के बीच के सम्बन्ध को देखा जाये तो हम पाते है कि मजदूरी की अधिक दर पर अधिक श्रमिक काम करने को तत्पर होते है। जबकि मजदूरी की नीची (कम) दर पर कम श्रमिक काम करने के लिये तैयार होते है। अतः यह प्रकट होता है कि मजदूरी की दर एवं श्रम की पूर्ति में सीधा सम्बन्ध पाया जाता है। यहां यह ध्यान देने की बात है कि श्रमिकों की पूर्ति की नीचली सीमा श्रमिकों के जीवन स्तर द्वारा निर्धारित होती है। यदि मजदूरी की दर उनके न्यूनतम जीवन स्तर पर लागत से कम है तो श्रमिक कार्य करने के लिए पूर्ति नहीं करेंगे। अर्थात् मजदूरी न्यूनतम जीवन स्तर द्वारा निर्धारित होती है। यदि मजदूरी की दर उनसे न्यूनतम जीवन स्तर की लागत से कम है तो श्रमिक कार्य करने के लिये अपनी पूर्ति नहीं करेंगे। अर्थात् न्यूनतम जीवन स्तर के लिए आवश्यक मजदूरी की दर को प्रभावित करने वाले अनार्थिक एवं मनोवैज्ञानिक तत्त्व भी होते है। अनार्थिक तत्त्वों में घर के लिए मोह, सामाजिक वातावरण, घरेलू वातावरण आदि प्रमुख हैं जबकि मनोवैज्ञानिक तत्त्वों में कार्य तथा आराम के मध्य समय का विभाजन प्रमुख होता है।

यदि श्रम की पूर्ति के सम्बन्ध में निर्धारक तीनों तत्वों (आर्थिक एवं मनोवैज्ञानिक) का ध्यान में रखकर मजदूरी की दर एवं श्रम की पूर्ति का विश्लेषण किया जायें तो यह ज्ञात होता है कि प्रारम्भ में मजदूरी की वृद्धि से श्रम की पूर्ति बढ़ेगी परन्तु एक सीमा के बाद यानि मजदूरी की दर में और वृद्धि होगई तो श्रम की पूर्ति कम हो जायेगी। क्योंकि हो सकता है श्रमिक आय प्रभाव के कारण कम घण्टे की कार्य करना चाहे। ऐसी स्थिति में श्रम का पूर्ति वक्र पीछे ओर मुड़नेवाला (Backward Sloping) होगा। इसे चित्र–8 द्वारा निम्न प्रकार दर्शाया जा सकता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

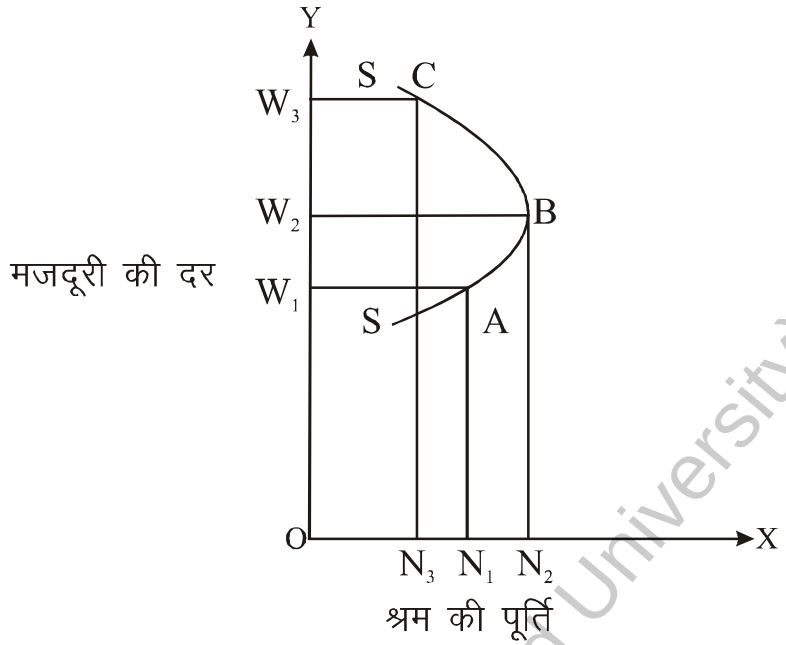

चित्र 8

चित्र संख्या 8 में श्रम की पूर्ति तथा मजदूरी की दर के सम्बन्ध को दर्शाया गया है। OX अक्ष पर श्रम की पूर्ति तथा OY अक्ष पर मजदूरी कीदर का लिया गया है। SS श्रम का वक्र है। जब मजदूरी की दर OW_1 बढ़कर OW_2जाती है तो श्रम की पूर्ति ON_1 से बढ़कर ON_2 हो जाती है परन्तु यदि मजदूरी की दर मे और अधिक वृद्वि हो जायें वह OW_2 से बढ़कर OW_3 हो जाये तो श्रम की पूर्ति ON_2 से घटकर ON_3रह जाती है।

A पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत मजदूरी का निर्धारण

एक उद्योग के लिए पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति में मजदूरी वहां पर निर्धारित होती है जहां पर श्रम की मांग एवं श्रम की पूर्ति बराबर हो। पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति में मजदूरी निर्धारण को चित्र संख्या 9 की सहायता से स्पष्ट किया जा सकता है।

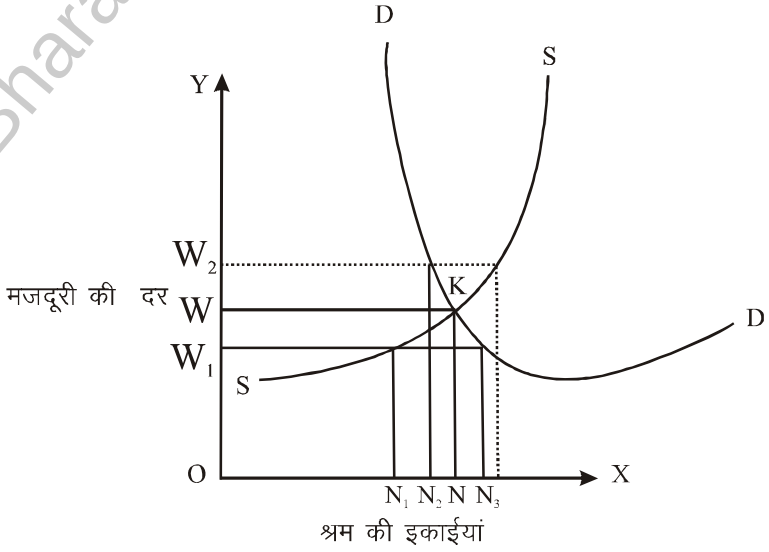

चित्र 9

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

चित्र संख्या 9 में OX अक्ष पर श्रमिकों कीसंख्या OY अक्ष पर मजदूरी की दर को लिया गया है। एक उद्योग के लिए DD श्रमिकों का मांग वक्र है तथा SS श्रमिकों का पूर्ति वक्र है। ये वक्र एक दूसरे को K बिन्दु पर काटते है अतः K बिन्दु संतुलन का बिन्दु होगा तथा इस स्थिति में मजदूरी की दर OW निर्धारित होगी तथा श्रम की मांग एवं पूर्ति की मात्रा ON होगी। यदि मजदूरी की दर OW_1 हो जाये तो श्रमिकों की मांग ON_2 तथा श्रमिकों की पूर्ति ON_1 हो जायेगी। चूंकि इस मजदूरी दर पर श्रमिकों की मांग पूर्ति से N_1N_2 अधिक है जो मजदूरी की दर बढ़ेगी जब तक कि यह बढ़कर OW न हो जाये इसके विपरीत यदि मजदूरी की दर OW_2 निर्धारित हो गयी तो इस मजदूरी दर पर श्रमिकों की मांग ON_3 तथा श्रमिकों की पूर्ति ON_4 हो जायेगी। चित्र से स्पष्ट है कि इस मजदूरी की दर पर श्रमिकों की मांग श्रमिकों की पूर्ति से N_3N_4 कम है। जो मजदूरी की दर को तब तक घटायेगी जब तक कि पुनः मजदूरी की संतुलन की दर OW निर्धारित न हो जायें।

निष्कर्षः–

मजदूरी की वह दर निर्धारित होगी जहां पर श्रमिकों कीमांग तथा श्रमिकों की पूर्ति बराबर होगी। चित्र में OW संतुलन की अवस्था में निर्धारित मजदूरी की दर है तथा ON श्रमिकों की मांग एवं ON श्रमिकों की पूर्ति हैं जो बराबर है। पूर्ण प्रतियोगिता की अवस्था में जब एक बार उद्योग द्वारा मजदूरी की दर निर्धारित हो जाती है तो प्रत्येक फर्म को इस मजदूरी की दर को स्वीकार करना होता है। एक फर्म के लिए इस बाजार में उद्योग द्वारा निर्धारित मजदूरी की दर पर श्रमिकों की पूर्ति पूर्णतया लोचदार होती है। ऐसी स्थिति में एक फर्म के लिए औसत मजदूरी तथा सीमान्त मजदूरी बराबर होती है। तथा श्रमिकों का पूर्ति वक्र क्षैतिज रेखा होता है। पूर्ण प्रतियोगिता में फर्म संतुलन की स्थिति में तब होती है जब फर्म की सीमान्त मजदूरी (MW) फर्म के सीमान्त आगम उत्पाद (MRP) के बराबर होगी। एक फर्म के संतुलन की स्थिति का अध्ययन अल्पकाल एवं दीर्घकाल में निम्न प्रकार किया जा सकता है।

(A) अल्पकाल

इस काल में एक फर्म श्रमिकों के प्रयोग की दृष्टि से तीन स्थितियों में हो सकती है–

1.अति लाभ की स्थिति

2. सामान्य लाभ की स्थिति

3. हानि की स्थिति

1. लाभ की स्थिति

यदि औसत मजदूरी (AW) औसत आगम उत्पाद (ARP) से कम हो तो फर्म को लाभ प्राप्त होगा। इसे चित्र संख्या 10 द्वारा निम्न प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है।

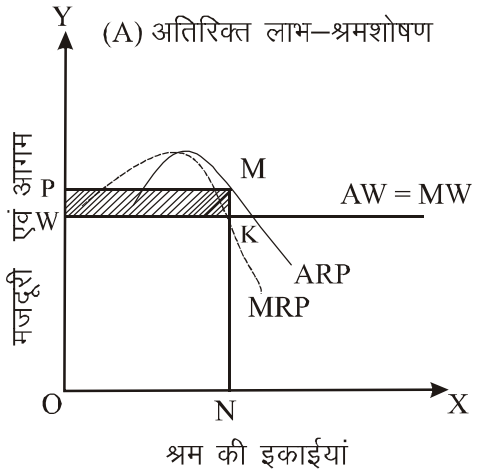

चित्र 10

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

चित्र संख्या 10 में OX अक्ष पर श्रम की इकाईयां तथा OY अक्ष पर मजदूरी की दर औसत आगम उत्पादकता तथा सीमान्त आगम उत्पादकता का लिया जाता है। AW= MW औसत मजदूरी एवं सीमान्त मजदूरी रेखा है। ARP औसत आगम वक्र एवं MRP सीमान्त आगम वक्र है। संतुलन की अवस्था वहां होगी जहां MW=MRP होगा। चित्र में यह स्थिति K बिन्दु पर होगी। अतः K बिन्दु साम्य का बिन्दु होगा तथा इस स्थिति में फर्म OW मजदूरी की दर पर श्रम की ON इकाईयां काम में लेगी।तथा श्रम की औसत आगम उत्पादकता OP होगी।चित्र से स्पष्ट है कि इस बिन्दु पर औसत आगम उत्पादकता औसत मजदूरी से अधिक होगी। अतःफर्म को प्रति इकाई PW लाभ प्राप्त होगा। तथा कुल लाभ PWKM होगा।

2. सामान्य लाभ की स्थिति

यदि औसत मजदूरी (AW) औसत उत्पादकता (ARP) के बराबर है तो फर्म सामान्य लाभ की स्थिति में होगी। चित्र संख्या 11 द्वारा इसे स्पष्ट किया जा सकता है।

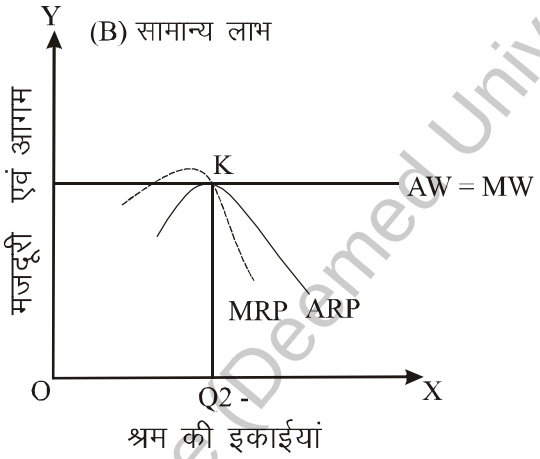

चित्र 11

जैसा कि हम जानते है संतुलन की स्थिति वहां होगी जहां MRP=MW होगा। चित्रानुसार यह स्थिति K बिन्दु पर प्राप्त होती है। अतः K बिन्दु साम्यावस्था का बिन्दु होगा साम्य की स्थिति में OW मजदूरी की दर तथा औसत आगम उत्पादकता (ARP) भी OW ही होगी। चूंकि AW =ARP अतः फर्म को सामान्य लाभ प्राप्त होगा एवं फर्म श्रम की ON मात्रा प्रयुक्त करेगी।

3. हानि की स्थिति

यदि औसत मजदूरी (AW) औसत आगम उत्पादकता (ARP) अधिक है तो फर्म हानि कीस्थिति में होगी।इसे चित्र संख्या 12 द्वारा निम्न प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है।

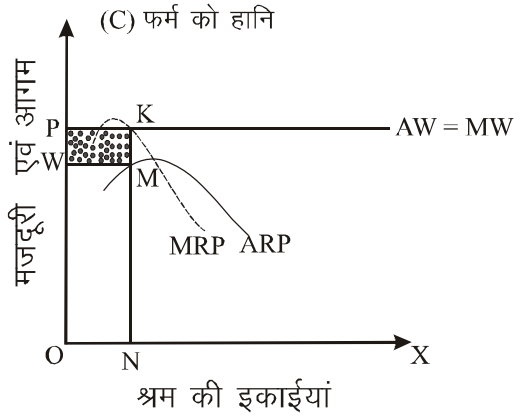

चित्र 12

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

साम्यावस्था की स्थिति वहां प्राप्त होती है जहां MW=MRP होगा। चित्र में यह स्थिति K बिन्दु पर प्राप्त होगी। अतः K बिन्दु पर संतुलन का बिन्दु है। इस बिन्दु पर श्रम की ON इकाइयां प्रयुक्त की जायेंगी, औसत मजदूरी की दर (AW) OW होगी तथा औसत आगम उत्पादकता (ARP) PO होगी। चूंकि ARP=AW है। अतः फर्म को हानि होगी। प्रति इकाई हानि की मात्रा WP होगी तथा WMPK के बराबर होगी।

दीर्घ काल

दीर्घकाल में पूर्ण प्रतियोगिता में फर्म को केवल सामान्य लाभ ही प्राप्त होता है। वह न तो लाभ की स्थिति में रह सकती है और न हानि में क्योंकि यदि फर्म लाभ की स्थिति में होगी तो नयी फर्मे लाभ से आकर्षित होकर उद्योग में प्रवेश करेगी। इससे श्रमिकों की मांग बढ़ेगी और मजदूरी की दर बढ़ जायेगी तथा साथ ही वस्तु का उत्पादन भी बढ़ेगा और इससे उसकी कीमत भी घट जायेगी। कीमत के घटने से ARP कम हो जायेगी। ये दोनों प्रक्रियाएं तब तक चलती रहेगी।जब तक ARP=AW न हो जाये इसी प्रकार यदि फर्म का हानि प्रदत होती है तो फर्म उद्योग को छोड़ देगी। इससे श्रमिकों कीमांग घट जायेगी और उनकी मजदूरी AW भी कम हो जायेगी साथ ही वस्तु की कीमत बढ़ जायेगी और ARP बढ़ जायेगा। इन दोनों बातों का परिणाम यह होगा कि अन्ततः ARP तथा AW बराबर हो जायेंगे निष्कर्ष रूप में दीर्घकाल में फर्म केवल सामान्य लाभ की स्थिति में ही रहेगी।सामान्य लाभ की इस स्थिति में ही रहेगी। सामान्य लाभ की इस स्थितिमें AW =MW= ARP= MRP होगा। इसे चित्र संख्या 13 से स्पष्ट किया जा सकता है।

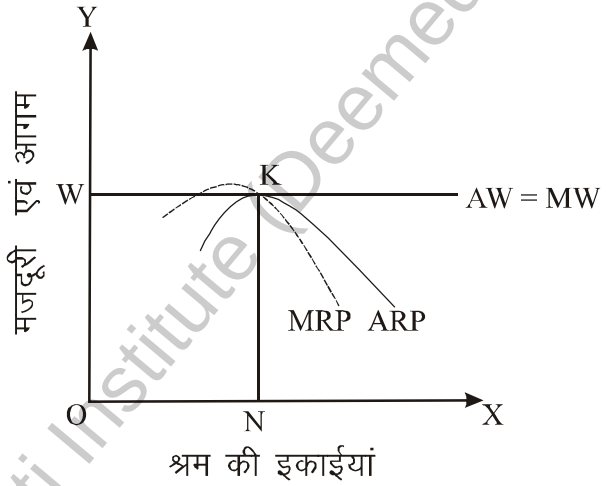

चित्र 13

श्रमिकों का प्रयोग करने की दृष्टि से एक फर्म के साम्य की स्थिति में MRP=MW तथा ARP=AW होना चाहिए। यह स्थिति चित्र में K बिन्दु पर प्राप्त होती है। अतः K बिन्दु सन्तुलन का बिन्दु होगा। इस स्थिति में मजदूरी की दर OW होगी श्रमिकों की मात्रा ON होगी एवं फर्म सामान्य लाभ की स्थिति में होगा ।

B. एकाधिकार के अर्न्तगत मजदूरी का निर्धारण

यहां बाजार की उस अवस्था में मजदूरी के निर्धारण का विवेचन किया जा रहा है जब केवल साधन बाजार में क्रय एकाधिकार हो तथा वस्तु बाजार में पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति हो। इस अवस्था में केवल एक ही उद्यमी या फर्म है जो श्रमिक को रोजगार प्रदान करती है अर्थात् एक अकेले उत्पादक के समक्ष बड़ी संख्या में श्रमिक है जो असंगठित है। ऐसी अवस्था में उत्पादक या फर्म मजदूरों की अधिक मांग करता है तो उसे अधिक मजदूरी देनी पड़ती है। परन्तु यदि वह मजदूरों की कम मांग करता है ता कम मजदूरी देनी पड़ती है। इसलिए सीमान्त मजदूरी एवं औसत मजदूरी अलग अलग होगी। श्रम बाजार में अर्पूणता होने के कारण औसत मजदूरी रेखा (Average Wges Line) ऊपर की ओर उठ रही होती है। पूर्ण प्रतियोगिता की भांति क्षैतिज नही होगी। सीमान्त मजदूरी रेखा (Marginal Wage Line) भी ऊपर की ओर उठती हुई होती है और वह औसत मजदूरी रेखा के उपर होती है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

एकाधिकार की इस स्थिति में फर्म या उत्पादक के लिए श्रमिकों का मांग वक्र सीमान्त आगम उत्पादकता वक्र होता है। संतुलन की अवस्था में इस स्थिति के बाजार में साम्य फर्म श्रमिकों की वह मात्रा प्रयोग करेगा जहां पर कि MRP=MW होता है। अर्थात् जहां सीमान्त आगम उत्पादकता तथा सीमान्त मजदूरी बराबर हो। चित्र संख्या 14 द्वारा इसे स्पष्ट किया जा सकता है।

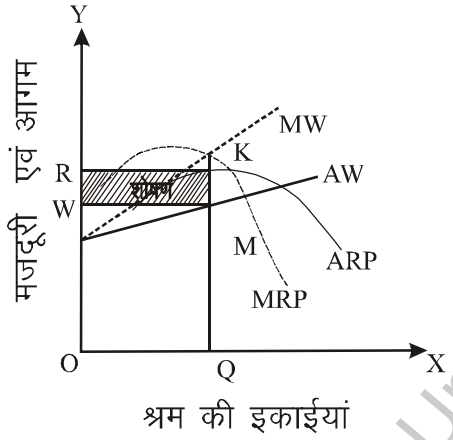

चित्र 14

चित्र संख्या 14 में AW औसत मजदूरी वक्र है MW सीमान्त मजदूरी वक्र है, ARP औसत आगम उत्पादकता वक्र है तथा MRP सीमान्त आगम उत्पादकता वक्र है। संतुलन की अवस्था में श्रम की सीमान्त आगम उत्पादकता (MRP) तथा श्रम की सीमान्त मजदूरी (MW) बराबर होती है। चित्रानुसार यह स्थिति K बिन्दु पर प्राप्त होती है। अतः K बिन्दु संतुलन का बिन्दु होगा। इस बिन्दु पर PN श्रमिकों को रोजगार दिया जायेगा। औसत मजदूरी NS होगी चूंकि औसत मजदूरी सीमान्त आगम उत्पादकता से कम है। अतः श्रम का शोषण होगा। श्रम का शोषण NK=NS=Sk होगा।

श्रम उत्पादन का सक्रिय एवं महत्त्वपूर्ण साधन होती है। श्रम के प्रयोग के लिए दी गई कीमत मजदूरी कहलाती है। अर्थशास्त्र में धन प्राप्ति के उदेश्य से किया गया कोई भी शारीरिक एवं मानसिक कार्य श्रम कहलाता है। मजदूरी के सम्बन्ध में सामान्यतः दो अवधारणाएं मुख्य रूप से प्रचलन में है। एक मौद्रिक मजदूरी एवं दूसरी वास्वविक मजदूरी। वास्तविक मजदूरी में मौद्रिक मजदूरी के साथ अन्य सुविधाओं जैसे निःशुल्क मकान आदि को भी शामिल किया जाता है। मजदूरी क निर्धारण के सम्बन्ध में अनेको सिद्धान्त प्रतिपादित किये गये है। मजदूरी निर्धारण का आधुनिक सिद्धान्त ही वर्तमान समय सर्वाधिक प्रासंगिकता रखता है इसके अनुसार मजदूरी का निर्धारण श्रमिकों की मांग एवं श्रमिकों की पूर्ति की शक्तियों पर निर्भर रखता है। संतुलन की अवस्था में मजदूरी वहां निर्धारित होती है जहां श्रम की मांग एवं श्रम की पूर्ति बराबर होती है ।

बोध प्रश्न

प्र.1 मजदूरी का अर्थ एवं परिभाषा बताइये।

.....

.....

.....

.....

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

प्र.2 मजदूरी के निम्न सिद्धांतों का प्रतिपादन किसने किया?

(i) मजदूरी का जीवन निर्वाह सिद्धांत

(ii) मजदूरी का अवशेषाधिकार सिद्धांत

(iii) मजदूरी कोष सिद्धांत

.....

.....

.....

.....

प्र.3 पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत मजदूरी केनिर्धारण को स्पष्ट कीजिये।

.....

.....

.....

.....

प्र. 4 एकाधिकार के अन्तर्गत मजदूरी के निर्धारा का सचित्र वर्ण कीजिये।

.....

.....

.....

.....

2.5 ब्याज के सिद्धांत

राष्ट्रीय आय का वह भाग जो पूंजी के प्रयोग के लिए पूंजी पतियों को दिया जाता है, ब्याज कहलाता है।

2.5.1 ब्याज का अर्थ एवं परिभाषा–

प्रो. मार्शल के शब्दो में,किसी ऋणी द्वारा ऋण के प्रयोग के बदले मे दिया गया भुगतान ब्याज कहलाता है।

प्रो. विक्सैल के अनुसार ब्याज वह भुगतान है जो पूंजी की उत्पादकता के कारण ऋृणी द्वारा पूंजी पति को उसके त्याग के प्रतिफल के रूप में दिया जाता है।

समय समय पर विभिन्न अर्थशास्त्रियों ने ब्याज दर निर्धारण के संबंध में अलग अलग सिद्वांत निम्ननिलिखत है–

2.5.2 ब्याज का त्याग या प्रतीक्षा सिद्धांत –

इस सिद्वांत का प्रतिपादन सीनियर ने किया जिसका बाद में कैयर्नेस ने भी समर्थन किया सीनियर के अनुसार ब्याज त्याग का पुरस्कार है। पूंजी बचाने के लिए व्यक्ति को अपने वर्तमान उपभोग का परित्याग करना पड़ता है, इसी त्याग के बदले में बचतकर्ता को पुस्कार स्वरूप ब्याज दिया जाता है।

आलोचना :–

1. यह धारणा एक पक्षीय है, केवल पूर्तिपक्ष की ओर ध्यान देती है, मांग पक्ष की ओर नही।

2. कुछ व्याक्ति बिना किसी त्याग के बचाते है, फिर भी उन्हें ब्याज मिलता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

2.5.3 फिशर का समय पसन्दगी ब्याज सिद्धांत –

प्रो.फिशर के अनुसार, मनुष्य स्वाभाविक रूप से वर्तमान को भविष्य की अपेक्षा अधिक महत्व देता है, इसीलिए अपनी आय को वर्तमान में ही व्यय करना चाहता है, इस व्यय को रोकने केलिए उसे वर्तमान में प्रलोभन देने की आवश्यकता होती है, उसी का नाम ब्याज है। मनुष्य की अपनी आय को वर्तमान में ब्यय करने की इच्छा जितनी अधिक होगी ब्याज की दर भी उतनी ही अधिक होगी।

आलोचना –

1. यह सिद्वांत एकपक्षीय है क्योंकि यह केवल पूंजी के पूर्ति पक्ष की ओर ध्यान देता है,
2. गलत मान्यताओं पर आधारित है।
3. बचत कर्ता की मनौवैज्ञानिक धारणाओं का सही सही मापन नहीं किया जा सकता ।

2.5.4 ब्याज का सीमान्त उत्पादकता सिद्धांत

इस सिद्वांत का प्रतिपादन माल्थस, जे.बी.से तथा कैरे आदि अर्थशास्त्रियों ने किया । इस सिद्धांत के अनुसार ब्याज दर का निर्धारण पूंजी की सीमान्त उत्पादकता द्वारा होता है। साहसी या उत्पादक पूंजी की मांग उसकी उत्पादकता के कारण करते है। ज्यों उत्पादन में पूंजी की उत्तरोत्तर इकाइयां प्रयुक्त की जाती है, उत्पत्ति ह्रास नियम क्रियाशील होने के कारण पूंजी की उत्तरोत्तर इकाइयो की सीमांत उत्पत्ति घटती जाती है तथा दीर्घकाल में ब्याज दर की प्रकृति पूंजी की सीमांत उत्पादकता के बराबर होने की होती है। यह सिद्वांत वितरण के सीमांत उत्पादकता सिद्वांत पर ही आधरित है।

आलोचनाएं –

1. एक पक्षीय है, केवल पूंजी के मांग पक्ष पर ध्यान देता है पूर्ति पक्ष पर नहीं।
2. दीर्घकालीन सिद्वांत है।
3. ब्याज दर अन्यकारणों जैसे पूंजी की पूर्ति, ऋृणी एंव ऋणदाता के संबंधो तथा मानसिक परिस्थितियों पर भी निर्भर करती है।
4. अवास्ताविक मान्यताएं।

2.5.5 ब्याज का प्रतिष्ठित सिद्धांतः–

ब्याज का प्रतिष्ठित सिद्धांत बचतों की मांग एवं पूर्ति का सिद्वांत है। इस सिद्वांत के अनुसार ब्याज दर का निर्धारण बचत की मांग एवं पूर्ति के संतुलन द्वारा होता है। इसी कारण इसे बचत विनियोग सिद्वांत भी कहते है।
इस सिद्वांत के अनुसार ब्याज की दर उस बिन्दु पर निर्धारित होता है ,जहां पूंजी की मांग पूंजी की पूर्ति के बराबर होती है।

1. पूंजी की मांग :– पूंजी की मांग पूंजीगत वस्तुओं को क्रय करने के लिए की जाती है। इन पूंजीगत वस्तुओं के उपयोग से उत्पादकता में वृद्धि होती है। पूंजी की इकाइयों में निरंतर वृद्वि करने पर उत्पत्ति ह्रास नियम क्रियाशील होने के कारण इसकी सीमान्त उत्पादकता घटती जाती है।

एक उत्पादक पूंजी की मांग उस बिन्दुतक करता है जहां पर ब्याज की दर एवं पूंजी की सीमांत उत्पादकता बराबर हो। ब्याज की दर अधिक होने पर पूंजी की मांग अधिक होगी इस कारण पूंजी का मांग वक्र नीचे गिरता हुआ वक्र होगा। जिसे चित्र मे क्क वक्र से दिखाया गया है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

गणितीय रूप में, $I = f(R)$

जहां $I =$ निवेश

R ब्याज की दर

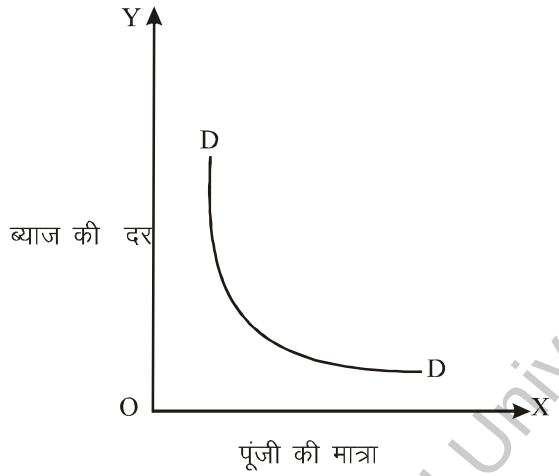

चित्र 15

चित्र संख्या 15 में OX अक्ष पर पूंजी की मात्रा तथा OY अक्ष पर ब्याज की दर को लिया गया है। DD वक्र की मांग मात्रा या निवेश तथा ब्याज के विपरीत संबंध को प्रकट करता है। यह बतलाता है कि जैसे–जैसे ब्याज की दर बढ़ती जाती है। पूंजी कीमांग या निवेश घटता जाता है तथा जैसे–जैसे ब्याज की दर घटती जाती है पूंजी की मांग या निवेश बढ़ता जाता है।

(ii) पूंजी की पूर्ति

पूंजी की पूर्ति बचत पर निर्भर करती है। ब्याज की दर अधिक होने पर बचते अधिक होगी और ब्याज की दर कम होने बचते कम होगी, इस प्रकार बचत व ब्याज मे सीधा संबंध है। इसीलिए, बचत पूर्ति वक उपर की ओर उठता हुआ होगा जैसा कि चित्र में SS वक्र से स्पष्ट है। गणितीय रूप मे $S = f(R)$

$S =$ बचतें

$R =$ ब्याज की दर

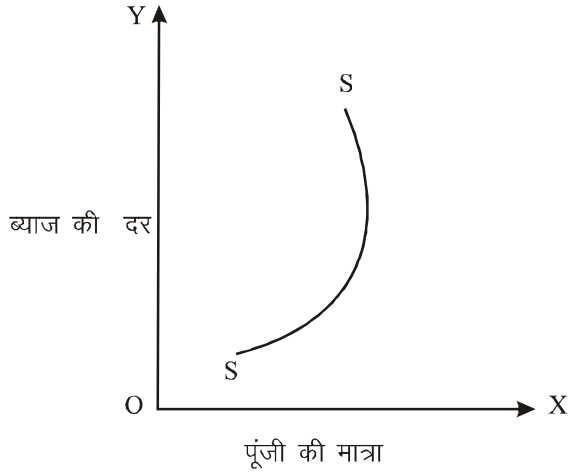

चित्र 16

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

चित्र संख्या 16 में OX अक्ष पर पूंजी की पूर्ति मात्रा तथा OY अक्ष पर ब्याज की दर को लिया गया है पूंजी की पूर्ति वक्र है जो यह बतलाता है कि जैसे–जैसे ब्याज कीर दर बढ़ती है पूंजी की पूर्ति मात्रा बढ़ती जाती है। तथा ब्याज की दर के घटने पर पूंजी की पूर्ति भी कम हो जाती है।

3.ब्याज दर का निर्धारण – ब्याज की दर का निर्धारण उस बिन्दु पर होगा जहां पूंजी की मांग एवं पूर्ति एक दूसरे के बराबर होती है। जैसा कि निम्न रेखाचित्र से स्पष्ट है–

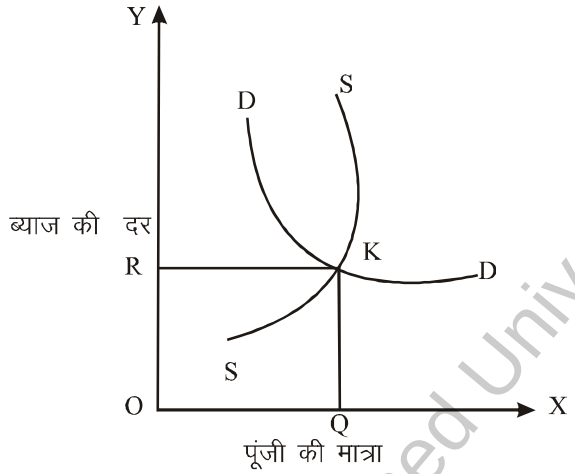

चित्र 17

चित्र में DD तथा SS क्रमश पूंजी की मांग एवं पूर्ति वक्र है जो M बिन्दु परस्पर एक दूसरे को काटते है जिसके अनुसार OR ब्याज की दर निर्धारित होती है तथा पूंजी की मांग एवं पूर्ति OQ है।

आलोचना – इसकी मुख्य आलोचनाएं निम्न है–

1. ब्याज दर निवेश व बचतों से निर्धारित नहीं होती बल्कि निवेश व बचते ब्याज दर से निर्धारित होती है।
2. कीन्स के अनुसार बचत एवं निवेश मे संतुलन ब्याज की दर से नहीं होता बल्कि यह आय में परिवर्तन के कारण होता है।
3. यह सिद्वांत पूर्ण रोजगार की अवास्तविक मान्यता पर आधारित है।

2.5.6 ब्याज का तरलता पसंदगी सिद्धांत –

इस सिद्वांत का प्रतिपादन प्रो. जे. एम. कीन्स ने अपनी प्रसिद्व रचना THE GENERAL THEORY OF EMPLOYMENT INTEREST AND MONEY में किया ।

कीन्स के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति द्रव्य को अपने पास तरल रूप मे रखना चाहता है और ब्याज द्रव्य की तरलता के परित्याग का पुरस्कार है। इसके अनुसार ब्याज दर का निर्धारण द्रव्य की मात्रा तथा द्रव्य की तरलता पसंदगी की शक्तियों के साम्य से होता है। इसीलिए कीन्स इसे ब्याज का मौद्रिक सिद्धांत भी कहते है।

1. मुद्रा की मांग –

इस सिद्धान्त के अनुसार मुद्रा की मांग तरलता अधिमान के लिए की जाती है। दूसरे शब्दों में मुद्रा की मांग का अभिप्राय है कि व्यक्ति मद्रा की कितनी मात्रा अपने पास नकद या तरल रूप में रखना चाहते है। मुद्रा को तरल रूप में रखने के निम्नलिखित तीन कारण है–

1. क्रय–विक्रय उद्देश्य
2. सतर्कता उद्देश्य
3. सट्टा उद्देश्य

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

1. क्रय–विक्रय उद्देश्य

सामान्यतः परिवारों को दिन–प्रतिदिन के उपयोग के लिए तथा व्यावसायिक फर्मो को कच्चे माल,श्रम आदि पर व्यय करने के लिए अपने पास कुछ मुद्रा तरल रूप में अर्थात नकद रूप में रखनी पड़ती है। मुद्रा की यह मांग लेन–देन उद्देश्य से की गई मुद्रा कहलाती है। यह मांग आय के स्तर पर निर्भर करती है। गणितीय रूप में इसे निम्न प्रकार व्यक्त किया जा सकता है।

$$L1 = f(Y)$$

यहां

L_1= लेन–देन उद्देश्य से की गई मुद्रा की मांग

Y= आय

2. सतर्कता उद्देश्य

अप्रत्याशित या भावी परिस्थितियों का सामना करने के लिए भी व्यक्ति अपने पास कुछ मुद्रा तरल रूप में रखना पसन्द करता है। जिससे आवश्यकता पड़ने पर आकस्मिक खर्चो को पूरा किया जा सकता है। मुद्रा की यह मांग सतर्कता उद्देश्य से की गई मुद्रा की मांग होती है यह मांग भी आय का फलन होती है। गणितीय रूप में इस निम्न प्रकार किया जा सकता हैः–

$$L2 = f(Y)$$

यहां

L_2= सतर्कता उद्देश्य से की गई मुद्रा की मांग

Y= आय

3. सट्टा उद्देश्यः–

सट्टा उद्देश्य से मुद्रा को तरल रूप मे रखने की मांग का मुख्य कारण व्यक्तियों में आकस्मिक लाभ कमाने की प्रवृत्ति होती है। सट्टे के उद्देश्य के लिए मुद्रा की तरल रूप में रखने का ब्याज की दर से गहरा सम्बन्ध होता है। यह सम्बन्ध विपरीत दिशा वाला होता है अर्थात् यदि ब्याज की दर कम होगी तो सट्टा उद्देश्य से मुद्रा को तरल रूप में रखने की अधिक प्रवृत्ति होगी और यदि ब्याज की दर अधिक होगी तो सट्टा उद्देश्य से मुद्रा को तरल रूप में रखने की अधिक प्रवृति होगी और यदि ब्याज की दर अधिक होगी तो सट्टा उद्देश्य के लिए मुद्रा को तरल रूप में रखने की प्रवृत्ति कम होगी । इसे गणितीय रूप में निम्न प्रकार व्यक्त किया जा सकता है।

$$L_3 = F(R)$$

यहां

L_3= सट्टा उद्देश्य से की गई मुद्रा की मांग

R = ब्याज की दर

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि मुद्रा को तरल रूप में रखने की कुल मांग लेन–देन उद्देश्य से की गई मुद्रा की मांग (L_1) सतर्कता उद्देश्य से की गई मुद्रा की मांग L_2 तथा सट्टा उद्देश्य से की गयी मुद्रा की मांग L_3 का जोड़ होती है।

गणितीय रूप में

$MD=L_1+L_2+L_3$ जैसा कि हम जानते है L_1 व L_2 आय के फलन हैं जबकि स3 ब्याज की दर का फलन है। अतः डक आय एवं ब्याज की दर का फलन होगा अर्थात्

$$Md = F(y, r)$$

यहां यह ध्यान रखने की बात है कि लेन–देन उद्देश्य तथा सतर्कता उद्देश्य से की गई मुद्रा की मांग अल्पकाल में स्थिर होती है तथा ब्याज की दर का इस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है जबकि सट्टा उद्देश्य से की गई मुद्रा की मांग ब्याज की दर पर निर्भर करती है। मुद्रा की तरलता पसन्दगी की कुल मांग एवं ब्याज की दर का रेखाचित्र बनाया जायें तो उनकी आकृति निम्न प्रकार होगी :–

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

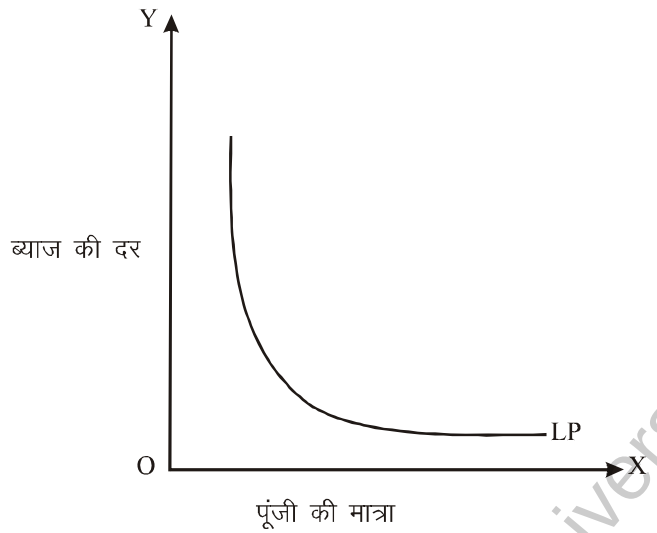

चित्र 18

चित्र संख्या 18 में स्च वक्र मुद्रा को तरल रूप में रखने की मांग एवं ब्याज की दर के सम्बन्ध को बतलाता है। इसे तरलता पसन्दगी वक्र कहा जाता है। ब्याज की वह दर जिस पर मुद्रा की मांग अनन्त हो जाती है वह तरलता जाल की स्थिति कहलाती है।

मुद्रा की पूर्ति

किसी समय विशेष मे उपलब्ध मुद्रा की कुल मात्रा जिसमें वास्तविक वैधानिक मुद्रा तथा साख मुद्रा दोनों का समावेश हो मुद्रा की पूर्ति होती है। मुद्रा की पूर्ति ब्याज के सन्दर्भ में पूर्णतया बेलोच होती है। मुद्रा की पूर्ति का वक्र चित्र संख्या 18.5 में दर्शाया गया है।

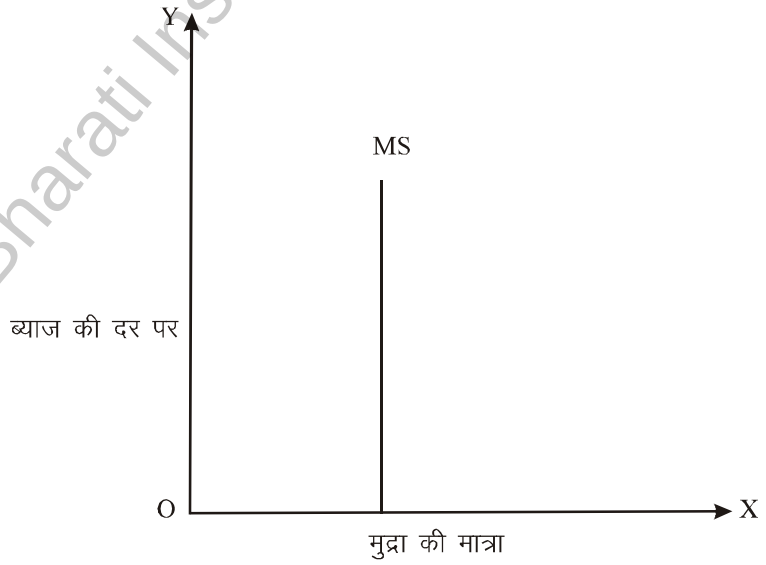

चित्र 19

चित्र संख्या 19 में M मुद्रा की पूर्ति वक्र है जो यह बतलाता है कि ब्याज की दर का मुद्रा की पूर्ति पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

ब्याज की दर का निर्धारण

ब्याज के तरलता पसन्दगी सिद्धान्त में ब्याज की दर का निर्धारण वहां पर होता है जहां मुद्रा की मांग (तरलता पसन्दगी) तथा मुद्रा की पूर्ति बराबर हो जाती है अर्थात ,

$$M_d = M_s$$

यहां

M_d= मुद्रा की मांग

M_S = मुद्रा की पूर्ति

ब्याज की दर के निर्धारण को चित्र संख्या 20 की सहायता से निम्न प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है।

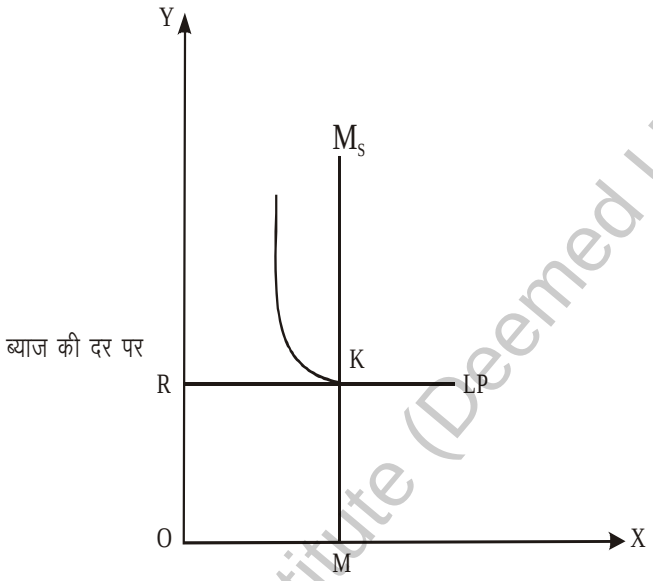

चित्र 20

चित्र संख्या 20 में OX अक्ष पर मुद्रा की मात्रा तथा OY अक्ष पर ब्याज की दर को लिया गया है। LP वक्र मुद्रा तरलता पसन्दगी (मुद्रा की मांग) तथा ब्याज के सम्बन्ध को प्रकट करता है जबकि M_S वक्र मुद्रा की पूर्ति को सूचित करता है। LP वक्र M_S वक्र को K बिन्दु पर काटता है। अतः K बिन्दु संतुलन का बिन्दु होगा तथा इस बिन्दु पर मुद्रा की मांग एवं मुद्रा की पूर्ति बराबर होगी। इस बिन्दु पर ब्याज की दर OR निर्धारित होगी । मुद्रा की मांग एवं पूर्ति में परिवर्तन होने से ब्याज की दर पर पड़ने वाले प्रभावों की व्याख्या निम्न प्रकार की जा सकती है–

1. यदि मुद्रा की मांग में कोई परिवर्तन न हो तथा मुद्रा की पूर्ति बढ़ जाये तो ब्याज की दर कम हो जाती है परन्तु जब ब्याज की दर घट कर इतनी हो जाये कि LP वक्र OX के अक्ष के समानान्तर हो जायें तो इसका अर्थ यह है कि इससे ब्याज की दर कम होने पर व्यक्ति उधार देने के बजायअपने पास नकद रखना पसन्द करेंगे। दूसरे शब्दों में ब्याज की वह दर जिस पर मुद्रा की तरलता पसन्दगी मांग अनन्त हो जाती है वह सरलता जाल की स्थिति कहलाती है।

2. यदि मुद्रा की पूर्ति स्थिर रहे और तरलता अधिमान बढ़ जाये तो ब्याज की दर भी बढ़ जाती है।

आलोचनाएं

इस सिद्धान्त में भी अनेक विशेषताएं होने पर भी कई कमियां पाई गई जिसके कारण इसकी भी आलोचना की गई। कुछ प्रमुख आलोचनाएं निम्न प्रकार है–

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

1. इस सिद्धान्त के अनुसार ब्याज तरलता के त्याग का पुरस्कार है न कि बचत का परन्तु बचत के बिना तरलता नहीं आती। अतः ब्याज की दर के निर्धारण मे बचत को पूर्णतया महत्व न देना उचित नहीं है।
2. यह सिद्धान्त केवल मौद्रिक तत्वों को प्रमुखता देता है जबकि ब्याज की दर के निर्धारण पर अमौद्रिक तत्वों का महत्वपूर्ण प्रभाव पडता है।
3. इस सिद्धान्त में पूंजी की उत्पादकता के महत्व की उपेक्षा की गई है जो उचित नहीं है।
4. यह सिद्धान्त केवल अल्पकाल में पाई जाने वाली ब्याज दर की व्याख्या करता है। दीर्घकाल में ब्याज की दर क्या होगी, इसकी व्याख्या नही करता।
5. सिद्धान्त में मुद्रा की सट्टा मांग ब्याज की दर पर निर्भर करती है। अतः ब्याज की दर पहले ज्ञात होनी चाहिये। ब्याज की दर के अभाव में सट्टा उद्देश्य से मुद्रा की मांग ज्ञात करना कठिन है और सट्टे के लिए मुद्रा की मांग के निर्धारण किये बिना ब्याज निर्धारण सम्भव नहीं हो सकता अतः सिद्धान्त वृताकार तर्क में डाल देता हैजिससे यह कठिन हो जाता है कि कौन किसे निर्धारित करता है और ऐसी स्थिति में ब्याज की दर अनिर्धारणीय हो जाती है।

उपरोक्त आलोचनाओं के बावजूद भी ब्याज का तरलता पसन्दगी सिद्धान्त ब्याज के निर्धारण में अपना नवीन दृष्टिकोण प्रस्तुत करने के कारण आर्थिक जगत में विशेष महत्व रखता है।

बोध प्रश्न :–

प्र. ब्याज का अर्थ एवं परिभाषा स्पष्ट कीजिए?

प्र. ब्याज के निम्नलिखित सिद्धांतों का प्रतिपादन किसने किया?

(i) ब्याज का त्याग अथवा प्रतीक्षा सिद्धांत

(ii) ब्याज का समय पसन्दगी सिद्धांत

(iii) ब्याज का सीमान्त उत्पादकर्त्ता सिद्धांत

प्र.3 ब्याज का प्रतिष्ठित अथवा बचत विनियोग सिद्धान्त समझाइये।

.....

.....

.....

.....

प्र.4 'तरलता जाल' में आप क्या समझते हैं?

.....

.....

.....

.....

प्र.5 कीन्स का ब्याज का तरलता पसन्दगी सिद्धान्त बताइये।

.....

.....

.....

.....

2.6 लाभ के सिद्धांत

2.6.1 लाभ का अर्थ एवं परिभाषा

लाभ राष्ट्रीय आय का वह भाग है जो साहसी को उत्पादन के साधन के रूप में उसके कार्यों के लिए पुरस्कार स्वरूप मिलता है। दूसरे शब्दों मे "राष्ट्रीय आय का वह अंश जो उत्पादन प्रक्रिया में साहसी को मिलता है, लाभ कहा जाता हैं।"

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

प्रो. मार्शल के अनुसार, 'लाभ प्रबंध की कमाई है।' जबकि प्रो. हेनरी ग्रेशम के अनुसार, "लाभ को नव प्रवर्तन का पुरस्कार, जोखिमों और अनिश्चितताओं को उठाने का प्रतिफल अथवा बाजार में अपूर्णताओं के परिणाम के रूप में समझाा जा सकता है।"

1. लाभ की विशेषताएँः–

लाभ की निम्न विशेषताएँ हैः–

(i) लाभ एक अवशेष आय है अर्थात् कुल आय में से उत्पादन के साधनों का पुरस्कार चुकानके बाद जो शेष भाग साहसी को प्राप्त होता है, वह लाभ है।

(ii) लाभ की मात्रा में भारी उतार–चढाव होते है, अर्थात् तेजी काल में लाभ बहुत अधिक तथा मंदी काल में हानि भी हो सकती है।

(iii) लाभ ऋणात्मक भी हो सकता है अर्थात् साहसियों को हानि भी हो सकती है।

(iv) लाभ अनिश्चित अवशेष होता है।

2. कुल लाभ और शुद्ध लाभ :–

साधारण भाषा में कुल लाभ को ही शुद्ध लाभ कहा जाता है। जबकि अर्थशास्त्र में कुल लाभ एवं शुद्ध लाभ में अन्तर किया जाता है। शुद्ध लाभ का अभिप्राय कुल लाभ के केवल उस अंश से है जो साहसी को केवल उत्पादन प्रक्रिया में जोखिम उठाने, अनिश्चितता वहन करने तथा नव प्रवर्तन के प्रतिफल के रूप में प्राप्त होता है। प्रो. टामस के अनुसार, "शुद्ध लाभ केवल साहसी के जोखिम उठाने का पुरस्कार है। साहसी का यह कार्य ऐसा है जो केवल वही कर सकता है।"

जबकि कुल आगम में से क्रय किये गये माल की कीमत, उत्पादन साधनों के पुरस्कार (भूमि, पूंजी, श्रम तथा प्रबंध) तथा संभावित घिसाई व्यय निकाल देने के बाद जो शेष बचता है, वही कुल लाभ कहलाता है। सूत्र के रूप में:

कुल लाभ = शुद्ध लाभ + साहसी के साधनों का प्रतिफल+आकस्मिक लाभ+एकाधिकारी लाभ+स्पष्ट लागतें।

शुद्ध लाभ = कुल लाभ – (साहसी के साधनों का प्रतिफल + स्पष्ट लगातें + एकाधिकारी लाभ + आकस्मिक लाभ)

3. सकल लाभ में भिन्नता के कारणः

विभिन्न व्यवसायों में उद्यमी को मिलने वाले कुल लाभ में भिन्नता के निम्न कारण हो सकते है :–

(i) साहसियों की संगठन एवं संचालन योग्यता में अंतर।

(ii) जोखिम तथा अनिश्चितताओं में भिन्नता।

(iii) व्यावसायिक परिस्थितियों में अंतर।

(iv) प्रतियोगिता में अंतर।

(v) उत्पादन लागतों में भिन्नता।

4. लाभ के विभिन्न स्वरूपः–

लाभ के अनेक रूप है, जिनका संक्षिप्त विवरण निम्न है :–

(i) प्रतिस्पर्द्धात्मक लाभ :– पूर्ण प्रतियोगिता की परिस्थिति में व्यवसायों में प्राप्त होने वाला लाभ ही प्रतिस्पर्द्धात्मक लाभ कहलाता है। इस अवस्था में सभी क्षेत्रों में लाभ की प्रवृत्ति समान होने की होती है।

(ii) एकाधिकारी लाभ :–यह उस वस्तु के उत्पादकों को मिलता है जो किसी वस्तु के एक मात्र पूर्तिकर्त्ता है तथा जिनका बाजार की पूर्ति पर पूर्ण नियंत्रण होता है, इसलिए ये वस्तु का मूल्य लागत से अधिक रखते है। इसे असामान्य लाभ भी कहते हैं।

(iii) सामान्य लाभः– यह लाभ का वह निम्नतम स्तर है जो किसी भी साहसी को उद्योग में बनाए रखने के लिए आवश्यक है। सामान्य लाभ कीमत में सम्मिलित होता है।

(iv) असामान्य लाभ या अतिरिक्त लाभः– सामान्य लाभ से अधिक लाभ होने की अवस्था को असामान्य लाभ

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

कहते हैं। प्रो. नाइट के अनुसार, "सामान्य लाभ ज्ञात जोखिम का तथा असामान्य लाभ अज्ञात जोखिम का परिणाम है।

(v) आकस्मिक लाभ या अप्रत्याशित लाभः– जो किसी उद्योग की विभिन्न फर्मों को बिना किसी आशा के ऐसी शक्तियों जो फर्म के नियंत्रण से बाहर है, संयोगवश लाभ प्राप्त होता है तो इसे आकस्मिक लाभ कहते हैं जैसे : वृद्धि तेजी अथवा मंदी आदि से उत्पन्न लाभ आकस्मिक लाभ की श्रेणी में आते है।

2.6.2 लाभ का लगान सिद्धांत

यह सिद्धांत अमेरिका के प्रसिद्ध अर्थशास्त्री प्रो. वाकर व उसके सहयोगियों ने दिया उनके अनुसार, "लाभ योग्यता का लगान है।" उनके अनुसार उद्योगों में सभी साहसी समान योग्यता वाले नहीं होतो। अतः अधिक योग्यता वाले साहसी को कम योग्यता वाले साहसियों की तुलना में पुरस्कार स्वरूप जो अतिरिक्त राशि प्राप्त होती हैं, वहीं लाभ है। प्रो. वाकर के शब्दों में, "शुद्ध लाभ लगान की तरह वह पुरस्कार है जो केवल श्रेष्ठ उद्यमी को उसकी विशेष योग्यताओं के कारण प्राप्त होता है।" अर्थात् लाभ एक भेदात्मक बचत हैं जो वस्तु की कीमत को निर्धारित नहीं करता।

1. आलोचनाएँः–

विभिन्न अर्थशास्त्रियों ने अनेक कारणों से इस सिद्धांत की आलोचनाएं की है जो निम्नलिखित है :–

(i) यह सिद्धांत लाभ के कारणों पर प्रकाश नहीं डालता।
(ii) लाभ निर्धारण में जोखिम तथा अनिश्चितता के तत्वों की उपेक्षा उचित नहीं।
(iii) लाभ और लगान पृथक–पृथक होते हैं।
(iv) लाभ भी साहसी के पुरस्कार के रूप में कीमत में सम्मिलित होता है।

2.6.3 लाभ का मजदूरी सिद्धांतः–

यह सिद्धांत अमेरिकी अर्थशास्त्री प्रो. टॉजिंग द्वारा प्रतिपादित किया गया। प्रो. टॉजिंग के शब्दों में "लाभ उद्यमकर्त्ता की वह मजदूरी है जो उसे उसकी विशेष योग्यता तथा बुद्धिमता के कारण प्राप्त होती हे।" उनके अनुसार उत्पादन के साधन के प्रतिफल के रूप में जिस प्रकार श्रमिक को मजदूरी मिलती है उसी प्रकार साहसी को लाभ प्राप्ति होती हैं इस सिद्धांत में साहस व श्रम को समानता के स्तर पर रख दिया है।

1. आलोचनाएँ :–

(i) लाभ प्राप्त करने वाले उद्यमी एवं श्रमिक की स्थिति समान नहीं होती।
(ii) लाभ के कारणों पर प्रकाश नहीं डालता।
(iii) मजदूरी एवं लाभ भिन्न–भिन्न है।
(iv) यह सिद्धांत अनुचित एवं अवैज्ञानिक है।

2.6.4 लाभ का समाजवादी सिद्धान्त

यह सिद्धांत समाजवाद के जनक प्रो. कार्लमार्क्स ने प्रतिपादित किया। इनके अनुसार लाभ श्रमिकों के शोषण के कारण उत्पन्न होता हैं। मार्क्स के अनुसार एद्यमी वस्तु की कीमत का बहुत कम भाग श्रमिकों को देता है तथा बाकी कीमत स्वयं हड़प लेता है। कीमत एवं मजदूरी के इस अन्तर को मार्क्स ने 'अतिरिक्त मूल्य' माना एवं इसे ही लाभ की उत्पत्ति का कारण माना। उनके अनुसार जितना अधिक श्रमिकों का शोषण होगा उतनी ही लाभ का मात्रा अधिक होगी। इसीलिए कार्लमार्क्स ने लाभ को समाप्त करने हेतु कहा।

1. आलोचनाः–

इस सिद्धांत में अनेक त्रुटियां हैं। जो निम्न हैंः–

(i) उत्पादन प्रक्रिया में साहसी की भी महत्वपूर्ण भूमिका होती है।
(ii) लाभ साहसी के जोखिम तथा अनिश्तिता वहन करने का प्रतिफल है न कि श्रमिकों के शोषण का।
(iii) वस्तु की कीमत केवल श्रम यात्रा से निर्धारित नहीं होती वरन् उत्पत्ति के अन्य साधनों जैसे भूमि एवं प्रबंध आदि द्वारा भी निर्धारित होती है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

2.6.5 लाभ का सीमान्त उत्पादकता सिद्धांत

इस सिद्धांत का प्रतिपादन के श्रेय ऍजवर्थ, चैपमेन, स्टिगलर, स्टोनियर तथा हेग आदि सीमान्तवादी अर्थशास्त्रियों को जाता है। इस सिद्धांत के अन्तर्गत साहसी को भी उत्पत्ति का एक महत्वपूर्ण साधन माना गया है तथा उसे भी अन्य साधनों की भाँति उसकी सीमान्त उत्पादकता के बराबर प्रतिफल देने हेतु कहा गया है, जिसे लाभ माना गया है। अर्थात् दीर्घकाल में उद्यमी का पुरस्कार(लाभ) उसकी सीमान्त उत्पादकता के मूल्य के बराबर होता है। जिन उद्योगों में साहसियों की पूर्ति मांग की अपेक्षा कम होगी उनमें उनकी कीमत उत्पादकता से अधिक होगी फलस्वरूप लाभ भी अधिक होगा। जैसे–जैसे साहसियों की पूर्ति बढ़ेगी, लाभ की मात्रा कम होती जायेगी।

1. आलोचनाएँः–

उपरोक्त सिद्धांत की निम्न आलोचनाएँ हैं :–

(i) यह सिद्धांत एक पक्षीय है, केवल उद्यमी की मांग पक्ष पर ध्यान देता है, पूर्तिपक्ष पर नहीं।

(ii) उद्यमी की सीमान्त उत्पादकता ज्ञात करना कठिन होता है।

(iii) यह दीर्घकाल सिद्धांत है।

2.6.6 लाभ का प्रावैगिक सिद्धांत

इस सिद्धांत का प्रतिपादन प्रो. जे.वी. क्लार्क ने किया उनके अनुसार, "लाभ परिवर्तनों का परिणाम है। यह केवल प्रावैगिक अर्थव्यवस्था में ही उत्पन्न होता हैं, स्थिर अर्थव्यवस्था में नहीं।"

क्लार्क के अनुसार प्रावैगिक अर्थव्यवस्था वह अर्थव्यवस्था है जहां जनसंख्या, पूंजी की मात्रा, उपभोक्ताओं की आय, रूचि एवं फैशन, उत्पादन विधियों व तकनीक तथा औद्योगिक इकाइयों के स्वरूप आदि में निरंतर परिवर्तन होते रहते है इन परिवर्तनों के अभाव वाली अर्थव्यवस्था को सिरि अर्थव्यवस्था कहा जाता है। स्थिर अर्थव्यवस्था में अनिश्चितता व जोखिम का अभाव होता है इसलिए लाभ उत्पन्न नहीं होता। जबकि प्रावैगिक अर्थव्यवस्था में निरंतर परिवर्तनों के कारण जोखिम अधिक रहती है जो लाभ को जन्म देती है।

1. आलोचनाएंः–

उपरोक्त सिद्धांत की मुख्य आलोचनाएं निम्न हैः–

(i) यह सिद्धांत साहसी के कार्यों की उपेक्षा करता है जो उपयुक्त नहीं है।

(ii) प्रो0 नाइट के अनुसार लाभ प्रावैगिक परिवर्तनों के कारण नहीं बल्कि अनिश्चितताओं के कारण उत्पन्न होता है।

2.6.7 लाभ का जोखिम सिद्धांत

इस सिद्धांत का प्रतिपादन अमेरिका के अर्थशास्त्री हॉले ने 1907 में किया था इसीलिए इसे हॉले का लाभ सिद्धांत भी कहा जाता है। हॉले के अनुसार प्रत्येक व्यवस्था में कुछ न कुछ जोखिम अवश्य होती है, यदि कोई उद्यमी यह जोखिम उठता है तो उसे लाभ अवश्य प्राप्त होगा। जितनी अधिक जोखिम उठाई जायेगी, लाभ की मात्रा उतनी ही अधिक होगी। प्रो. हॉले के शब्दों में, "किसी उपक्रम में लाभ प्रबंध या समन्वय का पुरस्कार नहीं है बल्कि जोखिम या उत्तरदायित्व उठाने का प्रतिफल हैं, जो व्यवसाय को चलाने वाला उठता है।"

व्यवसायो में जोखिम के कारण साहसियों के प्रवेश में बाधा उत्पन्न होती है इसलिए अधिक जोखिमपूर्ण व्यवसायों में साहसियों की पूर्ति कम होती है, इसलिए लाभ की मात्रा कम जोखिमपूर्ण व्यवसायों की तुलना में अधिक होती है।

1. आलोचनाएँः–

अन्य सिद्धांतों की भांति इस सिद्धांत की भी आलोचनाएँ की गई जो निम्न हैः–

(i) प्रो. नाइट के अनुसार सभी प्रकार की जोखिमें लाभ को जन्म नहीं देती। कुछ जोखिमें जो पहले से ज्ञात होती हैं, उनके लिए उद्यमी व्यवस्था कर लेता है इसलिए अज्ञात जोखिमें ही लाभ का कारण बनती है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

(ii) प्रो. कारवर के अनुसार लाभ जोखिम वहन का पुरस्कार नहीं बल्कि जोखिम को कम करने की योग्यता का प्रतिफल है। उनके अनुसार जो उद्यमी जोखिम को कम करने में सफल होते हैं, वही लाभ कमाने में सफल होते है।

(iii) उद्यमी व्यवसाय में प्रवेश सदैव जोखिम उठाने केलिए नही करता बल्कि कई अन्य कारण भी उसे व्यवसाय में प्रवेश हेतु प्रोत्साहित करते हैं।

(iv) लाभ केवल जोखिम वहन के कारण ही उत्पन्न नहीं होता बल्कि कई अन्य घटक जैसे उद्यमी की कार्यकुशलता, नवप्रवर्तन एवं एकाधिकारी स्थिति आदि भी लाभ उत्पति का कारण होते हैं जिनकी अवहेलना उचित नहीं है।

2.6.8 लाभ का अनिश्चितता सहन सिद्धांत

इस सिद्धांत का प्रतिपादन प्रो. नाइट ने 1921 में किया, इसी कारण इस सिद्धांत को नाइट का लाभ सिद्धांत भी कहते हैं। प्रो. नाइट के अनुसार, "सभी प्रकार की जोखिमें लाभ को जन्म नहीं देती जो जोखिमें ज्ञात होती है, उनसे लाभ उत्पन्न नहीं होता, केवल अज्ञात एवं अनिश्चित जोखिमों के कारण ही लाभ उत्पन्न होता है। अतः लाभ को जोखिमों का पुरस्कार कहने के स्थान पर अनिश्चितताओं का पुरस्कार कहना अधिक उपयुक्त है।"

प्रो. नाइट ने जोखिम और अनिश्चितता में भेद को स्पष्ट करने हेतु जोखिमों को दो भागों में विभाजित किया हैं:–

(i) बीमा योग्य जोखिमें।

(ii) बीमा अयोग्य जोखिमें।

(i) बीमा योग्य जोखिमें:–ये वे जोखिमें है जिनके उपस्थित होने का अनुमान उद्यमी पहले से ही लगा सकता है। उद्यमी इन जोखिमों की सांख्यिकीय गणना से अनुमान लगाकर बीमा करवा लेता है जैसेः आग, दुर्घटना एवं अन्य प्राक़तिक कारणों से होने वाली हानियों का बीमा करवाया जा सकता है और उद्यमी बीमा की किश्त जमा करवाकर इन जोखिमों से होने वाले नुकसान की चिंता से मुक्त हो जाता है। बीमा किश्त की राशि चूंकि लागत का ही एक भाग होती है वस्तु की कीमत में सम्मिलित हो जाती हैं इसलिए ये जोखिमें कोई अनिश्चितता उत्पन्न नहीं करती है इसीलिए ये लाभ को जन्म नहीं देती।

(ii) बीमा अयोग्य जोखिमें:–उद्योग में कुछ ऐसी जोखिमें भी होती है जिनका सांख्यिकीय माप संभव नहीं होता और न ही इनका बीमा करवाया जा सकता है, अतः ऐसी जोखिमों का भार उद्यमी को वहन करना ही पड़ता है। ये बीमा अयोग्य जोखिमें ही लाभ की उत्पत्ति का कारण होती है। कुछ बीमा अयोग्य जोखिमें निम्न हैं:–

(a) प्रतिस्पर्द्धा सम्बन्धी जोखिमें, जो नये–नये उद्यमियों के प्रवेश के कारण उत्पन्न होती है।

(b) सरकार की आर्थिक नीतियों संबंधी जोखिमें, जिनमें निरन्तर परिवर्तन होते रहते है।

(c) यांत्रिकी जोखिमें, जो नयी–नयी मशीनों के आविष्कार अथवा तकनीकी में परिवर्तनों के कारण उत्पन्न होती है।

(d) व्यापार चक्र सम्बंधी जोखिमें, जो बाजार में व्यापक आर्थिक तेजी अथवा मन्दी के कारण होती है।

(e) उपभोक्ताओं की रूचि, फैशन एवं अधिमानों में परिवर्तनों संबंधी जोखिमें।

प्रो. नाइट के अनुसार चूंकि उपरोक्त बीमा अयोग्य जोखिमों को वहन करता है, इसीलिए वह लाभ का भी हकदार होता है।

प्रो. नाइट के शब्दों में, "अनिश्चितता सहन करने का पुरस्कार ही लाभ हैं। लाभ की मात्रा अनिश्चितता की मात्रा पर निर्भर करती है और दोनों में घनिष्ठ एवं प्रत्यक्ष संबंध हैं। किसी व्यवसाय में जितनी अधिक अनिश्चितता होगी, लाभ की दर भी उतनी ही अधिक होगी।"

1. आलोचनाएँ:–

अन्य सिद्धांतों की भांति– इस सिद्धांत की भी कई आलोचनाएं की गई है जैसेः–

(i) लाभ केवल अनिश्चितता के कारण ही उत्पन्न नहीं होता वरन् उद्यमी की कार्यकुशलता एवं अनेक अन्य तत्वों के कारण भी उत्पन्न होता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

(ii) उद्यमी के अन्य कार्यों जैसे उद्योगों का कुशल संचालन, नव प्रवर्तनों का प्रयोग, संगठन एवं समन्वय करना आदि की पूर्णतया उपेक्षा कर दी गई है। लाभ केवल अनिश्चितता वहन करने का पुरस्कार ही नहीं बल्कि उपरोक्त सभी कार्यों का सामूहिक प्रतिफल है।

(iii) नाइट का सिद्धांत शुद्ध लाभ की व्याख्या नहीं करता वरन् केवल आकस्मिक लाभों की व्याख्या करता है।

(iv) अनिश्चितता उठाने के तत्व को उत्पादन का एक पृथक साधन नहीं माना जा सकता, यह तो उद्यमी के कार्यों की एक विशेषता मात्र है।

2.6.9 लाभ का नव प्रवर्तन सिद्धांत

इस सिद्धांत का प्रतिपादन प्रो. शुम्पीटर ने किया। शुम्पीटर के अनुसार, "लाभ की उत्पत्ति नये–नये आविष्कारों, अन्वेषणों अथवा नवप्रवर्तनों के कारण होती है।" नव प्रवर्तनों के विभिन्न रूप निम्न हैं :–

(i) नई–नई मशीनों के आविष्कार एवं प्रयोग।

(ii) कच्चे माल के नये स्त्रोतों की खोज।

(iii) नये–नये बाजारों की खोज।

(iv) विक्रय की नवीन रीतियों की खोज।

(v) नई–नई वस्तुओं का उत्पादन।

शुम्पीटर के अनुसार लाभ नव–प्रवर्तनों का कारण एवं परिणाम दोनों है। साहसी लाभ में वृद्धि हेतु नव प्रवर्तनों को अपनाता है एवं नवप्रर्तन लागत में कमी करके लाभ में वृद्धि करते हैं। प्रारंभ में नव प्रवर्तनों के प्रयोग द्वारा लाभ उत्पन्न होते हैं किंतु जैसे–जैसे नव प्रवर्तनों का अनुकरण अन्य साहसियों द्वारा किया जाता है वैसे–वैसे नवीनता के अभाव में लाभ कम होने लगते है लेकिन उद्यमियों द्वारा नव प्रवर्तनों को अपनाने का क्रम निरंतर चलता रहता है।

1. आलोचनाएँः–

इस सिद्धांत की मुख्य आलोचनाएँ निम्न हैः–

(i) इसमें उद्यमी के अन्य कार्यों को कोई महत्व नहीं दिया गया है।

(ii) लाभ सदैव नवप्रवर्तनों के कारण ही नहीं होता बल्कि उद्यमी की अनिश्चतता एवं जोखिम सहन करने की विशेषताओं के कारण उत्पन्न होता हैं।

(iii) उत्पादन के अन्य साधनों कीतरह उद्यमी भी उत्पादन का एक महत्वपूर्ण साधन है जिसकी इस सिद्धांत में उपेक्षा कर दी गई है।

2.6.10 लाभ का माँग एवं पूर्ति सिद्धांत

इस सिद्धांत को लाभ का आधुनिक सिद्धांत भी कहते है। इस सिद्धांत के समर्थक लाभ को साहसी की कीमत मानते हैं। जिस प्रकार किसी वस्तु की कीमत उसकी मांग व पूर्ति की सापेक्षिक शक्तियों के साम्य से निर्धारित होती हैं, उसी प्रकार साहसी की कीमत भी माँग व पूर्ति की सापेक्षिक शक्तियों के साम्य से निर्धारित होती है।

(i) साहसी की माँगः

साहसी की मांग उसकी सीमान्त आगम उत्पादकता पर निर्भर होती है। साहसी की सीमांत आगम उत्पादकता साहसी की सहायता से प्राप्त कुल उत्पादन मूल्य और उसके अभाव में प्राप्त कुल उत्पादन मूल्य के अंतर के ज्ञात होती है। साहसी की सीमान्त आगम उत्पादकता जितनी अधिक होगी साहसी की मांग भी उतनी ही अधिक होगी। साहसी की मांग को प्रभावित करने वाले अन्य तत्व निम्न हैः–

(a) औद्योगिक उन्नति।

(b) उत्पादन का आकार।

(c) उद्योग की प्रकृति।

सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था में साहसियों की मांग वक्र अन्य वस्तुओं की भाँति ही गिरता हुआ होता है। जैसा कि चित्र 21 से स्पष्ट है। जैसे–जैसे साहसियों की संख्या बढ़ती हैं, उनकी सीमान्त आगम उत्पादकता क्रमशः गिरती जाती है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

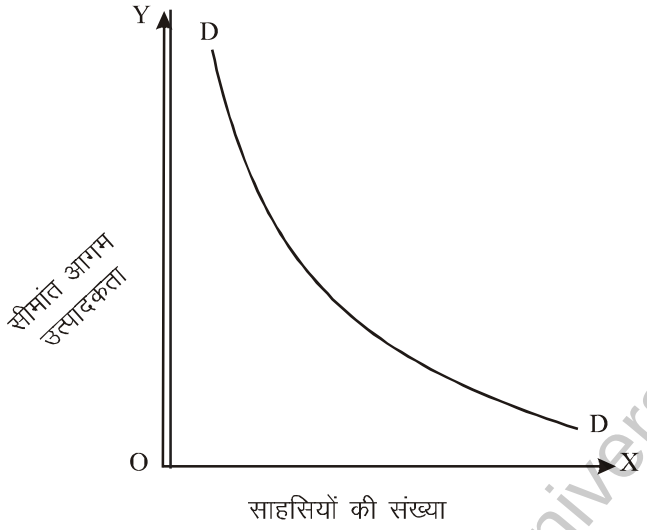

चित्र 21

(ii) साहसी की पूर्तिः–

किसी भी उद्योग में साहसी की पूर्ति लाभ की दर पर निर्भर करती है। लाभ की दर जितनी अधिक होगी, साहसी की पूर्ति भी अधिक होगी। अर्थात् लाभ की दर एवं साहसी की पूर्ति में प्रत्यक्ष सम्बन्ध होता है। साहसी की पूर्ति को प्रभावित करने वाले अन्य तत्व निम्न हैः–

(a) देश में साहसियों की संख्या।
(b) जनसंख्या का आकार।
(c) पूंजी कीमात्रा।
(d) आय का वितरण आदि।

अर्थात् जिस देश में साहसियों की संख्या अधिक, बाजार विस्तृत तथा आय में समानता होगी उनमें साहसियों की पूर्ति अपेक्षाकृत अधिक होगी। सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था की दृष्टि से साहसी का पूर्ति वक्र चित्र 22 में दिखाया गया है :

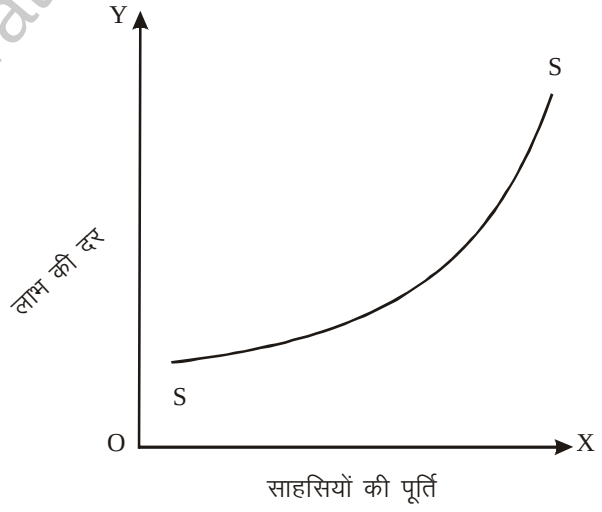

चित्र 22

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

(iii) साम्य बिन्दु निर्धारणः –

साहसी की मांग एवं पूर्ति के सन्दर्भ में साम्य बिंदु निर्धारण निम्नलिखित दो बाजारों में दिया जा रहा हैः–

(a) पूर्ण प्रतियोगिता एवं लाभ का निर्धारण।

(b) अपूर्ण प्रतियोगिता एवं लाभ का निर्धारण।

(a) पूर्ण प्रतियोगिता और सामान्य लाभ निर्धारण

पूर्ण प्रतियोगिता बाजार में एक उद्योग में सभी उद्यमी समरूप तथा समान दक्षता के होते है इसलिए दीर्घकाल में उद्यमी की पूर्ति अनन्त लोचदार होती है और प्रत्येक उद्यमी अपनी स्थानान्तरण आय के बराबर केवल सामान्य लाभ ही अर्जित करता है। यदि कोई उद्यमी सामान्य लाभ से कम लाभ अर्जित करता है तो वह किसी अन्य उद्योग में सामान्य लाभ अर्जित करने हेतु चला जायेगा। अतः दीर्घकाल में उद्यमिता का पूर्ति वक्र X अक्ष के समानान्तर सरल रेखा होगा। इसे रेखाचित्र 23 से समझा जा सकता है।

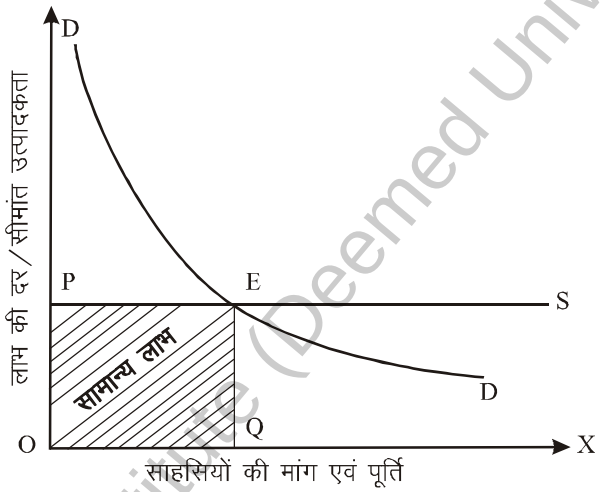

चित्र 23

रेखाचित्र 23 में आधार अक्ष (ox) पर साहसी की मांग एवं पूर्ति तथा लम्ब अक्ष पर सीमान्त आगम उत्पादकता एवं लाभ की दर को दर्शाया गया है। E बिंदु पर साहसी का मांग वक्र एवं पूर्ति वक्र परस्पर काटते हैं तथा लाभ की सामान्य दर OP निर्धारित होती है। दीर्घकाल में पूर्ण प्रतियोगिता बाजार में उद्यमी केवल सामान्य लाभ अर्जित करता है क्योंकि साहसियों में पूर्ण गतिशीलता होती है तथा साहसियों के प्रवेश तथा बहिगर्मन पर किसी प्रकार की रूकावट नही होगी।

(b) अपूर्ण प्रतियोगिता एवं लाभ का निर्धारणः–

अपूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत उत्पादक का वस्तु की पूर्ति पर पूरा नियंत्रण होता है इसलिए उत्पादक वस्तु की पूर्ति को नियंत्रित कर बाजार की कीमत को प्रभावित कर सकता है। फर्म औसत लागत से अधिक कीमत पर अपने उत्पाद बेचती है फलतः साहसी हमेशा सामान्य लाभ से अधिक लाभ कमाता है। इस स्थिति को रेखाचित्र 24 में दर्शाया गया है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

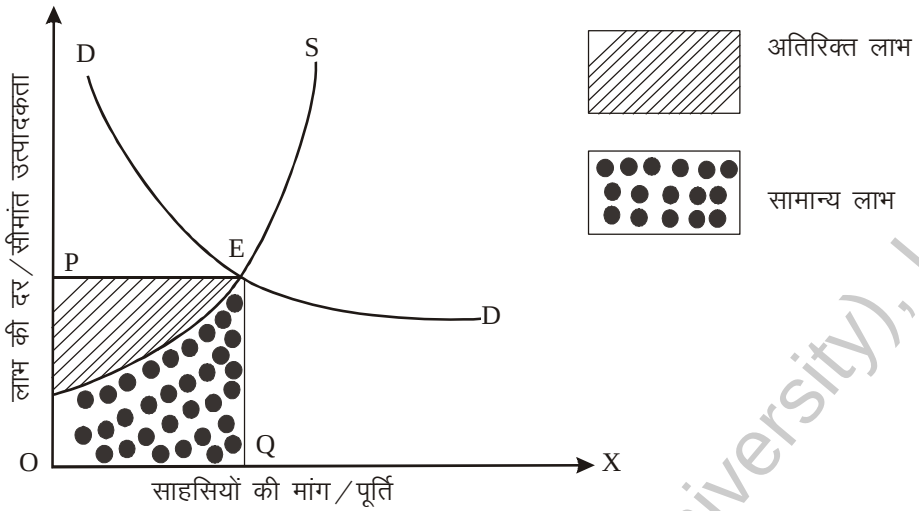

चित्र 24

रेखाचित्र में DD तथा SS क्रमशः साहसी की माँग वक्र एवं पूर्ति वक्र है। E बिन्दु पर मांग वक्र एवं पूर्ति वक्र परस्पर काटते है। कुल लाभ OQES है जिसमें OQES सामान्य लाभ है। जबकि PES अतिरिक्त लाभ है।

कुल लाभ = सामान्य लाभ+अति सामान्य लाभ।

OQEP = OQES+PES

स्पष्ट है कि अपूर्ण प्रतियोगिता बाजार में साहसी अतिरिक्त लाभ कमाता है। साहसियों को सामान्य लाभ से अधिक मिलने वाला यह लाभ एक प्रकार से लगान के रूप में प्राप्त होता है।

2.6.11 लाभ का औचित्य

लाभ किसी अर्थव्यवस्था में आय, उत्पादन तथा रोजगार के स्तर को बनाए रखने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। लाभ ही वह प्रोत्साहन है जो साहसी को व्यवसाय में बनाए रखता है। पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में इसे अच्छा माना जाता है लेकिन समाजवादी, अर्थव्यवस्था में इसे अच्छा नहीं माना जाता।

1. समाजवादी अर्थव्यवस्था में लाभ का औचित्य :–

समाजवादी अर्थव्यवस्था को मुख्यतया कल्याणकारी अर्थव्यवस्था के रूप में समझा जाता है। इसलिए इसमें लाभ को उचित नहीं माना जाता। लेकिन फिर भी उत्पादन प्रक्रिया को निरंतर रखने के लिए लाभ का प्रोत्साहन आवश्यक है। अतः निम्न आधारों पर समाजवादी अर्थव्यवस्था में लाभ को उचित माना जाता है:

(i) नवप्रवर्तनों को अपनाने के लिए उद्योगों में लाभ का होना आवश्यक है, तभी पूंजी की पर्याप्तता रहेगी।

(ii) समाजवादी अर्थव्यवस्था का मुख्य लक्ष्य सामाजिक कल्याण है, कल्याणकारी योजनाओं को पूरा करने के लिए भी लाभ आवश्यक है।

(iii) लाभ साहसी की उत्पादकीय एवं प्रबंधकीय योग्यता का परिमापक है अतः लाभ कुशल प्रबंधकों को कार्य के प्रतिपादन में दक्षता अपनाने को प्रेरित करता है।

निष्कर्षतः हम कह सकते है कि सभी प्रकार की अर्थव्यवस्थाओं में लाभ होना आवश्यक है। लाभ आर्थिक प्रगति के लिए आवश्यक है। लाभ के रूप में अर्जित आय का अधिकांश भाग पुनः विनियोजित कर दिया जाता है जिससे आय, उत्पादन तथा रोजगार के स्तर को ऊँचा उठाया जा सके।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

चूँकि उत्पादन में, साहसी के अतिरिक्त उत्पादन के अन्य सभी साधनों के मूल्य भुगतान के पश्चात बची राशि ही लाभ होती है इसलिए लाभ को एक प्रकार की अवशिष्ट आय ही माना जाता है। परंतु अर्थशास्त्र की दृष्टि से लाभ उत्पादन व्यय का एक अंश भी है क्योंकि उत्पादन प्रक्रिया में साहसी की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। अतः सामान्य लाभ उत्पादन लागत का भाग होता है जबकि अतिरिक्त लाभ नहीं होता। स्पष्ट है कि साहसी उत्पादन प्रक्रिया के दौरान कई कार्य करता है जैसे—नवप्रवर्तन,जोखिम उठाना, अनिश्चितता वहन करना आदि, जिनके प्रतिफल के रूप में उसे लाभ प्राप्त होता है तथा लाभ का निर्धारण उद्यमी की मांग, पूर्ति तथा बाजार स्थिति पर निर्भर होता है।

बोध प्रश्न

प्रश्न 1. लाभ का अर्थ एवं परिभाषा बताइये।

प्रश्न 2. लाभ के निम्न सिद्धांतों का प्रतिपादन किसने किया?

(i) लाभ का लगान सिद्धांत
(ii) लाभ का मजदूरी सिद्धांत
(iii) लाभ का समाजवादी सिद्धांत
(iv) लाभ का जोखिम सिद्धांत
(v) लाभ का अनिश्चितता वहन सिद्धांत

प्रश्न 3. लाभ का नव प्रवर्तन सिद्धांत बताइये।

प्रश्न 4. लाभ का माग एवं पूर्ति सिद्धांत समझाइये।

प्रश्न 5. अपूर्ण प्रतियोगिता में लाभ निर्धारण को स्पष्ट कीजिए।

2.7 सारांशः—

इस इकाई में लगान, मजदूरी, ब्याज तथा लाभ के विभिन्न सिद्धान्तों का विवेचन किया गया है। लगान का अर्थ एवं लगान के निर्धारण के संबंध में रिकॉर्डो के सिद्धान्त तथा आधुनिक सिद्धान्त का वर्णन किया है। लगान के आधुनिक सिद्धान्त के अनुसार लगान साधन की विशिष्टता का परिणाम है। श्रम उत्पादन का एक सक्रिय एवं

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

महत्वपूर्ण साधन होता है। श्रम के प्रयोग के लिये दी गयी कीमत मजदूरी कहलाती है। अर्थशास्त्र में धन प्राप्ति के उद्देश्य से किया गया कोई भी शारीरिक व मानसिक कार्य श्रम कहलाता है। मजदूरी के संबंध में दिये गये विभिन्न सिद्धान्तों का विवेचन इस इकाई में किया गया है।

किसी ऋण के प्रयोग के बदले ऋणदाता को दिया गया भुगतान ब्याज कहलाता है। ब्याज की दर के निध ारण के सम्बन्ध में अनेकों सिद्धान्त प्रतिपादित किये गये हैं। ब्याज का क्लासिकल सिद्धान्त एवं ब्याज का तरलता पसन्दगी सिद्धान्त इनमें महत्वपूर्ण स्थान रखते है। इन दोनों सिद्धान्तों का इस इकाई में विस्तृत विवेचन किया गया है। उत्पादन के साधन के रूप में साहसी की भी महत्वपूर्ण भूमिका होती है। जिसके बदले में उसे लाभ मिलता है। उत्पादन प्रक्रिया के दौरान यह कई कार्य करता है। जैसे– नवप्रवर्तन, जोखिम उठाना, अनिश्चितता वहन करना आदि। साहसी के इन विभिन्न कार्यों के सम्बन्धित विभिन्न सिद्धान्तों का विवेचन भी इस अध्याय में किया गया है।

शब्दावली
लगान
गहन कृषि
विस्तृत कृषि
सीमांत भूमि
अधि सीमांत भूमि
विशिष्टता
मौलिक एवं अविनाशी शक्तियां
स्थानान्तरण आय व वैकल्पिक आय
वास्तविक आय
लगान रहित भूमि
जीवन निर्वाह
मजदूरी कोष
सीमान्त उत्पादकता
अवशेषाधिकार
श्रम की मांग
श्रम की पूर्ति

मौद्रिक मजदूरी = वह मजदूरी जो श्रमिक को मुद्रा के रूप में प्राप्त होती है।
वास्तविक मजदूरी = वस्तुओं और सेवाओं की वह मात्रा जिन्हें एक व्यक्ति अपनी नकद मजदूरी से प्राप्त कर सकता है।
अल्पकाल = समय की वह अवधि है जिसमें कम से कम साधन की पूर्ति स्थिर होती है फर्म केवल घटत –बढते जैसे श्रमिकों की संख्या में परिवर्तन करके पूर्ति में परिवर्तनकर सकती हैं
दीर्घकाल = समय की वह अवधि है जिसमें फर्म केसंयंत्र सहित सभी साधनों में परिवर्तन किया जा सकता है।
श्रम की औसत आगम उत्पादकता (ARP)
श्रम की सीमान्तआगम उत्पादकता

बोध प्रश्नों के उत्तर

2.3

उत्तर (1) देखिये 2.3.1
उत्तर (2) देखिये 2.3.2 भाग (i)
उत्तर (3) देखिये 2.3.1

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

उत्तर (4) देखिये 2.3.3 भाग (ii)
उत्तर (5) देखिये 2.3.4

2.4
उत्तर (1) देखिये 2.4.1
उत्तर (2)
प्रो. वाकर
जे.एस. मिल
उत्तर (3) देखिये 2.4.5 भाग (i)
उत्तर (4) देखिये 2.4.5 भाग (ii)

2.5
उत्तर (1) देखिये 2.5.1
उत्तर (2) प्रो. हॉले
(i) प्रो. सीनियर
(ii) प्रो. फिशर
(iii) प्रो. माल्थस
उत्तर (3) देखिये 2.5.5
उत्तर (4) कीन्स के अनुसार, ब्याज की न्यूनतम दर पर लोगों की मुद्रा की मांग अनंत लोचदार हो जाती है तथा लोग ब्याज कमाने हेतु मुद्रा को उधार देने के स्थान पर तरल रूप में स्वयं के पास रखना पसंद करते है, यह स्थिति तरलता जाल की स्थिति कहलाती है।
उत्तर (5) देखिये 2.5.6
2.6 उत्तर (1) देखिये 2.6.1
उत्तर (2)
(i) प्रो. वाकर
(ii) प्रो. टॉजिंग
(iii) प्रो कार्ल मार्क्स
(iv) हॉले
(v) प्रो. नाइट
उत्तर 3. देखिये 2.6.9
उत्तर 4. देखिये 2.6.10
उत्तर 5. देखिये 2.6.10 भाग (b)

1.11 कुछ उपयोगी पुस्तके

एम.एल .सेठ अर्थशास्त्र के सिद्धांत
एच.एल.आहुजा, उच्चतर व्यष्टि अर्थशास्त्र
लक्ष्मी नारायण नाथूराम का, व्यष्टि अर्थशास्त्र
बी. एल. ओझा , व्यष्टि अर्थशास्त्र
आहुजा एच.एल. :उच्चतर आर्थिक सिद्वान्त,एस चांद एण्ड कम्पनी नई दिल्ली ,2006
बरला सी.एस. :उच्चतर व्यष्टिगत अर्थशास्त्र,नेशनल पब्लिशिंग,हाउस,जयपुर,1999
Salvatore D: Micro Economic Theory and Applications,4 Edition,2003
StoneierA.W.and Hauge D.C. : A Taxe Book of Economic Theory, Macmillan,Landon,

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इकाई–3 : राष्ट्रीय आय की विभिन्न अवधारणाएं एवं मापन

3.0 इकाई की रूपरेखा

3.1 उद्देश्य

3.2 प्रस्तावना

3.3 राष्ट्रीय आय की परिभाषा

3.3.1 मार्शल का दृष्टिकोण

3.3.2 पीगू का दृष्टिकोण

3.3.3 फिशर का दृष्टिकोण

3.3.4 आधुनिक दृष्टिकोण

3.4 राष्ट्रीय आय की विभिन्न अवधारणाएं

3.5 राष्ट्रीय आय की विभिन्न अवधारणाओं मेंपरस्पर संबंध

3.6 राष्ट्रीय आय का मापन

3.6.1– उत्पादन संगणना रीति

3.6.2 आय संगणना रीति

3.6.3 व्यय संगणना रीति

3.6.4 सामाजिक लेखारीति

3.6.6 व्यवसाय संगणना रीति

3.6.7 उत्पादन संगणना तथा व्यय संगणना की मिश्रित रीति

3.6.8 सर्वोत्तम रीति

3.7 राष्ट्रीय आय के मापन में कठिनाइयां

3.7.1 धारणामूलक कठिनाइयां

3.7.2 सांख्यिकीय कठिनाइयां

3.8 सारांश

3.9 शब्दावली

3.10 कुछ उपयोगी पुस्तके

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

3.1 उद्देश्य :–

प्रस्तुत इकाई केअध्ययन से आप जान पाएंगे कि –

1. राष्ट्रीय आय की परिभाषा व अर्थ क्या है?

2. राष्ट्रीय आय संबंधी विभिन्न अर्थशास्त्रियों के दृष्टि कोण क्या है?

3. राष्ट्रीय आय की विभिन्न अवधारणाएं तथा उनमें परस्पर संबंध क्या है?

4. राष्ट्रीय आय का मापन किस प्रकार किया जाता है?

3.2 प्रस्तावना :–

राष्ट्रीय आय का अभिप्राय सकल राष्ट्रीय उत्पाद के उस भाग से है जो किसी वर्ष विशेष मे देश के विभिन्न उत्पादन साधनो को उनके प्रतिफलों के रूप मे वितरित किया जाता है अर्थात राष्ट्रीय आय–लगान मजदूरी, वेतन, ब्याज, एवं लाभ के कुल योग को व्यक्त करता है।

राष्ट्रीय आय अर्थव्यवस्था का मापदंड है तथा आर्थिक कल्याण का आधार है। प्रस्तुत अध्याय में राष्ट्रीय आय संबंधी विभिन्न अर्थशास्त्रियों के दृष्टिकोण की विवेचना के पश्चात राष्ट्रीय आय से संबंधित विभिन्न अवधारणाओं को विवेचन किया जायेगा तत्पश्चात, राष्ट्रीय आय के मापन की विभिन्न विधियो तथा इन विधियों के प्रयोग में होने वाली कठिनाइयों का विवेचन किया जायेगा।

3.3 राष्ट्रीय आय की परिभाषाः

राष्ट्रीय आय की परिभाषाओं में मार्शल,पीगू तथा फिशर द्वारा दी गई परिभाषाए ं महत्वपूर्ण है जिनका विवेचन निम्न है–

3.31 मार्शल का दृष्टिकोण–

प्रो.मार्शल के अनुसार ,किसी देश की पूंजी एवं श्रम का उसके प्राकृतिक साधनों पर प्रयोग करने से प्रतिवर्ष भौतिक एवं अभौतिक वस्तुओं एवं सभी प्रकार की सेवाओ की सामूहिक उत्पत्ति होती है इस संपूर्ण विशुद्व उत्पति को ही देश की वास्तविक राष्ट्रीय आय या राष्ट्रीय लाभांश कहा जाता है।

राष्ट्रीय=आय वस्तुओ एवं सेवाओ का वार्षिक उत्पादन–पूंजी की घिसावट

मार्शल की परिभाषा के अनुसार,

1. वार्षिक आधार पर गणना
2. सभी भौतिक तथा अभौतिक वस्तुओं की शुद्व सामूहिक उत्पति
3. प्रतिस्थापना व्यय को घटा दिया जाता है।
4. निःशुल्क दी जाने वाली वस्तुओं एवं सेवाओ को शामिल नही करते।

आलोचनाः

1. सांख्यिकी मापन कठिन
2. दोहरी गणना की संभावना
3. उत्पादन का कुछ भाग बाजार मे बिक्री के लिए नही आता।

3.3.2 पीगू का दृष्टिकोण –

पीगू के अनुसार राष्ट्रीय आय किसी राष्ट्र की वास्तविक आय, जिनमें विदेशो से प्राप्त आय भी शामिल है, का वह

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

भाग है जिसे मुद्रा के रूप में मापा जा सकता है। इस परिभाषा में केवल उन्ही वस्तुओं एवं सेवाओं को राष्ट्रीय आय मे शामिल किया है जो मुद्रा द्वारा मापी जा सके । उदाहरणार्थ वेतन पर रखी हुई नौकरानी की सेवाए राष्ट्रीयआय में सम्मिलित होगीजबकि यदि व्यक्ति उसी नौकरानी से शादी कर ले तो उसकी सेवाओ को राष्ट्रीय आय में सम्मिलित नही किया जायेगा। पीगू ने राष्ट्रीय आय की धारणा को निश्चित एवं व्यवहारिक बनाया और मार्शल की परिभाषा के दोषों को दूर किया, किन्तु इसकी भी आलोचनाएं हुई।

आलोचना :

1. वस्तुविनियम प्रणाली के लिए अनुपयुक्त
2. समान प्रकार की वस्तुएं एवं सेवाएं भी कभी राष्ट्रीय आय में सम्मिलित होती है कभी नहीं
3. संकीर्ण दृष्टिकोण
4. कुछ वस्तुओंका विनिमय मुद्रा द्वारा नही होता जैसे किसान द्वारा स्वयं के उपयोग के लिए रखा गया अनाज।

3.3.2 फिशर का दुष्टिकोण :

फिशर ने मार्शल तथा पीगू से भिन्न उपभोग को राष्ट्रीय आय का आधार माना है। फिशर के अनुसार, राष्ट्रीय आय अथवा लाभांश में केवल वे वस्तुएं एवं सेवाएं आती है जो अंतिम रूप से उपभोक्ताओं को उपभोग के लिए प्राप्त होती है, चाहे वे भौतिक वातावरण से हो अथवा मानवीय वातावरण से, अन्य शब्दो मे, वास्तविक राष्ट्रीय आय राष्ट्र के विशुद्व राष्ट्रीय उत्पादन का वह भाग है जो उस वर्ष विशेष में प्रत्यक्ष किया जाता है। चूंकि उत्पादन का अंतिम लक्ष्य उपभोग होता है।इसलिए फिशर की इस परिभाषा में उत्पादन के स्थान पर उपभोग कोआधार बनाया गया है। इस परिभाषा की मुख्य विशेषताएं :–

1. वार्षिक गणना से संबंधित
2. उत्पादन के स्थान पर उपभोग को आधार
3. मानव कल्याण से संबंधित
4. अधिक तार्किक

आलोचनाः

1. उपभोग की गणना कठिन
2. टिकाऊ वस्तुओं के जीवन काल का अनुमान लगाना कठिन
3. वस्तुओं के आंशिकउपयोग की समस्या
4. तीनो परिभाषाओं मे श्रेष्ठ पीगू और मार्शल का राष्ट्रीय आय दृष्टिकोण अधिकसरल एवं व्यवहारिक है जबकि फिशर का दृष्टिकोण अधिक तार्किक एवं कल्याण से संबंधधित है अत कल्याण के उद्देश्य से फिशर की परिभाषा जबकि उत्पादन क्षमता के आधार पर मार्शल एवं पीगू की परिभाषा श्रेष्ठ है।

3.3.4 आधुनिक दृष्टिकोण :

आधुनिक अर्थशास्त्री विशुद्व राष्ट्रीय उत्पादन को राष्ट्रीय आय मानते है। अर्थशास्त्र के नोबल पुरस्कार विजेता साइमन कुजनेट्स के अनुसार राष्ट्रीय आय देश की उत्पादन व्यवस्था से प्रवाहित होने वाला वस्तुओं एवं सेवाओं का विशुद्व वार्षिक उत्पादन है जो अंतिम उपभोक्ताओं के हाथों मे पहुंचता है अथवा देश की पूंजीगत वस्तुओं के स्टॉक में विशुद्व वृद्वि करता है। भारत की राष्ट्रीय आय समिति के अनुसार एक निश्चित अवधि में उत्पादित वस्तुओं एवं सेवाओं की मात्रा को बिना दोहरी गणना के राष्ट्रीय आय मे सम्मिलित किया जाता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

बोध प्रश्न

प्र. 1 राष्ट्रीय आय की मार्शल की परिभाषा दीजिए।

प्र. 2 राष्ट्रीय आय की पीगू की परिभाषा दीजिए ।

प्र. 3 राष्ट्रीय आय की फिशर की परिभाषा की विशेषताएं एवं कमियां बताइये।

3.4 राष्ट्रीय आय की विभिन्न अवधारणाएंः–

राष्ट्रीय आय की मुख्य अवधारणाएं निम्नलिखित है

3.4.1 सकल राष्ट्रीय उत्पाद (GNP)

किसी भी देश मे एक वर्ष की अवधि मे उत्पादित समस्त अंतिम वस्तुओं एवं सेवाओ के बाजार मूल्यों का योग सकल राष्ट्रीय उत्पाद कहलाता है। इसमें विशुद्व विदेश आय को भी सम्मिलित किया जाता है। यह किसी देश की वार्षिक उत्पादन क्षमता द्योतक है और वस्तु–प्रवाह को व्यक्त करता है। सकल राष्ट्रीय उत्पाद में विशुद्ध विदेशी आय को भी जोड़ा जाता है। सकल राष्ट्रीय उत्पाद में केवल अन्तिम वस्तुओं एवं सेवाओं के बाजार मूल्यों को ही जोड़ा जाता है, अर्द्धनिर्मित अथवा मध्यवर्ती वस्तुओं एवं सेवाओं के मूल्यों को नहीं जोड़ा जाता, क्योंकि अन्तिम वस्तुयें एवं सेवायें तो अन्तिम उपभोग के लिए हैं, उनका पुनः विक्रय अथवा पुनः उत्पादन में प्रयोग नहीं होता जबकि मध्यवर्ती वस्तुओं और सेवाओं का अभिप्राय ऐसी वस्तुओं एवं सेवाओं से है जो पुनः विक्रय की जाती हैं अथवा पुनः उत्पादन में काम आती हैं।

अर्थव्यवस्था में अनेक प्रकार की वस्तुयें एवं सेवायें उत्पादित होती हैं और उन्हें अलग–अलग इकाइयों में व्यक्त किया जाता है, जैसे–लोहा,–इस्पात टनों में, दूध लीटर में कपड़ा मीटर में, विद्युत उत्पादन किलोवाट में, तो सड़क निर्माण किलोमीटर में और सेवायें घण्टों एवं दिनों में व्यक्त की जाती हैं। अतः इन अलग–अलग इकाइयों का समग्र जोड़ करना कठिन होने से भी वस्तुओं एवं सेवाओं को मुद्रा के सामान्य मापदण्ड में व्यक्त करने के लिए बाजार मूल्यों में मापा जाता है। सभी प्रकार की अन्तिम वस्तुओं एवं सेवाओं की मात्रा को उनके बाजार मूल्यों से गुणा करके सभी के बाजार मूल्यों का जोड ही सकल राष्ट्रीय उत्पाद है। इसकी मुख्य विशेषताएं निम्न है।

1. केवल अंतिम वस्तुओंएवं सेवाओं के बाजार मूल्यों का योग–सकल राष्ट्रीय उत्पाद में केवल अन्तिम वस्तुओं एवं सेवाओं के बाजार मूल्यों का योग किया जाता है। मध्यवर्ती अथवा अर्द्धनिर्मित वस्तुओं एवं सेवाओं का मूल्य नहीं जोड़ा जाता।
2. केवल आर्थिक कियाओं का समावेश –सकल राष्ट्रीय उत्पाद में केवल आर्थिक क्रियाओं का ही मूल्य जोड़ा जाता है जो विनिमय एवं मुद्रा के मापदण्ड की परिधि में आती हैं। मनोरंजन, पारिवारिक स्नेह, देश–प्रेम एवं भावावेश से प्रेरित वस्तुओं एवं सेवाओं का उत्पादन मूल्य GNP में नहीं जोड़ा जाता, जैसे पत्नी द्वारा गृहिणी के रूप में

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

सेवायें, किचन गार्डन की सब्जियाँ आदि सकल राष्ट्रीय आय में नहीं आती। इसी प्रकार हस्तांतरण भुगतान जैसे–पेंशन, ग्रेच्युटी का भुगतान भूतकाल की सेवाओं के लिये प्राप्त आय है, उसी प्रकार सरकार द्वरा उस वर्ष के दौरान बिना आर्थिक क्रिया के किये गये भुगतान, जैसे–छात्रवृत्ति, आर्थिक सहायता, बेरोजगारी भत्ता आदि भी GNP में नहीं जोड़े जाते। इसी प्रकार सरकार द्वारा सार्वजनिक ऋणों पर चुकाया गया ब्याज भी GNP में नहीं जोड़ा जाता क्योंकि यह वर्तमान में उत्पन्न आय/उत्पादन का प्रतिफल नहीं है।

3. केवल वर्षके दौरान उत्पादित वस्तुएं एवं सेवाएं ही GNP में शामिल होती हैं। सन्दर्भ वर्ष के अतिरिक्त वस्तुओं एवं सेवाओं का मूल्य इस वर्ष की GNP में नहीं जोड़ा जाता चाहे वे इस वर्ष बेची जायें।

4. हस्तांतरण भुगतान,पूंजीगत लाभ एवं हानि तथा अवैधानिक गतिविधियों को नहीं जोड़ते –ब्लैक मार्केटिंग, तस्करी, चोरी, डकैती आदि से अर्जित आयों को सकल राष्ट्रीय उत्पाद में नहीं जोड़ा जाता।

5. मुद्रा के रूप कें मापन–सकल राष्ट्रीय उत्पाद की गणना मुद्रा के रूप में ही की जाती है क्योंकि मुद्रा ही समस्त वस्तुओं एवं सेवाओं को मापने का सामान्य मापदण्ड है।

6. सकल राष्ट्रीय उत्पाद की गण्ना के तीन अलग–अलग दृष्टिकोण है किन्तु सभी दृष्टिकोणों से प्राप्त सकल राष्ट्रीय उत्पाद का मूल्य एक समान रहता है।

7. सकल राष्ट्रीय उत्पाद अर्थव्यवस्था में वस्तु–प्रवाह को व्यक्त करता है।

8. विदेशों से प्राप्त आय सकल राष्ट्रीय उत्पाद का अंग होता है।

A. सकल राष्ट्रीय उत्पाद की माप अथवा गणना–

इसकी गणना निम्न तीन दृष्टिकोणों के आधार पर की जाती है, किन्तु सबमें सकल राष्ट्रीय उत्पाद का मौद्रिक मूल्य होता है, जो इस प्रकार है–

I. बाजार मूल्यों पर कुल उत्पादन दृष्टिकोण–इस गणना विधि से देश में उत्पादित समस्त अन्तिम वस्तुओं एवं सेवाओं के वार्षिक उत्पादन को बाजार मूल्यों पर जोड़ा जाता है। इसमें मध्यवर्ती वस्तुओं एवं सेवाओं का मूल्य नहीं जोड़ा जाता। उदाहरणार्थ, एक कारखाने में उत्पादित 200 कारों का पचास हजार रू. प्रति कार के हिसाब से 100 लाख रू., उपभोक्ता वस्तुओं का 500 करोड़ रू., उत्पादक वस्तुओं का 300 करोड़ रू. सेवाओं का मूल्य 300 करोड़ रू. – इन सबके बाजार मूल्यों का योग ही सकल राष्ट्रीय उत्पाद का द्योतक है। गणितीय सूत्र के रूप में–

बाजार मूल्यों पर सकल राष्ट्रीय उत्पाद = सार्वजनिक उत्पादन का मूल्य + निजी उत्पादन का कुल मूल्य+सभी आर्थिक सेवाओं का कुल मूल्य

II. कुल व्यय दृष्टिकोण पर सकल राष्ट्रीय उत्पाद–इस गणना विधि में वर्ष में उत्पादित समस्त अन्तिम वस्तुओं एवं सेवाओंपर किये गये कुल व्यय को जोड़ा जाता है। कुल व्यय में चार प्रकार का व्यय आता है–

1. कुल उपभोग व्यय (C) – इसमें देश के परिवारों एवं लोगों द्वारा किये गये दैनिक उपभोग व्यय–रोटी, दूध, ईंधन आदि, टिकाऊ, वस्तुओं पर उपभोग व्यय–पंखा, रेडियो, कार आदि तथा सेवाओं पर व्यय–डॉक्टर, वकील, अध्यापक, मनोरंजन आदि–सबको वार्षिक आधार पर गणना कर जोड़ा जाता है।

2. सकल निजी विनयोग (I)–इसके अन्तर्गत समस्त निजी उत्पादकों द्वारा वर्ष के दौरान स्थिर विनियोगों, मशीनों, यंत्रों एवं कारखानों में विनियोगों पर व्यय, स्टॉक एवं इन्वेन्टरी मात्रा में वृद्धि तथा आय अर्जित करने वाली सम्पदाओं पर कुल वार्षिक व्यय को जोड़ा जाता है।

3. सरकारी व्यय (G)–इसके अन्तर्गत सरकारी द्वारा वस्तुओं एवं सेवाओं की खरीद पर किये गये कुल

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

वार्षिक व्यय को जोड़ा जाता है जो चाहे उपभोग व्यय हो अथवा उत्पादक व्यय, किन्तु इसमें हस्तांतरण भुगतानों को नहीं जोड़ा जाता है।

4. विशुद्ध विदेशी विनियोग (X-M)–इसके अन्तर्गत वस्तुओं एवं सेवाओं के वार्षिक निर्यात मूल्यों में से वार्षिक आयात मूल्यों को घटाया जाता है। अगर शेष धनात्मक है तो GNP बढ़ता है और अगर निर्यातों से आयातों का मूल्य अधिक हुआ तो शेष ऋणात्मक होने पर GNP घटेगा। गणितीय सूत्र के रूप में हम सकल राष्ट्रीय उत्पाद GNP और सकल राष्ट्रीय व्यय की समानता दर्शा सकते हैं।

सकल राष्ट्रीय उत्पाद = (कुल पारिवारिक उपभोग व्यय + सकल निजी विनियोग + कुल सरकारी व्यय + विशुद्ध विदेशी विनियोग व्यय)

$$(GNE) = C+I+G+X+-M$$

जहां,

C = पारिवारिक उपभोग ,

I = सकल विनियोग

G = सकल सरकारी व्यय

(X-M) = विशुद्व विदेशी आय।

3. साधन लागत पर सकल राष्ट्रीय उत्पादन अथवा सकल राष्ट्रीय आय दृष्टिकोणः–

इसके अंतर्गत हम देश के सकल राष्ट्रीय उत्पादन की गणना उत्पादन कार्य मे संलग्न उत्पादन के सभी साधनो को चुकाये जाने वाले पारिश्रमिक के समग्र योग से करते है। चूंकि उत्पादन साधन के लिये यह आय है जबकि उत्पादक के लिये चुकाया गया पारिश्रमिक लागत है, अतः इसे दोनों नामों से पुकारा जाता है। इसके अन्तर्गत हम देश के सकल राष्ट्रीय उत्पाद की गणना के लिये भूमिपति को चुकाये लगान, श्रमिकों को चुकाई जाने वाली मजदूरी एवं वेतन, पूँजी के ब्याज, साहसी के लाभ का समग्र योग करते हैं। सूत्र के रूप में–

साधन आय पर सकल राष्ट्रीय उत्पादनत्र लगान. लाभ. मजदूरी. ब्याज. वेतन – मूल्य दास

इन तीनो धारणाओं सेप्राप्त सकल राष्ट्रीय उत्पाद का मूल्य समान होता है अर्थात्

$$GNP=GNE=GNI$$

चूंकि उत्पादकों को अपनी उत्पादित वस्तुओं एवं सेवाओं के विक्रय से जो मूल्य मिलता है वह खरीदारों के द्वारा व्यय की गई राशि के बराबर होता है और इसी प्रकार जो कुछ व्यय किया जाता है तो वह तत्काल किसी न किसी को आय के रूप में प्राप्त होता है। आय प्राप्त करने वालो उसको पुनः व्यय करते हैं। इन तीनों में समानता सिद्ध करने के लिए सकल राष्ट्रीय उत्पाद (GNP) की गणना की तीनों विधियों (i) बाजार मूल्यों पर (GNP), (ii) कुल व्यय के आधार पर GNP तथा (iii) साधन आय पर ळछच का सहारा लिया जा सकता है।

3.4.2 बाजार मूल्यों पर विशुद्व राष्ट्रीय उत्पाद/उत्पत्ति (NNP)

सकल राष्ट्रीय उत्पाद में से मशीनो के वार्षिक मूल्य ह्रास को घटाने से विशुद्व राष्ट्रीय उत्पादन प्राप्त होता है बाजार मूल्यों पर विशुद्ध उत्पाद की गणना निम्न सूत्र से व्यक्त की जाती है–

बाजार मूल्यों पर विशुद्ध राष्ट्रीय उत्पाद = सकल राष्ट्रीय उत्पाद – वार्षिक मूल्य – ह्रास

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

NNP = GNP - मूल्य ह्रास

सकल राष्ट्रीय उत्पाद के समान ही

NNP=NNI=NNE

3.4.3 साधन लागत पर शुद्ध राष्ट्रीय उत्पाद –

साधन लागत पर विशुद्ध राष्ट्रीय उत्पाद के अन्तर्गत देश के उत्पादन साधनों को मिलने वाले प्रतिफलों का समग्र योग होता है। व्यवहार में इसे ही राष्ट्रीय आय (NI) भी कहा जाता है। सूत्र के रूप में–

साधन लागत पर शुद्ध राष्ट्रीय उत्पाद = लगान + मजदूरी + ब्याज + लाभ

अगर बाजार भावों पर शुद्ध राष्ट्रीय उत्पाद दिया हुआ है तो साधन लागत पर शुद्ध राष्ट्रीय उत्पाद ज्ञात करने के लिए हमें परोक्ष कर घटाने पड़ेंगे तथा सब्सिडी की राशि जोड़नी पड़ेगी, क्योंकि परोक्ष करों का भुगतान तो सरकार के पास चला जायेगा टरे यह उत्पादन साधनों को नही मिलेगा, जबकि सब्सिडी की राशि का लाभ उत्पादन साधनों को मिलेगा। अतः साधन लागतार शुद्ध राष्ट्रीय उत्पाद की गणना इस प्रकार होगी–

साधन लागत पर शुद्ध राष्ट्रीय उत्पाद = (बाजार मूल्यों पर शुद्ध राष्ट्रीय उत्पाद – परोक्ष कर + सब्सिडी)

3.4.4 सकल घरेलू उत्पाद (GDP)

किसी भी देश मे उत्पादन साधनो के द्वारा वर्ष विशेष के दौरान देश की भौगलिक सीमाओं के अंदर देश के संसाधनो से उत्पादित अथवा अर्जित आय के समग्र योग को सकल घरेलू उत्पाद GDP कहा जाता है। सकल घरेलू उत्पाद में विदेशों से अर्जित आय को सम्मिलित नहीं किया जाता। अतः सकल घरेलू उत्पाद की गणना करते समय सकल राष्ट्रीय उत्पाद में से विदेशों से अर्जित विशुद्ध आय/उत्पाद को घटा देते हैं–

GDP= GNP-(X-M)

सकल घरेलू उत्पादन=सकल राष्ट्रीय उत्पाद – विशुद्व विदेशी आय

इसे दूसरे रूप में भी लिख सकते हैं–

घरेलू आय = राष्ट्रीय आय – विदेशों से अर्जित शुद्ध आय।

3.4.4 राष्ट्रीय आय (NI)

उत्पादन के समस्त साधनों को उत्पादन में से प्राप्त प्राप्तियों का योग राष्ट्रीय आय कहलाती है। संयुक्त राष्ट्र संघ के अनुसार, वितरण होने वाले भागों के रूप में किसी निश्चित अवधि में उत्पादन साधनों को भुगतान की जाने वाली आय के योग को राष्ट्रीय आय (NI) कहते हैं। उत्पत्ति के विभिन्न साधनों–मजदूरों की मजदूरी, भू–स्वमियों को लगान, पूँजीपतियों को ब्याज, प्रबंधकों को वेतन तथा साहसी को लाभ के रूप में आय प्राप्त होती है, उन सबका योग ही राष्ट्रीय आय है। दूसरे शब्दों में, किसी वर्ष में उत्पादन के समस्त साधनों को प्राप्त आय या प्रतिफलों के योग को साधन लागत पर राष्ट्रीय आय कहते हैं। संक्षेप में गणितीय सूत्र के रूप में हम इसे यों प्रदर्शित करते हैं–

(NI)=राष्ट्रीय आय= लगान + लाभ +मजदूरी +वेतन +लाभ

राष्ट्रीय आय की गणना सकल राष्ट्रीय उत्पाद के बाजार मूल्यों के आधार पर भी की जा सकती है और इसे साधन लागत पर विशुद्ध राष्ट्रीय उत्पाद कहा जाता है। इसके लिए विशुद्ध राष्ट्रीय उत्पाद में से अप्रत्यक्ष कर घटाया जाता है तथा अनुदान राशि को जोड़ा जाता है। गणितीय सूत्र के रूप में–

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

राष्ट्रीय आय =विशुद्व राष्ट्रीय उत्पाद.अप्रत्यक्ष कर+ अनुदान

लाभ राष्ट्रीय आय की गणना के लिए विशुद्व राष्ट्रीय उत्पाद में से अप्रत्यक्ष कर का घटाया जाता है तथा अनुदान राशि का जोड़ा जाता है।

3.4.5 निजी आय (PI)

निजी आय का अभिप्राय निजि व्याक्तियों द्वारा अर्जित आय तथा निगामों द्वारा अवितरित लाभ के कुल योग मे से सामाजिक सुरक्षा अंशदान तथा सार्वजनिक उपक्रमों के लाभ एवं बचतों को घटाने के बाद प्राप्त आय से होता है। निजी आय की गणना हेतु हस्तांतरण भुगतान जैसे पेन्शन ,बेरोजगारी, भत्ता, उपहार, सामाजिक सुरक्षा से प्राप्त लाभ, विदेशों से भेजी लॉटरी, आदि से प्राप्त आय को जोड़ा जाता है तथा उसमें से कर्मचारियों का सामाजिक सुरक्षा अंशदान, जैसे–भविष्य निधि अंशदान, जीवन बीमा तथा सार्वजनिक उपक्रमों के लाभ बचतों को घटाया जाता है। संक्षेप में–

PI निजी आय = साधन लागत पर NNP अथवा NI हस्तांतरण भुगतान + सार्वजनिक ऋणो पर ब्याज + सामजिक सुरक्षा अंशदान – सार्वजनिक उपक्रमों का लाभ /बचतें।

3.4.6. वैयक्तिक आय

वैयक्तिक आय का अभिप्राय किसी देश में निजी व्यक्तियों द्वारा वर्ष के दौरान समस्त अर्जित आय तथा अन्य स्त्रोतों से प्राप्त होने वाली समस्त वास्तविक प्राप्तियों के योग से है जो प्रत्यक्ष करों के देने से पूर्व प्राप्त होती है। वैयक्तिक आय की गणना करने के लिए हम राष्ट्रीय आय अथवा साधन लागत पर विशुद्ध राष्ट्रीय उत्पाद में हस्तांतरण भुगतान तथा सार्वजनिक ऋणों पर ब्याज जोड़ते हैं और निगमों के अवितरित लाभ, निगमों के लाभ कर तथा सामाजिक सुरक्षा अंशदान की राशि घटाते हैं। संक्षेप में–

वैयक्तिक आय = राष्ट्रीय आय अथवा साधन लागत पर NNP + हस्तांतरण भुगतान + सार्वजनिक ऋणों पर ब्याज – निगमों का अवितरित लाभ – निगमों के लाभ पर कर – सामाजिक सुरक्षा अंशदान।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि वैयक्तिक आय सदैव ही निजी आय से कम होती है, क्योंकि वैयक्तिक आय में अवितरित निगम लाभ तथा लाभ कर शामिल नहीं होता, अतः वैयक्तिक आय की गणना करते समय हम निजी आय में से अवितरित निगम लाभ तथा लाभ कर घटा देते हैं।

3.4.7 निर्वर्त्य आय (व्यवहार योग्य आय, खर्च योग्य आय) अथवा प्रयोज्य व्यक्तिगत आयः–

निर्वत्य आय को ज्ञात करने के लिए व्यक्तिगत आय ;च्प्द्ध में से प्रत्यक्ष कर तथा फीस एवं जुर्माने घटा देते हैं, क्योंकि व्यक्तिगत आय में कर राशि चुकाने के बाद व्यक्ति उसे अपनी इच्छानुसार खर्च कर सकता है या चाहे तो बचा सकता है, अतः निर्वर्त्य आय कुल उपभोग व्यय एवं बचत के योग के बराबर होती है। गणितीय सूत्र के रूप में हम इसे इस प्रकार व्यक्त कर सकते हैं–

$$DPI=C+S$$

3.4.8 प्रति व्यक्ति आय PCI

जब देश की राष्ट्रीय आय को देश की जनसंख्या से भाग दिया जाये तो प्रति व्यक्ति आय प्राप्त होती है

PCI = NI/ जनसंख्या

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

बोध प्रश्न

प्र.1 सकल राष्ट्रीय उत्पादन (GNP) एवं विशुद्ध राष्ट्रीय उत्पादन (NNP) परस्पर किस प्रकार संबंधित है । विशुद्ध राष्ट्रीय उत्पादन (NNP) से राष्ट्रीय आय कैसे ज्ञात की जाती है।

प्र. 2 राष्ट्रीय आय (NI) से व्यक्तिगत आय (PI) कैसे ज्ञात की जाती है।

3.5 राष्ट्रीय आय की विभिन्न धारणाओं का पारस्परिक सम्बन्ध

(i) सकल राष्ट्रीय उत्पादन (GNP) = कुल सार्वजनिक उत्पादन + कुल निजी उत्पादन + विशुद्ध अप्रत्यक्ष कर

अथवा

(GNP)= [(C + I + G + (X-M)]

जिसमें C व्यक्तिगत कुल उपभोग I कुल निजी विनियोग, G कुल सरकारी व्यय तथा (X-M) शुद्ध निर्यात को व्यक्त करता है। GNP में हम वस्तु प्रवाह का अध्ययन करते हैं।

(ii) शुद्ध राष्ट्रीय उत्पाद (NNP) = सकल राष्ट्रीय उत्पाद – मूल्य ह्रास

NNP=GNP -मूल्य ह्रास

(iii) राष्ट्रीय आय (NI) = शुद्ध राष्ट्रीय उत्पाद – अप्रत्यक्ष कर + अनुदान

NI= NNP - अप्रत्यक्ष कर+अनुदान

अथवा NI = लगान+लाभ+मजदूरी+ब्याज+वेतन

(iv) व्यक्तिगत आय (PI)

PI= राष्ट्रीय आय+ ऋणों पर ब्याज +हस्तांतरण भुगतान – अवितरित निगम लाभ – लाभकर – सामाजिक सुरक्षा अंशदान

(v) उपभोग्य व्यक्तिगत आय (DPI)

DPI=PI- प्रत्यक्षकर– फीस एवं जुर्माने

अथवा DPI= C+S

(vi) प्रति व्यक्ति आय (PCI)

PCI =राष्ट्रीय आय/जनसंख्या

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

बोध प्रश्न

प्रश्न 1. राष्ट्रीय आय की विभिन्न अवधारणाओं के मध्य पारस्परिक सम्बंध बताईये।

_____

_____

_____

प्रश्न 2. प्रति व्यक्ति आय राष्ट्रीय आय से किस प्रकार भिन्न है ?

_____

_____

_____

3.6 राष्ट्रीय आय का मापन

प्रो. कुजनेट्स के अनुसार राष्ट्रीय आय को मापने की मुख्यतः तीन विधियां प्रचलित है, जिनका संक्षिप्त विवेचन इस प्रकार है–

3.6.1 उत्पादन संगणना रीति

इस रीति में अर्थव्यवस्था में समस्त उत्पादन साधनों के द्वारा उत्पादित वस्तुओं एवं सेवाओं का साधन लागत पर मूल्यांकन कर योग कर लिया जाता है। इसके अन्तर्गत पहले अर्थव्यवस्था को विभिन्न वर्गो में विभाजित किया जाता है जैसे कृषि, खनिज, छोटे उद्योग, बड़े उद्योग, परिवहन, संचार आदि तथा वर्ष पर्यन्त इनके द्वारा किये गये उत्पादन या सेवाओं के विशुद्व मूल्य को जोड़ा जाता है। विशुद्व मूल्य का अर्थ है कुल उत्पादन में से कच्चे माल तथा मशीनों की घिसावट ,मरम्मत व प्रतिस्थापन व्यय को घटा दिया जाता है। इस रीति को वस्तु प्रणाली भी कहा जाता है। कठिनाइयां – सैद्धान्तिक दृष्टि से यह रीति बड़ी सरल है, पर इसमें कई कठिनाइयां हे जैसे–

1. दोहरी गणना की संभावना रहती है जैसे उत्पादन की गणना मूल उत्पत्तिस्थान तथा निर्माण दोनो जगहों पर हो सकती है।
2. मूल्यांकन करना कठिन है।
3. यह खर्चीली पद्वति है।

3.6.2 आय संगणना रीति

डॉ बाउले तथा रोबर्टसन के अनुसार, इस प्रणाली में अर्थव्यवस्था में समस्त व्यक्तियों की आय का योग कर लिया जाता है । इसके लिए सभी व्यक्तियों को विभिन्न आय वर्गो मे विभाजित किया जाता है। फिर उनकी औसत आय के आधार पर कुल आय मालुम की जाती है। दूसरे शब्दो मे, व्यक्तियों द्वारा प्राप्त होने वाले लगान, वेतन, मजदूरी, ब्याज, तथा लाभ आदि सभी का योग ज्ञात कर राष्ट्रीय आय की गणना की जाती है।

सूत्र के रूप में

राष्ट्रीय आय = लगाऩ +मजदूरी+ ब्याज़ +लाभ़ +वेतन

कठिनाइयां

य़द्यपि इस रीति मे दोहरी गणना की संभावना नही रहती, फिर भी व्यवहारिक दृष्टि से इस रीति मे निम्न कठिनाइयां है

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

1. करों के डर से व्यक्ति अपनी आय को कम दर्शाने का प्रयत्न करते है।
2. स्वनियोजित उद्योगो मे आय मूल्यांकन की कठिनाई आती है।
3. अशिक्षित और पिछड़े देशो में आय संबंधी सूचना विश्वसनीय नही कही जा सकती ।
4. अनेक वस्तुओं तथा सेवाओ के रूप में प्राप्त आय का मूल्यांकन करना कठिन होता है।
5. यह भी खर्चीली पद्धति है।

3.6.3 व्यय संगणना रीति

इस रीति में देश के विभिन्न वर्गो द्वारा विभिन्न मदो पर किये गये वार्षिक व्यय को जोडकर कुल व्यय की राशि ज्ञात कर ली जाती है और फिर इस कुल व्यय राशि मे कुल बचतों का जोड़ लिया जाता है और इस प्रकार दोनो के सामूहिक योग से कुल राष्ट्रीय आय ज्ञात कर ली जाती है।इस रीति को उपयोग बचत रीति अथवा उपभोग विनियोग रीति भीकहते है। गणितीय सूत्र के रूप मे

सकल राष्ट्रीय उत्पाद त्रकुल उपभोग व्यय. कुल विनियोग. कुल सरकारी व्यय विशुद्व विदेशी आय

सकल राष्ट्रीय उत्पाद (GNP) =C+I+G+X-M

कठिनाइयां

इस रीति में भी अनेक कठिनाइयां है जैसे

1. संपूर्ण जनसंख्या की उपभोग व्यय राशि ज्ञात करना आय की अपेक्षा और भी कठिन है
2. पिछड़े तथा अनियोजित देशो मे सूचना प्राप्त करना आय की अपेक्षा और भी कठिन है।
3. बचत अथवा विनियोग का ब्योरा ज्ञात करना भी बहुत कठिन है।
4. यह विधि भी खर्चीली तथा अमितव्ययितापूर्ण है।

3.6.4 सामाजिक लेखा रीति :–

प्रो. रिचर्डस्टोन ने यह रीति प्रतिपादित की। इसके अर्न्तगत देश कीसंपूर्ण जनसंख्या को विभिन्न वर्गो में बांट दिया जाता है। प्रत्येक वर्ग में कुछ चुने हुए व्यक्तियों क ी औसत आय के आधार पर संपूर्ण वर्ग की आय की गणना कर लीजातीहै । तथा इस प्रकार सभी वर्गो की आय के सामूहिक योग करने से ही राष्ट्रीय आय ज्ञात होती है।

कठिनाइयांः–

इस रीति में वे सभी कठिनाइयां है जो आय संगणना रीति मे है।

3.6.5 व्यवसाय संगणना रीति :–

इस रीति में देश के सभी उत्पादक व्यवसायों के आधार पर व्यक्तियों का वर्गीकरण कर दिया जाता है। जैसे कृषक, व्यापारी तथा उत्पादक आदि तथा फिर प्रत्येक व्यवसाय या कार्य में लगे लोगो की व्यवसाय वार आय ज्ञात की जाती है और उसके सामूहिक योग से राष्ट्रीय आय की गण्ना की जातीहै।

कठिनाइयां

इस रीति में भी वे सभी कठिनाइयां है जो आय संगणना रीति में है।

3.6.6 मिश्रित रीति

इस रीति का सर्वप्रथम भारत मे प्रयोग प्रो. वी.के .आर. वी. राव ने किया। इस रीति के अन्तर्गत राष्ट्रीय आय की गणना निम्न प्रकार से की जाती है–

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

1 उत्पादक व्यवसायों की संगणना उत्पादन के आधार पर की जाती है।
2 सरकारी तथा गैर सरकारी नौकरियों की आय की गणना आय संगणना पद्वति के आधार पर की जाती है।

इस प्रकार इसमें उत्पादन संगणना तथा आय संगणना दोनो पद्वतियों का सम्मिश्रण हो जाता है।

3.6.7 सर्वोत्तम रीति

राष्ट्रीय आय की गणना की गणना हेतु अलग अलग अर्थशास्त्रियों ने अलग अलग पद्धतियों का समर्थन किया है लेकिन इन विभिन्न रीतियों में कोई भी रीति अपने आप में पूर्ण नहीं है। प्रत्येक विधि के अपने अपने गुण दोष है फिर भी सामान्य रूप मे उत्पादन संगणना रीति ही राष्ट्रीय आय लेखाकंन की सर्वोत्तम एवं अच्छी रीति मानी जा सकती है।

बोध प्रश्न

प्र.1 राष्ट्रीय आय के मापन की विभिन्न रीतियां बताइये।

प्र.2 राष्ट्रीय आय के मापन की सामजिक लेखा रीति किसने प्रतिपादित की।

प्र.3 राष्ट्रीय आय के मापन की व्यय संगणना रीति का गणितीय सूत्र लिखिये।

3.7 राष्ट्रीय आय की गणना /अनुमान में कठिनाईयां

राष्ट्रीय आय की गणना अथवा अनुमान में कई प्रकार की धारणामूलक एवं सांख्यिकीय कठिनाईयां आती है। जो कि क्रमशः निम्नलिखित हैः–

3.7.1 धारणामूलक कठिनाईयां

राष्ट्रीय आय की गणना में आने वाली धारणामूलक कठिनाईयां निम्नलिखित हैः–

1. आर्थिक क्रिया की पारिभाषिक कठिनाइयाँ–राष्ट्रीय आय की गणना में किसी देश में एक निश्चित समयावधि में वहाँ के उत्पादन के साधनों की आर्थिक क्रियाओं के द्वारा उत्पादित समस्त अन्तिम वस्तुओं एवं सेवाओं के समग्र योग का आधार होता है, अतः यह जानना जरूरी है कि राष्ट्रीय आय में कौन–कौनसी वस्तुओं एवं सेवाओं को सम्मिलित किया जाये।

आर्थिक क्रिया के अन्तर्गत केवल उन मानवीय क्रियाओं का समावेश करते हैं जिनका मुद्रा द्वारा मूल्यांकन होता है, जैसे आर्थिक लाभ उद्देश्य से उत्पादित वस्तुएँ, घरेलू नौकर की सेवाएँ, धोबी द्वारा कपड़ो की धुलाई, चिकित्सक द्वारा मरीजों को प्रदत्त सेवाएँ, शिक्षक द्वारा पढ़ाना आदि क्रियाओं का राष्ट्रीय आय में समावेश होता है।

इसके विपरीत जिन मानवीय क्रियाओं का मुद्रा के द्वारा मूल्यांकन नहीं होता और जो आर्थिक लाभ के उद्देश्य

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

से प्रेरित नहीं होकर पारिवारिक प्रेम, परोपकार की भावना, देश–भक्ति आदि की गैर–आर्थिक उद्देश्य से प्रेरित हों उन्हें आर्थिक क्रिया न मानने से उनका राष्ट्रीय आय में समावेश नहीं होता। जैसे गृहिणी द्वारा अपने परिवार के लिए खाना पकाना, सफाई करना, शिक्षक द्वारा अपने ही बच्चों को पढ़ाना, परोपकार से चिकित्सा सेवाएँ देना, आनन्द के लिए नाचना–गाना आदि क्रियाएं राष्ट्रीय आय में शामिल होती हैं, जबकि गृह–स्वामी द्वारा उस नौकरानी से शादी कर लेने पर पहले जैसा काम करने पर वेतन नहीं मिलने से उसकी सेवाओं का राष्ट्रीय आय में शामिल नहीं होना उपयुक्त नहीं लगता।

यह दो समस्याओं को जन्म देता है, एक तो जिन देशों में वस्तु–विनिमय होता है उनकी वस्तुओं एवं सेवाओं का मौद्रिक मूल्यांकन न होने से उनकी राष्ट्रीय आय कम हो जाती है। भारत में गृहिणियों द्वारा खाना पकाने का मुद्रा में मूल्यांकन न होने से भारत की राष्ट्रीय आय उन विकसित देशों के मुकाबले काफी कम रह जाती है जहाँ महिलाएँ होटलों में खाना पका कर बेचती हैं।

अतः आर्थिक क्रिया की पारिभाषिक कठिनाई राष्ट्रीय आय की गणना में बाधा उत्पन्न करती है।

2. उपेक्षित बाजार सौदे–यद्यपि अर्थव्यवस्था में कई लेन–देन क्रियाएँ बाजार के माध्यम से तो सम्पादित होती हैं, पर ये लेन–देने क्रियाएँ आर्थिक क्रियाओं से सम्बद्ध न होने के कारण राष्ट्रीय आय में सम्मिलित नहीं की ज ातीं। ये उपेक्षित बाजार सौदे मुख्यतः तीन प्रकार के होते हैं–(i) हस्तान्तरण भुगतान, (ii) पूंजीगत लाभ तथा (iii) अवैध क्रियाओं से प्राप्त लाभ/आय। इनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है–

(i) हस्तान्तरण भुगतान–हस्तान्तरण भुगतान का अभिप्राय उन मौद्रिक भुगतानों से है जो प्राप्तकर्त्ताओं की चालू उत्पादक क्रियाओं से अर्जित नहीं होते, वरन् राहत पहुँचाने, आय वितरण को प्रमापित करने अथवा पूर्व उत्पादित वस्तुओं या आमदनी का हस्तान्तरण मात्र होते है, जैसे–पेन्शन भुगतान, राहत भुगतान, स्कॉलरशिप, पुरस्कार, दान राशि, सामाजिक बीमा भुगतान आदि से प्राप्त भुगतानों को राष्ट्रीय आय में सम्मिलित नहीं किया जाता, क्योंकि इन भुगतानों के बदले भुगतानकर्त्ता को कोई मुआवजा नहीं होता।

इसी प्रकार पुरानी सम्पत्ति को बेचकर आय प्राप्त करना भी एक प्रकार से सम्पत्ति के बदले धनराशि की प्राप्ति भी हस्तान्तरण भुगतान है, क्योंकि यह चालू आय का भाग नहीं होता।

(ii) पूँजीगत लाभ–हानि–पूँजीगत सम्पत्तियों के बाजार मूल्यों में होने वाली घटत–बढ़त से परिसम्पत्तियों के स्वामियों को लाभ–हानि होती रहती है,जैसे–शहरीकरण के कारण मूल्य वृद्धि से शहरी भूखण्डों को बेचने से भारी लाभ होता है। इसी प्रकार सरकारी नीति के कारण भी परिसम्पत्तियों पर लाभ होता है, पर सम्पूर्ण समाज की दृष्टि से इस मूल्य वृद्धि का कोई विशेष महत्त्व नहीं होने से उसे राष्ट्रीय आय गणना में सम्मिलित नहीं करते।

यहाँ उल्लेखनीय है कि अगर परिसम्पत्तियों में पूँजीगत लाभ चालू उत्पादन क्रियाओं का परिणाम होतो उस मूल्य वृद्धि का लाभ राष्ट्रीय आय में जोड़ा जायेगा, जैसे–शेयरों की खरीद–बिक्री में अर्जित लाभ, जमीन–जायदाद की खरीद–बिक्री का व्यवसाय करने वालों की चालू आर्थिक क्रियाओं से अर्जित लाभ राष्ट्रीय आय में जोड़ा जाता है।

अतः स्पष्ट है कि जिन पूँजीगत लाभों का अर्जन चालू आर्थिक क्रियाओं का परिणाम नहीं, वे राष्ट्रीय आय लेखों में सम्मिलित नहीं होते।

(iii) अवैध क्रियाएँ–समाज में कानूनी रूप से अवैध क्रियाओं के द्वारा अर्जित आय, जैसे–चोरी, डकैती, लूटपाट, जेबकतरी, तस्करी, वैश्यावृत्ति, कालाबाजारी से प्राप्त आय आदि अवैध क्रियाओं की आय को सामाजिक दृष्टि से अनुपयोगी एवं अवैध माने जाने से उन्हें राष्ट्रीय आय में सम्मिलित नहीं किया जाता।

3. वस्तुओं एवं सेवाओं का आकलित मूल्य राष्ट्रीय आय में जोड़ने की कठिनाई–अर्थव्यवस्था में

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

प्रतिवर्ष कई ऐसी वस्तुएँ और सेवाएं उत्पादित होती हैं जो चालू आर्थिक क्रियाओं का प्रतिफल होते हुए भी बाजार में खरीदी–बेची नहीं जातीं। अतः उनका बाजार मूल्य आँकने में बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ता है। उदाहरणार्थ, किसान के द्वारा उत्पादन का बीज के लिये रखा गया भाग, मजदूरों को अनाज के रूप में किया गया भुगतान, मकान मालिक अथवा दुकानदार द्वारा अपने ही मकान व दुकान का स्वयं के लिये उपयोग रना, अपनी पूँजी का स्वयं के व्यापार–उद्योग में उपयोग आदि का मूल्य आंक कर राष्ट्रीय आ य में समावेश करने में कठिनाइयाँ आती हैं। सही–सही मूल्यांकन करना कठिन है।

4. अन्तिम तथा मध्यवर्ती उत्पादों की समस्या–राष्ट्रीय आय की गणना करने में एक सबसे बड़ी समस्या अन्तिम एवं मध्यवर्ती उत्पादों की है। राष्ट्रीय आय की गणना में केवल अन्तिम वस्तुओं एवं सेवाओं के बाजार मूल्यों को जोड़ा जाता है। मध्यवर्ती उत्पादों के मूल्य को नहीं, क्योंकि वे अन्ततः अन्तिम वस्तुओं के रूप में बदल जाते हैं, जैसे–डबल रोटी के मूल्य में गेहूँ, आटा, बनाने का पारिश्रमिक आदि सबका मूल्य शामिल हैं। इसी प्रकार की समस्या आयातित कच्चे माल से निर्मित उत्पादों के सम्बन्ध में भी आती है, क्योंकि अन्तिम उत्पाद के मूल्य में कच्चे माल का मूल्य भी शामिल होता है। अतः मध्यवर्ती उत्पाद जो अन्य अन्तिम उत्पादों के निर्माण में प्रयोग आते हैं उनका मूल्य राष्ट्रीय आय में नहीं जोड़ा जाता। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि अगर एक उत्पाद किसी अन्य उत्पाद के प्रयोग में नहीं आ रहा तो उसे दूसरे रूप में अन्तिम पदार्थ के रूप में राष्ट्रीय आय में जोड़ा जाता है।

अतः मध्यवर्ती तथा अन्तिम वस्तुओं एवं सेवाओं के मूल्य निर्धारण की समस्या भी जटिल होती है। इस समस्या का निराकरण, दोहरी गणना से मुक्ति दो प्रकार से सम्भव है–

(i) केवल अन्तिम उत्पादों का समावेश–इसमें राष्ट्रीय आय की गणना करते समय केवल अन्तिम वस्तुओं एवं सेवाओं का मूल्य जोड़ा जाता है। उन मध्यवर्ती उत्पादों के मूल्य को छोड़ दिया जाता है जो अन्य अन्तिम उत्पादों के निर्माण में काम आते हैं।

(ii) मूल्य जोड़ पद्धति–इसके अन्तर्गत दोहरी गणना से छुटकारा पाने के लिये प्रत्येक उत्पादन स्तर पर उत्पाद के मूल्य में हुई वृद्धि का योग किया जाता है। उदाहरणार्थ, डबल रोटी उत्पादन में कृषक द्वारा गेहूँ बिक्री, आटा पीसने की प्रक्रिया में मूल्य वृद्धि, डबल रोटी बनाने वाले कारखाने द्वारा उसके मूल्य में वृद्धि, फुटकर विक्रेता द्वारा सेवा मूल्य तथा अन्त में उपभोक्ताओं को बेची जाने वाली डबल रोटी का बाजार मूल्य 5 लाख रूपया है, किन्तु अगर डबल रोटी निर्माता आटा मिलों से 3 लाख रू. का आटा खरीदते है। तो डबल रोटी निर्माता द्वारा मूल्य वृद्धि (5-3) लाख = 2 लाख रू. होगी, किन्तु आटा मिलों ने कृषकों से गेहूँ 1.5 लाख रू. का खरीदा तो आटा मिलों द्वारा मूल्य वृद्धि (3-15) लाख रू. = 1.5 लाख रू. होगी।

5. अवशिष्ट माल सूची में परिवर्तन तथा मूल्यांकन समायोजन–यह भी राष्ट्रीय आय गणना में एक महत्त्वपूर्ण समस्या है कि एक वर्ष के दौरान अवशिष्ट माल सूची में परिवर्तन होता है तथा अन्तिम बचे माल का मूल्यांकन समयोजन करना पड़ता है। तथा अवशिष्ट माल सूची के मूल्य के समायोजन की कठिनाई भी आती है।

6. सरकार द्वारा उपलब्ध प्रशासनिक सुरक्षा, सुविधा तथा न्याय आदि के बाजार मूल्य निर्धारण की कठिनाई–आधुनिक युग में सरकार कई सेवाएँ उपलब्ध कराती है, जैसे प्रशासनिक सुरक्षा, सुविधाएँ उपलब्ध कराती है, जैसे प्रशासनिक सुरक्षा, सुविधाएँ तथा न्याय सेवाएँ। अतः राष्ट्रीय आय में इन उपलब्ध सेवाओं के बाजार मूल्य को जोड़ा जाना जरूरी है, पर इनका बाजार मूल्य ज्ञात करने में बड़ी कठिनाई है। अतः सामान्यतः इन सेवाओं का मूल्य साधन लागत के आधार पर राष्ट्रीय आय में जोड़ा जाता है। इसी प्रकार सरकारी निवेश एवं पूंजी निर्माण को भी अन्य निवेशों की भाँति राष्ट्रीय आय में जोड़ा जाता है।

कुछ अर्थशास्त्रियों का मत है कि सरकार द्वारा प्रदत्त सेवाओं पर किया गया व्यय अन्तिम उपभोग के रूप में नहीं होकर मध्यवर्ती पदार्थों एवं सेवाओं के समान होता है जिससे अन्तिम रूप में उत्पादन में सहायता मिलती है,

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

अतः इसे राष्ट्रीय आय में सम्मिलित नहीं करना चाहिये। परन्तु व्यवहार में यह निश्चित करना कठिन है कि सरकारी सेवाओं का कितना व्यय (मूल्य) मध्यवर्ती उत्पाद तथा अन्तिम उत्पाद के रूप में है, अतः सरकारी सेवाओंपर किया गया व्यय तथा निवेश राष्ट्रीय आय का भाग मानकर राष्ट्रीय आय की गणना में जोड़ा जाता है।

7. विदेशी फर्मों की आय–यह भी राष्ट्रीय आय गणना में एक जटिल समस्या है कि विदेशी फर्मों की आय को किस देश की राष्ट्रीय आय में जोड़ा जाये। सामान्य दृष्टिकोण यह है कि विदेशी फर्मों की अर्जित आय उस देश की राष्ट्रीय आय में जोड़ी जाती है जहां विदेशी फर्म उत्पादन क्रिया में संलग्न है अर्थात् जहां वह उत्पादन करती है। अतः स्पष्ट है कि भारत में उत्पादन करने वाली विदेशी फर्म की अर्जित आय को भारत की राष्ट्रीय आय में ही जोड़ा जायेगा।

8. घिसावट की कठिनाई–उत्पादन की प्रक्रिया में पूँजीगत मशीनों एवं उपकरणों में घिसावट तथा टूट–फुट के कारण ही उनके मूल्य में कमी नहीं आती, वरन् नये आविष्कारों के कारण से पूँजीगत स्टॉक के मूल्य में कमी आती है, अतः राष्ट्रीय आय की सही–सही गणना करने में घिसावट, टूट–फूट तथा आविष्कारों के कारण मशीनों के मूल्यों में कमी का भी पूरा–पूरा ध्यान रखने की जरूरत है, किन्तु घिसावट के कारण मूल्य ह्रास की सही–सही गणना भी कठिनाईपूर्ण है।

घिसावट की गणना करने में भी कई विधियों का प्रयोग किया जाता है, किन्तु पुनर्स्थापन लागत के आधार पर घिसावट की गणना को पद्धति ज्यादा उपयुक्त मानी जाती है।

इस प्रकार राष्ट्रीय आय की गणना/अनुमान लगाने में कई धारणामूलक कठिनाईयों का सामना करना पड़ता है।

3.7.2 सांख्यिकीय कठिनाइयाँ

किसी भी देश की राष्ट्रीय आय की गणना में आने वाली मुख्य सांख्यिकीय कठिनाईयां निम्न है–

1. पारिभाषिक कठिनाइयाँ–राष्ट्रीय आय से सामान्यतः यह भ्रम होता है कि इसमें देश की भौगोलिक सीमाओं के अन्तर्गत प्राप्त आय ही सम्मिलित होती है, जबकि वास्तव में देश के निवासियों द्वारा विदेशी निवेशों पर ब्याज, बैकिंग, निर्यात–आयात बीमा आदि की कमाई भी राष्ट्रीय आय में जोड़ी जाती है, इसी प्रकार आय, व्यय, बचत, उद्योग आदि शब्दों का अर्थ भी सर्वत्र एक–सा नहीं लगाया जाता।

2.मापने की रीति एवं दृष्टिकोण–राष्ट्रीय आय को मापने के लिये कौन–सी रीति का उपयोग किया जाये और आर्थिक क्रिया की किस पद्धति–उत्पादन, वितरण या व्यय–को अपनाया जाये। यह सब अर्थव्यवस्था की राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों पर निर्भर करता है। जैसे–उत्पादन–क्षमता का पता लगाने में उत्पादन विधि उपयोग में लानी चाहिए, जबकि कल्याण के अध्ययन में व्यय या उपभोग दृष्टिकोण ठीक रहता है। अतः यह समस्या महत्त्वपूर्ण है।

3. गैर–मौद्रिक लेन–देन–राष्ट्रीय आय की गणना द्रव्य में की जाती है, परन्तु बहुत–सी वस्तुओं और सेवाओं का मुद्रा के माध्यम से विनिमय न होने पर उनका मौद्रिक मूल्यांकन नहीं होता, अतः उन्हें राष्ट्रीय आय में सम्मिलित नहीं किया जाता। जैसे–किसान द्वारा स्वयं के उपयोग के लिए रखा गया अनाज, मालिक द्वारा स्वयं के मकान का उपयोग, पत्नी की सेवायें आदि, जबकि ये आर्थिक क्रियाएँ हैं। इसी प्रकार वस्तु विनिमय के रूप में प्राप्त होने वाली आय की भी राष्ट्रीय आय में समावेश न होने से त्रुटि रह जाती है।

4. अशिक्षित एवं अन्धविश्वास–अविकसित एवं पिछड़े राष्ट्रों में लोग अशिक्षा के कारण आय, उत्पादन, उपभोग सम्बन्धी कोई हिसाब–किताब नहीं रखते। इसके अलावा बहुत से अन्धविश्वासी होने के कारण अनेक उपभोग, आय व व्यय सम्बन्धी सूचना देना ही उपयुक्त नहीं समझते हैं, तो आँकड़ों का संकलन कठिन होगा।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

5. आँकड़े संकलन एवं सांख्यिकी व्यवस्था का अभाव–जिन देशों में सरकारी तथा गैर–सरकारी कोई भी संस्थाएं उत्पादन, रोजगार, जनसंख्या, व्यवसाय, उपभोग आदि आंकड़ों, के संकलन की व्यवस्था नहीं करतीं तो वहाँ राष्ट्रीय आय मालूम करने में काफी कठिनाई रहती है। अतःपूर्ण और विश्वसनीय आंकड़ों के अभाव में राष्ट्रीय आय की गणना भ्रमात्मक होगी।

6. सरकारी व्यय और करारोपण–सरकार के प्रशासनिक व्यय और व्यवहार में भिन्नता एवं सामान्य क्रियाओं में व्यवहार भी भिन्न–भिन्न होते हैं, अतः उनके उत्पादन एवं उपभोग व्यय के प्रभावों का विश्लेषण मुश्किल रहता है। इसी प्रकार करारोपण के डर से उत्पादन और आय को कम बताने की प्रवृत्ति पाई जाती है। इससे राष्ट्रीय आय कम दिखाये जाने की प्रवृत्ति होती है।

7. मूल्य–स्तर में परिवर्तन–राष्ट्रीय आय सम्बन्धी आँकड़ों की तुलना करने में मूल्य–स्तर में हुए परिवर्तनों का समायोजन करना पड़ता है, यद्यपि सूचकांक के मूल्य स्तर में हुए परिवर्तनों का समयोजन संभव है, पर सूचकांक स्वयं अनेक त्रुटियों से पूर्ण होते हैं।

8. अर्थव्यवस्था में गैर–मौद्रिक क्षेत्र की प्रधानता–अविकसित एवं पिछड़े राष्ट्रों में अर्थव्यवस्था का एक बहुत बड़ा भाग गैर–मौद्रिक क्षेत्र होता है, अतः उनमें वस्तु विनिमय के कारण राष्ट्रीय आय की गणना करना मुश्किल होता है।

9. दोहरी गणना की सम्भावना–उत्पादन प्रणाली से राष्ट्रीय आय मालूम करने में दोहरी गणना का भय रहता है, अतः इस दृष्टि से उपभोग प्रणाली या आय प्रणाली उपयुक्त रहती है। आय प्रणाली में हस्तान्तरित भुगतानों की दोबारा गणना भय रहता है।

अन्य संकट- (i) कार्यों के अस्पष्ट विश्लेषण से भी राष्ट्रीय आय में कठिनाई आती है, जैसे व्यक्ति की अशंतः आय कृषि और अंशतः आय कृषि और अंशतः उद्योगों से हो। (ii) विदेशी फर्मों द्वारा देश में कमाई गई आय राष्ट्रीय आय में सम्मिलित होती है जबकि विदेशी शाखाओं द्वारा कमाया गया लाभ मुख्य कार्यालय की जमा में शामिल होता है। (iii) गलत सूचना भी कठिनाई उत्पन्न करती है।

यद्यपि राष्ट्रीय आय के मापने में कठिनाइयाँ हैं, परन्तु फिर भी राष्ट्रीय आय के अध्ययन का महत्त्व निरन्तर बढ़ने जाने के कारण कठिनाइयों पर ध्यान नहीं दिया जाता और सतर्कता बरतने के प्रयास किये जाते हैं। प्रो. कीन्स द्वारा राष्ट्रीय आय को समष्टिवादी अर्थशास्त्र का अविभाज्य एवं महत्त्वपूर्ण अंग मानने के कारण इसका महत्त्व बढ़ गया है।

बोध प्रश्न

प्र.1 राष्ट्रीय आय के मापन की धारणा मूलक कठिनाइयां बताइये।

_____

_____

_____

प्र.2 राष्ट्रीय आय के मापन की सांख्यिकीय कठिनाइयां बताइये।

_____

_____

_____

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

3.7. सारांश

राष्ट्रीय आय अर्थव्यवस्था का मापदंड है इसी से ही आर्थिक विकास की दिशा एवं स्तर ज्ञान होता है। उपरोक्त अध्याय मे हमने राष्ट्रीय आय संबंधी विभिन्न अर्थशास्त्रियो के दृष्टिकोणो का अध्ययन किया तत्पश्चात राष्ट्रीय आय की विभिन्न अवधारणाओं जैसे सकल, राष्ट्रीय उत्पाद (GNP), विशुद्व राष्ट्रीय उत्पाद NNP, राष्ट्रीय आय NI का व्यक्तिगत आय PI तथा उपभोग्य व्यक्तिगत आय DPI का अध्ययन किया। तत्पश्चात हमने राष्ट्रीय आय के मापन की विभिन्न रीतियों जैसे आयविधि, व्यय विधि, उत्पादन संगणना रीति आदि रीतियों का अध्ययन किया।

3.8 शब्दावली

सकल राष्ट्रीय उत्पाद (GNP)	विशुद्व राष्ट्रीय उत्पाद NNP
राष्ट्रीय आय PI	व्यक्तिगत आय PI
उपभोग्य व्यक्तिगत आय DPI	विशुद्व निर्यात X-m
उत्पादन संगणना	आय संगणना
व्यय संगणना	

3.10 बोध प्रश्नो के उतर –

3.3

उत्तर 1. देखिये 3.3.1 उत्तर 2. देखिये 3..3.2

उत्तर 3. राष्ट्रीय आय की फिशर की परिभाषा उपभोग पर आधारित होने के कारण अधिकतार्किक एवं कल्याण से संबंधित है लेकिन उपभोग की गणना करना बहुत कठिन है।

3.4

उत्तर 1. सकल राष्ट्रीय उत्पाद से मूल्य हास को घटाने पर विशुद्ध राष्ट्रीय उत्पादन प्राप्त होता है तथा विशुद्ध राष्ट्रीय उत्पादन में से अप्रत्यक्ष करों को घटाने तथा अनुदान को जोड़ने से राष्ट्रीय आय प्राप्त होती है।

NNP = GNP - D

NI = NNP - अप्रत्यक्ष कर + अनुदान

उत्तर 2 देखिये 3.4.6

3.5

उत्तर 1 देखिये 3.5 उत्तर 2 देखिये 3.5 भाग (v)

3.6

उत्तर 1. देखिये 3.6 उत्तर 2. प्रो. रिचर्डस्टोन ने

उत्तर 3. राष्ट्रीय आय त्र उपभोग + विनियोग + सरकारी व्यय + विशुद्ध विदेशी आय

NI = C + I + G + X -M

3.7

उत्तर 1. देखिये 3.7.1 उत्तर 2. देखिये 3.7.2

3.9 उपयोगी पुस्तके

1. एम. सी. वैश्य, समष्टि अर्थशास्त्र
2. एम. एल. सेठ, समष्टि अर्थशास्त्र
3. लक्ष्मी नारायण नाथूरामका, समष्टि अर्थशास्त्र
4. एच. एल. आहुजा, उच्चतर समष्टि अर्थशास्त्र

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इकाई –4 राष्ट्रीय आय तथा आर्थिक कल्याण

4.0 इकाई की रूप रेखा

4.1 उददेश्य

4.2 प्रस्तावना

4.3 राष्ट्रीय आय तथा आर्थिक कल्याण

4.3.1 राष्ट्रीय आय का आकार तथा प्रति व्यक्ति आय

4.3.2 राष्ट्रीय आय एवं उत्पादन

4.3.3 राष्ट्रीय आय एवं उपभोग

4.3.4 राष्ट्रीय आय तथा रोजगार एवं विकास

4.3.5 आर्थिक कल्याण में पीगू के मापदंड

4.4 राष्ट्रीय आय तथा आर्थिक कल्याण की आधुनिक अवधारणा

4.4.1 राष्ट्रीय आय एवं पर्यावरण

4.4.2 विशुद्व आर्थिक कल्याण की अवधारणा

4.5 सारांश

4.6 शब्दावली

4.7 कुछ उपयोगी पुस्तके

4.3. राष्ट्रीय आय तथा आर्थिक कल्याण

राष्ट्रीय आय एवं आर्थिक कल्याण में परस्पर घनिष्ठ संबंध माना जाता है। कल्याण एक भावनात्मक धारणा है,अतः कल्याण के जिस अंश का मुद्रा के द्वारा मापदंड किया जा सकता है। उसे ही आर्थिक कल्याण कहा जाता है। प्रायःजिस देश मे वस्तुओं एवं सेवाओ का उत्पादन अधिक होता है वहां की राष्ट्रीय आय तथा प्रति व्यक्ति आय अधिक होती है ,वहां के निवासियों का जीवन स्तर ऊंचा होने से उनकी सुख एवं समृद्वि भी अधिक होती है। वर्तमान मे विकसित देश अमेरिका, ब्रिटेन तथा जापान आदि देशो मे राष्ट्रीय आय तथा प्रति व्यक्ति आय का स्तर का ऊंचा होने से एवं वहां के निवासी ज्यादा सुखी, समृद्ध जीवन स्तर वाले होते है जबकि विकासशील एवं पिछडे देशो के निवासी गरीब बेरोजगारी से त्रस्त होने के कारण इनकी प्रति व्यक्ति आय का स्तर बहुत नीचा होता है।

राष्ट्रीय तथा आर्थिक कल्याण के पारस्परिक संबंध की व्याख्या करने के लिए प्राय निम्न मापदंडो का प्रयोग किया जाता है।

4.1 उद्देश्यः

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के पश्चात आप जान पाएंगे कि :

(i) राष्ट्रीय आय तथा आर्थिक कल्याण परस्पर किस प्रकार संबंधित है?

(ii) राष्ट्रीय आय का आकार, उत्पादन, वितरण, रोजगार एवं विकास किस प्रकार आर्थिक कल्याण को प्रभावित करते है?

(iii) राष्ट्रीय आय तथा आर्थिक कल्याण के पीगू के मापदण्ड क्या है?

(iv) नवीन आर्थिक कल्याण (NEW) की अवधारणा क्या है?

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

4.2 प्रस्तावनाः

राष्ट्रीय आय एवं आर्थिक कल्याण परस्पर घनिष्ठ रूप से संबंधित है। कल्याण एक भावनात्मक धारणा है जिसका मुद्रा के द्वारा मापन बहुत कठिन है, फिर भी कल्याण के जिस अंश का मुद्रा के द्वारा मापन किया जा सके, आर्थिक कल्याण कहलाता है। राष्ट्रीय आय एवं प्रति व्यक्ति आय का ऊंचा स्तर सदैव आर्थिक कल्याण का सूचक नहीं होता, आर्थिक कल्याण के लिए आवश्यक है कि राष्ट्रीय आय का वितरण न्यायोचित एवं समान हो तथा उत्पादन की दशाएं यथा संभव अनुकूल हो। प्रस्तुत अध्याय में राष्ट्रीय आय तथा कल्याण से संबंधित इन्हीं अवधारणाओं का विस्तृत विवेचन किया गया है तथा नवीन आर्थिक कल्याण (NEW) की अवधारणा बताई गई है।

4.3.1 राष्ट्रीय आय का आकार एवं वितरण

अन्य बाते समान रहते हुए जिस देश मे वस्तुओं एवं सेवाओं का अधिक उत्पादन होगा वहां की राष्ट्रीय आय का आकार तथा जनसंख्या के संदर्भ मे प्रति व्यक्ति आय का स्तर ऊंचा होगा, वहाँ के निवासियों का जीवन सुखी एंव समृद्व होने से व उनका जीवन स्तर भी ऊंचा होगा राष्ट्रीय आय तथा प्रतिव्यक्ति आय का अधिक होना भी सदैव आर्थिक कल्याण का सूचक नही होता आर्थिक कल्याण की वृद्वि तभी संभव होती है, जब राष्ट्रीय आय का वितरण न्यायोचित एवं समान हो। राष्ट्रीय आय के असमान वितरण से देश मे सामाजिक एवं आर्थिक असन्तोष बढ़ता है। गरीब एवं समृद्व लोगो के बीच वर्ग संघर्ष बढ़ता है तथा इस असंतोष से लोगो के आर्थिक कल्याण मे कमी आती है। इसलिए राष्ट्रीय आय तथा प्रति व्यक्ति आय मे वृद्वि के साथ साथ कल्याण में वृद्वि केवल तभी संभव है जब इनका वितरण देशवासियों में समान रूप से हो।

4.3.2 राष्ट्रीय आय एंव उत्पादन

राष्ट्रीय आय के आकार के साथ साथ आर्थिक कल्याण पर राष्ट्रीय आय के अर्जित करने के ढंग का भी प्रभाव पड़ता है। जिस देश मे लोगो को उत्पादन के कार्य में कम घंटे काम करना पड़े, काम करने की परिस्थितियां अनुकूल हो, लोगो का काम मे शोषण न हो, महिलाएं एवं बच्चे सुरक्षित महसूस करे, श्रमिको के स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव न पड़े, उस देश में राष्ट्रीय आय मे वृद्वि के साथ आर्थिक कल्याण मे भी वृद्वि होगी,और इन सबके अभाव में राष्ट्रीय आय मे वृद्वि से भी कल्याण मे वृद्वि नही होगी।

राष्ट्रीय आय के आकार के अतिरिक्त उत्पादन की संरचना एवं बनावट का भी आर्थिक कल्याण पर बहुत अधिक प्रभाव पडता है। जिस देश के उत्पादन मे अधिकतर पूंजीगत वस्तुओं तथा उपभोग वस्तुओं जैसे वस्त्र खाद्यान्न तथा आरामदायक वस्तुओं की उपेक्षा की जाती हो वहां राष्ट्रीय आय में वृद्वि से भी लोगो के आर्थिक कल्याण मे वृद्धि नहीं होगा। नागरिक इसके विपरीत जिस देश में उपभोग वस्तुओं का उत्पादन अधिक तथा सैनिक साज सामान तथा गोला बारूद, अस्त्र–शस्त्र आदि का उत्पादन कम होगा वहां के लोगो को उपभोक्ता वस्तुओं की सुलभता से आर्थिक कल्याण मे वृद्वि होगी।

4.3.3 राष्ट्रीय आय एंव उपभोग

उपभोग समस्त आर्थिक क्रियाओं का आदि तथा अन्त दोनो है। प्रो. फिशर ने तो राष्ट्रीय आय को उपभोग के आधार पर ही परिभाषित किया है। राष्ट्रीय आय तथा उपभोग वस्तुओं को संरचना का भी आर्थिक कल्याण पर प्रभाव पड़ता है। उपभोग वस्तुओं की बनावट में यदि आम जनता की अनिवार्य आवश्यकता की वस्तुओं जैसे – वस्त्र, खाद्यान्न,साबुन, तेल, नमक, आदि पर्याप्त मात्रा मे उपलब्ध हो तो आम जनता के आर्थिक कल्याण में वृद्वि होगी और यदि उपभोग की विलासिता की वस्तुएं जैसे –कार रेफ्रिजरेटर, मशीनो आदि की मात्रा अधिक हो तो वे केवल धनी वर्ग के लोगो की आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकेगी जिसमें कुल कल्याण में कमी होगी।

स्पष्ट है कि आर्थिक कल्याण के लिए राष्ट्रीय आय में आम जनता, मजदूर एवं निर्धन वर्ग कीअनिवार्य उपभोग वस्तुओं की पूर्ति बढ़ाने की आवश्यकता है। सम्पन्न वर्ग की उपभोग विलासिता वस्तुओं का उत्पादन बढ़ने पर राष्ट्रीय आय में वृद्धि होने पर भी आर्थिक कल्याण में वृद्धि नहीं होगी।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

4.3.4 राष्ट्रीय आय तथा रोजगार एवं विकास

जिस देश मे राष्ट्रीय आय में वृद्वि के साथ साथ देश मे रोजगार एव आय के स्तर में वृद्वि होती है वहीं राष्ट्रीय आय में वृद्वि से आर्थिक कल्याण में वृद्वि होगी,लेकिन जिस देश में राष्ट्रीय आय मे वृद्वि मशीनों के अत्याधिक प्रयोग से हो तथा श्रम शक्ति में बेरोजगारी मे वृद्वि से हो तो राष्ट्रीय आय में वृद्वि होने पर भी आर्थिक कल्याण में वृद्वि नहीं होगी। राष्ट्रीय आय का आकार रोजगार, उत्पादन तथा आय का आकार निर्धारित करता है, कीन्स के रोजगार सिद्वान्त का आधार ही राष्ट्रीय आय है अतः राष्ट्रीय आय मे वृद्वि से यदि देश के रोजगार एवं विकास स्तर में वृद्वि हो तो आर्थिक क ल्याण मे भी वृद्वि होगी।

4.3.5 आर्थिक कल्याण के पीगू के मापदंड –

प्रो. पीगू के अनुसार निम्न शर्ते पूरी होने पर राष्ट्रीय आय में वृद्वि से आर्थिक कल्याण मे भी वृद्वि होगी..

1. राष्ट्रीय आय में वृद्वि के कारण निर्धनो को प्राप्त लाभांश में भी वृद्वि होनी चाहिए।
2. देश के नागरिको की खुशहाली में वृद्वि हो।
3. राष्ट्रीय आय में वृद्वि की तुलना में जनसंख्या मे वृद्वि कम हुई हो ताकि प्रति व्यक्ति आय में वृद्वि हो।
4. धन के वितरण में सुधार हो।

बोध प्रश्न

प्र.1 राष्ट्रीय आय एंव उपभोग से आर्थिक कल्याण के स्तर पर क्या प्रभाव पड़ता है।

_____

_____

_____

प्र.2 राष्ट्रीय आय तथा आर्थिक कल्याण के पीगू के मापदंड बताइये।

_____

_____

_____

4.4 राष्ट्रीय आय तथा आर्थिक कल्याण की आधुनिक अवधारणा

आधुनिक अर्थशास्त्री कल्याण को दो भागों में विभाजित करके देखते है– आर्थिक तथा गैर आर्थिक कल्याण। प्रो. पीगू के अनुसार जहां औद्योगिकरण से उत्पादन–आय तथा रोजगार में वृद्वि आर्थिक कल्याण का द्योतक है वही औद्योगिकरण के कारण उत्पन्न पर्यावरण प्रदूषण, औद्योगिक अशांति तथा औद्योगिक तनाव जैसी समस्याओं में वृद्वि आर्थिक कल्याण पर प्रतिकुल प्रभाव डालती है। कभी कभी तो आर्थिक कल्याण की तुलना में गैर आर्थिक अकल्याण का प्रभाव अधिक होने से कुल आर्थिक कल्याण में कमी हो जाती है। एडवर्ड शेपिरो के अनुसार बहुत सी बाते जो वस्तुओं एवं सेवाओं के उत्पादन से कोई सरोकार नही रखती, एक राष्ट्र को अधिक खुशहाल बना सकती है जैसे – शान्ति बेहतर व्यक्तिगत संबंध, सभी के लिए शिक्षा के समान अवसर, पाप एवं हिंसा से दूरी, अदालतों एंव न्याय की सुधरी व्यवस्था आदि।

अमेरिकी अर्थशास्त्री आर्थर ओकुन के अनुसार, एक राष्ट्र बिना राष्ट्रीय आय बढ़ाये भी अधिक खुशहाल एवं सुखी हो सकता है, बशर्ते कि वहां शान्ति, अवसर की समानता, नागरिको में भाईचारे की भावना में वृद्वि,माता–पिता एवं सन्तान में परस्पर ज्यादा स्नेह तथा पति पत्नी मे बेहतर संबंध है व अन्याय एवं हिंसा की समाप्ति हो।

4.4.1 राष्ट्रीय आय तथा पर्यावरण

पर्यावरण एंव मानव विकास परस्पर घनिष्ठ रूप से संबंधित है। पर्यावरण की समृद्वि एवं शुद्वता मानव विकास का मार्ग प्रशस्त करती है जबकि पर्यावरण की प्रतिकूलता एवं प्रदूषण मानव विकास में बाधक है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

आर्थिक विकास की प्रक्रिया के दौरान यदि औद्योगिकरण, कृषि विकास, तथा परिवहन विकास आदि के कारण जलप्रदूषण, वायु प्रदूषण, ध्वनि प्रदूषण अथवा मृदा प्रदूषण से पर्यावरण पर बुरा प्रभाव पड़ता है तो आर्थिक कल्याण मे कमी आती है। स्पष्ट है कि राष्ट्रीय आय में वृद्वि के मुकाबले यदि पर्यावरण पर पड़ने वाले दुष्प्रभाव अधिक हो तो आर्थिक कल्याण में कमी आती है। इसीलिए जब तक आर्थिक विकास पर्यावरण का पोषक है तब तक आर्थिक कल्याण मे वृद्वि होगी।

4.4.2 आर्थिक कल्याण के सामाजिक संकेताक

आधुनिक अर्थशास्त्री आर्थिक कल्याण के अध्ययन हेतु सामाजिक संकेतांको को अधिक महत्व देते है। भारतीय अर्थशास्त्री प्रो. अर्मत्य सेन ने आर्थिक कल्याण की गणना में सामाजिक सूचको जैसे साक्षरता ,औसत आयु, महिलाओं का समाज में स्थान तथा सफाई आदि मे वृद्वि को समाज कल्याण में वृद्वि का सूचक माना है। जबकि अन्य अर्थशास्त्रियो ने देश में टेलीफोन की संख्या, टिकाऊ उपभोक्ता वस्तुओं की संख्या मे वृद्वि ,अस्पतालो की संख्या व अस्पतालो में सुविधाओं की वृद्वि, शिशु मृत्यु दर में कमी, हत्याओं, आत्महत्याएं ,सड़क दुर्घटनाओ में कमी शिक्षण संस्थाओं में विद्यार्थियों के प्रवेश के अनुपात मे वृद्धि आदि को आर्थिक कल्याण मे वृद्वि का सूचक माना है जबकि इस के विपरीत सभी परिस्थितियां आर्थिक कल्याण में कमी की द्योतक है।

4.4.2 विशुद्ध आर्थिक कल्याण की अवधारणा

प्रो .पॉल ए. सेम्यूल्सन ने विशुद्व आर्थिक कल्याण NEW की एक नवीन अवधारणा का प्रतिपादन किया है। जिसे वे सकल राष्ट्रीय उत्पाद की धारणा से बेहतर मानते है। ये आर्थिक कल्याण तथा राष्ट्रीय आय में संबंध स्थापित करते समय कुछ गैर आर्थिक तत्वों को भी ध्यान मे रखते है।

आधुनिक अर्थशास्त्रियो के अनुसार अगर सकल राष्ट्रीय उत्पाद में हम अवकाश से प्राप्त संतुष्टि जोड़ दे तथा औद्योगिक उत्पादन के कारण वर्तमान में होने वाले जल प्रदूषण एवं वायुप्रदूषण से होने वाली असंतुष्टि को घटा दें तो जो शेष बचता है वह विशुद्व आर्थिक कल्याण का द्योतक है। सेम्यूल्सन के अनुसार अवकाश से एक व्यक्ति को उसी प्रकार संतुष्टि मिलती है जिस प्रकार युद्व, अशान्ति एवं प्रदूषण से असंतुष्टि।

प्रो. नॉर्धो (NORDHOW) एवं प्रो. टोबिन (TOBIN) ने भी आर्थिक कल्याण की गणना करने में विशुद्व आर्थिक कल्याण की अवधारणा का सहारा लिया है । वे आर्थिक कल्याण की धारणा में अवकाश, घर एवं बगीचे की देखभाल की सेवाओं तथा सार्वजनिक इमारतों, अस्पतालों स्कूल ,पार्को तथा निजि क्षेत्र की इसी प्रकार की सेवाओं से प्राप्त संतुष्टि को जोड़ते है। तथा सकल राष्ट्रीय उत्पाद ;ळछच्द्ध में से सुरक्षा व्यय, शहरीकरण से उत्पन्न समस्याओं तथा प्रदूषण से उत्पन्न असुविधाओं को घटाकर विशुद्व आर्थिक कल्याण की गणना करते है।

स्पष्ट है कि सकल राष्ट्रीय उत्पाद (GNP) की तुलना में विशुद्व आर्थिक कल्याण (N EW) राष्ट्र की समृद्धि का अधिक उपयुक्त सूचक है।

बोध प्रश्न–

प्र.1 राष्ट्रीय आय तथा पर्यावरण पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये ।

_____

_____

_____

प्र.2 आर्थिक कल्याण के सामाजिक संकेतांक बताइये।

_____

_____

_____

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

प्र.3 नवीन आर्थिक कल्याण की अवधारण किसने प्रतिपादित की?

सारांशः

राष्ट्रीय आय तथा आर्थिक कल्याण के पारस्परिक संबंध के उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि कल्याण की अवधारणा में आर्थिक कल्याण तथा गैर आर्थिक कल्याण एक ही समस्या के दो पहलू है जिन्हें एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। मानव का सुख, शान्ति एवं संतुष्टि केवल भौतिक साधनों पर ही निर्भर नही करती बल्कि उन पर कई अन्य गैर आर्थिक तत्वों जैसे–सामाजिक समानता, पारिवारिक स्नेह, पर्यावरण की शुद्धता, शान्ति, सुरक्षा ,अवकाश से संतुष्टि आदि तत्वों का भी प्रभाव पड़ता अतः राष्ट्रीय आय तथा आर्थिक कल्याण में संबंधो की विवेचना करते समय इन सभी तत्वों को भी ध्यान में रखना आवश्यक है अन्यथा राष्ट्रीय आय में वृद्वि होने पर भी आर्थिक कल्याण में वृद्वि आवश्यक नहीं है। अतः आर्थिक कल्याण और राष्ट्रीय आय के सम्बन्ध की व्याख्या करते समय इस बात का ध्यान रखना जरूरी है कि आर्थिक कल्याण में वृद्धि अगर गैर–आर्थिक कल्याण में कमी लाती है तो कुल कल्याण में वृद्धि इन दिनों के सापेक्षिक प्रभावों से उत्पन्न सुख, शान्ति एवं सन्तुष्टि की मात्रा पर निर्भर करेगी। यही कारण है कि आधुनिक अर्थशास्त्रियों की विशुद्ध आर्थिक कल्याण की अवधारणा सकल राष्ट्रीय उत्पाद की धारणा से बेहतर एवं उपयुक्त है।

बोध प्रश्नो के उत्तर –

4.3

उत्तर 1. देखिये 4.3.3

उत्तर 2. देखिये 4.3.5

4.4

उत्तर 1. देखिये 4.4.1

उत्तर 2. देखिये 4.4.2

उत्तर 3. प्रो. पॉल ए. सेम्युल्सन ने।

शब्दावली

आर्थिक तत्व
गैर आर्थिक तत्व
आर्थिक कल्याण
नवीन आर्थिक कल्याण
पर्यावरण प्रदूषण सकल राष्ट्रीय उत्पाद
जलप्रदूषण
ध्वनि प्रदूषण
मृदा प्रदूषण
औद्योगिकरण
सामाजिक संकेतांक

कुछ उपयोगी पुस्तके

एम.सी .वैश्य ,समष्टि अर्थशास्त्र
एच. एल. आहुजा, उच्चतर समष्टि अर्थशास्त्र
एम. एल. सेठ, अर्थशास्त्र के सिद्वान्त
बी.एल ओझा, समष्टि अर्थशास्त्र
लक्ष्मीनारायण नाथूराम का, समष्टिअर्थशास्त्र

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun